ज न वा णी

जनवरी १९४९

विषय-सूची

———

८) 'जनवाणी' एक प्रति का ।।।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष ३ भाग ५] जनवरी १९४९ [अङ्क १ पूर्णाङ्क २५

परमाणु और उसकी शक्ति

ललितकिशोर सिंह

(गतांक से आगे)

१९३२ में कोक्कोफ़्ट और वाल्टनने बड़े वेगवान प्रोटोनसे लीथियम पर आघात किया और देखा कि इस प्रक्रियामें आल्फ़ा-कण बड़े वेगसे निकलते हैं। इन कणोंकी शक्ति आघात करनेवाले प्रोटोनकी शक्तिसे कहीं अधिक है। यह अधिक शक्ति कहाँसे पैदा होती है, यह नीचे दी हुई प्रक्रियासे स्पष्ट हो जायगी—

$${}_{3}Li^{7} + {}_{1}H^{1} \longrightarrow {}_{2}He^{4} + {}_{2}He^{4}$$
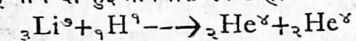
इसमें लीथियम और हाइड्रोजन-परमाणुओंके भार का जोड़ ८.०२४१ होता है। और दो हीलियम-परमाणुओंका भार ८.००५६। इसलिए इस परिवर्तनमें ०.०१८५ भारकी हानि हुई। यदि यह भार शक्तिमें बदल गया हो तो आइन्स्टाइन-समीकरणसे इसका मान २७.६×१०^{-६} अर्ग होगा। आल्फ़ा-कणोंके वेगके मापसे इनकी शक्ति २७.२×१०^{-६} अर्ग पायी गयी। इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रक्रियाकी भार-हानि आल्फ़ा-कणोंकी शक्तिमें बदल गयी। इस कृतिसे आइन्स्टाइन-समीकरण पहले-पहल प्रयोगमें सत्य पाया गया। इसके अतिरिक्त, न्यूक्लियसकी इस प्रतिक्रियामें कम शक्तिके व्ययसे अधिक शक्तिका विकास हुआ, जिससे न्यूक्लियससे उपयोगी शक्ति पानेकी आशा बँधी। किसी भी रासायनिक परिवर्तनमें दो प्रकारकी प्रतिक्रिया देखनेमें आती है—एक तो वह जिसमें अधिक शक्ति या ताप बाहरसे देना पड़ता है; दूसरी वह जिसमें अधिक ताप बाहर निकलता है। पहलीको 'अन्तस्तापक' कहते हैं और दूसरीको 'बहिस्तापक'। जहाँ शक्ति प्राप्त करना लक्ष्य रहता है, वहां 'बहिस्तापक' प्रतिक्रिया ही उपयोगी है। ऊपरकी लीथियम-हाइड्रोजन-हीलियम प्रतिक्रिया भी बहिस्तापक ही है; इसीसे इसका महत्व है।

१९३२ में ही अनेक नये कणोंका आविष्कार हुआ। एन्डर्सनने कोस्मिक-किरणमें धन-एलेक्ट्रोनका अस्तित्व पाया। इसका नाम 'पोज़ीट्रोन' रखा गया। इसका भार और विद्युत आवेश एलेक्ट्रोनके बराबर ही है। अन्तर इतना ही है कि एलेक्ट्रोन पर ऋण-विद्युत का आवेश रहता है और इस पर धन-विद्युतका। गामा-किरणके किसी द्रव्य पर पड़नेसे भी यह पैदा होता है। पर यह न्यूक्लियससे नहीं निकलता, बल्कि गामा-किरण न्यूक्लियसके पास तीव्र विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्रमें एलेक्ट्रोन और पोज़ीट्रोनके युग्ममें बदल जाता है। यह

भारत की प्राचीन गण-व्यवस्था

राजाराम शास्त्री

भारतमें इस समय जो आदिवासी गण अवशिष्ट हैं, की सामाजिक व्यवस्था तथा भारतीय वर्ण-समाजमें के संक्रमणके सम्बन्धमें नृतत्ववेत्ताओंके अध्ययनसे डी. एन. मजूमदार ने जो निष्कर्ष निकाला है का सारांश इस प्रकार है:—

भारतीय गण सामान्य नामसे निर्दिष्ट होने वाले वारोंका समूह होता है जिनके सदस्य एक भूभागमें हैं, एक भाषा बोलते हैं. विवाह तथा जीविको-न-वृत्ति सम्वन्धी अनेक निषेधोंका पालन करते हैं जिनमें पारस्परिक कर्तव्यों और अधिकारोंकी एक स्था विकसित हो चुकी है। सामान्यत: गणके लोग के भीतर ही विवाह करते हैं। गण कई परिवार-होंने मिलकर बनता है जिन्हें 'जन' कहते हैं। क 'जन' के सब लोगोंमें भाईचारेका सम्बन्ध होता इस सम्बन्ध का आधार या तो एक ही भूखण्डमें स करनेके कारण उत्पन्न हुई उनकी प्रादेशिक एकता है अथवा गण का वह उपविभाजन होता है के अनुसार एक गणके अनेक अवयव अपने पृथक- 'टोटेम' अर्थात् नाम रखते हैं। ('जन' का नाम पशु, वृक्ष अथवा अन्य प्राकृतिक वस्तु के नाम पड़ता है।) यही उसका जन-चिन्ह होता है। गण प्रकारका राजनीतिक संगठन होता है जिसका एक दानी मुखिया या राजा होता है, अथवा उसके क जनोंके मुखिया लोग संगठित रूपसे उसका न करते हैं। प्रत्येक 'जन' में वृद्धोंकी एक सभा है जो गण सम्बन्धी कार्योंमें आनुवंशिक गणपति सहायता करते हैं। गण की पंचायतके प्रति लोगों व्यवहार सर्वथा अनुशासनपूर्ण होता है।

छोटा नागपुरके 'मुण्डा गणोंमें अनेक टोटेमवाले हों अथवा अनेक प्रादेशिक अवयवों को मिलाकर 'पाढ़ा' या 'पीर' बनता है जिसके अध्यक्षका अनु-न सभी अवान्तर मुखिया लोग मानते हैं। इस प्रकारके अनेक 'पाढ़' या 'पीर' मिलकर एक गण-क्षेत्र का निर्माण करते हैं। उड़ीसाके खोंडोंमें और गंजम एजेंसीके क्षेत्रमें प्रत्येक गण बहुतसे ग्रामोंमें विभाजित होता है जो अपने अन्दर विवाह न करके एक दूसरे के साथ विवाह-सम्बन्ध करते हैं और जिन्हें 'गोत्री' कहा जाता है।

भारतीय गणोंका वह एकान्त जीवन जो अबतक दुर्गम पहाड़ों और जंगलोंमें निर्विघ्न रूपसे व्यतीत हो रहा था, आधुनिक कालमें सभ्यता द्वारा आक्रान्त हुआ है, क्योंकि कृषिके योग्य भूमिपर जनसंख्याके बढ़ते हुए भारके कारण कृषकोंको जंगलोंकी ओर बढ़ना पड़ा है। अनेक गणोंको अपने संगठनसे पृथक होकर देश भर में सर्वत्र बिखर जाना पड़ा है जिससे उनकी आदि भूमिसे उनका सम्बन्ध टूट गया है। जो गण जंगली कन्दमूल, फल बीनकर और आदिम कृषिके द्वारा किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर लिया करते थे, उनके लिए अब दूर-दूरके कारखानों और बगानोंमें जाकर काम करना अनिवार्य हो गया है। इस प्रकार वे देशके विभिन्न भागोंमें बस गये हैं और उनकी प्रादेशिक एकता नष्ट हो गयी है।

हिन्दू समाजकी अनेक जातियाँ इन गणों को अपने से नीचा मानती हैं। गणों अथवा 'जनों' के विभिन्न व्यक्ति भी आपसमें तथा अन्य गणोंके साथ इस प्रकार का सामाजिक भेद मानते हैं। एक गण दूसरे गणके साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं रखता। गणके सदस्यके लिए अपने 'जन' में तथा अपने गणसे बाहर विवाह करनेका निषेध होता है। शूद्र जातियाँ और गण-जातियाँ भारतीय समाज की उच्चतम और निम्न-तम श्रेणियाँ हैं। इनके मध्यमें वे बहुसंख्यक जातियाँ हैं जो या तो गण-समाजसे उन्नत हुई हैं, अथवा जो जाति-मर्यादाके विरुद्ध विवाह कर लेने, नयी जीविका

ग्रहण करने, अथवा निषिद्ध भोजन करनेके कारण अपने प्रारम्भिक स्थानसे च्युत हो गयी हैं।

जब गण जाति-व्यवस्थामें प्रविष्ट होते हैं और पेशेवर निम्न जातियोंका उदय होता है तब गणोंकी आदिम मनोवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लक्षित होता है, खूनके सम्बन्ध का महत्व जाता रहता है। 'जन' की सामूहिक अर्थ-व्यवस्था लाभ तथा सम्पत्तिकी लिप्सा के द्वारा निरस्त हो जाती है। विनिमयके माध्यम अथवा रुपये को वह महत्व प्राप्त होता है जो उसे अब तक कभी प्राप्त नहीं था। पारस्परिक कर्तव्य और सहयोग की भावना का नयी स्थितिके अनुसार रूपान्तर होता है। गण की उन रीति-परम्पराओंका जो उस समाजका धारण करती थीं, अब महत्व नहीं रह जाता है और नेताका चुनाव तथा पति-पत्नीका वरण दूसरे ही आधारोंपर होने लगता है। गणके वृद्धोंका स्थान गौण हो जाता है, पुरोहितोंके लिए यजमानोंकी शंकाओंका समाधान करना कठिन हो जाता है और जनमतके द्वारा पुराने विधानोंके अपालन तथा नये विधानोंके निर्माणकी युक्तियाँ ढूढ़ ली जाती हैं। व्यक्तित्वका प्रभुत्व बढ़ने लगता है और सामाजिक समानता की माँग उत्पन्न होती है जो जनाधिपतियों को सत्ताहीन बना देती हैं। नये रिवाज जनसम्मत होते हैं और पुरानी समस्याओं के नये समाधान बड़ी [illegible] के साथ लोकप्रियता प्राप्त करते हैं।

अब वर्तमान आदिगणोंकी इस जीवन-व्यवस्था तथा उसके क्रमशः विघटन की क्रिया को देख लेनेके पश्चात् हम भारतके प्राचीन इतिहासमें गण-समाजका अध्ययन करें।

"महाभारतके शान्तिपर्व, अ० ५८ और ६६ में, युधिष्ठिरके प्रश्न पर भीष्मने उत्तर कहा है। इसमेंसे, तथा अन्य स्थानोंसे, कुछ श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

"नियतस्त्वं नरव्याघ्र श्रृणु सर्वमशेषत:।
यथा राज्यं समुत्पन्नं आदौ कृतयुगेऽभवत् ॥
[कृतं नाम युगं श्रेष्ठं...धर्मः संन्यास एव च।
...कृतमेव न कर्त्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ॥
...न सामऋग्यजुर्वेदाः तदा न क्रयविक्रयः।
...न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ॥
...समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम् ॥
...ब्राह्मणाः क्षत्रियाःवैश्याःशूद्राश्चाऽऽकृतलक्षणाः ॥

वनपर्व अ० १५१]

नैव राज्यं न राजाऽऽसीन् न दंडो न च दांडिकः ॥
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षति स्म परस्परम् ॥
ततस्ते मोहमापन्ना मनुजा कालवेगतः ॥
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥
लोभस्य वशमापन्नास्तथा ते रागरोषयोः ॥
रक्ताश्च नाभ्यजानंत कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ॥
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेंद्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥
विप्लुते नरलोकेऽस्मिन् ततो ब्रह्म ननाश तत् ॥
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवास्त्रासनुपागमन् ॥
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥
...ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स हि प्रभुः ॥
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवानुवर्णितः ॥
चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥
यै यैरुपायैर्लोकस्तु नं चलेदार्यवर्त्मनः ॥
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥
एतत्कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः ॥
देवानुवाच संहृष्टः सर्वान् शक्रपुरोगमान् ॥
...उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ॥
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाषिता ॥
दंडनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानवपत्स्यते ॥
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ॥
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्त्तितम् ॥
भुवि वाचो गतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ॥
तस्मिन् पैतामहे शास्त्रे पांडवेय न संशयः ॥
...अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति सर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश ॥
...ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ।
तं दंडनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम् ॥

"इन श्लोकोंका आशय यों कहा जा सकता है। मानव वंशके आरम्भ-कालमें, जिसका संस्कृत भाषामें सांकेतिक नाम कृतयुग कहा है, न राज्य था, न राजा-

प्रजाका भेद था। मनुष्योंकी आकांक्षा थोड़ी, सीधी-सादी, और उनके उपयोगकी वस्तु, फल, मूल, वल्कल आदि, सब प्रकृतिसे उनको बनी बनायी (कृतम् एव, न कर्त्तव्यं) मिल जाती थीं (जैसा आज दिन भी दक्षिण समुद्रके द्वीपोंमें)[१]। उनके प्राप्त करनेके लिए किसी विशेष व्यापार करनेकी आवश्यकता न थी, क्रय-विक्रय नहीं था, परिग्रह[२] (अलग-अलग निजी सम्पत्ति) नहीं था। साम ऋक् आदि वेद विद्या नहीं थी, रोज-गारोंका, पेशों, जीविकाओं, वर्णों का भेद नहीं था। सब मनुष्योंके आश्रय अर्थात् वर्तनोपाय, और आचार और ज्ञान, सब समान थे। दण्डका कोई न प्रयोजन था, न दण्ड देनेवाला था। प्रजापतिकी सब प्रजा, पर-स्पर स्नेहसे प्रेरित अबुद्धिपूर्वक, निसर्गतः, अंतःप्रेरणासे, धर्म अर्थात् एक दूसरेका धारण करते थे, एक दूसरेका पालन-पोषण, रक्षा, सहायता करते थे (जैसे हरिण, कपोत आदि शान्त अहिंस्र जातिके प्राणी)। काल पाकर उनमें क्रमशः बलाबलका भेद उत्पन्न हुआ। क्योंकि अनेकता, भेद, विषमता की वृद्धि सृष्टिका स्वरूप ही है। तब मोह, लोभ, काम, क्रोध, हठआदि भाव (योग-शास्त्रके शब्दोंमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनि-वेश आदि) उनमें बढ़े। तब नैसर्गिक धर्मका नाश हुआ। तब नैसर्गिक ब्रह्म, अर्थात् सद्योज्ञान (अबुद्धि-पूर्वक ज्ञान, अविचारित स्फूर्त्ति, अविवेकपूर्वक ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान, साक्षात् ज्ञान, ऋतम्भर प्रज्ञान) नष्ट हुआ। ब्रह्मके नाशसे धर्मका और अधिक नाश हुआ, अन्योऽन्याश्रय और अनर्थ परम्पराके न्यायसे।

"तब देवताओंको बड़ा भय हुआ। भयभीत देवता ब्रह्माकी अर्थात् व्याप्त महत्तत्व, बुद्धितत्वकी शरणमें गये। तब ब्रह्माने ध्यान करके नीति-शास्त्रकी रचना की, और उसमें समस्त वाङ्मयके विषयका, अभ्युदय-निःश्रेयस अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्षके चातुराश्र्यके, और इसके सहकारी, चातुराश्रम्य, चातुर्वर्ण्य, चातुहोत्र, चातुर्विद्य, आदिके संबंधमें यथास्थान संनिवेश कर दिया। तथा इस शास्त्रका, जो सब शास्त्रोंका नवनीत है, देवों और मनुष्योंमें प्रचार कराया। इसके अनंतर देवताओंने, ब्रह्माके ही रूपांतर (सात्विक अंश) विष्णुसे कहा कि जो सबमें श्रेष्ठ पुरुष हो उसे हमको बताइये। तब एक ऐसा श्रेष्ठ सात्विक दयालु पुरुष उत्पन्न हुआ। वह राजा नियुक्त किया गया, और समग्र दंडनीतिका प्रवर्तन उसको समर्पित किया, सौंपा गया कि वह इस नीतिका, धर्मका, दंडशक्ति द्वारा प्रचार करे, जिसमें सब लोक आर्य हो जाय, आर्यवर्त्मसे विच-लित न हो, "कृण्वंतो विश्वमार्यम्"।

"सरल आध्यात्मिक शब्दोंमें इस रूपक अथवा कहानीका अर्थ यों कीजिए कि मनुष्यसमुदायमें जो पहिले एक कुल, कुटुम्ब, गोत्र[१]के रूपसे, परस्पर मेल-मिलापसे बसते थे, जब धीरे-धीरे लोभ, ईर्ष्या, अभि-मान आदि दुर्भावोंकी वृद्धि होकर बनबन होने लगी, सौमनस्यके स्थानमें वैमनस्य हुआ, जीविका-साधनके कार्यो और लाभोंके विषयमें विवाद होने लगा, काम मंदा पड़ा, सबको क्लेश होने लगा, ज्ञानेंद्रिय कर्मेन्द्रियके पोषक चालक प्राण (विविध "नर्वस् फोर्सेज") क्षीण होने लगे तब प्राणोंकी (इंद्रियाभिमानी देवताओंकी) आकुलतासे प्रेरित होकर, उनकी रक्षाके लिए, जन-समुदायकी व्यापक बुद्धि, समष्टि बुद्धि, ब्रह्मामें अव्यक्त में इकठ्ठा होकर, परस्पर रक्षाके लिए, आपसमें बात-चीत, सलाह-मश्विरा, विमर्श-परामर्श करके, जनसमु-दायका नये रूपसे संग्रहण, संग्रंथन, व्यूहन करनेके भाव और विचार उपजे, व्यक्त होने लगे। नये प्रकारकी सभ्यता और समाज-निर्माण (सिविलिजेशन, आर्गे-निजेशन) का अंकुर निकला, विकास, "इवोल्यूशन", ईप्तिका होने लगा। और पहिला काम यह हुआ कि एक सर्दार, मुख्य, मुखिया, राजा नियुक्त किया गया। यही राष्ट्र-निर्माण, 'स्टेट-फार्मेशन", का आरम्भ हुआ।"—डाक्टर भगवानदास

"ग्रीक देशमें जैसे प्रजासत्ताक या अल्पजनसत्ताक राज्य स्थापित हुए थे वैसे हिन्दुस्तानमें कहीं-कहीं स्थापित हुए थे। यह बात प्रसिद्ध है कि पहाड़ी प्रदेशों में रहनेवाले लोग प्राय: स्वतन्त्र और प्रजासत्ताक प्रवृत्ति के होते हैं। महाभारतमें कई स्थानोंमें लिखा है कि

(१) South Sea Islands.
(२) Separate, private, individual property.

(१) Family. clan, tribe. sept, etc.

गणोंमें प्रमुखता किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए। महाभारत कालमें 'गणपति' एक विशिष्ट पदवी मानी जाती थी जिसका अर्थ 'गणोंका मुखिया' होता था।

"यही निश्चय होता है कि महाभारतमें उत्सव, संकेत, गोपाल, नारायण, संशप्तक इत्यादि नामोंसे जो 'गण' वर्णित हैं, वे प्रजासत्ताक लोग होंगे। जान पड़ता है कि ये लोग पंजाबके चारों ओरके पहाड़ोंके निवासी होंगे। वर्तमान समयमें वायव्य सीमाप्रान्तमें जो अफ्रीदी आदि जातिके लोग हैं, वे ही प्राचीन समयके गण होंगे। गणोंके सम्बन्धमें शान्तिपर्वके १०७ वें अध्यायमें युधिष्ठिरने स्पष्ट प्रश्न किया है। उसमें यह कहा है कि इन लोगोंमें बहुत्वके कारण मंत्र नहीं हो सकता और इनका नाश भेदसे होता है:—

भेदमूलो विनाशो हि गणनामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुखं बहूनामिति मे मतिः॥

ये लोग प्राय: एक ही जाति और वंशके हुआ करते थे; इसलिए इनका नाश केवल भेदसे ही हो सकता था। यथा—

जात्याच सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः॥

ये गण धनवान और शूर भी हुआ करते थे: जैसे,
द्रव्यवंतश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगः।

परन्तु इन लोगोंमें मन्त्र नहीं हो सकता था। भीष्म का कथन है:—

न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।

इस वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ता है कि महाभारतमें कहे हुए गण प्रजासत्ताक लोग ही हैं।

"यूनानियोंको भी पंजाबमें कुछ प्रजासत्ताक लोगों का परिचय हुआ था। सिकन्दरके इतिहासकारोंने मालव क्षुद्रकका वर्णन इस प्रकार किया है:—'मालव स्वतन्त्र इंडियन जातिके लोग हैं। वे बड़े शूर हैं और उनकी संख्या भी अधिक है। मालव और आक्सिड्रे (क्षुद्रक) के भिन्न-भिन्न शहरोंमें रहनेवाले अगुआओं और उनके प्रधान शासकों (गवर्नर) की ओरसे, वकील आये थे। उन्होंने कहा कि हमारा स्वातन्त्र्य आज तक कभी नष्ट नहीं हुआ, इसीलिए हम लोगोंने सिकन्दरसे लड़ाई की।" "उक्त दो जातियोंकी ओरसे सौ दूत आये, उनके शरीर बहुत बड़े और मजबूत थे। उनका स्वभाव भी बहुत मानी देख पड़ता था। उन्होंने कहा कि आजतक हमने अपनी जिस स्वाधीनताकी रक्षाकी है, उसे अब हम सिकन्दरके अधीन करते हैं।" (अराग्रन, पृष्ठ १५४) ये लोग मुलतानके समीप रावी और चन्द्र-भागाके संगमके पास रहा करते थे। यह भी लिखा है कि इनके उस ओर अंबष्ठ जातिके लोग—"अनेक शहरों में बसते हैं और उनमें प्रजासत्ताक राज्य-व्यवस्था है।" (मैक्क्रिडल कृत सिकन्दरकी चढ़ाई का वर्णन)

"यूनानियोंके उक्त वर्णनसे भी यही निश्चय होता है कि गण प्रजासत्ताक व्यवस्थासे रहनेवाले लोग थे। शिला-लेखों में इन मालवोंको 'मालव-गण' कहा गया है। इसका भी अर्थ वही है। इस शकके सम्बन्धमें अनेक लोगोंने सन्देह प्रकट किया है; परन्तु गणोंका जो वर्णन महाभारतके आधार पर ऊपर किया गया है, उससे यह सन्देह नष्ट हो सकता है। यूनानियोंकी चढ़ाई के अनन्तर पंजाब निवासी यही मालव लोग स्वाधीनताकी रक्षाके लिए मालवा प्रान्त तक नीचे उतर आये होंगे और वहाँ उज्जैन तक उनका राज्य स्थापित हो गया होगा। विक्रम इन्हीं लोगोंका अगुवा होगा। उसने पंजाबके शकोंको पराजित किया। मन्दोसरके शिलालेखमें—"मालवगण स्थिति" नामसे जो वर्ष-गणना है, वह इन्हीं लोगोंके सम्बन्धमें है और यही विक्रम संवत् है। इन्हीं लोगोंके नामसे इस प्रान्तको मालवा कहते हैं।

"अस्तु, इसके बाद भारतीय आर्योंकी राजकीय उत्क्रान्ति तथा यूनानियों की उत्क्रान्ति की दिशा भिन्न दिखायी देती है। उधर पश्चिम की ओर यूनानियोंमें प्रजासत्ताक-प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी और प्रजा-सत्ताक राज्य-प्रबन्ध की अच्छी-अच्छी कल्पनाएं प्रच-लित हो गयीं; और इधर भरतखंडमें राज-संस्था बलवान् होती गयी तथा राजा की सत्ता पूर्णतया प्रस्थापित हो गयी। इसका कारण हमें ढूढ़ना चाहिए। जैसे-जैसे वर्णव्यवस्था दृढ़ होती गयी, वैसे-वैसे राजाओंके अधिकार मजबूत होते गये; और जैसे-जैसे राज्यमें शूद्र वर्णकी वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे प्रजाका अधिकार घटता गया। जब यह बात निश्चित हो चुकी कि राज्य करना क्षत्रियोंका ही अधिकार है और

यह उन्हींका मुख्य धर्म है, तब ब्राह्मण और वैश्य (विशेषतः वैश्य) राज-काजसे अपना मन हटाने लगे। दूसरे जब राज्य छोटे-छोटे थे और अधिकांश लोग आर्य ही थे, उस समय राजकीय प्रश्नोंके सम्बन्ध में लोगोंकी सभा करके उनकी राय लेना सम्भव और उचित जान पड़ता था। परन्तु जब राज्य विस्तृत हो गये, शूद्र लोगों और मिश्र वर्णके अन्य लोगोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी, और इन लोगोंकी राय लेना अनुचित मालूम होने लगा, तब ऐसी सभाओंका निमंत्रण रुक गया होगा। स्वभावतः शूद्रोंको पराजितके नाते राजकीय अधिकारोंका दिया जाना सम्भव नहीं था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि बहुत बड़ी मनुष्य-संख्या की ओरसे प्रतिनिधि द्वारा सम्मति लेनेकी आधुनिक पाश्चात्य पद्धति प्राचीन काल में नहीं थी। यह पद्धति ग्रीक और रोमन लोगों को भी मालूम न थी। इसलिए ग्रीक और रोमन लोगोंकी प्रजासत्ताक राज-व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक ग्रीक या रोमन मनुष्यको लोक-सभामें उपस्थित होना पड़ता था। अतएव वहाँ के प्रजासत्ताक राज्योंका प्रबन्ध धीरे-धीरे बिगड़ता चला गया और अन्तमें वे राज्य नष्ट हो गये। इसी प्रकार हिन्दुस्तानमें भी जबतक राज्य छोटे थे और राज्यके अधिकारी लोग आर्य थे तब तक राजकीय बातों में इन थोड़े लोगोंकी राय लेने की रीति जारी थी। परन्तु आगे जब राज्यका विस्तार बढ़ गया, लोगोंकी संख्या अधिक हो गयी, और शूद्र लोग भी चातुर्वर्ण्यमें समाविष्ट हो गये तब सर्वसाधारणकी राय लेने की नीति बन्द हो गयी। इसका एक दृढ़ प्रमाण हमें देख पड़ता है, वह इस प्रकार हैः—

"हिन्दुस्तानमें पश्चिमी प्रदेशके और विशेषतः पहाड़ी मुल्क के लोग एक ही वंश के, मुख्यतः आर्य जाति के थे। इसलिए उनकी व्यवस्था निराली थी, यानी वह प्रमुख लोगोंके हाथ में स्वतन्त्र प्रकार की थी। इसके विरुद्ध पूर्व की ओर मगध आदि देशोंके राज्य बड़े थे। वहाँ की प्रजा विशेषतः शूद्र वर्ण की या मिश्र वर्ण की अधिक थी, इसलिए वहाँ की राज-व्यवस्था दूसरे ही ढंग की थी, अर्थात् वह राजसत्ताक थी। यह बात ऐतरेय ब्राह्मणके नीचे दिये हुए अवतरणसे मालूम हो जायगी। रमेशचन्द्र दत्तने इस अवतरणको अपनी पुस्तकोंमें लिया है। इसका भावार्थ यह है—"पूर्व राजा की 'सम्राट' पदवी है, दक्षिणके राजा को 'भोज' कहते हैं, पश्चिमी लोगों में 'विराट' नाम है, और मध्यदेशमें राजा को केवल 'राजा' ही कहते हैं।" इससे प्रकट होता है कि पूर्वी लोगों में सम्राट अथवा बादशाह संज्ञा उत्पन्न हो गयी थी। वहाँ के राजाओंके अधिकार पूरी तरहसे बदल गये थे और साधारण लोगोंके अधिकार प्रायः नष्ट हो गये होंगे। अधिक क्या कहें, एकतन्त्र राज्य-पद्धति प्रथम पूर्वी देशों में ही जारी हुई होगी। म्लेच्छ अथवा मिश्र आर्य इसी देश में अधिक थे। इतिहाससे मालूम होता है कि पूर्वकी ओर मगधका राज्य बलवान् हो गया और आगे वही हिन्दुस्तानका सार्वभौम राज्य हो गया। यह भी निर्विवाद है कि पूर्वी राजाओं की सम्राट् पदवी थी। उपनिषदोंमें भी देख पड़ता है कि जनक को वही पदवी दी गयी थी। अर्थात् मगधके सिवाय विदेहके राजाओं की भी यही संज्ञा थी। महाभारतसे भी प्रकट होता है कि दक्षिणके राजाओं को 'भोज' कहते थे। दक्षिणके बलवान् राजा भीष्मक और रुक्मी को यही 'भोज' संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार देख पड़ता है कि मध्यदेश के कुरु, पाञ्चाल आदि लोगोंके राजाओंके लिए महाभारत में भी केवल 'राजा' पदका उपयोग किया गया है। मत्स्य देशके विराटके नाम में इस विचार-श्रेणीसे कुछ विशेष अर्थ प्रतीत होता है। अस्तु, ऊपरके अवतरण से भी, यही दृढ़ अनुमान निकलता है कि सम्राट की कल्पना पूर्व की ओर के मिश्र लोगोंके बड़े विस्तीर्ण राज्योंके आधार पर उत्पन्न हुई होगी।"

—'हिन्दी महाभारत मीमांसा' से]

हिन्दुस्तानमें फैसिज़्मका विकास

बैजनाथसिंह "विनोद"

भारतीय राष्ट्रीयताका विकास हिन्दुओंके उस वर्गसे शुरू हुआ जो अर्थनीतिक दृष्टिसे सम्पन्न था और अंग्रेजोंने अपने लाभके लिए राज्यशक्ति द्वारा जिसे समाजमें प्रतिष्ठित किया था। इस वर्गको अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाके लिए धर्मका आश्रय लेना पड़ा था। राजा राममोहन रायका ब्राह्म समाजका आन्दोलन ऐसा ही था। तिलक और अरविन्दने राष्ट्रीय आन्दोलन की सामाजिक प्रतिष्ठाके लिए गीताकी एक नयी व्याख्याके द्वारा उसका समर्थन किया था। गणपति उत्सव और सार्वजनिक दुर्गोत्सवकी प्रतिष्ठा भी की गयी थी। धार्मिक मनोवृत्तिके इस राष्ट्रीय प्रयोग द्वारा जहाँ उन्होंने हिन्दुओंको अपनी ओर आकर्षित किया, वहीं धर्मके साम्प्रदायिक रूपको कुछ बल मिला और भारतीय राष्ट्रीयतामें मुसलमानों का योग कुछ कम भी हुआ। आगे चलकर धार्मिक मनोवृत्तिके इसी विकासने हिन्दू राष्ट्रका नारा देकर हिन्दू फैसिज़्मका रूप लिया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके जन्म और विकासमें हम धर्मके इसी संकुचित राष्ट्रीय रूपको पाते हैं। डाक्टर हेडगेवारका कांग्रेससे अलग हटकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी फैसिस्ट संस्थाको जन्म देना, इसी मनोवृत्ति की चरम परिणति है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके जन्मके सम्बन्धमें यह प्रामाणिक कथन हैः— "राष्ट्रीय शिक्षाके आजतक दो प्रयोग किये गये। प्रथम प्रयोग स्वदेशी आन्दोलन का था, और दूसरा असहयोग आन्दोलनका। पहले प्रयोगके समय स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा, इन तीनोंके अभिमानकी ज्योति जाग्रत करने की कोशिश की गयी थी। किन्तु दूसरे प्रयोगके समय स्वधर्मको भूल जानेके लिए ही कहा गया। चर्खा, खादी और अहिंसाका पुराण शुरू हो गया। यह सब व्यापक रूपसे किया गया। इसके लिए बहुत धन भी खर्च किया गया। पर इतना करनेके बाद भी हमारी समस्याएं चर्खा और खादीके द्वारा सुलझायी न जा सकीं।...डाक्टर हेडगेवारने राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओंके अन्दरकी राष्ट्रीय वृत्तिको ही अपने सिद्धान्तमें प्रमुख स्थान दिया—कोई भी आदमी चाहे वह किसी भी पेशेका क्यों न हो, कहीं भी और कुछ भी पढ़ने वाला क्यों न हो, उसको सिर्फ संघ-स्थान पर प्रत्येक दिन आना, ध्वजाभिवादन करना और अपने हृदयमें हिन्दुत्व-निष्ठा की ज्योति प्रज्वलित करना चाहिए। किसी भी हालत में हिन्दू राष्ट्रके एक घटयिता की हैसियत से कुछ भी त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"[१] और वह ज्योति कैसे जगानी चाहिए, इसे डाक्टर हेडगेवारने इस प्रकार बताया है—"मैं धर्मके लिए, संघके लिए और राष्ट्रके लिए ही हूँ, यही भावना हरेकके दिलमें पैदा होनी चाहिए।"[२] अर्थात् अपनी विचार-शक्तिको विसर्जित कर, एक किस्मके अन्धविश्वासको ग्रहण कर, रहस्यमय धर्मके नामसे सनातन मर्यादा या उच्च वर्णोंकी प्रतिष्ठा कायम रखनी चाहिए। इसे नकारात्मक रूपमें भी डाक्टर हेडगेवारने इस प्रकार बताया है—"हिन्दुस्तानके अन्दर कोई भी आन्दोलन अथवा संस्था, जिसके अन्दर हिन्दुओंके हितोंका विरोध हो कभी भी राष्ट्रीय नहीं हो सकती।"[३] समाजविज्ञान और अर्थनीतिक सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित समाजवादके विकासके बाद भी राष्ट्रीयताकी यह साम्प्रदायिक धर्ममूलक व्याख्या इसीलिए सम्भव हो सकी कि एक समयमें राष्ट्रीयताके प्रचारके लिए धर्मका सहारा लिया गया था।

१. "केशव बलीराम हेडगेवार"—महादेव शास्त्री पृ० २४-२५

२. "केशव बलीराम हेडगेवार"—डा० हेडगेवार पृ० ८३

३. के० ब० हेडगेवार पृ० ८२

अतः राष्ट्रीयतामें धर्मकी प्रेरक-शक्तिको मान लेनेके कारण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके लिए राष्ट्रीयता को पूर्ण साम्प्रदायिक रूप देना सम्भव हुआ। किन्तु एक प्रश्न यहाँ यह हो सकता है कि महात्मा गांधी भी तो धर्मको मानते थे; फिर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने उनके चर्खा, खादी और अहिंसाका विरोध क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि चर्खा, खादीकी भित्ति अविकसित और ग्रामीण अर्थनीति पर है तथा अहिंसा धर्म नहीं सामाजिक सदाचारका विश्वमान्य नियम है। इसलिए साम्प्रदायिक धर्मकी मूल भावनासे उसका सामञ्जस्य नहीं हो सका। अब जरा यह भी देख लेना चाहिए कि किस परिस्थितिमें डाक्टर हेडगेवारके ऐसे विचार बने। "१९२३ ई० में गणेशपेठ (नागपुर) में गणपतिका एक जुलूस निकला था। उस समय मुसलमानोंने रास्तेमें एक नयी मसजिद खड़ी करके जुलूसमें बाँधा डाली। उस वक्त सत्याग्रह हुआ और जुलूस निकल गया। डाक्टर हेडगेवारने हिन्दू सभाके एक प्रमुख कार्यकर्ताकी हैसियतसे उस समय बड़े जोशके साथ कार्य किया था। उसी समय यह महसूस हुआ कि बिना किसी संगठनके यह कार्य सफल नहीं हो सकता...इसे महसूस करके १९२५ ई० में विजया-दशमीके अवसर पर डाक्टर हेडगेवारने संघकी स्थापना की।"[४] इस तरह हम यह देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघके मूलमें हिन्दू सम्प्रदायके उत्थानकी प्रेरणा और देशके अहिन्दू हितोंके प्रति विद्वेषकी प्रेरणा तीव्र है। इसके साथ ही इस प्रेरणाकी भूमिकामें १९२३ई० में नागपुरमें मसजिदके सामने बाजाके प्रश्नको लेकर किया हुआ फसाद भी है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके मूलमें धर्मके उत्थानकी प्रेरणा कही गयी है। संसारके सभी धर्म अतीन्द्रिय शक्तिके आधार पर—किसी सिद्ध ऋषि या पैग-म्बरके आन्तरिक प्रकाश अथवा इल्हामके आधार पर मानवीय आचरणके भले-बुरेकी व्याख्या करते हैं। उसमें विज्ञानसम्मत तर्कपद्धतिकी गुंजाइश नहीं रहती। डाक्टर हेडगेवार अथवा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अपनी कोई नियोजित धर्म-व्याख्या नहीं है, पर उसकी सम्पूर्ण कार्यपद्धति ऐसी है जिसके अन्दर धर्म के साम्प्रदायिक संगठनके लक्षण मिल जाते हैं। बहुत प्राचीन युगमें धर्मका लक्षण करते हुए जैमिनिने कहा था—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"। उपदेश, आज्ञा या परम्परा प्राप्त विधिसे मालूम होनेवाली श्रेयस्कर क्रिया ही धर्म है, ऐसा जैमिनिका अर्थ है। चोदना प्रेरणाको कहते हैं और प्रेरणाके पीछे प्रेरक शक्ति होती है। धर्मकी आज्ञापक वाणी वेदको भी माना गया है और ऋषि-मुनियोंको भी माना गया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दुओंके धर्मकी दुहाई देता है और उसकी प्रेरणा आप्त-वाक्य अर्थात् गुरुजीकी वाणीको मानता है। हिन्दू धर्म कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म पर आधारित है। आपस्तम्बके अनुसार वर्णाश्रम धर्मसे दोनों लोकोंमें सफलता मिलती है। हिन्दू धर्मके अनुसार शूद्र, अन्त्यज और चाण्डालकी हीनस्थिति पूर्व-जन्मके पापोंका फल और ब्राह्मण क्षत्रियकी उच्चस्थिति पूर्व जन्मके पुण्योंका प्रसाद है। अतः हीनस्थितिसे इस जन्ममें उद्धार सम्भव नहीं है। हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके कार्यक्रमको इसी अवैज्ञानिक पद्धतिमें पाते हैं। संघके अन्दर गुरुजीका वाक्य ही प्रेरणा, अस्तु धर्म है—धार्मिक आदेश है। तर्क, युक्ति और विचार-विनिमयमें संघके लोग कहीं भी दिखायी नहीं देते, क्योंकि 'गुरुस्तु भगवान् स्वयम्'। लोकतन्त्रकी तो वहाँ चर्चा ही नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके अनुसार गुरुजी और उनके कुछ साथी भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू धर्म, अथवा राष्ट्रधर्मको जानते हैं; यह ज्ञान ज्ञापक है, (जिसके अन्दर उच्च वर्णोंका स्वार्थ सन्निहित है) और गुरुजीकी वाणी प्रेरणा अर्थात् धर्म है। फैसिस्ट दार्शनिक जेन्टाइलके अनुसार फैसिस्ट राष्ट्र एक आध्यात्मिक सृष्टि है, हिटलरके अनुसार अर्थनीतिक विकास और मतवादके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उसके अनुसार राष्ट्रका उद्देश्य ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट भाग्यकी पूर्तिके लिए अपने लोगोंकी रक्षा और वृद्धि करना है। संघ का भी कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं है। मजदूरों, किसानों और भूमिहीन किसानोंके लिए उसकी कोई भी आर्थिक योजना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि संघ गरीबी, भुखमरी और बेकारी आदिको पूर्व कर्मोंके पापोंका भोग और महन्थों, राजाओं, जमींदारों तथा पूंजीपतियों

४. के० ब० हेडगेवार,—एल० वी० परांजपे पृ० १९

की उच्चस्थितिको पूर्वजन्मोंके पुण्यका प्रसाद मानता है—और उसीकी रक्षा तथा वृद्धि में अपनेको नियोजित करता है। यह तो हुआ संघके धर्मोत्थान की प्रेरणाका अर्थ—उसकी धार्मिक प्रेरणा इसी दिशासे गतिशील है। अब उसके विरोधी तत्व, अर्थात् अहिन्दू, खास तौरसे मुसलमानोंके प्रति विद्वेष की प्रेरणा की जाँच की जाय।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी उत्पत्ति भारतीय श्रेणी-संघर्षकी एक कड़ी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके संस्था-पक, उसके वर्तमान गुरुजी तथा उसके अधिकांश प्रमुख व्यक्ति चित्तपावन ब्राह्मण हैं। उसके प्रमुख समर्थकोंमें देशी रजवाड़े और पूंजीपति हैं। मूलतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ब्राह्मण-सामन्त स्वार्थोंके लिए लड़नेवाली एक संस्था है, किन्तु उठते हुए भारतीय पूंजीवादने अपने स्वार्थके लिए अब उससे समझौता भी कर लिया है। ब्राह्मण-क्षत्रियों का यह परस्पर सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे है। शतपथ ब्राह्मणमें साधारण जनता (विशों) से राजा की ओर इशारा करके ब्राह्मण कहता है—'यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणोंका राजा तो सोम है।'[५] पर इस कालमें पुरो-हित और राजन्य समुदाय आपसमें लड़कर थक गया था। तैत्तिरीय संहितामें ब्राह्मण, क्षत्रियका परस्परा-वलम्बन और इसके परिणाम स्वरूप वैश्य तथा शूद्र का भोज्य और सेवक होनेका विधान मिलता है। इस समय यद्यपि राजाका निर्वाचन होता था, पर उस निर्वाचनका कोई जनतान्त्रिक अर्थ नहीं था, क्योंकि साधारण जनता और फिर कुछ कुलोंको भी छोड़कर राजाके लड़के का ही निर्वाचन होता था। जैमिनि इसी कालके ऋषि हैं। उनके धर्म लक्षणोंसे सर्व प्रथम इसी कालके सन्निहित हितोंका समर्थन होता है—अर्थात् जैमिनिके धर्म लक्षणसे जिन हितोंका सम-र्थन होता है, उन हितोंकी बुनियाद उसी कालमें पड़ी थी। वर्ण-धर्म उन्हीं बुनियादों पर है। आगे चलकर महावीर और बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्थाका जोरोंसे विरोध किया। इससे धर्मका एकदेशीय और कबायिली रूप शिथिल पड़ गया। बुद्धके उपदेशों द्वारा नैतिकता और सदाचारकी सार्वदेशिक पद्धतिका विकास हुआ। किन्तु सामन्तों और ब्राह्मणोंकी प्रधानता समाजसे समाप्त नहीं हो सकी थी। जैन तथा बौद्ध धर्म द्वारा वैश्यों तथा शूद्रोंको समाजमें उठनेका अवसर प्राप्त हो रहा था। संस्कृत भाषा का प्रबल विरोध हो रहा था, जिससे ब्राह्मणोंके प्राधान्यकी एक कुंजी ही टूट रही थी। अशोकने बौद्ध धर्मके व्यापक प्रचारसे ब्राह्मण-व्यवस्था को हिला दिया था। इससे ब्राह्मणोंके अन्दर विक्षोभ बढ़ रहा था। ब्राह्मणोंने बौद्ध-विरोध का नारा दिया—बौद्धों और शूद्रोंको एक श्रेणीमें कर दिया—यह उसी तरह जिस तरह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा मुसलिम विरोध का प्रचार। इस काल में भी, जैमिनि की परम्परामें पतञ्जलिने ब्राह्मण-प्राधान्यका आन्दोलन खड़ा किया। पतञ्जलि जैमिनिकी परम्परामें थे, वह पुष्यमित्रके गुरु भी थे, उन्होंने अपने महा-भाष्यमें ब्राह्मण-राज्यका प्रचार भी किया—उस कालमें हिन्दू धर्म नहीं था, इसका पूर्व रूप ब्राह्मण धर्म था। ब्राह्मण पुष्यमित्र ने व्यापक षड़यन्त्रकी परिणति स्वरूप सेनाके सामने ब्राह्मण-व्यवस्था विरोधी बौद्ध सम्राट वृहद्रथकी हत्या कर दी। उसने बौद्ध मठोंका विध्वंस करवाया। वर्ण-व्यवस्था-विरोधी एक-एक बौद्धके सिरके लिए सौ-सौ अशर्फियोंके इनामकी घोषणा की। वर्ण-व्यवस्थाकी पुनः स्थापना की। वैदिक यज्ञोंको पुनः प्रतिष्ठित किया। संस्कृत भाषाको पुनः प्रचलित किया। पुष्यमित्रके इन कार्योंको भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलनके पिता सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्तने अपने अनेक लेखों और ग्रन्थों में प्रतिक्रान्ति का आन्दोलन कहा है। इस प्रतिक्रान्ति के परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास में एक बार युद्ध की दामिनी चमकी और भारतीय वसुन्धरा रक्त से लाल हो गयी थी। फिर उसके कुछ काल बाद जैमिनि और पतञ्जलि की परम्परा के एक ब्राह्मण ने, बौद्ध राजा हर्षवर्धन पर छुरे से हमला किया। और आज इस युग में जब चर्खा, खादी की ग्रामीण अर्थनीतिक योजना और अहिंसा के सदाचरण के द्वारा एक वर्ण व्यवस्था विरोधी की प्रतिष्ठा समाज में बढ़ गयी, मोहनदास करमचन्द गांधी भारतीय

५. एष वोऽमी राजा सोम अस्माकं ब्राह्मणानां राजा।

इतिहासके अछूतों की सन्तान मुसलमानों की काश्मीर के नरभक्षी राजासे रक्षा की, साम्प्रदायिकता के नाग यज्ञ में मुसलमानों के बलि चढ़ाने का सक्रिय विरोध किया, तो पुनः जैमिनि की परम्परा के ब्राह्मण, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके वर्तमान गुरुजी श्री गोलवालकरने कहा—"हमारी स्थिति आज उस पौरुषहीन अर्जुन की तरह है जो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। अतः हमें आज वह कृष्ण चाहिए जो कहे कि जिनके आचरणसे समाज त्रस्त है, उनके चरणोंमें ही पड़कर रक्षा चाहना कायरता है अर्जुन! इसलिए उठ, और यदि गुरु भी सामने आये तो उनको प्रणाम कर, उनके चरण छू और फिर बाणवर्षा कर।"[६] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी प्रतिष्ठा करते हुए एक वर्ण-व्यवस्थावादी ब्राह्मण डाक्टर हेडगेवारने कहा था—धर्म संघ और राष्ट्रके लिए जियो। संघके दूसरे वर्ण-व्यवस्थावादी ब्राह्मण गुरू गोलवालकर धर्म-संघ की रक्षाके लिए किसी अर्जुन की तलाशमें थे, धर्म की रक्षाके लिए नाथूराम विनायक गोडसेके रूपमें ब्राह्मण संस्कृतिका ब्राह्मण सामने आया—पुष्यमित्र की परम्परा में—और उसने, जैसा कि स्वयं अपने बयान में स्वीकार किया है—महात्मा गांधी की हत्या करदी।

जिस तरह जैमिनिने धर्मका लक्षण किया था, इसलाम धर्मका भी वैसा ही लक्षण है;—इसलाम भी कहता है व्यापक खुदाने पैगम्बर मुहम्मदके हृदयमें धर्म की प्रेरणा दी। पर संघवालोंका कहना है कि नहीं, सिर्फ हिन्दू धर्म श्रेष्ठ है और हिन्दू ही भारतवर्षके राष्ट्रीय हैं। जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान स्पेंगलरने भी प्रतिपादित किया है कि जर्मन संस्कृति, जर्मन जातिमें ही जीवनके तत्व हैं और सभी संस्कृतियाँ—यहाँ तक कि हिन्दू संस्कृति भी—अन्य जाति अर्थात् यरोपियनों की गुलामीके लिए बाध्य हैं। हिटलरने एक बार कह भी दिया था कि हिन्दुस्तान अंग्रेजोंका गुलाम रहनेके लिए बाध्य है। स्पेंगलरके सिद्धान्तके अनुसार ही जर्मनीमें नाजीवादका जन्म हुआ था। हिटलरने इसी सिद्धान्तके अनुसार अन्य जातियोंको गुलाम बनाना या मिटाना शुरू कर दिया। इसी सिद्धान्तके अनुसार हिटलरने यहूदियोंको जर्मनीसे निकालना या मिटाना शुरू कर दिया। हिटलरका यह कार्य संघके वर्तमान गुरुजी श्री गोलवालकरको खूब पसन्द आया। उन्होंने 'हमारी राष्ट्रीयता' नामक पुस्तकमें लिखा—"जर्मनीने जाति और संस्कृतिकी शुद्धताकी रक्षाके हेतु अनार्य जाति यहूदियोंके निर्वासन द्वारा संसारको विक्षुब्ध कर दिया है; हिन्दुस्तानमें हमारे सीखने और लाभ उठाने लायक यह एक अच्छा पाठ है।" नाजी जर्मनीकी शिक्षाको कार्यरूपमें परिणत करनेकी योजना भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी थी। 'हिन्दू आउटलुक' में वी. जी. देशपाण्डेने लिखा था—"(१) मौजूदा सरकारको निकाल बाहर करो। इसके मेम्बर कमजोर हैं, उसकी जगह कट्टर हिन्दुओंकी सरकार कायम करो। (२) भारतीय संघको हिन्दू राज्य घोषित करो (३) पाकिस्तानसे जंग छेड़नेकी तैयारी करो। (४) संघको फौजमें भरती होनेका हुक्म दो और हिन्दू नवजवानोंको रणके लिए तैयार करो। (५) सभी मुसलमानोंको विदेशी जासूस करार दो। (६) हिन्दुस्तानमें इसलामको गैरकानूनी करार दो।" ('हिन्दू आउटलुक' ९ सितम्बर १९४७) इसी समय दिल्लीमें एक परचा बाँटा गया, जिसका शीर्षक था—"गांधी–जिना–सुहरावर्दी, त्रिगुटका अन्त करो।" और उसमें लिखा था—"एक दिन जब दुनियाको मालूम होगा कि गांधी मुसलमान था, तब वह आश्चर्यमें डूब जायगी। गांधी हिन्दू राष्ट्रको खोखला करके उसे नेस्तनाबूद करना चाहता है। जिना और मुसलिम लीगको इतना सिर चढ़ानेके लिए गांधी जिम्मेदार है। वह हिन्दी भाषाका—जो हिन्दू राष्ट्रकी प्राण है—कट्टर दुश्मन और उर्दू और कुरान का सबसे बड़ा भक्त है। गोरक्षा कानून का सबसे ज्यादा विरोध करनेवाला वही है। उसने पश्चिमी पंजाबके दुखी और पीड़ित जनों को बुरा भला कहा है। मगर कलकत्ता और बिहारके मुसलमानों को उसने अपनी जान हथेलीपर रखकर बचाया। अब अपने मुसलमान भाइयों की रक्षा के लिए ही वह दिल्लीमें पड़ा हुआ है। गुण्डोंके सिरताज और हिन्दुओंके सबसे बड़े दुश्मन सुहरावर्दीसे वह मिल गया है। इसलिए गांधी गद्दार भी है और गुंडा भी। हिन्दुओं और सिखों! अगर सचमुच तुम

६ "राष्ट्रधर्म" (अगस्त ४७) में गुरुजी का भाषण

दुनियामें रहना चाहते हो तो उठो और इन राक्षसोंके त्रिगुट का खातमा करो। दुनियामें वही कायम रह सकता है जो आगे बढ़कर लड़े। दुनिया ताकतवरोंके लिए है। इसलिए इस वर्ष की विजयादशमी इस युगके रावण का वध करके मनाओ।"

चौदह प्वाइंट इतिहास में मशहूर हैं। विलसन का चौदह प्वाइंट तो असफल रहा; पर जिना ने अपने १४ प्वाइंटोंके प्रचारसे, मुसलिम मस्तिष्कमें साम्प्रदायिकता का विष भरकर पाकिस्तान प्राप्त किया। फिर मुसलमानों की प्रतिक्रियाके फलस्वरूप उत्पन्न हिन्दू महासभा को वह कैसे आकर्षित न करता। हिन्दू महासभा ने भी २७ दिसम्बर ४८ को अपने चौदह प्वाइंटों की घोषणा की। इसमें किसानों मजदूरों को धोखा देनेके लिए उनका नाम भी लिया गया है, पर वहीं कह दिया गया है कि उनको उचित भाग दिया जायगा; और इस उचित का अर्थ है जानवरों को चारा देना। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को भारतीय संस्कृति की मर्यादाके मुताबिक करने की भी इसमें घोषणा है; इसका अर्थ है मनु-याज्ञवल्क्य की स्त्रियों सम्बन्धी व्यवस्था को पुनः प्रचलित करना। देश की संस्कृति और परम्पराके अनुकूल सच्चे लोकतन्त्र की भी बात इसमें है, जिसका अर्थ है अन्त्यजों को नागरिक अधिकारोंसे भी वंचित रखना। इन सबके साथ ही हिन्दू फैसिज्म को युद्धाभिमुख करनेके लिए इसमें है कि "जो हिन्दू थे और अब हिन्दू नहीं हैं, उनके लिए फिरसे दावा करना और जो हिन्दू होना चाहें उन्हें अपने साथ लेना।" हिन्दू महासभा की इस घोषणा को हिटलरके नाजिज्मके साथ मिलाकर पढ़नेसे बात स्पष्ट हो जाती है। हिन्दू महासभा की घोषणा का निर्माण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके गुरुओंके प्रवचनों का सार लेकर हुआ है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू महासभा अन्योन्याश्रित संस्थाएं हैं। इन संस्थाओंके अन्दर उसी तरह सामन्ती-पूंजीवादी स्वार्थ निहित हैं, जिस तरह रूसी 'ब्लैक हण्ड्रेड', नाजिज्म और फैसिज्ममें यह स्वार्थ पुंजीभूत था।

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्तने अपनी किताब "भारतीय एक जातीयता गठन समस्या" में लिखा है कि पाकिस्तान और अखण्ड हिन्दुस्तान का आन्दोलन मुसलिम बूर्जुआ श्रेणी और हिन्दू बूर्जुआ श्रेणीके शासन करन की मनोवृत्ति का प्रतीक है। इसके अन्दर जो हिन्दू और मुसलिम विद्वेष है, उसकी उत्पत्ति उन प्रतिक्रियावादी शक्तयोंसे होती है, जो अपने वर्ग-स्वार्थ की रक्षाके लिए उठती हुई उग्र और संकीर्ण देशभक्ति, जाति-विद्वेष और सांस्कृतिक शुद्धि इत्यादि मतों का प्रचार करते हैं। यूरोपके इतिहासमें भी हम ऐसा देख चुके हैं। १८७० ई. के लगभग जर्मनी और ऑस्ट्रिया में जब पूंजीवाद साम्राज्यवाद की ओर बढ़ रहा था, उस समय प्रिन्स विस्मार्क की परोक्ष उत्तेजनासे यहूदियों का विनाश करनेके लिए संस्थाएं बनीं और खूनी दंगे हुए। रूसमें भी उसीके आसपास नाहिलिस्ट आन्दोलन जब जार को खतम करनेके लिए खड़ा हुआ तो उसे कुचलनेके लिए वहाँ भी खुफ़िया पुलिस की सहायतासे यहूदी विरोधी आन्दोलन खड़ा किया गया, जो अन्तमें ब्लैक हण्ड्रेड (कालीवर्दी वाले) खूनी संस्थाके रूपमें परिणित हो गया। हिटलरने भी उसी परम्परामें जर्मनीमें यहूदियों की हत्या का जबर्दस्त आन्दोलन शुरू किया था। यहाँ पूरा इतिहास देने का अवसर नहीं है। पर बात स्पष्ट है कि यूरोपमें जब-जब पूंजीवाद लड़खड़ाने लगा और जनतान्त्रिक शक्तियों का संग्राम-संघर्ष जब-जब तीव्र होने लगा, तभी-तभी यूरोपके प्रायः सभी देशोंमें पूंजीवादी वर्गने अपनी रक्षाके लिए मृतप्राय सामन्ती भावनाओं को उभाड़कर, साम्प्रदायिक विद्वेषको उभाड़कर, खून की नदीमें उटते हुए जनतन्त्रको डुबो देना चाहा था। हिटलर, मुसोलिनी आदि उसी परम्परामें उसी प्रयासके निदर्शन हैं।

अब हम जरा भारतीय राष्ट्रीयताके द्वन्द्व-विकासमें उन शक्तियों को देखें जो हमारे मुल्क को फैसिज्म की ओर लिए जा रही हैं। अभी तक हमने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके विकास को ही देखा है। अब हमें और चीजोंकी ओर भी नजर डाल लेनी चाहिए। हमने पहलेही भारतीय राष्ट्रीयताके विकासके बारेमें थोड़ीसी चर्चाकी है। भारतीय राष्ट्रीयताका विकास सर्व प्रथम हिन्दू उच्च वर्णोंसे ही होनेके कारण राष्ट्रीयतामें हिन्दू धर्म का भी योग हुआ। इस राष्ट्रीयतामें पाश्चात्य प्रेरणाके

कारण—बहुत कुछ यूरोप की औद्योगिक-सामाजिक क्रान्तिके कारण—इसमें एक किस्म का असाम्प्रदायिक भाव भी था। इसीलिए कांग्रेसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों का योग सम्भव हुआ। पर इस सहयोगसे विदेशी शासन को पूरा भय था और इसीलिए विदेशी शासकों की अन्तः प्रेरणासे धीरे-धीरे देशके अन्दर साम्प्रदायिक भेद का प्रश्न उभर आया; जिससे १९०६ में मुसलिम लीग की उत्पत्ति हुई। इसीसे हिन्दू सम्प्रदायमें जो सामन्ती-भावनाएं अभी तक सामाजिक जीवनमें वर्तमान थीं, वे १९०९ में हिन्दू सभाके रूपमें सक्रिय हो उठीं। उच्च वर्णोंमें राष्ट्रीय चेतना की वृद्धिके साथ ही साथ एक ओर राष्ट्रीय अधिकार स्वायत्त करने की चेष्टा होने लगी और दूसरी ओर देशके उद्योग-धन्धों को भी राष्ट्रीयताके नामपर उत्तेजना मिली। इसीसे हिन्दुस्तानमें पूंजीवाद का जन्म हुआ।

अंग्रेजी शासनके आविर्भाव कालमें हिन्दू उच्च वर्णोंमें ही अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ और मुसलिम समाज अंग्रेजोंसे मुँह मोड़कर वहाबी आन्दोलन इत्यादि के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा और शासनसे अलग रहा। अंग्रेज भी मुसलमानों को पूर्व शासक समझकर उनसे सावधान रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धोंमें जिस पूंजीवाद का विकास हुआ, कार्यतः उसपर हिन्दुओं का ही नेतृत्व था। पर थोड़े दिनों बाद ही मुसलिम समाज भी आगे बढ़ने लगा और मुसलिम सम्पन्न उच्च वर्ग भी पूंजीवाद की ओर बढ़ा। कांग्रेसके अन्दर उच्च मध्यम वर्गके नेतृत्वके कारण उसकी दृष्टि पूंजीवाद की ओर थी। इसीलिए १९३० में विदेशी कपड़ेके बहिष्कारसे जब स्वदेशी कपड़ेके मिलमालिकों, व्यापारियों और दूसरे स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन मिला तो भारतीय पूंजीपति और बड़े-बड़े व्यापारी कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए उसमें शामिल होने लगे। हिन्दू और मुसलिम उच्च मध्यम वर्गमें सर्व प्रथम सरकारी नौकरियोंके क्षेत्रमें विरोध दिखायी दिया। और विदेशी सरकारने इस विरोध को बढ़ावा भी दिया। पूंजीवादके विकास में भी हिन्दू उच्च वर्ग का मुसलिम उच्च वर्गसे अन्तर्विरोध था, जो दिनोदिन बढ़ता गया। कांग्रेस और मुसलिम लीगके झगड़ेके पीछे इन्हीं दोनों उच्च वर्गों का स्वार्थ-संघर्ष रहा है, इसे कभी भूलना नहीं चाहिए। इससे पूर्व इस वर्ग-विद्वेषके स्पष्ट न होनेके कारण मसजिदके सामने बाजाके प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुसलिम दंगा कभी नहीं था। इसी हिन्दू-मुसलिम पूंजीवादी संघर्षने हिन्दू-मुसलिम दंगों का रूप लिया। इन्हीं हिन्दू-मुसलिम पूंजीवादी वर्गोंने अपने लाभके लिए सामन्ती ढाँचेसे फायदा उठाकर साम्प्रदायिकता को उभाड़ा। इस तरह साम्प्रदायिक शक्तियाँ सजग हो गयीं।

भारयीय पूँजीवादके सामने प्रारम्भमें दो प्रश्न थे—एक पूँजीवादी व्यवस्था के लिए सामन्ती व्यवस्था को तोड़ना; दूसरा विदेशी पूँजीवाद को खतम कर अपने को पूर्ण प्रतिष्ठित करना। बिना जनतान्त्रिक भावनाओं को उभाड़े विदेशी पूँजीवाद का खातमा असम्भव था। इसलिए उसने जनता को अपने साथ लेना उचित समझा और सामन्ती ढांचे को तोड़नेके लिए ही उसने प्रारम्भमें धार्मिक व्यवस्थाओं को सहारा नहीं दिया; और इसीसे सामन्ती ढांचे द्वारा उत्पन्न धर्म साम्प्रदायिक भावनाओं से उसकी टक्कर भी हुई। पूँजीवादके लिए सामन्ती व्यवस्था का तोड़ना आवश्यक था। इसलिए कांग्रेस जनतान्त्रिक आदर्शों की समर्थक रही। इससे विवश होकर प्रतिक्रियावादी सामन्ती शक्तियाँ हिन्दू राष्ट्रवाद का नारा लगाकर अलग संगठित होने लगीं। हिन्दू पूँजीपतियों की शक्ति अधिक देखकर मुसलिम पूँजीपतियोंके अन्दर यह भावना स्पष्ट होने लगी कि इनके साथ रहकर हमको पूरा फायदा नहीं होगा। पाकिस्तान की परिकल्पना की बुनियाद में यही अर्थनीतिक संघर्ष है। जिन्नाके नेतृत्व में साम्प्रदायिक दंगोंके रूप में पाकिस्तानी मनोवृत्ति की चरम परिणति हुई। उसी दबावके कारण हिन्दुस्तान दो स्वतन्त्र राष्ट्रों में बँट गया। हिन्दू राष्ट्रवादियोंके लिए यही स्वर्ण सुयोग था।

इस बीच द्वितीय महायुद्ध हुआ। विश्व भर की जनतान्त्रिक और फासिस्ट शक्तियों के बीच भीषण संग्राम हुआ, जिनमें फासिस्ट शक्तियाँ परास्त हुईं। सर्वत्र पूँजीवादी तन्त्रके नीचे दबे हुए देशोंमें जनतान्त्रिक विप्लव का प्लावन प्रारम्भ हुआ। भारतीय

जनता भी ब्रिटिश पूँजीवाद को उखाड़ कर जनतान्त्रिक समाजवादी राष्ट्र की ओर बढ़ रही थी। परन्तु भला भारतीय पूँजीवादको समाजवादी राष्ट्र कब मंजूर था? क्योंकि इससे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। इसीलिए भारतीय पूँजीवादने ब्रिटिश साम्राज्यवादके साथ समझौता कर हिन्दुस्तानकी क्रान्तिकारी शक्तियोंको कुचलना शुरू कर दिया। और इसीलिए कांग्रेसको पूरा पूरा पूँजीवादीका समर्थक बना देनेके लिए एक पार्टीके बहानेसे जनतान्त्रिक समाजवादी दलको कांग्रेससे निकाल देना आवश्यक हुआ, जिससे आगे चलकर हमारे पं० नेहरू को कामनवेल्थमें शरीक होकर हमारे शत्रु अंग्रेजी साम्राज्यवादको साथ देना सम्भव हुआ इसीलिए प्रतिक्रियावादी सामन्तवादकी सारी शक्तियोंके साथ हाथ मिलाना या समझौता करना कांग्रेसके लिए आवश्यक हुआ। इसीलिए कांग्रेसके प्रतिक्रियावादी दलके नेता सरदार पटेल ने महात्मा गांधीकी हत्याके कुछ ही दिनों पहले अपने लखनऊवाले भाषणमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघकी पीठ ठोंकते हुए उसे देशभक्तिका सर्टीफिकेट दिया था। इसीलिए सी. पी. के प्रधान मन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल ने अपने भाषणोंमें मुसलमानोंके नागरिक अधिकारों तकको छीननेका एलान किया था,[7] जिसे सुनकर महात्मा गांधीको बहुत खेद हुआ था। इसीलिए दिल्लीमें रंदवाके सरकारी अधिकारीके रूपमें रहते हुए मुसलमानोंके सामूहिक सफायेका षड़यन्त्र शुरू हुआ, जिसको शान्त करनेके लिए महात्माजीको अनशन तक करना पड़ा। इसीलिए महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रपिताको लाचार होकर बार-बार कहना पड़ा—'अब तो मैं खोटा सिक्का हो गया हूँ,' 'अब मेरी कौन सुनता है ?' इसीलिए सरदार पटेलके सेक्रेटरी तकको महात्मा गांधी जैसे व्यक्तिसे मिलनेकी फुरसत नहीं रहती थी। इसीलिए महात्मा गांधीजीकी प्रार्थना-सभामें बम फटनेके तुरत बाद, बम्बई के गृहसचिव श्री मुरारजी देशाई को प्रो० जगदीशचन्द्र जैन द्वारा महात्माजी की हत्याके षड़यन्त्र की सूचना दे देनेके बावजूद भी—और वकील मुरारजी देशाई उनके सरदार पटेलको सूचित कर देनेके बाद भी—महात्माजी की रक्षाके प्रति उपेक्षा दिखायी गयी और परिणामतः उनकी हत्या हो गयी।

यह नेहरू सरकार पूँजीवादी है, इसे हम अनेक बार कह चुके हैं। इस सरकारकी औद्योगिक शान्ति सम्बन्धी योजनाको देखते हुए कोई भी पूँजीवादी सर अलफ्रेड मण्डके ११ मई १९२८के वक्तव्यको दुहराकर कह सकता है— "मैं फैसिज्मकी तारीफ इसलिए करता हूँ कि यह सामाजिक शान्ति लानेमें समर्थ है। इंगलैण्डके औद्योगिक क्षेत्रमें उसीके लिए मैं वर्षोंसे काम कर रहा हूँ। (यहां 'भारतके' लिए पढ़िये,—ले०) फासिज़्म मेरे राजनीतिक आदर्शोंकी पूर्तिके लिए अर्थात् सभी वर्ग भक्ति के साथ परस्पर सम्मिलित रहें, इसके लिए फैसिज़्म आगे बढ़ता है।" कांग्रेस द्वारा संगठित आई. एन. टी. यू. सी. के कार्यों और उसके समर्थनमें सरकारी अधिकारियोंके उद्योग तथा सरकार द्वारा हड़ताल-तोड़क नीति हमें बीसवीं शताब्दीके प्रथम दशककी रूसी ज़ार द्वारा संगठित ब्लैक हण्ड्रेडकी याद दिलाती है, जिसके जरिए उसने १९०५ की रूसी क्रान्तिको विफल किया था। मजदूर-किसान आन्दोलनको दबानेके लिए गोलियों और जेलोंका इस्तेमाल जोरोंसे हो रहा है। नागरिक अधिकारोंका छीना जाना और हाईकोर्टके अधिकारोंका सीमित किया जाना प्रारम्भ होगया है। सरकार की यह नीति हमें यह सोचनेके लिए मजबूर करती है कि यह सरकार, जिसने जनताके दबावसे आज राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबन्ध लगाया है, वही संघके सदस्योंको जेलोंमें ले जाकर उन्हें पी. आर. डी. (प्रान्तीय रक्षा दल) में संगठित करेगी और उनके द्वारा मजदूर आन्दोलनका दमन कराया जायगा। यह सरकार मुद्रा-प्रसार और महँगाईको दूर करनेमें इसलिए असमर्थ है कि यह पूँजीवादी है। किन्तु इन समस्याओं के समाधान में असमर्थ होकर फैसिस्टी तरीकेसे मजदूरोंका दमन करेगी जैसा कि इटली और जर्मनीमें हो चुका है। अपनी पीठ ठोंकते हुए कहा जाता है कि लौहपुरुष सरदार पटेलने भारतीय रजवाड़ोंको एक सूत्रमें गूंथकर भारतीय

[7] "ब्रिटिश भारतके हिन्दू इलाकेमें ३ करोड़ मुसलमान होंगे। आखिर इनकी क्या हालत होगी ? इनके साथ विदेशियोंके समान बर्ताव किया जायगा। उन्हें कोई भी नागरिक अधिकार नहीं रहेंगे।"

('नव भारत' २७ जून ४७)

यूनियनको बहुत मजबूत कर दिया है। सरकारकी इन सब नीतियोंको देखते हुए हमें अक्टूबर १९३३ में कही हुई एक अमेरिकन राजदूतकी उक्ति याद आती है—"हिटलर जर्मनीके लिए बहुत कुछ कर रहा है। उसने जर्मनीको एक सूत्रमें आवद्ध किया है, समाजवादका विनाश किया है, नवजवानोंको शिक्षित किया है, देशभक्तिसे उद्बुद्ध स्पार्टा स्टेटकी सृष्टिकी है, पार्लियामेण्टरी शासन तन्त्रको संकुचित किया है, जो कि जर्मन प्रकृतिके अनुकूल नहीं है और व्यक्तिगत सम्पत्तिके अधिकारकी रक्षाकी है। ये सभी कार्य अच्छे हैं।" पिछले दिनों यू.पी. के उप-निर्वाचनमें प्रीमियर श्री गोविन्द बल्लभ पन्त और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन द्वारा विरोधी दलका भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध कहना उसी तरह है, जैसे हिटलर द्वारा जर्मन जनतन्त्रवादियोंको जर्मन संस्कृतिके विरुद्ध कहना।

इस तरह हम यह देख रहे हैं कि भारतीय सरकार पूंजीवाद की रक्षाके लिए सामन्तवादसे समझौता कर रही है, जिसका प्रगट स्वरूप होगा हिन्दू फैसिज्म। व्यक्तिगत स्वाधीनता और विरोधी दलोंके कुचलने की योजना उसी ओर इस सरकारका रुख बताती है। यद्यपि अभी यह सरकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबन्ध लगाये हैं, किन्तु आश्चर्य नहीं कि किसी दिन इस सरकारके वास्तविक नेता लौहपुरुष यह कह दें कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघी कांग्रेसमें शरीक हो गए। क्योंकि वह संघ के मत को बुरा नहीं समझते, उसके अलग संगठनका विरोध करते हैं। और कांग्रेसी सरकारें आज जिस ओर जा रही हैं, उससे यह भी साबित हो जाता है कि आगे चलकर हिन्दू मनोवृत्तिसे ही उसको समर्थन भी मिल सकेगा[८]। जो हो, भारतवर्षमें आज फैसिस्ट शक्तियाँ सबल हो रही हैं। पर यह भी सच है कि संसारमें फैसिज्मके विरुद्ध सामाजिक शक्तियाँ सक्रिय हैं और यूरोप का फैसिज्म कब्रमें जा चुका है। चीनके फैसिज्मका जनाजा कब्रिस्तान में जाने ही वाला है। भारतीय समुद्र में ज्वार आ रहा है; हिमाद्रि राजके शिखरोंपर तूफान डोल रहा है। किन्तु फिर भी यह समझना भ्रम होगा कि भारतवर्ष की फैसिस्ट शक्तियाँ अपनेसे ही खतम हो जायगी। भारतीय आकाशमें फैसिज्मके भयावने बादल मँड़रा रहे हैं, जनतान्त्रिक शक्तियों को सजग और संगठित हो जाना चाहिए।

---

८. प्रीमियर पंतने आचार्य नरेन्द्रदेवके विरुद्ध अपने अयोध्याके चुनाव-भाषणमें कहा था—"राजनीतिके मामलोंमें कांग्रेस यद्यपि किसीको धर्मके आधारपर कोई विशेष सुविधा नहीं देगी, परन्तु संस्कृतिके क्षेत्रमें वह अपनी संस्कृतिके मेलमें ही काम करेगी।...सोमनाथ मन्दिर जो ध्वस्त कर दिया गया था, सरदार वल्लभ भाई पटेलके प्रयत्नसे पुनः बनाया जा रहा है।...जमीन्दारी प्रथा टूट जानेपर भी हम धार्मिक संस्थाओंको कोई क्षति न पहुंचने देंगे। उनकी आमदनी न घटने पाए, इसके लिए सरकार उद्योग करेगी।" आचार्य नरेन्द्र देवजीके विरुद्ध कांग्रेसने जिस साम्प्रदायिक मनोवृत्तिको भड़काया उसे देखनेके लिए देखिए "जनवाणी" जुलाई ४८ का सम्पादकीय]

प्राचीन बाबुल पर एक दृष्टि

भगवतशरण उपाध्याय

नीचे का बाबुल-संबंधी वृत्तान्त ग्रीक हेरोदोतस् का है जो ईरानी सम्राट दारयवौष्के दरबारमें राजदूतकी हैसियतसे कई वर्ष रहा और जिसने आँखों देखी बाबुली रीतियोंका सविस्तार वर्णन किया। यह वृत्तान्त पाँचवीं सदी ईसवी पूर्व का है परन्तु इसमें उद्घाटित सभ्यताके स्तर निस्सन्देह अत्यन्त प्राचीन हैं जो उसके काल तक गतिमान बने रहे थे। वर्णन अत्यन्त मनोरंजक और सार गर्भित है।

"असुर अनेक राजधानीपदीय नगरोंके स्वामी हैं, परन्तु उनकी शक्ति और यशका सबसे बड़ा केन्द्र वह बाबुल है जो निनेवेके बाद राजकीय आवास बना। यह एक विस्तृत मैदानमें अवस्थित है और प्रायः सर्वथा वर्गाकार है। इसकी प्रत्येक भुजा लंबाईमें १२० फर्लांग है जिससे इसका सारा क्षेत्रफल ४८० फर्लांग हुआ। (प्लिनी और सोलिनसने यह परिधि ६० रोमन मील दी है जो हेरोदोतस्के अनुकूल हुआ क्योंकि एक रोमन मील आठ स्टडियाके बराबर होता है। स्त्राबोने यह परिधि ३८५ स्टडिया मानी है, क्तेसियस और दियोदोरसके अनुसार वह ३६० है। सिकन्दर-कालीन की रायमें वह ३६५ है और कर्तियसके अनुसार ३६८। संभवतः परिधिका सही अनुमान ३६० या ३६५ स्टडिया होगा।)

बाबुलकी बस्ती जितनी जमीन घेरे हुए है, इसकी आन्तरिक सुन्दरता और शालीनता जितनी प्रभावोत्पादक है उतनी मेरी जानकारीमें कोई और नहीं है। इसके चारों ओर चौड़ी, गहरी जलसे भरी खाई दौड़ती है। इसके पार वाली दीवार उँचाईमें दो सौ राजहस्त (हाथ) है और चौड़ाई ५० राजहस्त। राजहस्त साधारण हस्तसे तीन अंगुल बड़ा होता है।

यहाँ पर मैं यह बता देना उचित समझता हूँ कि खाई की मिट्टी का क्या उपयोग हुआ और यह प्राचीर किस प्रकार बनी। पहले उस मिट्टीकी राशि खड़ी की गयी, फिर उसकी मिट्टीकी वर्गाकार ईंटें बना ली गयीं और उन्हें भट्ठीमें पका लिया गया। अश्फाल्ट के से पदार्थमें नरकट की सी घास मिलाकर सीमेन्ट बनायी गयी। ईंटोंके प्रत्येक तीस फेरेके बाद उसका अनुलेप किया गया। इस प्रकार खाईकी दीवारें मजबूत कर लेनेके बाद प्राचीर की दीवार भी इसी प्रकार बनी। उसके सिरेपर आमने-सामने छोटी-छोटी एक मंजिला सन्त्रियों की बुर्जियाँ बनीं जिनके बीच इतनी जमीन छोड़ दी गयी कि उसमें एक रथ और चार घोड़े चल और घूम सकें। प्राचीरमें स्थान-स्थान पर बने सौ विशाल द्वार थे जिनके किवाड़ काँसेके बने थे। बाबुलसे आठ दिन की यात्रा पर हस (हित) नामका नगर है जिसके पास उसी नामकी नदी है जो फ़रातमें गिरती है। इसी नदीके बहावके साथ अश्फ़ाल्ट सरीखा वह पदार्थ बाबुल की ओर बहता है जिसकी मददसे वहाँ की प्राचीर बनी है। वह तीव्र गतिकी गहरी फ़रात अरमनीके पहाड़ोंसे निकल कर बाबुल को दो भागोंमें बाँटती हुई लोहित सागरमें जा गिरती है। नगरकी दोनों सीमाओं पर प्राचीरकी दीवारें नदीके साथ कोण बनाती हैं जहाँ जले ईंटोंकी एक दुहरी दीवार जलके सामने खड़ीकी हुई है। नगरकी सड़कें एक दूसरे को स्थान-स्थान पर काटती हैं और उनके किनारे तीन-तीन चार-चार मंजिलोंके मकान खड़े हैं। इनकी संख्या प्रभूत है। समानान्तर सड़कोंको काटती हुई अन्य सड़कें प्राचीरकी दीवारोंके बाहर नदी तक पहुँचती हैं। इनकी रक्षाके लिए प्रत्येक बाहर जानेवाली सड़क पर एक काँसेका दरवाजा है।

साहित्यिक प्रगति

बैजनाथसिंह "विनोद"

नव-संस्कृतिकी विचार-धारा

सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र विद्वान श्री लक्ष्मण जोशीने अपने मराठी ग्रन्थ "धर्म-समीक्षाकी भूमिका" में संस्कृतिके स्वरूपकी इस प्रकार व्याख्याकी है:—

"आधिभौतिक और आध्यात्मिक संस्कृति और धर्मके पारस्परिक सम्बन्धको समझनेके लिए यहाँ बहुत संक्षेपमें संस्कृतिका स्वरूप बतलाया जाता है। आध्यात्मिक और अधिभौतिक शक्तियोंको सामाजिक जीवनके उपयुक्त बनानेकी कलाको ही संस्कृति कहते हैं। स्वयं मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति है और उसके चारों ओर का विश्व अधिभौतिक शक्ति है। मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको कार्यक्षम बनाता है, विकारोंपर काबू पाता है, विचारोंकी अर्थात् ज्ञानकी वृद्धि, भावना और आकांक्षाओंको प्रगल्भ तथा सूक्ष्म बनाता है। इसीको आध्यात्मिक संस्कृति कहा जायगा। नीति, सौन्दर्य, सत्य, न्याय, ध्येय, श्रेयस् आदि संज्ञाओंने जिनका बोध होता है, उनका इस आध्यात्मिक संस्कृतिसे सम्बन्ध है। कायदे-कानून, धर्म, साहित्य, शास्त्र, विज्ञान, समाज-व्यवस्था और राज्य-पद्धतिका आध्यात्मिक संस्कृतिमें अन्तर्भाव होता है। भौतिक संस्कृतिका अर्थ है मनुष्यके चारों ओर फैले हुए विश्वका समाज-जीवनके अनुकूल रूपान्तर। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, धातु, वृक्ष, वनस्पति, पशु इत्यादिके रूपमें चारों तरफ फैली हुई अनन्त सृष्टिको उपयोगी बनाना, शिकार, जहाजरानी, कृषि, पशु-पालन, धातुओंके हथियार बनाना, भाप और बिजलीके यन्त्र बनाना आदि क्रियाओंका भौतिक संस्कृतिमें अन्तर्भाव होता है। भौतिक संस्कृति और आध्यात्मिक संस्कृतिके बीच पृथक्ता बतलाने वाली रेखा खींचना कठिन है। इसका कारण इन दोनों की परस्परावलम्बिता है और ये एक दूसरेसे मिली हुई हैं। आधिभौतिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृतिका आधार है। आसपासके जगतका उपयोग करते करते ही मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका विकास होता है। मनुष्यके अत्यन्त गहरे नैतिक सम्बन्धोंका आधार भी भौतिक होता है। पति और पत्नी, माता और पुत्रका सम्बन्ध स्नेहका होता है। परन्तु उनका प्राथमिक कारण भौतिक होता है। मनुष्य मनुष्यके सम्बन्ध साक्षात् अथवा परम्परासे समाजकी भौतिक आवश्यकताओंकी व्यवस्था पर ही अधिष्ठित हैं।..."

आगे चलकर विद्वान लेखकने लिखा है:—

"मानवजाति-शास्त्रज्ञोंने मानव-समाजकी संस्कृति का अभ्यास करनेके लिए तीन मुद्दोंका खुलासा करने का प्रयत्न किया है:—१. मानवेतिहास की रचना; २. ऐतिहासिक घटनाओंके विशिष्ट रूप और उन विशिष्ट रूपों का खुलासा; ३. ऐतिहासिक घटनाओंके परिवर्तनों की गति का शास्त्र। इस समय जो मानवेतिहास उपलब्ध है, उसका, ऐतिहासिक विशिष्ट घटनाओं का, उन घटनाओंके क्रम का और ऐतिहासिक परिवर्तनों की गतिके शास्त्रका निरूपण करने का जिन पाश्चात्य समाजशास्त्रज्ञों और इतिहासज्ञोंने प्रयत्न किया है, उनमेंसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रज्ञ कार्ल मार्क्सने इतिहासके गति-शास्त्र का सिद्धान्त बहुत अच्छी तरहसे प्रतिपादित किया है। उन्होंने अपना सिद्धान्त अर्थशास्त्र की समीक्षा की प्रस्तावनामें और 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' में दिया है। उन्होंने समाज-रचनाके दो पहलू बतलाये हैं, एक तो समाज की भौतिक नींव, अधिष्ठान अथवा अधिकरण और दूसरा आध्यात्मिक प्रासाद। उत्पादन की पद्धति और उस पद्धतिसे उत्पन्न होनेवाले मानव मानवके सम्बन्ध, यह समाज की भौतिक नींव है। उत्पादन-पद्धति अर्थात् मानव-जीवनके लिए उपयोगी

साधनोंके निर्माणकी पद्धति उत्पादन-पद्धति की विशेषतासे समाजभुक्त मानवोंके विशिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। उत्पादन-पद्धति और मानव गुटों का अस्तित्व भौतिक है। अनाज, फल, वस्त्र, उपकरण, वनस्पति, हथियार, घर, पशु, वर्तन-भाँड़े, यन्त्र आदिके उत्पादन, विनिमय, विभाजन और व्यवस्था करने की पद्धतिमें श्रम-विभाग बनकर मानव-समाजमें गुट बन जाते हैं। उत्पादन-पद्धति और उससे उत्पन्न हुए मानव वर्गोंकी नींव पर ही समाज का आध्यात्मिक प्रासाद खड़ा होता है। यह आध्यात्मिक प्रासाद क्या है? भाषा, विद्या, साहित्य, कला, कायदे-कानून, राज्यप्रणाली और धर्म इन सबका समुच्चय। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् अन्तःकरण, यही इस प्रासादका मुख्य कारण होता है। मानसिक मूल्यों का ही इसमें अधिकतम हिस्सा रहता है। बुद्धि, भावना और आकांक्षा का ही इसमें प्रत्यक्ष विकास हुआ दिखायी देता है।"

"समाज का भौतिक आश्रय या अधिष्ठान बदला कि उसका आध्यात्मिक प्रासाद भी बदल जाता है। एक बदला कि दूसरा भी बदल जाता है। उत्पादन-पद्धति और तज्जन्य सामाजिक वर्ग-पद्धति का आध्यात्मिक संस्कृतिके साथ आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध है। पूर्णता को पहुँचा हुआ समाज और पूर्णता को पहुँचा हुआ राज्य, वास्तविकतासे रहित निरी कल्पना है। प्रत्येक सामाजिक रचना और संस्था विकास की माला की एक कड़ी है। वह नष्ट होकर उसकी जगह पर दूसरी आ जाती है। प्रत्येक स्थिति उतने समय तक ही आवश्यक और न्याय्य होती है। एक विशेष काल-मर्यादाके बाहर उसका अस्तित्व अनावश्यक और अन्याय होता है। नयी समाज-रचना को मौका देकर पूर्ववर्ती समाज-रचना को नष्ट होना ही चाहिए। जिस तरह पूँजीवादी समाज-रचनाके आने पर सामन्तशाही समाज-रचनाके ध्येय कोहरेके समान फट गये और संस्था फूटी हुई नाव की तरह तलीमें जा लगी, उसी तरह पूँजीवादी समाज-रचना को भी अब नष्ट हो जाना चाहिए। क्योंकि वह सामाजिक प्रगतिमें रुकावट डालने लगी है और उसकी उपयोगिता भी समाप्त हो चुकी है। प्रत्येक सामाजिक स्थिति सापेक्षतासे ही आवश्यक और न्याय्य ठहरती है।"

किन्तु पूँजीवादी समाज की उपयोगिता खतम हो जानेके बाद भी, उसके अन्याय और प्रगति विरोधी सिद्ध होनेके बावजूद भी समाजमें पूँजीवादी स्वार्थ हैं और वे स्वार्थ राज्यसत्ता पर भी हावी हैं। ऐसी हालतमें समाजवादी समाज और संस्कृति की रचना अपने आप नहीं हो जायगी। नव-संस्कृति की रचना अपने आप न हो जायगी। उसके लिए गम्भीर और लड़ाकू प्रयत्न अनिवार्य आवश्यक हैं। बिना भीषण संघर्षके नव-संस्कृति का जन्म असम्भव है। नव-संस्कृति की चर्चाके लिए आज भारतवर्ष का सम्पूर्ण नव-चेतन वर्ग सजग है। सर्वत्र किसी न किसी रूपमें लोग नव-संस्कृतिकी चर्चा करने लगे हैं। पर नव-संस्कृति की चर्चा करने वालोंमें ऐसे लोग भी हैं, जो संस्कृति को शाश्वत और अतीन्द्रिय सत्य मानते हैं। नव-संस्कृति पर चर्चा करने वालोंमें ऐसे लोग भी हैं, जो पुराने समाज के मानसिक सम्पद अथवा आध्यात्मिकता को नव संस्कृतिमें आरोपित करना चाहते हैं। इसलिए नव संस्कृतिके निर्माताओं को बहुत ही सजग और सावधान रहने की जरूरत है। नव-संस्कृतिके सम्बन्धमें बंगालके वीरेन पालने कुछ मौलिक और व्यावहारिक सुझाव रखे हैं, जिसे मराठीने उद्धृत किया है। वीरेन पालके विचार स्पष्ट, व्यावहारिक और पुराने कूड़ा-करकट को नष्ट करनेवाले हैं। उक्त विचार को उत्तर भारतके नव-संस्कृति-चिन्तकोंके सम्मुख उधृत करना हम आवश्यक समझते हैं:—

"किसी भी युगमें शासक श्रेणीका भाव-सम्पद् ही उस युगके भाव-राज्यका विधानकर्ता है"—'जर्मन आइडियोलॉजी' ले० मार्क्स।

"इसीलिए शासक श्रेणीके विरुद्ध जब श्रमजीवी श्रेणीका संघर्ष होता है, तो एक श्रेणीकी भाव-धाराके साथ अन्य श्रेणीकी भाव-धाराका संघात भी अनिवार्य होता है।

"श्रेणी विभक्त समाजमें साहित्य और संस्कृति श्रेणी-संग्रामकी ही अभिव्यक्ति है। संस्कृतिके अन्दर केवल श्रेणी-संग्राम अभिव्यक्त होता है, इतना ही नहीं; संस्कृति किसी एक विशेष श्रेणीके हाथ में श्रेणी-संग्रामका हथियार है। श्रेणी-संग्रामके मूलमें, समाजमें अन्तर्निहित श्रम-सम्बन्ध, उनकी समस्या, संग्राम और

समाधान रहता है। इसलिए साहित्य और संस्कृतिकें अन्दर उसीका सूक्ष्म, पर शक्तिशाली प्रचार रहता है। कोई लेखक अथवा कलाकार इस बारेमें सचेत रह भी सकता है,नहीं भी रह सकता है। परन्तु वह जिस वस्तुकी सृष्टि करता है, वह उस श्रेणी-संग्राममें किसी न किसीके लिए हथियार होता है; अथवा किसी न किसी दलके अन्तर्भुक्त होनेके लिए बाध्य होता है। अतः श्रेणी-निरपेक्ष कोई कला अथवा संस्कृति नहीं है।

मार्क्सका कथन है--

"वास्तविक जीवनकी उत्पादन-पद्धति सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक जीवनकी गतिका निर्देश करती है। चेतनाके द्वारा मनुष्यका वास्तविक जीवन निर्धारित नहीं होता, वरन् सामाजिक वास्तविक जीवन द्वारा ही चेतना निर्धारित होती है।"--'क्रिटिक ऑव पोलिटिकल एकानोमी।'

"वास्तव जगतके आधार पर ही भाव-सम्पद् प्रतिष्ठित है और वास्तवके विरोधात्मक तथा आकस्मिकता पूर्ण क्रम-विकासके सिलसिलेमें ही भाव-सम्पद्की उत्पत्ति होती है। किन्तु भाव-जगत निष्क्रिय नहीं है। वस्तुसत्ताके ऊपर चिन्तनकी प्रतिक्रिया होती है। चिन्तन सक्रिय है, चिन्तन-जगत वस्तुसत्ताकी गतिके उपर प्रभाव डालता है। इसीलिए साहित्य और कला श्रेणी-संग्रामके ऊपर प्रभाव डालते हैं, और श्रेणी-संग्राम के हथियारके रूपमें इस्तेमाल किये जाते हैं।

× × ×

"वर्तमान पूंजीवादी समाजमें बूर्जुआ श्रेणी ही शासनकर्ता है। यह श्रेणी पूंजीवादी समाजको ही शाश्वत समाज समझती है, और बूर्जुआ श्रेणीको ही समस्त मानव-समाजका ट्रस्टी समझती है; इसी समाजको ही चिरस्थायी बनाये रखनेकी उसकी कोशिश है। इसीलिए बूर्जुआ श्रेणीकी संस्कृतिको इसके पुरोहित युग-निरपेक्ष और श्रेणी-निरपेक्ष स्वाधीन संस्कृति समझते हैं। श्रमिकोंका स्वार्थ इस समाजके परिवर्तन अर्थात् श्रेणी-समाजका ध्वंस करनेमें है। श्रमिक श्रेणीकी संस्कृति अथवा 'प्रोलेटारियन आर्ट' श्रेणी-समाजको ध्वंस करनेका अन्यतम अस्त्र है। इसीलिए राजनीतिक और अर्थनीतिक जगतकी तरह सांस्कृतिक जगतमें भी श्रेणी-संग्राम चल रहा है।

× × ×

"द्वितीय महायुद्धके अन्त होनेके साथ ही साथ भारतवर्षमें जिस प्रकार जनसंग्रामका ज्वार आया, उसी प्रकार साहित्य-जगतमें भी एक ज्वार आया। इस युगकी आजादीकी लड़ाईमें, जनतान्त्रिक अधिकारोंके लिए संग्राममें, जमीन और जीविकाकी लड़ाईमें किसानों, मजदूरों और प्रगतिशील छात्रोंने अपने अस्तित्वको अनुभव करनेके लिए औरोंको बाध्य किया है। इसीलिए इस युगमें प्रत्येक साहित्यिक जन-गणके पास उतर आनेके लिए बाध्य हुआ है, उसे अस्वीकार करना उसके लिए असम्भव हो गया है, और उसकी छायाको स्पर्श न कर ब्राह्मण्य--आभिजात्यकी रक्षा करना दुस्साध्य हो गया है। किन्तु राजनीतिक क्षेत्रमें जिस प्रकार विभिन्न दल विभिन्न उद्देश्योंको लेकर गण-मानवके पास जाते हैं, साहित्य-जगतमें भी उसी प्रकार विभिन्न-दल, विभिन्न उद्देश्योंको लेकर गण-मानवकी पंक्तिमें उतर आये हैं। पर वे सभी प्रगतिशील नहीं हैं। केवल वे ही प्रगतिशील हैं जिन्होंने भाव, वर्णन और कलाकौशलके द्वारा समाजके वर्तमान संग्राममें दलितोंका पक्ष लिया है, वर्तमान (वस्तुस्थिति) के अन्दर भावी समाजका बीज देखा है और दूसरोंकी आँखोंके सन्मुख उस बीजको रख दिया है।

× × ×

"उनकी नीति निपीड़ित वर्गों के जीवनको भाषामें रूपायित करना है, उनका व्रत समाजके अन्तर्हित संघर्षको साहित्यमें प्रस्फुटित करना है। वह वास्तवके 'निरपेक्ष' संवाददाता नहीं हैं, वह नवीन वास्तवके स्रष्टा हैं, अतीतकी मृत्यु, वर्तमानका प्रलय और अनागत भविष्य की सूचना--यह तीनों उसके साहित्यमें अभिव्यक्त होगी जिससे संस्कृति निपीड़ित जनगणकी प्रेरणाकी वस्तु हो, जिससे संस्कृतिमें उन्हींकी यथार्थ आशा--आकांक्षाओंका स्थान हो, जिससे उन्हींके जीवनके यथार्थ बहुमुखी द्वन्द्वको लेकर संस्कृतिकी रचना हो, उनका यही प्रयास है।

× × ×

"इस समय आगे बढ़नेके लिए कई क्षेत्र हैं:--

"प्रथमतः, श्रेणी-संग्राम को आश्रय करना होगा, श्रेणी-निरपेक्ष राष्ट्र की बात छोड़ देनी होगी, श्रेणी-संग्राममें मजदूरों का पक्ष लेना होगा। वास्तविक संग्राममें जिस प्रकार निरपेक्षता नहीं चलती, उसी प्रकार साहित्य और संस्कृतिमें भी निरपेक्षता नहीं चलती। विशेषतः आज जब सम्पूर्ण सांस्कृतिक जगत बूर्जुआ सभ्यताके स्तुतिगानसे भरा है, उस समय निरपेक्षता का अर्थ ही बूर्जुआ-श्रेणी का पक्ष लेना है।

"द्वितीयतः साहित्य-सृष्टिमें साहित्यिक की व्यक्तिगत बात, भाव और अनुभूतियों को मुख्य स्थान न देकर, जनगण के अन्तर्भुक्त मनुष्य की बात, उसके भाव और अनुभूतियों को मुख्य स्थान देना होगा। अपने स्वप्नोंके द्वारा उनके मनको भ्रममें डालने की चेष्टा न कर, उनकी बातोंके द्वारा अपने को व्यक्त करना होगा।

"तृतीयतः, जो लोग समाज को पीछे की ओर खींच रहे हैं, इतिहासके पहियों को रोकना चाहते हैं, जो मुष्टिमेय धनिक अपने संकीर्ण श्रेणी-स्वार्थ को अधिकांश लोगों का आदर्श बनाकर रखना चाहते हैं, उनके चेहरे को उतार देना होगा।

"चतुर्थतः, सहज, सरल, और उद्दीपक कला-कौशल के द्वारा संस्कृति और साधारण मनुष्यमें जो व्यवधान है, उसे तोड़कर चूर-चूर कर देना होगा; जो कला-कौशल साधारण मनुष्योंके मनको संस्कृति की ओर खींच लाता है, साधारण मनुष्यों की सुप्त अनुभूतियों को जागृत करता है, उस कला-कौशल की सृष्टि करनी होगी।

"पंचमतः, परिवारमें, व्यक्तिके जीवनमें, उसके संग्राममें, संसार, युद्ध और प्रेममें सर्वत्र एक ओरसे विनाश और दूसरी ओरसे सृष्टि चल रही है; इस विनाश और सृष्टि की तसवीर खींचनी होगी, जो आसानीसे दिखायी नहीं देता उसे दिखला देना होगा; कौन-सा अतीत है और कौन-सा भविष्य है, कौन-सा मृत है और किसका जन्म अवश्यम्भावी है, इसे बतला देना होगा। अध्यात्मवाद की अन्तिम सीमा को छोड़कर द्वन्द्वात्मक वस्तुवादके पक्षसे साहसके साथ आगे की ओर बढ़ना होगा।

× × ×

"नवीन समाजवादी साहित्य की उत्पत्ति एक दिन में नहीं होगी। नवीन समाजवादी साहित्य की सृष्टि आसान काम नहीं है। समालोचना और आत्मालोचना के द्वारा सृष्टि का पथ बाधामुक्त होगा, गलत रास्ता पकड़ने की गलतियां मालूम हो जायँगी। इतने दिन व्यक्तिनिष्ठ और आत्मकेन्द्रिक साहित्य-जगतमें जो लोग पड़े हुए हैं, वे समालोचना को बर्दाश्त नहीं कर सकते, समालोचनाके क्षेत्रमें व्यक्तिगत बन्धुत्वके द्वारा प्रभावित होते हैं और दूसरोंके द्वारा की गयी समालोचना को आत्म-मर्यादाके लिए हानिकर समझते हैं। जो नवीन समाजवादी साहित्यके स्रष्टा हैं, उन्हें इस विषयमें निर्मम होना पड़ेगा, निर्मम समालोचना सुननी होगी; समालोचनाके साथ आत्मालोचनाके मनोभाव को दिखलाना होगा।"

--बैजनाथसिंह 'विनोद'

ज न वा णी

फरवरी १९४९

विषय-सूची

———

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' एक प्रति का ॥)

काशी विद्यापीठ, बनारस

ग ५] फरवरी १९४९ [अङ्क २ पूर्णाङ्क २६

अभियान

महेन्द्र भटनागर

अँगार बन गया उपेक्षितों का वर्ग;
कि ढह रहा प्रवंचना का दुर्ग !
पत्थरों के कोयले धधक उठे,
लपट मशाल बन हवा के संग
अंधकार पर प्रहार कर रही !
जगमगा उठी दलित-युगों की रात;
पर्व है 'नुशूर' का—
मृतक शरीर कब्र फोड़
जागता है नींद छोड़ !
जंगलों के पेड़ खड़खड़ा उठे !
ये आँधियाँ हैं जो कभी उड़ी नहीं,
ये बिजलियाँ हैं जो कभी गिरी नहीं,
कि बदलियाँ गंभीर जो कभी घिरी नहीं !
गरज से कड़कड़ा रहा है
दंत पीस क्रुद्ध दिग-दिगन्त !
संगठित समूह की दहाड़ में

समाज में
विलीन शोषकों के कागज़ी पहाड़ !
राख हो गये !
कि जड़ समेत सब उखड़
हवा के तामसी महल सहज में खाक़ हो गये !
यह आग है जो
बर्फ़ की तहों से दब न पायगी,
जो क्षिप्र जल की धार से कभी भी बुझ न पायगी !
जब तलक है अंधकार शेष इस ज़मीन पर
तब तलक अमीर खटमलों-सा
चूसता रहेगा निर्धनों का रक्त
हर गली-गली में मृत की
डरावनी हँसी विराट गूंजती रहेगी तब तलक !
प्रसुत
प्रस्तरों की चादरों को छोड़,
प्रांशु भाल, प्राज्य शक्ति, ध्रुव प्रतीति ले,
उठा रहा प्रहारना का अस्त्र !
है असाँच-गर्व मृत,
अक्षार अस्तमन, विधुर, विपन्न,
अब विभीषिका विभावरी
विभास से विभीत, पिंगला !
नवीन ज्योति का सशक्त कारवाँ चला,
गिर रहा है टूट-टूट कर
कदम-कदम पर अंधकार !
सजग-सचेत जागते रहेंगे हम
कि जब तलक यह रुद्ध-राह-द्वार खुल न जायगा,
यह वर्ग-भेद, जाति-द्वेष मिट न जायगा,
हमारी धमनियों में
खून खौलता रहेगा तब तलक !

मानव-संस्कृतिके तत्त्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

कुछ ऐसी घटनाएं प्राय: घटा ही करती हैं जिनके अनौचित्यसे मनमें थोड़ी खीझ तो पैदा होती है पर नाना कारणोंसे आदमी उन्हें सह लिया करता है। सबसे बड़ा कारण तो लिहाज़ होता है। कभी कभी अनुशासन और नियमानुवर्तिताके कारण भी ऐसा करना पड़ता है। मैं जब देखता हूं कि हर बुरी जँचने वाली बातके लिए मनुष्य लड़ नहीं पड़ता—और बुरी बातें संख्यामें नितांत थोड़ी भी नहीं होती—तो मुझे लगता है कि मनुष्य-जातिनें सामूहिक रूपसे उस गुण का विकास अपनेमें कर लिया है जिसे सहनशीलता कहते हैं। यह मेरे लिए बहुत उल्लासजनक बात है। यह इस बातका सबूत है कि मनुष्यमें लाज-हया, शील-संकोचका उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है, और यह कोई मामूली बात नहीं है। इस सभामें आनेके पहले ही मैं जानता था कि यहां आनेवाले श्रोताओंमें यह और ऐसे ही अन्य सद्‌गुण प्रचुर मात्रामें अवश्य होंगे। मेरा अनुमान ठीक निकला, नहीं तो आज जिस व्यक्तिने इस सभाके सभापतिकी गद्दी धृष्टता वश दखल कर ली है, उसके स्पष्ट अनुचित आचरण को यहां इस प्रकार संयत भावसे शान्तिके साथ बर्दाश्त नहीं किया जाता। मैं अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक आपको अपनी प्रणति निवेदन करता हूं।

मैं आज संसारके प्राचीनतम ज्ञानपीठ काशीमें उपस्थित हूं—काशी, जहाँ भारतवर्षकी सर्वोत्तम साधना की अखण्ड धारा गंगाकी निर्मल धाराके साथ न जाने किस अज्ञात कालसे बहती आ रही है; जिसके चप्पे-चप्पेमें महासाधकोंके संदेश उपयुक्त पात्रकी प्रतीक्षामें चुपचाप पड़े हुए हैं; जिसने न जाने कितनी धर्म-साधनाओंको जन्म दिया है और नवीन रूप दिया है; मैं उसी महिमामयी नगरीके शिष्ट जनोंके सामने खड़ा हूं। अज्ञात कालसे भारतवासी काशीको दो बार स्मरण करते रहे हैं। प्रथम वयसमें ज्ञानकी उपलब्धिके लिए और अन्तिम वयसमें ज्ञानकी चरितार्थताके लिए। मैं इस पुण्य भूमिमें आपको कोई नयी बात सुनानेकी मिथ्या धारणा लेकर नहीं आया हूं। यहांके आचार्यासनोंसे ज्ञानकी प्रत्येक नयी धाराके विषयमें आपको नित्य ही सन्तुलित विचार सुननेको मिलते होंगे। दुनियामें आज-कल सर्वत्र ही बहुत अच्छी-अच्छी और बड़ी-बड़ी बातें सुनायी देती हैं। मैं भलीभांति जानता हूं कि मैं चाहूं भी तो कोई अच्छी-सी नयी बात आपको नहीं सुना सकूंगा। पर एक बात मैं आपके सामने रखना चाहता हूं, वह ज्ञानकी बात नहीं है, ज्ञानके प्रसारमें बाधा पहुँचाने वाले तत्त्वोंकी बात है। मैं समझता हूं ज्ञान और साधनाकी पीठस्थलीमें यह बात कम अनुभवकी जाती होगी। पर सचाई यह है कि दुनियामें रोज ही बड़ी बातें सुनकर भी तुरन्त भुला दी जाती है। मैं जानता हूं कि अच्छी बातको बारबार कहना कोई बुरी बात नहीं है पर मेरे मनमें बारबार प्रश्न उठता है कि लोग अच्छी बातें क्यों नहीं सुनते? और नहीं सुनते तो सुनानेसे लाभ क्या है?

अनादिकालसे महात्माओंने अनेक सुंदर उपदेश दिये हैं। उनकी कही बातोंको ही हम धर्म, दर्शन, काव्य, और कलाके अन्य माध्यमोंसे सुनते आ रहे हैं। इन्हींसे मनुष्यका चित्त सुसंस्कृत हुआ है या हो सकता है, पर इतना तो सरसरी निगाहसे देखनेवाला भी समझ सकता है कि इन भली बातोंका जितना असर होना चाहिए उतना हुआ नहीं है। कहते हैं व्यासदेवने जीवन-भर धर्माचारका संदेश दिया पर अन्त तक निराश होकर बोले कि 'मैं भुजा उठाकर चिल्ला रहा हूं पर कोई सुन नहीं रहा है। मैं कहता हूं कि भलेमानसो, धर्मसे अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, उस धर्मका ही आचरण क्यों नहीं करते, क्यों दूसरे आकर्षणोंसे खिंचे-

मुकद्दमोंकी फ़ाइलोंसे, पंसारियोंकी दूकानसे, सिगरेट के लिए आग जलाते हुए सैनिकोंके हाथसे, महन्तोंके साथ समाधि दी हुई पिटारियोंसे उद्धार किये गये हैं। मोरियोंमेंसे,चौतरोंमेंसे तथा खेतकी मेड़ों परसे भारतीय कलाकी कुछ अमूल्य निधियोंका संग्रह हुआ है। मसजिद के टूटे मिहराबसे पत्थर पर खुदे हुए नाटकोंका और काव्योंका उद्धार किया गया है। न जाने कितना नष्ट हो गया है, न जाने कितना अभी भी नष्ट होने की राहमें है। इन समस्त सौंदर्य-निधियों और ज्ञान-भाण्डारोंकी रक्षाका एक मात्र उपाय है समूची जनता को संस्कृतिशील और पारखी बनाना किन्तु मैं आपको अत्यन्त क्षोभपूर्वक बताना चाहता हूं कि हमारी जनताके अनेक स्तरोंमें यह संस्कृति जन्य गौरव-बोध एकदम है ही नहीं।

मैंने कई बार सोचा है कि क्या कारण है कि हमारी जनताकी इस ओर इतनी अधिक उदासी है। शिक्षाका अभाव है कोई संदेह नहीं पर कहीं कहीं शिक्षित समझे जानेवालों का आचरण भी समझमें आने लायक नहीं है। यदि शिक्षित समझे जानेवाले लोग मध्यस्थता न करते तो हमारी अत्यन्त महत्व-पूर्ण सांस्कृतिक निधियां इतनी अधिक मात्रामें विदेशोंमें न चली गयी होतीं।

ज्ञानके वाहक ग्रंथों और सौंदर्य तथा भावके आधार कला-शिल्पोंमें एक ऐसी बड़ी वस्तु होती है जिसे हम 'चिरंतन' कह सकते हैं। वह महान तत्व कभी पुराना नहीं होता, कभी बासी भी नहीं होता, उसकी ओरसे उदासीनताका मतलब होता है मनुष्यकी सर्वोत्तम सम्पत्तिसे वंचित रह जाना। दुर्भाग्यवश हमारे देश का अधिकांश जनसमूह सचमुच ही उससे वंचित है। हमें इस जनताको समझना होगा, तभी हम इसका यथार्थ उपचार कर सकेंगे। सब समय विदेशी इतिहास हमें हमारी समस्याओंको समझनेमें सहायता नहीं पहुँचा सकता। हमारी प्रधान समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है सामाजिक भी है। यद्यपि सामाजिक समस्या के लिए भी आर्थिक प्रयास किया गया है।

नाना प्रकारके उथल-पुथल और मिलन-विग्रहके पश्चात् दो बड़ी बातोंने हम समूची जनता को एक सूत्रमें बांध दिया था---पुनर्जन्म और कर्मफलमें विश्वास और अनेक पेशोंमें विभाजित सनातन जाति-प्रथा। एक तरफ तो कर्मफल का यह सिद्धान्त है और दूसरी ओर पेशोंके आधार पर नाना जातियोंके स्तरभेद को सनातन कर देने की व्यवस्था है। इन दोनों बातोंने हिंदू समाजके आध्यात्मिक विकासमें एक विचित्र प्रकार की जड़ता का भाव ला दिया है। हिंदू साहित्यके विद्यार्थी को यह मालूम है कि स्तर-भेद सनातन नहीं रहा है, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कारणोंसे जातियों की मर्यादा उठती गिरती रही है पर शास्त्रों का स्वर बराबर सनातन व्यवस्थाके पक्षमें रहा है। पेशा धर्म तभी हो सकता है जब उसमें व्यक्तिगत लाभ-हानि की अपेक्षा सामाजिक मंगल-साधन का भाव ही प्रधान हो। जो पेशा केवल व्यक्तिगत या पारिवारिक योगक्षेमके निर्वाहके लिए होता है वह केवल पेशा ही है। गंदगी साफ करना, स्मशानमें शव-संस्कार करना, हल जोतना आदि पेशे इस देशमें बहुत हल्के माने जाते हैं। जो लोग इन्हें करते हैं उनकी जातिगत मर्यादा बहुत हीन होती है। निर्विवाद रूपसे ये पेशे समाजके मंगलके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, इनके करनेवालोंमें 'त्याग' की मात्रा भी कम नहीं है। परन्तु जिस त्यागमें गौरवानुभूति न हो, वह धर्म नहीं हो सकता। मेहतर यदि अपने कार्यसे गौरव अनुभव करता है तो वह निस्संदेह समाज का मंगल-विधायक धार्मिक है परन्तु यदि वह लाचारी और अज्ञान वश येनकेन प्रकारेण अपनी वंश-वृत्ति का निर्वाह किये जाता है और मौका पानेपर उस कार्यसे भाग उठता है तो उसमें समाज की मंगल-विधायिनी धार्मिक बुद्धि नहीं है। एक तरफ तो जाति-व्यवस्थाने पेशों को धर्मके साथ बाँध दिया है, दूसरी तरफ विभिन्न पेशोंके सम्मान की समान व्यवस्था नहीं की गयी है। तेलीके पेशेके बिना समाज निश्चित रूपसे असुविधा भोग करेगा, इसलिए तेल निकालने का काम सम्माननीय होना चाहिए पर चूँकि तेल निकालनेके लिए बहुत-से बीज नष्ट करने पड़ते हैं इसलिए वह पापजनक कार्य मान लिया गया है! दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। या तो समाजके मंगलके लिए किये जानेवाले सभी पेशे धर्म हैं और इसीलिए समान सम्मानके अधिकारी हैं या वे धर्म हैं ही नहीं। इससे समाजमें जड़ता और एकधृष्टता आ जाती है और

अवसर मिलने पर व्यक्तियों और व्यक्ति समूहोंमें विरूप भाव भी प्रकट होते हैं।

मध्ययुगके अनेक विचारकोंने इस ऊँच-नीचके भेद पर कसके आघात किया है। बहुतसे दीर्घदर्शी सन्तोंने इस प्रथाके उन्मूलनका प्रयास किया है पर अन्त तक वे सफल नहीं हुए हैं। उनका प्रधान तर्क यह रहा है कि सभी मनुष्य भगवानके सन्तान हैं इसलिए सब भाई भाई हैं, कोई ऊंच-नीच नहीं, सब समान हैं, छूत-छात गलत चीज है। पर हुआ यह है कि इन सन्तोंके नामपर अलग पंथ चल गये हैं। या तो ये पंथ गृहस्थ-समाजके बाहर साधुओंके गरोह मात्र रह गये हैं, या फिर गृहस्थ होकर स्वयं एक जाति बन गये हैं। बंगालके नाथ-जुगी और बोष्टम (वैष्णव), दक्षिणके लिंगायत,पंजाब और उत्तर भारतके बैरागी, बिहार और पूर्वी युक्तप्रान्तके गोसाईं साधु-समाजके गृहस्थीभूत रूप हैं। वे अब अलग जाति बन गये हैं। सुप्रसिद्ध कापालिक सिद्ध कृष्ण (कान्हूपा) पादके शिष्य सँपेरे भी अलग जातिके बन गये हैं। जिन लोगोंने कूड़ा साफ करना चाहा था, उनके नामपर धूरे स्थापित हो गये हैं। भारतवर्षसे अधिक अभेद तत्वको समझने और समझाने वाला देश धरतीकी पीठपर दूसरा नहीं है, पर इतने भेद और नानात्वके प्रपंचमें फँसा हुआ भी कोई दूसरा नहीं है। हमारी वर्तमान अवस्था और इतिहासकी सुस्पष्ट गवाही बता रहे हैं कि जाति-पांति और छुआ-छूतके भेदको हटानेके लिए किये गये धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयोग असफल सिद्ध हुए हैं। जो लोग आज भी आशा लगाये हैं कि धार्मिक उपदेशोंसे और मठों और मंदिरोंको समान भावसे सबके अधिकार-क्षेत्रमें ले आ देने मात्रसे ऊँच-नीचके भेदकी गांठ खुल जायगी उनकी साधु बुद्धिका मैं प्रशंसक हूं पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि इससे अभिलषित फल मिल ही जायगा। आध्यात्मिक ऊंचाई और धार्मिक गहराई तक समाजकी वर्तमान अवस्थामें कम ही लोग पहुँच पाते हैं। पहुँच पाते तो इस उपायसे भी कुछ काम हो ही जाता पर दुनियादारीके झमेलेमें पड़े रहनेवाले और पेटके लिए हाय हाय करनेवाले जीवोंसे मुझे बहुत ज्यादा आशा नहीं है। कम लोग जानते हैं कि राज-नीतिक और आर्थिक कारणोंसे भी जातियोंकी मर्यादाएं घटी-बढ़ी हैं। कभी कभी असन्तुष्ट राजाने किसी जाति को पतित बना दिया है। कभी कभी पराजित क्षत्रिय जाति पेशेके कारण पतित मान ली गयी है। एक ही जातिके कुछ लोग उत्तम और कुछ अधम माने जा रहे हैं। उत्तम माने जानेका कारण राजनीतिक शक्तियोंका अधिकार करना रहा है। बड़े कोच लोग क्षत्रियका गौरव पा रहे हैं और छोटे कोच लोग अब भी अस्पृश्य हैं। जातियोंकी घटती-बढ़ती मर्यादा का इतिहास आंख खोल देनेवाला है। वस्तुतः आर्थिक दशा सुधरनेके कारण और राजशक्ति अधिकार करनेके कारण जातियोंकी जितनी मर्यादा बढ़ी है उतनी धार्मिक आन्दोलनोंसे एक दम नहीं बढ़ी। मैं अपने इस विश्वास को फिरसे दुहराता हूं कि भारतवर्षकी शताधिक जातियोंको कल्याण-मार्गकी ओर अग्रसर करनेका एकमात्र तरीका यह है कि उनकी राजनीतिक और आर्थिक मर्यादा ऊंची की जाय। यह तो निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो चुका है कि वे भगवान्की सन्तान हैं। नये सिरेसे इस बातके प्रचारसे कुछ बहुत अग्रसर होनेकी आशा नहीं है। यहां मैं अत्यन्त उल्लासपूर्वक आपको सूचित करता हूं कि इस देशकी प्रत्येक जातिको अब समान राजनीतिक मर्यादा---कमसे कम सिद्धान्त रूपमें स्वीकार कर ली गयी है। लेकिन अभी आर्थिक मर्यादा उन्नत करनेका प्रश्न बाकी है। जिस दिन इस दलित जनसमूहमें राजनीतिक और आर्थिक गरिमाबोधका संचार होगा उसी दिन वास्तवमें उसके भगवानके सन्तान होनेका दावा भी स्वीकृत होगा। जब तक यह नहीं हो जाता तब तक अच्छी अच्छी बातें केवल ऊपर ऊपरसे ही उड़ जाती रहेंगी। अच्छी बातोंको अगर इस देशकी मिट्टीमें बीज रूपसे डालना है तो समस्त समाजकी आर्थिक और राजनीतिक मर्यादा ऊँची करनी होगी। नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।

इतना कहनेके बाद मुझे संदेह हो रहा है कि आप मुझे अधार्मिक या नास्तिक तो नहीं समझ रहे हैं। मैं आपको विश्वास दिला देना चाहता हूं कि मैं दोनोंमेंसे एक भी नहीं हूं। मैं तो परब्रह्मके प्रथम रूपकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूं। आजसे हजारों वर्ष पहले भृगु नामके एक ऋषि-बालकको पिताने ब्रह्म के संधानकी आज्ञा दी थी। तैत्तिरीय उपनिषद्की

भृगुवल्लीमें वह कहानी बतायी गयी है। बहुत तप करके पुत्रने पिताको अपनी खोजकी बात बतायी। बोला—अन्नं ब्रह्म—अन्न ही ब्रह्म है। पिताने कहा, ठीक है, लेकिन और तप करो। दूसरी बार पुत्रने थोड़ी और गहराई में प्रवेश किया। बोला, प्राण ही ब्रह्म है। पिताको सन्तोष नहीं हुआ। पुत्रने फिर तप किया। बोला, मन ही ब्रह्म है। पिताने फिर भी असंतोष प्रकट किया। बेटा और गहराई में उतरकर बोला—विज्ञान (बुद्धि) ही ब्रह्म है। पिता ने एक बार और उत्साहित किया। कठिन तपस्याके बाद पुत्र ने पिता को सन्तुष्ट करने लायक तथ्यका साक्षात्कार किया। यही अन्तिम और चरम सत्य था—आनंद ही ब्रह्म है। सो अन्न अर्थात् भौतिक बाह्य वस्तुएं, प्राण, मन, विज्ञान (बुद्धितत्त्व) और आनंद (अध्यात्मतत्व) ये ही वस्तुसत्ताके पांच स्तर हैं। इन्हें हम ब्रह्म साक्षात्कारकी पांच सीढ़ियां कह सकते हैं। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। स्थूल आधारके बिना सूक्ष्म नहीं टिक पाता। अन्नके बिना प्राणकी कल्पना नहीं हो सकती और जहां प्राण नहीं है वहां मनकी सत्ता असंभव है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। मनुष्य पशुकी अवस्थासे ही अग्रसर होता हुआ मनुष्यकी अवस्थामें पहुँचा है, वह स्थूलको छोड़कर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मनुष्यको दो प्रकारके कर्तव्य निबाहने पड़ते हैं, एक स्थूलकी क्षुधा-निवृत्ति और दूसरा उत्तरोत्तर गहराई में जानेवाली वृत्तिको संतुष्ट करना। आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धर्म भी मनुष्यके अवश्य पालनीय हैं, उनको छोड़कर हम ऊर्द्धगामिनी विचार-धाराकी बात सोच भी नहीं सकते। मनुष्यके आहार-निद्रा आदि धर्मोंके निर्वाहक पदार्थोंको अवश्य जुटाना होगा, ये हमारे स्थूल प्रयोजनोंके निवर्तक होते हैं। मैं केवल प्राथमिक अवश्य कर्तव्यकी बात कह रहा हूं। यह ठीक है कि प्रयोजन प्रयोजन ही है। प्रयोजनके जो अतीत है वहीं जाकर मनुष्यकी आनंदिनी वृत्ति चरितार्थ होती है. ज्यों ज्यों मनुष्य संघबद्ध होकर रहनेका अभ्यस्त होता गया है त्यों त्यों उसे सामाजिक संघटनके लिए नाना प्रकारके नियम कानून बनाने पड़े हैं, इस संघटनको दोषहीन और गतिशील बनानेके लिए उसे दण्ड और पुरस्कारकी व्यवस्था भी करनी पड़ी है—इन बातोंको एक शब्दमें 'सभ्यता' कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक संघटन, नैतिक-परम्परा और सौंदर्य-बोधको तीव्रतर करनेकी योजना ये मानव-सभ्यताके चार स्तंभ हैं। किसी जातिने एक या दो या अधिक पर ज्यादा जोर दिया है, बाकी पर कम। इन चारोंके सम्मिलित प्रभावका नाम ही संस्कृति है। सभ्यता मनुष्यके बाह्य प्रयोजनोंको सहज लभ्य करनेका विधान है जब कि संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनंदकी अभिव्यक्ति। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह कहा है कि संस्कृतिके प्रभावसे निष्काम ज्ञानार्जनके प्रति अनुराग और निस्स्वार्थ कर्मानुष्ठानके प्रति उत्साह स्वाभाविक हो जाता है। यथार्थ संस्कृति जड़ भावसे प्रथा पालन करनेकी अपेक्षा अकृत्रिम सौजन्यको अधिक मूल्य देती है। संस्कृतिके प्रभावसे ही चित्तमें उस औदार्यका संचार होता जिससे अन्तःकरणमें शान्ति आती है, अपने आपके प्रति श्रद्धा बढ़ती है, आत्मसंयमका भाव आता है, और मनमें उस मैत्री भावका सञ्चार होता है जो जीवनकी प्रत्येक अवस्थाको कल्याणमय बना देती है। दुर्भाग्यवश समाजके बहुत थोड़े लोग आधुनिक सभ्यता द्वारा आयोजित उपकरणोंका लाभ उठा सकते हैं। मेरा अनुभव है—मुझे क्षमा करें—कि बहुतसे शिक्षित व्यक्ति भी सुसंस्कृत नहीं होते और बहुतसे अशिक्षित व्यक्ति भी सुसंस्कृत होनेकी योग्यता रखते हैं। कभी कभी हमारी शिक्षा संस्कृतिकी विरोधिनी हो जाती है। बाह्य टीमटाम और ठाटबाटको आन्तरिक सौजन्यसे अधिक महत्व देने वाली शिक्षाको हम क्या कहें? वस्तुतः सारे समाजको सुसंस्कृत बनानेके लिए यह आवश्यक है कि हमारी सभ्यता ज्यादा जड़ता मुक्त हो, पेटकी मारसे जनमंडली संत्रस्त न हो। दुर्भाग्यवश, यद्यपि लाख लाख उत्सुक लोग उसकी ओर आंखें बिछाये हैं तो भी हमारी सभ्यता बड़ी मन्द गतिसे अग्रसर होती रही है।

मैं अपने पुराने साहित्यका विद्यार्थी हूँ इसलिए पुराने साहित्यकी बातें अगर बीच-बीचमें बोल जाऊं तो आप क्षमा करेंगे। और मैं कर ही क्या सकता हूँ। मध्य युगके अनेक सन्तोंकी वाणियों और उनके नाम पर स्थापित संप्रदायोंका इतिहास पढ़कर मैं इस

नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इर्दगिर्दकी सामाजिक परिस्थितिका प्रभाव बड़ा जबर्दस्त होता है। बड़ीसे-बड़ी बात तब तक दुर्बल ही रहती है जब तक इर्दगिर्दकी सामाजिक परिस्थिति भी उसके अनुकूल न हो। सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्यके उपदेशों और उन उपदेशोंके प्रचार करनेवाले मठोंको इस परिस्थितिने बार-बार बुरी तरहसे दबोचा है। भारतवर्षमें मान-प्रतिष्ठा पानेका साधन पैसा रहा है या फिर संस्कृतमें लिखी हुई पोथियों द्वारा समर्थित जातिगत ऊंची मर्यादा। पैसा मर्यादा बढ़ानेमें भी समर्थ सिद्ध हुआ है। जब चारों ओर पैसेका राज हो तब उसके आकर्षणको काट सकना साधारणतः कठिन होता है। पन्थों और मठोंकी प्रतिष्ठाके लिए भी पैसेकी आवश्यकता सिद्ध हुई है। गरीब महन्तोंको चेले-चेलियाँ भी नहीं जुटतीं। जो लोग इस आकर्षणको न काट सकनेवालोंकी निंदा करते हैं वे समस्याको बहुत ऊपर-ऊपरसे देखते हैं। मैं बराबर सोचा करता हूँ कि क्या कुछ ऐसा नहीं हो सकता कि समाजमें से पैसेका राज खतम हो जाय। सब इसकी मायामें फंस जाते हैं, सब बड़े प्रयत्न इस एक चट्टानसे टकरा कर टूट जाते हैं। क्या कोई ऐसी व्यवस्था संभव है जिसमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आवश्यकता भर बाह्य प्रयोजनों और भीतरी शक्तिको पाने भर का पैसा मिल जाय या और उससे अधिक पानेका कोई उपाय ही न हो? यदि ऐसा हो सकता तो वह समूचा बेहूदा साहित्य लिखा ही न जाता जो केवल पंथों और उनके प्रवर्तकोंकी महिमा बढ़ानेके उत्साहमें उन सब भली बातोंको ढँकनेका प्रयत्न करता है जिसे प्रवर्तकने कठिन साधनासे प्राप्त किया था, वह गंदी विज्ञापनबाजी असंभव हो जाती जिसका मुख्य कर्तव्य साधारण जनताको सच्ची बात सुननेसे रोकना ही है, वह सारा ढकोसला फेन बुदबुद की भांति विलीन हो जाता जो गरीबकी आँखोंमें धूर्ततापूर्ण ढंगसे आतंक पैदा करके अपनी सत्ता बनाये रखनेवाले स्वार्थियोंने गढ़ रखा है। पुराने तांत्रिक आचार्योंने बताया है जो राग बंधनका कारण होता है वही मुक्तिका भी कारण होता है—रागेण बध्यते जन्तुः रागेणैव विमुच्यते। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि आन्तरिक शत्रु सुनियंत्रित होकर परम सहायक मित्र बन जाते हैं। क्या ऐसी कोई सामाजिक व्यवस्था संभव है जिसमें समस्त अच्छे प्रयत्न घर जोड़नेकी माया को आश्रय करके ही पनप उठें? हमने आज तक 'रागेण बध्यते जन्तुः'का विकराल ताण्डव देखा है, हमारे ज्ञान-विज्ञानके समस्त साधन इसके दास हो गये हैं, क्या ऐसी व्यवस्था संभव है जिसमें हम 'रागेणैव विमुच्यते' की शांतवाणी सुन सकें?

इस प्रश्न का उत्तर देना थोड़ा कठिन है। मैंने उत्साह वश एक बार कुछ जन-नायकोंसे सांस्कृतिक निधियोंके संरक्षण का प्रस्ताव किया था। ये जननायक आजकल राजशक्तिके अधिकारी हैं और चाहें तो कुछ कर सकेंगे, ऐसी मुझे आशा थी। ये लोग जनता की सेवाके लिए प्रसिद्ध हैं और इस सेवाके कारण ही आज शासन-सूत्र इनके हाथमें आया है। सबकी बात तो मैं नहीं जानता इनमें कई बहुत ऊँचे दर्जेके संस्कृति प्रेमी हैं। पर जिनके प्रति मेरी श्रद्धा है उन्हींमें से एकसे मैंने अनुरोध किया था कि कमसे कम दो बातें तुरंत हो जानी चाहिए। पुराने मंदिरों, मूर्तियों, शिलालेखों, भग्नावशेषों का चित्र ले लेना चाहिए और उनकी सुन्दर छपी हुई प्रतियाँ सुलभ मूल्यमें साधारण जनता को प्राप्त होनी चाहिए। मैंने दूसरा प्रस्ताव यह किया था कि नाना जातियोंके रीति-रस्म और कथानक आदि का संग्रह हो जाना चाहिए, इनमें भी वन्य समझी जाने वाली जातियों की परम्पराएं तुरन्त संगृहीत हो जानी चाहिए। मेरी यह भी इच्छा थी कि उनकी नृत्य-भंगिमाओं और देवपूजन संबंधी तांत्रिक आकृतियों का फोटो भी ले लेना चाहिए। कुछ दिनोंसे मेरे मनमें एक धारणा पैदा हुई है कि इन तांत्रिक आकृतियोंसे संभवतः कुछ भूली हुई पुरानी लिपियोंके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हो। मुझसे जब इस विषय का हिसाब पूछा गया तो मैंने एक जानकार मित्र की सहायतासे जो हिसाब बताया उसका अर्थ यह होता था कि उड़ीसा की सरकार अपने मंदिर, मूर्ति आदि की सामग्रियों पर जितना खर्च करना चाहिए उतना उसकी वार्षिक आय ही नहीं है। एक दूसरे प्रान्तके जननायकने बताया था कि आधुनिक ढंगसे प्राथमिक शिक्षा आरंभ करनेके लिए जितना पैसा चाहिए उतनी संपूर्ण प्रान्तीय सरकारकी आमदनी नहीं है। मैंने सुना था कि रूसमें शिक्षाकी

बहुत सुंदर व्यवस्था है। मेरे गुरु कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने उसकी प्रशंसा दिल खोलकर की थी। मुझे श्रद्धेय राहुलजीने बताया कि अकेले मास्कोके एक विश्व-विद्यालय पर जितना खर्च होता है उतना संयुक्त बंगाल सरकारकी आमदनी नहीं थी। उन्होंने मुझे यह कहकर तो अत्यन्त आश्चर्यमें डाल दिया कि मास्कोके एक एक सुसज्जित हाईस्कूलमें जितना खर्च किया गया है वह समूची विश्वभारतीकी इमारतोंके दामके बराबर है। मैं आपकी जानकारीके लिए बता दूं कि विश्वभारती यद्यपि गरीब संस्था है तथापि अपने दीर्घ कालके संचित थोड़े थोड़े धनसे बनायी हुई उसकी इमारतोंका खर्च कुछ ३० लाख रुपयोंसे कम नहीं है। यदि राहुलजी की बात में कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इतना तो आसानीसे समझा जा सकता है कि हमारे बड़े बड़े ज्ञान-विज्ञान और कला-शिल्पोंके प्रयास तो दूरकी बात हैं अपनी तीस करोड़ जनताको आधुनिक ढंगकी प्राथमिक शिक्षा देने लायक धन भी हमारे पास नहीं है। जनताको हमें शिक्षित तथा सभ्य नागरिक और सुसंस्कृत मनुष्य तो बनाना ही है पर हमारे पास इतना धन आयेगा कहांसे? फिर समाजकी आवश्यकता केवल शिक्षण-संस्थाओं तक ही तो सीमित नहीं है। अन्न है, वस्त्र, घर-द्वार है, रेल-तार है, लड़ाई-झगड़ा है और जाने क्या क्या है। सब प्रश्नोंका प्रश्न यह है कि क्या हमें इतना धन मिल सकता है। क्या करोड़ करोड़ नर-नारियोंके शरीर, मन, बुद्धि और आत्माकी क्षुधा मिटाने लायक साधन हमारे पास हैं? उड़ती उड़ती बातें बेकार हैं। हमें दृढ़ताके साथ इस प्रश्नका उत्तर देना है? सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः।——सब प्रश्न यहीं आकर अटक जाते हैं।

जानकर मित्रोंने मुझे बताया है कि आज तक विज्ञानने मनुष्यके पास जो शक्ति दी है उसका ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो हमारे देशकी रत्नगर्भा भूमि हमें इतना धन दे सकती है। विज्ञान दस वर्ष बाद जितनी शक्ति देगा उसके आधारपर शायद हम आवश्यकतासे अधिक धन भी प्राप्त कर सकेंगे। हमारे पर्वतों और नदियोंमें धन उत्पादनकी साधनभूत शक्ति अत्यधिक मात्रामें भरी हुई है, हमारे जंगलों और मैदानोंमें अपार धन-राशि लहराने लायक अद्भुत शक्ति है और हमारी धरतीके नीचे अज्ञात और अप्रत्याशित धनके खजाने बिछे हुए हैं। हमें ढंगसे इन शक्ति-स्रोतोंका उपयोग करना चाहिए। इन शक्ति-साधनोंपर समाजका अप्रतिहत अधिकार होना चाहिए और समाजके प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मगौरवका भाव चाहिए। धनकी कमी नहीं रहेगी।

जिस दिन हम इस रूपमें सोचना शुरू करेंगे उस दिन हमारी दृष्टि बदल जायगी। हमने अब तक जिन वस्तुओंका मूल्य निश्चय किया है उन दिनों वह बदलता दिखेगा। बहुत दिनों तक मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय धर्म और पुण्यकी दृष्टिसे करता रहा है। बहुत दिनों तक उसने श्रुतिवाक्यको ही अपने कर्तव्यका नियामक समझा है। बहुत थोड़े दिनोंसे वह धर्म-निरपेक्ष-सेक्युलर-व्यवस्थाके माध्यमसे कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करता रहा है परन्तु जिस दिन वह कोटि-कोटि दलित निरन्न जनताकी सुख-शान्तिकी भाषामें सोचना शुरू करेगा उस दिन उसे बहुत कुछको छोड़ देना पड़ेगा। उस दिन संस्कृतिका नया जन्म होगा। तब भी वह मनुष्यकी सर्वोत्तम साधना ही बनी रहेगी, तब भी वह हमारे अन्तरतमकी सार्थकताके रूपमें ही बनी रहेगी, तब भी मनुष्यके अब तककी समस्त कृतियोंको वह गर्वपूर्वक वहन करती आयगी, परन्तु उसका रूप नया होगा, तेज नया होगा, संकल्प नया होगा और अभिव्यक्ति नयी होगी। पर इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हम बिल्कुल कोरे कागज पर लिखना शुरू करेंगे। हमारे पूर्वजोंके समस्त तत्त्वचिन्तन, सौन्दर्य-सृष्टि और अनुभव हमारे तब भी संबल होंगे। इन दिनों हम अपने अनेक मोहों को संस्कृति कहते जाते हैं। छूत-छात की प्रथा भी भारतीय संस्कृति है, बाल-विवाह भी भारतीय संस्कृति, जातियों और उपजातियों का जंजाल भी भारतीय संस्कृति है और भी न जाने क्या क्या भारतीय संस्कृति समझी जाती हैं। भारतवर्ष की सभी विशेषताओं को भारतीय संस्कृति नहीं कहा जा सकता। यदि किसी प्रकार का परिवर्तन वाञ्छनीय ही न हो और सब कुछ 'सनातन' ही मान लिया जाय तो शिक्षा और संस्कृतिके व्यापक बनाने की बातें थोथी और बेकार हो जाँयगी। हमारे पूर्वजोंने बहुत कुछ सोचा है, समझा है, पाया है,

खोया है। उन्होंने जमकर दूसरोंसे लिया भी है और दिया भी है। भारतीय समाजमें परिवर्तन भी होते रहे हैं और अब भी हो रहे हैं। हमें हर भारतीय विशेषता को भारतीय संस्कृति समझने की गलती नहीं करनी है। पर यह सत्य है कि हमारे पूर्वजोंने अपने अनुभूत सत्यों और आस्वादित रसों का विशाल साहित्य हमें दिया है। उनके सोचने और विचारने का ढंग भी एकदम मौलिक रहा है। और उस चिन्तन का जो फल है वह भी बहुत मौलिक है। ये अनुभूत सत्य हमारी सर्वोत्तम निधि हैं, हम त्रैलोक्यके राज्यके बदले भी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हैं। हमारे पूर्वजोंने अत्यन्त सुचिन्तित विचारके बाद हमें अपनी सामाजिक, ऐतिहासिक और ज्ञान-विज्ञान संबंधी परम्पराओंके संरक्षण का जो उपाय बताया है उससे दुनिया आज भी बहुत कुछ सीख सकती है।

दो दो घिनौने विश्व-युद्ध हमारी आंखोंके सामने हो गये और ऐसा लग रहा है कि पृथ्वी तीसरी बार फिर और भी भयंकर आसुरी संग्राममें उलझने वाली है। साहित्य और कलाके उपासकोंको अपनी समूची शक्ति लगाकर मनुष्यताकी रक्षा करनी है। कुछ थोड़ेसे लोग अत्यन्त भद्दे स्वरूप वाले लाभके लिए संसारको विकट युद्धकी भट्ठीमें झोंक देते हैं। इस भद्दे लाभके लिए मनुष्यता का जो कुछ भी श्रेष्ठ है, जो कुछ भी सुन्दर है, जो कुछ भी उदार है, उसकी बलि दे दी जाती है। देश-प्रेम, राष्ट्रीय स्वार्थ और जातीय मर्यादा जैसे मोहक नामोंके पर्दे ओढ़ाकर मनुष्यताकी बलि दी जाती है। जिस दिन प्रथम बार तृणांकुरके रूप उदित होकर जीव-शक्तिने समूचे जड़ जगतके गुरुत्वाकर्षणको अस्वीकार कर दिया था उसी दिनसे जड़ और चेतनका द्वंद्व अत्यन्त स्पष्ट हो गया। मनुष्यमें जो जड़ता है वह नीचे की ओर खींचती है, जो चैतन्य है ऊपरकी ओर उठाता है। यह बाहरी टीमटाम मनुष्यकी जड़ताकी निशानी है और भीतरी सहृदयता और सौजन्य उसके चेतनाधर्म का प्रतीक है। अपनी शक्ति भर जोर लगाकर मैं इस देशके साहित्यिकोंको पुकार कर कहना चाहता हूं कि मित्रो, जड़ता दबोचनेके लिए पंजा उठाये आ रही है। यदि समय रहते हमने मनुष्यकी भीतरी शक्तियों का उद्बोधन नहीं किया तो मनुष्यता फिर दारुण बाध्या चक्रमें उलझ जायगी। कविवर रवीन्द्रनाथने मरते समय बड़ी व्यथाके साथ कहा था——नागिनियाँ चारों ओर विषाक्त निःश्वास फेंक रही हैं——ऐसा जान पड़ता है कि सब कुछ जलकर भस्म हो जायगा। ऐसे समय शान्तिकी ललित वाणी दारुण परिहासके समान सुनायी देगी। फिर भी मैं उन्हें पुकारे जा रहा हूं जो शान्तिके प्रयासी होकर जड़ दानवके साथ लड़नेकी तैयारी कर रहे हैं।' मित्रो, वह पुकार अब भी आप की प्रतीक्षा कर रही है। महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बार बार कहा था कि भारतवर्ष जब तक स्वाधीन नहीं होता तब तक युद्धोंका सिलसिला नहीं टूटेगा। स्वाधीन भारतके साहित्यकारों, अपने महान् नायकोंकी वाणीको सत्य सिद्ध करनेका दायित्व आप पर है।

हमें प्राचीन और नवीनके विशेषणोंके फेरमें नहीं पड़ना है। मनुष्यका वह ऊर्ध्वमुखी चैतन्य जहां कहीं भी है वहीं नमस्य है।

मैंने मनुष्यके प्राथमिक प्रयोजनोंकी ओर आपका जो ध्यान आकृष्ट किया है वह इसलिए नहीं कि मैं इनको ही जीवनका लक्ष्य मानता हूँ। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इन प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके बिना बड़ी बातें बराबर पत्थर पर मारे गये तीरकी तरह भोथी और बेकार होती रहेंगी। परन्तु मैं यदि एक बात और न कह लूँ तो मेरी बात अधूरी रह जायगी और आपके सामने कर्तव्यभ्रंशका अपराधी सिद्ध हूँगा। दुनियामें धनी देश कम नहीं हैं। हिन्दुस्तान भी यदि एक और धनी देश होकर रह जायगा तो इससे बहुत कुछ बन या बिगड़ नहीं जायगा। हमें बराबर सोचना है कि धनका उत्पादन हमें किसलिए करना है। लक्ष्य भूलने वाले मनुष्यके समान दयनीय जीव कोई नहीं। आजकल बड़े-बड़े कल-कारखानों और औद्योगीकरणकी सर्वत्र धूम है। परन्तु कम ही यह सोचते हैं कि ये उद्योग काहे वास्ते होंगे? क्या धन कमानेके लिए? जनतामें सुख-सुविधा फैलानेके लिए? विदेशी शत्रुओंसे लोहा लेनेके लिए? आजकल इन सब बातोंको बड़े ऊँचे गलेसे सुनाया

जाता है। मैं मानता हूँ कि ये सब आवश्यक हैं पर इनसे संस्कृतिका कोई संबंध नहीं है। सब लोग सुखसे बाह्य साधनों पर ही जोर देने लगें तो त्यागकी, संतोषकी, संयमकी, शालीनताकी, क्षमाकी, सत्यकी और मैत्रीकी बात कौन करेगा। हमारे युगके सबसे बड़े मनीषीने इन बातोंकी ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। धनका उत्पादन मनुष्यको 'मनुष्य' बनानेके लिए होना चाहिए, उन सद्गुणोंके विकासके लिए होना चाहिए जो उसे शान्तिकामी, मैत्रीवान्, सत्यवादी और उदार बनाते हैं, उन्हें यंत्रपटु, दुस्साहसी, दुर्नीतिपरायण, लड़ाका बनाना हमारा लक्ष्य नहीं है। महात्माजीने मनुष्यके इन सद्गुणोंकी ओर ही संसारकी जनताको आकृष्ट किया था। मैं आपको स्पष्ट रूपमें बताना चाहता हूँ कि मैं धनको आवश्यक समझता हूँ, उसके उत्पादनका प्रयासी होना चाहता हूँ पर जोर देकर कहना चाहता हूँ कि हमारा लक्ष्य मनुष्यको सच्चा मनुष्य बनाना है।

मैं अपने पुराने इतिहास की जितनी उंचाई पर चढ़ सकता हूँ उतनी उंचाईसे देखता रहा हूँ कि मनुष्य नाना विघ्न-बाधाओंसे जूझता हुआ एक महान् समन्वय और मैत्रीबंध की ओर अग्रसर हो रहा है। कालस्रोत के दोनों तटों पर मनुष्यके उत्थान-पतनके, मिलन-संघर्ष के और शयन-जागरणके शत-शत चिन्ह पड़े हुए हैं। जिस प्रकार नदी की प्रत्येक बूंद दूसरे को ठेलकर अविराम प्रवाह पैदा करती है वैसे ही मनुष्य-जातिके अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुंज इस विराट् स्रोत को ठेलते आये हैं। भारतवर्ष का इतिहास हमें बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, संपत्ति और विपत्ति कालस्रोतमें फेन बुद्बुदके समान उठती और विलीन होती हैं, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते और गिरते रहते हैं, परन्तु 'मनुष्य' फिर भी बचा रह जाता है। शताब्दियों की यात्रासे मनुष्यता क्लान्त नहीं हुई। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। कालस्रोत की धारा आज जहां टकरा रही है वही उसका अन्तिम पड़ाव नहीं है। इतिहास-विधाता की असली योजना तो वे ही जानें पर इतना स्पष्ट दीख रहा है कि 'मनुष्य' थका नहीं है। न जाने कितने आचार-विचारोंके मोह को वह छोड़ चुका है, न जाने कितनी धर्म और कर्तव्य की कसौटियों को वह फेंकता आया है। न जाने कितने सौंदर्य और शालीनताकी रूढ़ि बोलियों को वह भुलाता आया है, न जाने कितने संस्कारों और विश्वासों की चिता रौंदता हुआ वह आगे बढ़ता आया है। युद्ध और विग्रह, दंगे और फसाद, कलह और विवाद उसकी जय-यात्रामें क्षणिक विक्षोभ भले ही पैदा कर दें पर वह हार माननेवाला जीव नहीं है, उसकी मंगल यात्रा को कोई रोक नहीं सकता। इतिहास जहां तक हमें पीछे ठेलकर ले जाता है, महाकाल के उत्ताल नर्तनके भग्नावशेष जितने तथ्य की ओर भी इशारा करते हैं और विविध विज्ञान जहां तक हमारी सहायता कर सकते हैं, उससे एक बात स्पष्ट है—मनुष्य मंगल की ओर ही बढ़ रहा है। इतिहासविधाता की तर्जनी और भी अधिक मंगल की ओर उठी हुई है।

मेरा विश्वास है कि मनुष्य गलती करके भी अन्त तक ठीक रास्तेपर आ जायगा। लेकिन 'करने' की ओर उसकी प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहनेसे वह अपनी 'मनुष्यता' का ही अधिकारी नहीं रहेगा। मनुष्यके रंगमंच पर आनेके पहले प्रकृति अपने रास्ते लुढ़कती पुढ़कती चली आ रही थी। मनुष्यके आनेके बाद उसमें इच्छा-शक्ति का प्रवेश हुआ। जो कुछ जैसा हो रहा है उसे वैसा ही होना चाहिए। कार्यकारणकी नीरंध्र ठोस परंपराके भीतर मनुष्यने एक दरार कर दिया, उसमें अपनी शक्ति को प्रवेश कराया। जो कुछ जैसा हो रहा है उसे उसने स्वीकार नहीं किया, जो कुछ जैसा होना चाहिए उसकी ओर उसने घटना-प्रवाहको मोड़ना चाहा। मानवपूर्व सृष्टि घटना-मात्र थी, मानवी सृष्टि इच्छित विधान है। यही मनुष्यकी मनुष्यता है। जो कुछ जैसा है वैसा न मानकर जो कुछ जैसा होना चाहिए उसकी ओर प्रयत्न ही मनुष्य का 'अपना धर्म' है। गलतियोंसे मैं नहीं घबराता पर अकर्मण्यता से मुझे अवश्य डर लगता है। मैंने यद्यपि आप को ठोस तथ्यों की ओर ही अब तक उन्मुख करनेका प्रयास किया है पर मैं चाहूँ भी तो शायद आपसे यह छिपा

नहीं सकता कि मुझे थोड़ा बहुत कल्पना करने में आनंद मिलता है। आप जैसे सुतीक्ष्ण दर्शकोंसे यह बात छिपी नहीं रह सकती, मैं छिपाऊँ भी तो भी आप मन ही मन जान तो जायंगे ही।

सो मैं पहले ही अपनी गलती स्वीकार कर लेता हूँ। मैं एक क्षण के लिए अपनी कल्पना की बात आप को सुनानेका लोभ संवरण नहीं कर सकता। मैं कल्पना की दृष्टिसे देख रहा हूँ कि विज्ञानने हमारी सहायता की है। हमारे श्रद्धेय नेता महात्मा गांधीने हमें जनता को जनार्दन समझने का जो गुरुमंत्र दिया है उसे हमने अपना लिया है, करोड़ करोड़ दलित और निरन्न मानवयूथ शिक्षित और सुसंस्कृत हो गये हैं, अन्न और वस्त्र का अभाव नाम शेष हो गया है, धरती प्रसन्नतापूर्वक धन-राशि बिखेर रही है, पर्वत और नद अब भी अपूर्व शक्ति-राशि अकुंठ भावसे उँड़ेल रहे हैं और फिर ? इतिहास-विधाता की नैया यहीं नहीं रुक जायेगी। ब्रह्मके प्रथम रूपके साक्षात्कार तक ही मनुष्य की जय-यात्रा नहीं रुक जायगी वह और भी आगे बढ़ेगी और भी और भी! कहाँ ? मैं सत्य कहता हूँ मेरी कल्पना को आगे बढ़नेका साहस नहीं है। जनार्दनके इस अद्भुत रूप—शिक्षित और सन्तुष्ट जनता—की बात सोचता हूँ तो रोमांच हो आता है, मैं आश्चर्यके साथ संजयकी भांति वाङ्मूढ़ होकर कह उठता हूँ —

> तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
> विस्मयो मे महान् राजन् रोमहर्षश्च जायते ॥

फिर भी, मित्रो, मैं निश्चित रूपसे जानता हूँ कि मेरी कल्पना रुक जाय या टूट जाय पर मनुष्य की मंगलमयी यात्रा नहीं रुकेगी। वह और भी आगे बढ़ेगी और ब्रह्मके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम और शायद उससे भी आगेके रूपोंका साक्षात्कार कर सकेगी। एवमस्तु।

— काशीमें युक्तप्रान्तीय नव संस्कृति सम्मेलनके अध्यक्षपदसे दिया गया अभिभाषण।

संस्कृत वाङ्मय का महत्व और उसकी शिक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव

माननीय सभापति महोदय, माननीय शिक्षा-सचिव जी, श्रीमान कुलपति जी, विद्वद्वृन्द, स्नातक बन्धुओ, तथा देवियो और सज्जनो,

आपने उपाधि-वितरणोत्सवके शुभ अवसरपर दीक्षान्त भाषणके लिए निमंत्रित कर मुझे गौरवान्वित किया है। इस कृपाके लिए मैं आप का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

काशी भारत का सबसे प्राचीन नगर और विद्या-पीठ है। इसकी शिक्षा की परम्परा अक्षुण्ण रही है और यह सदासे भारतीय संस्कृति और संस्कृत विद्या का प्रधान केन्द्र रहा है। आज भी इसका सारे देशमें आदर है। काशीके इस संस्कृत महाविद्यालयने विशेष रूपसे प्रसिद्धि प्राप्त की है। इस विद्यालय को अनेक प्राच्य और प्रतीच्य विद्वानोंने सुशोभित किया है और यह उन्हीं की प्रकाण्ड विद्वता और साधन का फल है कि इस विद्यालय की कीर्ति समस्त भारतवर्ष में फैल गयी है। स्थापनाके आरम्भ-कालसे ही इस संस्था का एक उद्देश्य संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह करना भी रहा है और इस उद्देश्यमें इसको विशेष रूपसे सफलता मिली है। डाक्टर बेनिसके उद्योगसे सन् १९१४ में ग्रन्थागार के लिए सरस्वती भवन की स्थापना हुई थी और यह हर्ष का विषय है कि इस पुस्तकालय में हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की संख्या ५०००० से अधिक है। यह संग्रह विशेष रूपसे उल्लेखनीय है और सरस्वती भवनसे जो ग्रन्थमाला प्रकाशित होती है उसमें अबतक इस संग्रहके दो सौ उपादेय ग्रंथ प्रकाशित हो चुके ह।

मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ कि मैंने इस विद्यालयके प्रिंसिपल डाक्टर बेनिस, पं. केशव शास्त्री और प्रो. नार्मनसे संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा पुरातत्वकी शिक्षा प्राप्त की थी तथा इस महाविद्यालय के गोलोक-वासी म. म. श्री राम शास्त्री तैलंग और पं. जीवनाथ मिश्रसे अलंकार शास्त्र तथा न्याय का अध्ययन भी किया था। भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहासके प्रति जो मेरी श्रद्धा थी वही मुझको यहाँ खींच लायी थी। उस काल का स्मरण कर मुझे आज भी अपूर्व आनन्द होता है क्योंकि इन विद्वानोंके चरणोंमें बैठ-कर मैंने अपनी प्राचीन संस्कृति का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया था और आधुनिक आलोचना और अन्वे-षणके प्रकार का अध्ययन किया था। जो व्यक्ति अपनी ज्ञान-परम्परा तथा अतीतके इतिहास का ज्ञान नहीं रखता वह सभ्य और शिष्ट नहीं कहला सकता क्योंकि वर्तमान का मूल अतीत में है और बिना उसको जाने वर्तमान कालके सामाजिक जीवनमें बुद्धिपूर्वक सहयोग करना कठिन है। अतः मैं इस संस्था का अत्यन्त ऋणी हूँ। एक और दृष्टिसे भी उन दिनों की स्मृति बड़ी मधुर है। जो विदेशी विद्वान यहाँ अध्यापन का कार्य करते थे, वह संस्कृति विद्याके परम अनुरागी थे और उन्होंने इस महाविद्यालयके पण्डितोंसे प्राचीन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। इस कारण यहाँ का वाता-वरण अन्य विद्यालयोंसे सर्वथा भिन्न था।

यह प्रसन्नताका विषय है कि प्रान्तकी गवर्नमेण्ट ने इस विद्यालयको संस्कृत विश्वविद्यालयका रूप देने का निश्चय किया है। अब समय आ गया है कि इस संस्थाका लक्ष्य अधिक व्यापक और समयके अनुरूप बनाया जावे। भारतीय और प्रतीच्य विद्वानोंके सह-योगसे संस्कृत वाङ्मयका उद्धार हो रहा है। इस शुभ कार्यका श्रीगणेश यूरोपीय विद्वानोंने किया था। किन्तु गत ३० वर्षोंमें भारतीय विद्वानोंने अपूर्व उत्साह और

लगनसे अन्वेषण और शोधके कार्यमें विशिष्ट भाग लिया है। राजनीतिक चेतनाके साथ साथ राष्ट्रीय आधार पर सांस्कृतिक जीवनको आश्रित करनेका भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन इतिहास और संस्कृतिके अध्ययनमें विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है और भारतीय विद्वानोंने पाश्चात्य शिक्षा द्वारा अन्वेषणकी वैज्ञानिक पद्धतिको सीखकर साहित्य, भाषा, धर्म तथा सामाजिक संस्थाओंका अध्ययन किया है।

आज भी इस कार्यमें यूरोपीय विद्वान अपना दान दे रहे हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र होने पर हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हमारा कर्तव्य है कि संस्कृत विद्याके अध्ययनको हम पाठ्यक्रम में विशिष्ट स्थान दें और अन्वेषणके कार्यको प्रोत्साहन दें। आधुनिक युगके दो महापुरुषोंके कारण तथा अपनी प्राचीन संस्कृतिके कारण हमारा संसारमें आदर है। यह खेदका विषय होगा यदि हम इस आवश्यक कर्तव्य की ओर उचित ध्यान न दें और संस्कृत वाङ्मय की रक्षा और वृद्धिके प्रति उदासीनता दिखावें। संस्कृत वाङ्मय आदर और गौरवकी वस्तु है और उसका विस्तार और गाम्भीर्य हमें चकित कर देता है। हमको उसका उचित गर्व होना चाहिए। संस्कृत संसारकी सबसे प्राचीन आर्य भाषा है जिसका वाङ्मय आज भी विद्यमान है। ऋगवेद हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। रामायण और महाभारत संसारके अनुपम और बेजोड़ काव्य हैं। यही हमारी संस्कृतिकी मूलभित्ति हैं। अनेक नाटक और काव्योंकी सामग्री इन्हीं ग्रन्थोंसे उपलब्ध हुई है। महाभारत वेदके समान पवित्र माना जाता है। (इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्) महाभारत हमारी प्राचीन संस्कृतिका भाण्डार है। इसमें प्राचीन आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और संस्थाओंका इतिहास उपनिवद्ध है। यह दर्पणके समान है जिसमें प्राचीन भारतका जीवन प्रतिबिम्बित होता है। कालकी दृष्टिसे रामायण एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसलिए वाल्मीकिको आदि कवि कहते हैं। इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण हैं और यह उत्तम काव्यका प्रतिमान समझा जाता है।

इसी कारण रामायण और महाभारतके अनेक संस्करण हैं। रामोपाख्यान यवद्वीप, बाली द्वीप, सुमात्रा, कम्बोडिया, चंपा, स्याम, चीन और तिब्बतमें प्रचलित था। यव द्वीप की रामायणके कुछ अंश भट्टिकाव्य का अनुवाद है और कुछ अंश उसके आधार पर लिखे गये हैं। तिब्बतमें जो रामायण का संस्करण प्राप्त हुआ है उसकी कथा रामायणी कथासे भिन्न है। जैनियोंमें भी रामायणके दो संस्करण हैं:—एक वाल्मीकि का अनु-सरण करता है, दूसरा बौद्ध कथासे प्रभावित है। इसी प्रकार महाभारत की कथा भी किसी न किसी रूपमें वृहत्तर भारतके कई देशोंमें प्रचलित थी। भारतीय भाषाओंने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। व्याकरण शास्त्र भी इस देशमें चरम विकास को पहुँचा है। रूसी विद्वान श्चेरवात्स्कीके शब्दोंमें पाणिनि की अष्टाध्यायी मानवी बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से है।

उपनिषदों की विचार-धारा और साधना संसारके अलभ्य रत्नोंमें से है। भारतमें जिन विशिष्ट विचार-धाराओंने जन्म लिया है उन सबका मूल स्थान उपनि-षदोंमें है। उपनिषद्के वाक्योंमें गाम्भीर्य, मौलिकता और उत्कर्ष पाया जाता है और वह प्रशस्त, पुनीत और उदात्त भावसे व्याप्त है। मैक्समूलर का कथन है कि उपनिषद् प्रभातके प्रकाश और पर्वतों की शुद्ध वायुके समान हैं। जिस प्रकार जब हिमानीसे पुण्य सलिला भगवती भागीरथी उद्गत होकर पर्वतमालामें घूमती हुई प्रवाहित होती हैं तब उनमें स्नान करनेसे बाह्य और आभ्यन्तर की विशुद्धि होती है और एक क्षणके लिए ऐसी प्रतीति होती है मानो सकल वासना का क्षय हो गया हो, सकल शरीर प्रीति-रससे आप्लुत और सकल चित्त कुशल चेतना की भावनासे वासित और व्याप्त हो गया हो, उसी प्रकार उपनिषत्वाक्योंमें अवगाहन कर एक नया चैतन्य और एक नयी प्रेरणा मिलती है। यह वाक्य कभी बासी नहीं होते, कभी पुराने नहीं पड़ते। यह सदा नूतन और सदा नवीन हैं। उपनिषद् वह स्तम्भ हैं जिसपर प्रतिष्ठित संस्कृत विद्या और भारतीय संस्कृति का दीपक सदा प्रकाश देता रहता है। यही हमारी अचल निधि है, यही हमारा जय-स्तंभ है।

संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता भी अद्भुत है। इसके अन्तर्गत अनेक शास्त्र और विद्याएं हैं। इसकी धारा अविच्छिन्न रही है। संस्कृत वाङ्मयमें मैं पालि और प्राकृतका भी समावेश करता हूँ। एक समय था कि जब संस्कृत का विशाल क्षेत्र था। मध्य एशियासे लेकर दक्षिण पूर्ण एशियाके द्वीपों तक संस्कृत का अखण्ड राज्य था। उस समय विविध सम्प्रदायोंके विद्वान संस्कृत में ही ग्रन्थ रचना करते थे और शास्त्रार्थ भी संस्कृतमें होता था। इस विशाल क्षेत्र पर भारतीय संस्कृति का अपूर्व प्रभाव पड़ा था। यवद्वीप का प्राचीन साहित्य संस्कृत पर आश्रित था और स्याम, लंका, मलय, जावा, हिन्दचीन आदि की भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव आज भी स्पष्ट है। इसी कालमें भारतीयोंने इन द्वीपों में उपनिवेश बसाये थे। मध्य एशियामें बौद्धधर्मके साथ-साथ भारतीय भाषा, लिपि, दर्शन और कला भी गयी थी। तिब्बत का बौद्ध वाङ्मय भारतीय और भोट के पण्डितोंके सहयोगसे तिब्बती भाषामें अनूदित हुआ था और तिब्बती लिपि भी भारत की देन है। आज भी तिब्बतके मठोंमें प्राचीन संस्कृतके ग्रन्थ पूजे जाते हैं। दिङ्नाग का न्यायमुख और आलम्बन परीक्षा, धर्मकीर्त्ति का प्रमाणवार्त्तिक आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ वहाँ से उपलब्ध हुए हैं। महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन तिब्बतके मठोंसे ५१० हस्तलिखित संस्कृत पोथियों की सूची लाये हैं। अनेक भारतीय ग्रंथ मध्य एशियामें पाये गये हैं। सिकिआंग का प्रान्त जो आज रेगिस्तान है, एक समय हराभरा प्रदेश था और उसके नगरोंमें बौद्धों के अनेक बिहार और चैत्य थे जहाँ समृद्ध पुस्तकागार और कला की वस्तुएं थीं। इस स्थान पर अनेक भाषाओं का समागम और मिलन होता था। इस प्रदेशसे संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य अपरिचित भाषाओंके ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। स्टाइनने भारत की ओरसे खोज का काम किया था। पुराने बिहारोंके भग्नावशेषसे बौद्ध मूर्तियाँ तथा रेशम, कागज और कपड़ा पर अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। इस खोजसे एक विलुप्त सभ्यता का पता लगा है। तुर्फ़ान, कूचा, खुतन तथा अन्य स्थानोंसे विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ भूर्जपत्र, कागज, चमड़ा या लकड़ी पर लिखे गये हैं। इनकी लिपि गुप्तकालीन अथवा खरोष्ट्री है। बौद्धोंके संस्कृत आगमके कई ग्रंथ यहाँ पाये गये हैं तथा मातृचेटके २ प्रसिद्ध स्तोत्र ग्रंथ भी मिले हैं जिनकी प्रशंसा चीनी पर्यटक इत्सिंग करता है। यहींसे अश्वघोषके नाटकोंके अंश प्राप्त हुए हैं। खुतन का राजकाज भारतीय भाषामें होता था और यहाँ के राजाओंके नाम भारतीय थे। काराशर का प्राचीन नाम अग्निदेश था। कूचासे ही बौद्धधर्म चीन गया था। प्रसिद्ध कुमारजीव कूचा का ही अधिवासी था। कूचा की संस्कृति भारतीय थी। यहाँ का तन्त्र, व्याकरण का अध्ययन होता था।

अफगानिस्तानमें सन् १९२२ से प्राचीन खुदाईका काम हो रहा है। हड्डामें अनेक स्तूप, चैत्य और मूर्तियाँ पायी गयी हैं। बामियानमें बुद्धकी विशाल मूर्तियाँ तथा भित्तिचित्र मिले हैं। यहाँ पर भूर्जपत्र पर लिखित संस्कृत ग्रंथ भी मिले हैं। यह महासांघिक विनयग्रंथ तथा महायानके अभिधम ग्रंथोंके अंश हैं। काबुलके उत्तर-पश्चिम खैरखानिह पर्वत पर एक मन्दिरके भग्नावशेष मिले हैं जो गुप्तकालीन मन्दिर की रचनाका स्मरण दिलाते हैं। यहाँ श्वेत संगमरमरकी सूर्यकी एक प्रतिमा भी मिली है जो चतुर्थ शताब्दिकी है।

कम्बोडिया (कम्बुजदेश) जो हिन्दचीनमें समाविष्ट है ९०० वर्ष तक भारतीय संस्कृतिका एक केन्द्र रहा है। यहाँ संस्कृत के लेख पाये गये हैं। यहाँके स्थापत्यमें विष्णु, राम और कृष्णकी कथाएं संचित हैं। भारतीय कलाका सौन्दर्य यहाँ निखरा है।

कहाँ तक कहें, दूर-दूर प्रदेशोंमें भारतीय ग्रंथ पाये गये हैं। मैक्समूलरके एक जापानी शिष्यने जापानके एक मन्दिरमें सुखावती व्यूहकी पोथी पायी थी। चीन और मंगोलियामें बौद्धधर्मके साथ-साथ भारतीय संस्कृति भी गयी थी। चीनके साहित्यका अध्ययन करनेसे भारतके सम्बन्धमें बहुत सी बातें विदित होंगी। कुछ काल पहले चीनी पर्यटक च्वंग-च्वंगको गयाके संघारामके आचार्य द्वारा लिखित पत्र और उसका उत्तर प्रकाशित हुआ था।

इस सम्बन्धमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बौद्धधर्म भारतीय था और उसकी संस्कृति भारतीय थी। अवैदिक होते हुए भी बौद्ध और जैन धर्मका कर्म

तथा कर्मफलमें विश्वास था और दोनों नास्तिकत्ववादका खण्डन करते थे। पुनः भारतके सब मोक्षशास्त्र चिकित्साशास्त्रके तुल्य चतुर्व्यूह हैं। हेय, हान, हेयहेतु और हानोपाय, यह चार सब मोक्षशास्त्रोंके प्रतिपाद्य हैं। यही चार व्यूह योगसूत्रमें हैं। न्यायके यही चार अर्थपद हैं अर्थात् पुरुषार्थ स्थान हैं। बुद्धके यही आर्यसत्य हैं। इन्हीं चार अर्थपदोंको सम्यक् रीतिसे जानकर निःश्रेयसकी अथवा निर्वाणकी प्राप्ति होती है। सब अध्यात्म विद्याओंमें इन चार अर्थपदोंका वर्णन पाया जाता है। सभी शास्त्र समान रूपसे स्वीकार करते हैं कि तत्वज्ञान अर्थात् सम्यग् दर्शन योगकी साधनाके बिना नहीं होता। न्याय दर्शनमें कहा है कि समाधि विशेषके अभ्याससे तत्वसाक्षात्कार होता है।

यह आत्म-संस्कारकी विधि है। जन्मान्तरमें उपचित धर्मप्रविवेकसे योगाभ्यासका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। यह धर्मवृद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होता है (प्रचय काष्ठागत) और उसकी सहायतासे समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है। तब समाधिविशेष उत्पन्न होता है। वैशेषिक सूत्रमें भी कहा है कि आत्मकर्मसे मोक्ष होता है। आत्मकर्मके अन्तर्गत श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम और शम-दम हैं। योगकी साधना बौद्ध, जैन दोनों धर्मोंमें पायी जाती है। प्राणायामसे काम और चित्तकी प्रश्रब्धि होती है और जिस प्रकार न्यायशास्त्र प्राणायाम और अशुभ संज्ञाकी भावनाको विशेष महत्व देता है उसी प्रकार बौद्धागममें भी उनको विशिष्ट स्थान दिया गया है। इनसे काम रागका प्रहाण और नाना प्रकारके अकुशल वितर्कोंका उपशम होता है। मैत्री भावनाका भी माहात्म्य विशिष्ट है। इस प्रकार योगकी साधना वैदिक तथा अवैदिक धर्मोंको एक सूत्रमें बाँधती है और यह साधना सबको समान रूपसे तभी स्वीकार हो सकती थी जब सबके भौतिक विचारोंमें भी किसी न किसी प्रकारका सादृश्य हो। मेरी धारणा है कि विविध सम्प्रदायोंके होते हुए भी यदि हमारे देशमें धर्मके नाम पर रक्तपात नहींके तुल्य हुए हैं तो उसका एक कारण यह भी है कि इनकी मोक्षकी साधना समान रही है और जिस युगमें भक्ति मार्गका प्रभाव बढ़ा उस युगमें बौद्ध धर्ममें भी भक्ति और उपासनाका प्राबल्य था।

मैंने इसका उल्लेख इस कारण किया कि कहीं आप बौद्ध और जैन आगमकी उपेक्षा न करें। इन ग्रन्थोंमें भारतीय समाजशास्त्रके इतिहासके लिए प्रचुर सामग्री मिलती है और बौद्ध तथा जैन विद्वानोंने न्याय, दर्शन, व्याकरण और काव्यके विकासमें विशिष्ट भाग लिया है।

ऐसे भारतीय वाङ्मयका संरक्षण तथा प्रचार करना हमारा आपका कर्तव्य होना चाहिए। मैंने भारतीय संस्कृतिके विस्तार का यत्किंचित विवरण इस कारण दिया जिसमें हमारे स्नातकोंको इसकी समृद्धि और मूल्यका ज्ञान हो।

यह कार्य इस महाविद्यालयका प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। किन्तु यह कार्य तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक हम आलोचना और गवेषणाकी आधुनिक पद्धतिको न स्वीकार करें। अन्वेषणके कार्यके लिए यहाँ बृहत् आयोजन करना होगा। हम अपनी निधिकी रक्षा और उसका मूल्यांकन ठीक ठीक नहीं कर सकेंगे जब तक संस्कृत विश्वविद्यालयमें संस्कृतके साथ पालि, प्राकृत, चीनी, भोट तथा कतिपय पाश्चात्य भाषाओंकी शिक्षाकी व्यवस्था न की जायगी। पुनः आज नवीन शास्त्रोंका उदय हुआ है और प्राचीन विद्याएं विकसित होकर प्रौढ़ावस्थाको प्राप्त हुई हैं। अनुसन्धान के कार्यके लिए इनमें से जिन शास्त्रों और विद्याओंका जितना ज्ञान आवश्यक हो उतना हमारे विशेषज्ञोंको प्राप्त करना चाहिए। उदाहरण के लिए भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तोंको जाने बिना हम प्राचीन ग्रंथोंका कई स्थल पर ठीक ठीक अर्थ नहीं लगा सकते। वैदिक साहित्यके समझनेके लिए अनेक जातियों के सांस्कृतिक इतिहासका तथा उनकी भाषाका जानना भी आवश्यक है। भारतमें अनेक जातियाँ समय-समय पर आती रही हैं जो भारतीय समाजमें घुल-मिल गयी हैं। उनके आचार-विचारका प्रभाव आर्योंकी संस्कृति पर पड़ा है। उत्तर-पश्चिममें अनेक धर्म और संस्कृतियों का मिलन तथा परस्पर आदान-प्रतिदान हुआ है। वहाँकी कला पर यूनानी और ईरानी कलाका प्रभाव पड़ा था। गांधारमें अनेक शैलियोंका विकास हुआ था और इनकी पूर्ण निष्पत्ति खूतन, कूचा, तुर्फान आदि कलाके प्रसिद्ध

केन्द्रोंमें हुई थी। इस प्रदेशमें बौद्ध धर्मका संस्पर्श ईरानी, मागी आदि धर्मोंसे हुआ था। अतः इस युगके धर्म और संस्कृतिके इतिहासको जाननेके लिए इन विविध धर्मों और संस्कृतियोंका ज्ञान आवश्यक है। भारतीय समाजशास्त्रकी रचनाके लिए आज केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि हम विविध ग्रंथोंके आधार पर तथ्योंका संग्रह करें, किन्तु साथ साथ पश्चिमके समाजशास्त्र, नृतत्व आदि उपयोगी शास्त्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्त तथा उनमें एकत्र की हुई सामग्री को जानना भी आवश्यक है।

इस महाविद्यालयमें इस कार्यके लिए अनेक सुविधाएं हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आपके पास एक वृहत् पुस्तकालय है जिनमें हस्तलिखित और मुद्रित ग्रंथोंका अच्छा संग्रह है। हस्तलिखित पुस्तकोंका सूचीपत्र तैयार किया जा रहा है और प्राचीन पुस्तकोंके प्रकाशनकी भी व्यवस्था की गयी है। काशी संस्कृत शिक्षाका प्रसिद्ध केन्द्र है और प्राचीन शैली के अनेक विद्वान यहाँ प्रवचन करते हैं। नवीन शैलीके संस्कृत विद्वानोंके सहयोगकी परम आवश्यकता है। पिछले ३० वर्षोंमें जिन भारतीयोंने संस्कृत विद्याके उद्धारका स्तुत्य कार्य किया है उनमें अधिकांश वही हैं जिन्होंने पश्चिमके गवेषणाके प्रकारोंको सीखा है और जिन्होंने नये ढंगसे शिक्षा प्राप्त की है। इनके सहयोगसे यहांके स्नातक भी इस कार्यके लिए तैयार किये जा सकते हैं। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। मैं जब काशी में विद्यार्थी था तब संस्कृत कालेजके कुछ शास्त्री फ्रेंच, जर्मन, पालि आदि पढ़ा करते थे और उनको छात्रवृत्ति दी जाती थी। किन्तु इनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। अब इसी कार्यको बड़े पैमाने पर करनेकी आवश्यकता है। इसके लिए इन भाषाओंके अध्यापन तथा छात्रवृत्तियोंकी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

अपने प्राचीन ग्रंथोंके प्रामाणिक संस्करण भी अभी नहीं निकल पाये हैं। महाभारत ऐसे प्राचीन ग्रंथका कोई प्रामाणिक संस्करण न हो यह कितनी लज्जाकी बात है। किन्तु भण्डारकार ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट इस कमीको पूरा कर रहा है। इसका आरम्भ सन् १९१९में हुआ था और आज भी यह कार्य समाप्त नहीं हुआ है। यह कार्य जितना कठिन और महान है उतना ही इसका महत्व भी है। अशुद्ध पाठके आधार पर जो विविध निष्कर्ष निकाले गये थे वह सदोष पाये गये हैं। जब आदि पर्वका वैज्ञानिक संस्करण सन् १९३३ में प्रकाशित हुआ था तब उस पर संसारके विद्वानोंने बड़ा सन्तोष प्रकट किया था और उसे संस्कृत भाषा-विज्ञानके इतिहासकी सबसे महत्वपूर्ण घटना बता कर डा० सुकथंकरकी प्रशंसा की गयी थी। आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतिकी जानकारीके बिना यह महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता था। पुराणोंमें भी शोधका बहुत काम करना है। हस्तलिखित पोथियोंकी खोज भी जारी रहनी चाहिए और उनकी रक्षाका उचित विधान होना चाहिए। विज्ञानकी सहायताके बिना यह साधारण सा कार्य भी नहीं हो सकता। जो पोथियाँ जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं उनकी रक्षाका एकमात्र उपाय उनका चित्र लेना है। माइक्रोफिल्म और फोटोस्टैट कैमराकी सहायतासे यह कार्य सुकर हो गया है। इस सम्बन्धमें मुझे एक निवेदन करना है कि गवर्नमेण्टको इण्डिया आफिस लाइब्रेरीमें संगृहीत भारतीय पुस्तकोंकी वापिसी की चेष्टा करनी चाहिए। समाचारपत्रोंसे ज्ञात होता है कि ऐसी कुछ चेष्टा की जा रही है। यदि यह सत्य है तो यह परम सन्तोषका विषय है। इंगलैण्डके अतिरिक्त अन्य देशोंमें जो ग्रंथ गये हैं उनका चित्र प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिए। एक ऐसा भी कानून बनाना चाहिए कि भारतसे बाहर कोई प्राचीन ग्रंथ, चित्र या कलाकी वस्तु न जावेगी।

मेरी संस्कृत विश्वविद्यालयकी कल्पना यह है कि यहाँ प्राचीन शास्त्रोंके स्वाध्याय-प्रवचनके साथ-साथ गवेषणा की पूरी व्यवस्था की जाय और इस सम्बन्धमें जिन भाषाओं और नवीन शास्त्रोंकी शिक्षा की आवश्यकता हो उसका भी प्रबन्ध किया जाय। इस गवेषणा के कार्यमें पुरातन और नवीन शैली, दोनोंके विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय तथा विद्यालयसे निकले हुए आचार्यों को छात्रवृत्ति देकर अन्वेषणके कार्यके लिए तैयार किया जाय। यहाँ ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे अन्य विश्वविद्यालयोंके विद्वान यहाँ आकर अनुसन्धान के कार्यमें योग दे सकें। किन्तु इस

व्यवस्थासे पूरा लाभ तभी होगा जब यहाँ के पाठ्यक्रम में उचित परिवर्तन किये जायंगे। आजके युगमें पुरानी पद्धति की संस्कृत की शिक्षा तभी अपने उद्देश्य को चरितार्थ कर सकती है जब शास्त्रों की शिक्षाके साथ साथ मौलिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाय। प्रत्येक विद्यार्थीको केवल अपनी जीविका का ही उपार्जन नहीं करना है किन्तु उसे एक नागरिकके कर्तव्योंका भी पालन करना है और इससे भी बढ़कर उसे मनुष्य बनना है और मनुष्य भी पुराने युगका नहीं, आजके युग का जब समाजने अपने सामञ्जस्य को खो दिया है, जब विचारोंमें संघर्ष चल रहा है और एक प्रकार की अनिश्चतता है जिसके कारण जीवनके प्रति कोई स्पष्ट और उत्कृष्ट दृष्टि नहीं बन पाती। वह मनुष्य क्या है जो अपनी मातृभाषाके साहित्यसे परिचित नहीं है, जो एक शास्त्र का विशेषज्ञ होनेके लोभमें अपने साहित्य और कला की अमर कृतियों की उपेक्षा करता है? वह मनुष्य क्या है जो संसारके इतिहाससे अपरिचित है, जिसको वर्तमान समस्याओं और घटनाओं का ज्ञान नहीं है? वह अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है। यदि वह विज्ञान का विद्यार्थी है तो वह कुशल शिल्पी हो सकता है, यदि वह संस्कृत का शास्त्री या आचार्य है तो वह पौरोहित्य या अध्यापन का कार्य कर सकता है, किन्तु दोनों दूसरोंका उपकरण ही बन सकते हैं और समाज और राजनीति के संचालनमें वह अपनेको असमर्थ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वह अपने धन्धेको जानते हैं किन्तु शिक्षा और जीवनके परम उद्देश्यको नहीं जानते। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है और न उनकी शिक्षाका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उनको जीवनके विविध क्षेत्रोंके लिए सामान्य रूपसे तैयार करें। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थीके लिए ऐसी पाठ्य-पद्धति होनी चाहिए जिसके द्वारा यह सामान्य किन्तु परम आवश्यक ज्ञान उसको दिया जा सके। इस दृष्टिसे डाक्टर भगवानदास समितिके अभिस्तावों तथा निष्कर्षोंका मैं सामान्य रूपसे स्वागत करता हूँ। नवीन विषयोंके समावेशकी बात तो दूर रही, वर्तमान प्रणाली के अनुसार संस्कृत वाङ्मय का भी एकांगी अध्ययन ही हो पाता है।

अतः पाठ्यक्रमके क्षेत्रको दो प्रकारसे हमें विस्तृत करना चाहिए। एक संस्कृत विद्याकी पाठयविधिको व्यापक और सर्वांगीण बनाना। दो—पाठयविधिमें आधुनिक विषयोंका यथा, हिन्दी, इतिहास,भूगोल, राजशास्त्र, गणितका समावेश करना। साथ-साथ विद्यार्थियों में तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययनकी प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहिए। इन सिद्धान्तोंके आधार पर पाठ्य-पद्धतिका पुनर्निर्माण होना चाहिए किन्तु इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञानके गांभीर्यमें कमी न हो तथा गांभीर्यकी रक्षा करते हुए आवश्यक मात्रामें उसका विस्तार भी हो। जितना आधुनिक ज्ञान एक साधारण विद्यार्थीके लिए नितान्त आवश्यक है उतना तो संस्कृत पाठशालाओंके छात्रोंको भी अर्जित करना चाहिए।

मैं एक दूसरे आवश्यक कार्यकी ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, यह है संस्कृत वाङ्मयका हिन्दीमें अनुवाद। यदि हिन्दी भाषामें हमारे प्राचीन ग्रंथ रत्नों का अनुवाद प्रस्तुत हो तो इससे भारतीय संस्कृतिके प्रचारमें बड़ी सहायता मिलेगी। आधुनिक भाषाओंकी आप उपेक्षा नहीं कर सकते। सारा राजकाज इन्हीं भाषाओंमें होने जा रहा है। धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाका माध्यम हो जायगी। आपको मातृभाषाका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। अब वह समय नहीं रहा जब किसी लेखक या कविसे प्रश्न किया जाय कि तुम संस्कृतका परिहार कर हिन्दीमें गद्य या काव्य रचना करनेमें क्यों प्रवृत्त हुए हो। इसका उत्तर राजशेखर और गोस्वामी तुलसीदासजी दे गये हैं। राजशेखरके अनुसार संस्कृतबन्ध परुष है और प्राकृतबन्ध सुकुमार है। वह आगे चलकर कहते हैं कि उक्ति विशेष ही काव्य है भाषा चाहे जो हो। राजशेखरके समयमें संस्कृत काव्य कृत्रिम और क्लिष्ट हो गया था,यह उसके ह्रासकी अवस्था थी। रामायण,महाभारत, महाभाष्य और शंकरभाष्यकी शैली भुला दी गयी थी, काव्यका प्रसाद गुण विलुप्त हो गया था। भामहका कहना है कि काव्यको क्लिष्ट और दुरूह नहीं होना चाहिए, उसके समझनेके लिए किसी टीकाकी आवश्यकता न होनी चाहिए। वह इतना सरल हो कि

साधारण पढ़े-लिखे लोग, बालक और स्त्रियाँ भी उसे समझ सकें। गद्यका प्राण ओज है (ओजः गद्यस्य जीवितम्) जब संस्कृत किसी वर्गकी भी बोलचालकी भाषा न रह गयी तो उसमें कृत्रिमताका आ जाना स्वाभाविक है। तब पाण्डित्य प्रदर्शन ही एक मात्र काव्य-रचनाका उद्देश्य रह गया और काव्य हृदयग्राही न रहा। माधुर्य और प्रसाद गुण मातृभाषाके साहित्य-में ही सुगमताके साथ आ सकता है। अतः मातृभाषा में साहित्य-सर्जन करनेमें हमको गौरवका अनुभव करना चाहिए।

मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार यह बतानेकी चेष्टा की है कि संस्कृत विश्वविद्यालयका क्या उद्देश्य और क्या कार्यक्रम होना चाहिए। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस विश्वविद्यालयमें उन सब विषयोंके अध्ययनकी व्यवस्था साधारणतः करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है जिनका प्रबन्ध अन्य विश्वविद्यालयोंमें होता है। वहाँ का पठन-पाठन अब राष्ट्रभाषामें होगा। अतः जिनको उन विषयों की शिक्षा लेनी है वह वहाँ जा सकते हैं। इसकी सुविधा अवश्य होनी चाहिए किन्तु संस्कृत विश्वविद्यालय का एक विशेष लक्ष्य है जिसकी पूर्ति अन्य विश्वविद्यालयोंमें नहीं हो रही है। एक प्रकारसे यह विद्यालय भी है और प्राच्य विद्याके अन्वेषणका एक प्रतिष्ठान भी है। ज्ञान-राशि अनन्त है, उसकी सीमा नहीं है। इधर अनेक नवीन शास्त्रों की प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान का विस्तार इतना बढ़ गया है कि बिना अन्तरराष्ट्रीय सहयोगके गवेषणा का कार्य दुष्कर हो गया है। ज्ञानके सदृश दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। अतः विदेशियोंसे उसके लेनेमें संकोच नहीं होना चाहिए। प्राचीन कालमें भी हमने स्वाध्याय और प्रवचनमें कृप-णता नहीं दिखायी थी। आज भी हमको उसी उदार बुद्धि तथा व्यापक दृष्टिसे काम लेना चाहिए। इसीमें हमारा मंगल है। इसी प्रकार भारत की सर्वतोमुखी प्रतिभा का उन्नयन होगा।

संस्कृत का आदर और सम्मान अधिकाधिक बढ़ता जायगा। संसारके प्रत्येक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयमें संस्कृत की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया है। पाश्चात्य जगतके विद्वान गवेषणाके कार्यमें हमसे कहीं आगे बढ़े हुए हैं, उनमें ज्ञान की पिपासा है; जहाँसे ज्ञान मिल सकता है वहाँसे लेनेमें उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। हममें या तो मिथ्या गर्व और चित्तोद्रेक है अथवा आत्मावसाद है। दोनों का परिहार कर संस्कृत वाङ्मयके संरक्षण और प्रचारमें हमको प्राणपणसे लग जाना चाहिए। जो विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर उपाधि ले रहे हैं उनका इस विषयमें विशेष उत्तरदायित्व है।

मैं जानता हूँ कि किस विषम परिस्थितिमें आप स्नातक अपना पठन-पाठन करते हैं। प्रवाहके विरुद्ध होते हुए भी आप संस्कृत विद्या की रक्षामें जो लगे हुए हैं यह स्तुत्य है। आपके जीविका-निर्वाहके लिए कुछ अन्य वृत्तियों का द्वार अब खुल जाना चाहिए। केवल पौरोहित्य और अध्यापन की वृत्तियाँ पर्याप्त नहीं हैं। इस दृष्टिसे आप को कतिपय अन्य परीक्षाओंमें सम्मिलित होने की सुविधा प्रदान करना चाहिए। इस दृष्टिसे भी पाठशालाओं की पाठन-विधिमें परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत होता है। पाठ्य-ग्रंथावली संशोधन समितिने अपने निश्चयोंमें इस बात का भी ध्यान रखा है। आप की आर्थिक अवस्था को सुधारना तथा आप को देश की आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए समर्थ बनाना समाजका कर्तव्य है।

इतने विद्यार्थियों को विविध उपाधि और पदवियों से विभूषित होते देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। मैं आप का शुभचिन्तन करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि आप समाजमें अपनी योग्यताके अनुरूप स्थान पाकर शीघ्र कार्यमें नियुक्त हो जावेंगे और जो प्रतिज्ञाएं आज आपने स्वीकार की हैं उनकी सदा रक्षा करेंगे।

जिस युगमें हम रह रहे हैं उसकी अपनी विशे-षता है। हमारी सभ्यता पर आधुनिक विज्ञानका गहरा प्रभाव पड़ा है। आज संकुचित विचार-धारासे हमारा कल्याण नहीं हो सकता है। हमारी दृष्टि साम्प्रदायिक और प्रान्तीय न होकर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय होनी चाहिए। हममें इन हीन प्रवृत्तियोंसे ऊपर उठने का सत्साहस और सद्विवेक होना चाहिए। प्राचीन संस्कृतिके उत्कृष्ट अंशोंकी रक्षा करते हुए हमको आधुनिक युगके सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्योंको

अपनाना होगा। राष्ट्रीय एकताके लिए किसी विशेष भाषा या लिपिका अनुचित पक्षपात छोड़कर केवल राष्ट्रहितसे प्रेरित होना होगा। जनतन्त्र की भावनासे प्रेरित होकर हमको सब काम करने होंगे। हमारा चिन्तन वैज्ञानिक होगा और हम ज्ञान की निरन्तर बृद्धि करते रहेंगे। जिस कुशल चेतनासे प्रेरित होकर प्राचीन ऋषियोंने सकल समाजके कल्याणके लिए सत्पथ का उद्घाटन किया था उसी कुशल चेतना की भावना कर उन्हीं आर्य और उदात्त भावोंसे प्रेरित होकर हम आज की आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए व्रती हों और बहुजन समाजके हित-सुख का विधान कर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्तिके लिए यत्नवान् हों। तभी हम अपना कल्याण और विश्व का कल्याण कर सकेंगे। तभी संसारमें शान्ति, तुष्टि और पुष्टि होंगी। आशा है आप ईप्सित फल प्राप्त करेंगे और संस्कृत विश्वविद्यालय का यह शुभसंकल्प विद्वज्जनों का सहयोग प्राप्त कर सफल होगा।

प्रवर्त्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः,
सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम्॥

सार्थो नन्दतु सज्जनानां सकलो वर्गः खलानां पुन-
नित्यं खिद्यतु भवतु ब्राह्मणजनः सत्याशीः सर्वदा।
मेघो मुञ्चतु संचितमपि सलिलं सस्योचितं भूतले
लोकोलोभपराङ्मुखोऽनुदिवसं धर्मे मतिर्भवतु च॥

काशी संस्कृत महाविद्यालयके समावर्तन संस्कारके अवसर पर दिया गया दीक्षान्त भाषण।

बौद्ध और जैन-कालीन वर्ण-व्यवस्था

(५०० ई० पू०–५०० ई०)

डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन

गंगा-उपत्यकामें कुरु, पंचाल, काशी, कोशल और विदेहमें अपना साम्राज्य स्थापित कर आर्योंकी साम्राज्य-लिप्सा शान्त नहीं हुई। यहाँसे वे लोग अंग, वंग और कलिंगकी ओर बढ़े और यहाँ की आदिम जातियों में आर्य धर्म, भाषा और सभ्यता फैलाने लगे। तत्पश्चात् पश्चिममें उन्होंने सौराष्ट्र पर अधिकार किया और दक्षिणमें गोदावरी और कृष्णा नदी के किनारे अपना राज्य कायम कर द्रविड़ जातियों पर सदाके लिए अपना सिक्का जमा लिया।

तात्पर्य यह है कि भारतके विजेता आर्य अब पुराने विदेशी आर्य नहीं रह गये थे। अपनी कूटनीति और तलवारके बलसे उन्होंने धन-संपत्तिका संचय कर भारत-भूमि पर अधिकार कर लिया था। यहाँके मूल निवासियोंकी प्रकृतिसे अब वे भलीभाँति परिचित हो गये थे और उसका उन्होंने यथेष्ट लाभ उठाया था। पहलेकी अपेक्षा उनका अनुभव और ज्ञान प्रत्येक बात में बढ़ा-चढ़ा था। ऐसी हालतमें स्वाभाविक था कि उन्हें प्राकृतिक देवी-देवताओंकी स्तुति और आडम्बर-पूर्ण क्रिया-काण्ड अर्थविहीन और नीरस प्रतीत होने लगे।

लेकिन प्रश्न उठता था कि क्या केवल ज्ञान-शून्य यज्ञ-यागमें लगे रहना ही धर्म है? क्या इस चल विश्वके पीछे कोई अचल शक्ति नहीं छिपी है? उपनिषद्-साहित्यमें आर्योंकी ये ही भावनाएं काम करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। मुण्डक उपनिषद् (१.२.७) में कहा है कि जो लोग यज्ञको उत्तम मान कर उसका अभिनन्दन करते हैं वे मूढ़ जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। छान्दोग्यमें बताया है कि अन्तःस्थित प्राणको आहुति देना ही वास्तविक यज्ञ है। वस्तुतः इस कालमें तत्वचिंतकोंका एक ऐसा समूह आविर्भूत हो रहा था जो सीधे-सादे देववाद और वैदिक क्रिया-काण्डमें विश्वास न रख वेद-ज्ञानको अपरा विद्या कह कर ब्रह्मविद्याको उत्कृष्ट मानता था और साथ ही पुनर्जन्मके सिद्धांतमें आस्था रखता था।

उपनिषद्-कालमें उक्त सिद्धान्तोंको लेकर क्षत्रिय और ब्राह्मणोंमें जो द्वंद्व चल रहा था उसमें क्षत्रियोंका पक्ष प्रबल जान पड़ता था। वाजसनेयी संहिता तथा उपनिषदोंमें ब्राह्मणोंकी अपेक्षा क्षत्रियोंको प्रशस्य बताते हुए कहा है कि राजसूय यज्ञमें ब्राह्मणको क्षत्रिय से नीचे बैठना चाहिए। छान्दोग्य (५.३.७) में कहा है कि क्षत्रियोंसे पहले यह विद्या (ब्रह्मविद्या) ब्राह्मणों के पास नहीं गयी, अतएव सर्व लोकोंमें क्षत्रियोंका शासन हुआ। इस प्रकार उपनिषदोंमें ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि ब्राह्मण समिधा लेकर क्षत्रियोंके पास पहुँचते थे और जिज्ञासा-पूर्वक उनसे ब्रह्मका उपदेश ग्रहण करते थे।

शतपथ ब्राह्मण (११.४.५) में कथा आती है कि एक बार श्वेतकेतु आरुणेय और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि विदेहके राजा जनकके पास गये। राजाने प्रश्न किया–"आप लोग अग्निहोत्र कैसे करते हैं?" ऋषियोंने जनकके प्रश्नका उत्तर दिया, लेकिन राजाको सन्तोष न हुआ। याज्ञवल्क्यने औरोंकी अपेक्षा ठीक उत्तर दिया लेकिन वे भी सर्वथा ठीक ठीक उत्तर न दे सके। इस पर राजा जनक रथ पर सवार होकर चल दिये। ऋषियोंको अपमान अच्छा न लगा। उन्होंने याज्ञवल्क्य को रथ पर बैठा जनकके पास भेजा। याज्ञवल्क्य जनक

का उत्तर पाकर संतुष्ट हुए। वास्तवमें उस कालमें विदेह, काशी और कुरु-पंचाल आर्य-विद्याके बड़े केन्द्र बन गये थे जहाँ विद्वान् लोग दूर-दूरसे आकर ज्ञान-चर्चा करते थे।

क्षत्रिय और ब्राह्मणों का यह वर्ग-संघर्ष यहीं समाप्त नहीं हुआ। आगे चलकर उसने उग्र रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप दोनों जातियों में युद्ध हुए। शास्त्रोंमें यहाँ तक लिखा है कि परशुराम ने जब इस पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय बाकी न छोड़ा तो रामचन्द्रने अपने प्रतिद्वन्द्वीसे बदला लेकर ब्राह्मणों का नाम-निशान मिटाकर फिर से क्षत्रिय-राज्य कायम किया। वशिष्ठ और विश्वामित्रमें भी बहुत समय तक संघर्ष रहा और अन्तमें वशिष्ठ को उन्हें ब्रह्मर्षि कहकर सम्भानित करना पड़ा।

आगे जाकर हम देखते हैं कि क्षत्रिय और ब्राह्मणों की दो जुदी परम्पराएं हो गयीं। ब्राह्मण लोग वेदों को अपौरुषेय मानते थे, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की स्तुति करते थे, यज्ञ-यागमें पशुओं की बलि देते थे, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों को स्वीकार करते थे तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मानकर अपनी जाति को सर्वोत्कृष्ट समझते थे। क्षत्रिय-परम्परा इन बातों का विरोध करती थी। ये लोग संन्यास, आत्मचिन्तन, संयम, तप और अहिंसाके ऊपर जोर देते हुए आत्मशुद्धि को प्रधान मानते थे और संसार का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। इस परम्परामें यज्ञ-याग आदि कर्मकाण्ड का स्थान आत्म-विद्या को मिला था और वह क्षत्रियों की विद्या मानी जाती थी।

विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, जनक, पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर, गोशाल आदि इसी विद्रोही परम्परामें जन्मे थे। ब्राह्मण लोग ब्रह्मर्षि देश––कुरु, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन––को पवित्र बताकर क्षत्रियोंके राष्ट्र काशी, कोशल और विदेह आदिमें गमन करने का निषेध करते थे तथा वैशालीके लिच्छवी तथा कुसीनारा और पावाके मल्लों को व्रात्य-सन्तान कहकर निम्न श्रेणीका घोषित करते थे।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके इसी संघर्षके फलस्वरूप क्रांतिके वाहक बुद्धिवादी गौतम बुद्ध और महावीर वर्द्धमान का मगधमें जन्म हुआ। इस कालमें ब्राह्मणों की धन-लोलुपताके कारण उनमें स्वार्थ, अहंकार और छल-कपट की मात्रा बढ़ रही थी और उनकी अकर्मण्यताके कारण ज्ञान का ह्रास हो रहा था। उधर निम्न वर्ग का उत्पीड़न चरम सीमापर पहुँच रहा था, क्योंकि जिन निम्न वर्गके लोगोंने अपने धर्म को त्यागकर आर्यों के धर्म और संस्कृति को अपनाया था, उन्हें किसी भी प्रकार की धार्मिक अथवा सामाजिक सुविधाएं नहीं दी जा रही थीं तथा ऐसे लोगोंके धन-संचय कर लेने पर भी उनके पद आदिमें परिवर्तन होने की कोई संभावना दिखायी नहीं देती थी। गौतम, वशिष्ठ आदि धर्मसूत्रों का इस समय निर्माण हो चुका था जिनमें निम्न वर्गके लिए कठोरसे कठोर नियमों का विधान किया गया था। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणोंके अत्याचार इस कदर बढ़ गये थे कि शोषित वर्ग जीवनसे एक प्रकारसे निराश हो बैठा था।

ऐसी परिस्थितिमें बुद्ध और महावीरने बड़े साहस-पूर्वक वर्ण-व्यवस्था का खंडन कर ब्राह्मणोंके अधिकारों का प्रतिवाद किया। हिंसामय यज्ञोंके स्थान पर शान्ति-यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि का तथा विविध क्रियाकाण्डके स्थान पर दया, क्षमा, प्रेम, शांति आदि का उपदेश देकर इन महात्मा पुरुषोंने मनुष्य मात्रके लिए धर्म का द्वार खोल दिया जिससे नाई, लुहार, कुम्हार, बुनकर, चाण्डाल, वेश्या आदि हजारों स्त्री-पुरुष श्रमण-धर्ममें दीक्षित होने लगे।

एक बार आश्वलायन माणवकने गौतम बुद्धसे ब्राह्मण वर्णकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया तो बुद्धने निम्नलिखित उत्तर दिया था––"हे आश्वलायन! अन्य वर्णोंकी तरह ब्राह्मण भी रज और वीर्यके संयोग से उत्पन्न होते हैं, फिर ब्राह्मण वर्णको अन्य वर्णोंकी अपेक्षा कैसे उत्तम कहा जा सकता है! वास्तवमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चाहे जो हो, जो प्राणियोंकी हिंसा करता है, चोरी करता है, कटु भाषी है और लोभी और द्वेषी है वह दुर्गतिमें जाता है, और जो इन पापोंसे दूर रहता है, वह सुगति प्राप्त करता है। फिर ब्राह्मणोंको दूसरोंकी अपेक्षा कैसे उत्तम माना जा सकता है? पंडित और अपंडित दोनों भाइयोंमें श्राद्ध आदिके अवसर पर पहले पंडितको ही भोजन

आदि कराया जाता है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि जातिसे ब्राह्मण नहीं होता।" (मज्झिमनिकाय, अस्सलायंण सुत्त)

वासेट्ठ सुत्तमें कहा है कि माताकी योनिसे उत्पन्न होनेके कारण कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसके गुण-कर्म जैसे होते हैं वह वैसा कहा जाता है। उदाहरणके लिए जो गोरक्षासे जीविका करता है वह कृषक है, जो शिल्पसे जीविका करता है वह शिल्पी है, जो व्यापारसे जीविका करता है वह वैश्य है, जो चोरीसे जीविका करता है वह चोर है, जो पुरोहिताईसे जीविका करता है वह याजक है, और जो राष्ट्रका उपयोग करता है वह राजा है। इसी तरह सच्चा ब्राह्मण वह है जो अपरिग्रही है, निर्भय है तथा संग और आसक्तिसे रहित है। सच पूछा जाय तो न जन्म से ब्राह्मण होता है न अजन्मसे, कर्मसे ही ब्राह्मण-अब्राह्मण मानना चाहिए।

जैनोंके उत्तराध्यन सूत्रमें जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मणके संवादमें कहा गया है कि जयघोष जब विजयघोषकी यज्ञशालामें भिक्षाके लिए गये तो विजयघोषने मुनिको लौट जानेको कहा, क्योंकि उसके घर वेदपाठी, यज्ञार्थी और ज्योतिषांग जाननेवाले ब्राह्मणको ही भिक्षा मिलती थी। उस समय जयघोष मुनिने बताया है कि जो अपना और दूसरोंका कल्याण करे, जिसने राग, द्वेष और भय पर विजय प्राप्त की हो, जो इन्द्रिय-निग्रह करता हो, कभी मिथ्या-भाषण न करता हो, तथा जो सब प्राणियोंके हितमें रत रहता हो, वही सच्चा ब्राह्मण है।

वज्रसूचिका उपनिषद्में १.जीव,२. देह, ३. जाति, ४. कर्म, या ५. धर्म इनमें कौन ब्राह्मण है इस प्रश्नका निम्नलिखित उत्तर दिया गया है:--

१--जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता क्योंकि अतीत-अनागत कालमें नाना जातीय देहोंमें जीव एक रूपसे विद्यमान है। एक ही जीवके कर्मवश अनेक देह पैदा होते हैं। अतएव समस्त शरीरोंमें एक रूप जीव होनेसे जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता।

२--देह भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि सभी वर्णोंके शरीर पंचभूतसे निर्मित हैं और एक ही प्रकारके हैं। तथा यदि देह ब्राह्मण होती तो अपनी पिताकी मृत देहके दाह करने पर पुत्रको ब्रह्महत्याका पाप लगता।

३--जाति भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि मनुष्योंके सिवाय अन्य जातियोंमें भी महर्षियोंका जन्म हुआ है। जैसे मृगीसे ऋष्यश्रृंग, कुशसे कौशिक, जम्बूकसे जाम्बूक, वल्मीकसे वाल्मीकि, कैवर्त-कन्यासे व्यास, शशपृष्ठसे गौतम, उर्वशीसे वशिष्ठ और कलशसे अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए थे। इससे मालम होता है कि जातिके बिना भी बहुतसे ऋषि ज्ञान-संपन्न हो गये हैं।

४--ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं क्योंकि अनेक क्षत्रिय आदि भी परमार्थदर्शी और ज्ञानवान् हो गये हैं।

५--कर्म भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि सब प्राणियों के प्रारब्ध, संचित और आगामी कर्मोंकी समानता पायी जाती है। कर्मसे प्रेरित होकर ही सब लोग कर्म करते हैं।

३--धर्म भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सुवर्ण-दान करते हैं।

ऐसी हालतमें ब्राह्मण वही कहा जा सकता है जो जाति-गुण-क्रिया विहीन आत्माका साक्षात्कार करता हो।

इसी प्रकार महाभारत, पुराण आदिमें भी जाति-विरोधी अनेक उल्लेख मिलते हैं। नन्दवंशीय चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार,अशोक और संप्रति राजा श्रमणधर्मके अनुयायी थे। इनमें चन्द्रगुप्तको मुरा दासीकी सन्तान माना गया है। इससे पता चलता है कि बुद्ध और महावीरने गुण-कर्म और स्वभावकी मुख्यता पर जोर देते हुए ब्राह्मणोंकी वर्ण-व्यवस्था पर कुठाराघात कर बहुत कुछ अंशोंमें निम्नवर्गके उत्पीड़नको कम किया था। इन प्रगतिशील चिन्तकोंके उपदेशसे प्रभावित होकर बौद्ध और जैन व्यापारी बनिज-व्यापारके लिए दूर-दूर देशोंमें जाने लगे। इससे भी रंग-भेदको धक्का पहुँचा। इसीलिए उस कालमें व्यापारी वर्गमें व्रात्य आदि बहुसंख्यक अनार्य या मिश्रित जातिके लोग शामिल कर लिये गये थे। इससे वर्णके बंधन, जो धीरे-धीरे दृढ़ हो गये थे, शिथिल पड़ गये और फिरसे क्षत्रिय,

ब्राह्मण, वैश्य आदि भिन्न-भिन्न वर्णोंके लोग परस्पर नजदीक आने लगे तथा भारतीय जनताका विपुल भाग ऊँच-नीच, छोटे-बड़े और स्त्री-पुरुषका भेद-भाव छोड़कर बौद्ध और जैनधर्ममें दीक्षित होने लगा।

यहाँ ख़ास ध्यान रखने की बात यह है कि यद्यपि बुद्ध और महावीरने अपने धर्म का द्वार चारों वर्णोंके लिए खोल दिया था, लेकिन वर्णो की संख्या उन्होंने भी चार ही रखी। अन्तर इतना हो गया कि अब ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रथम रखकर वर्ण-व्यवस्था मानी जाने लगी। ब्राह्मणों को 'धिज्जाइ'(धिक् जाति) कहकर संबोधित किया जाने लगा तथा बौद्ध और जैन ग्रंथोंमें घोषित किया गया कि बुद्ध और तीर्थंकर क्षत्रिय या ब्राह्मण कुलोंमें जन्म लेते हैं, वैश्य, शूद्र आदि नीच कुलोंमें नहीं। महावीरोंके विषयमें प्रसिद्ध है कि पहले वे ब्राह्मणीके गर्भमें अवतरित हुए लेकिन क्षत्रिय कुलके मुकाबिलेमें ब्राह्मण कुलके नीच समझे जानेके कारण वे किसी दिव्य शक्ति द्वारा क्षत्रियाणीके गर्भमें पहुँचा दिये गये। धीरे-धीरे श्वपाक, चाण्डाल आदिको हीन जाति और धोबी, शिकारी, नट आदि को हीन-शिल्पी कह कर सम्बोधन किया जाने लगा। इससे पता चलता है कि पुरोहित वर्ग की सहायताके बिना क्षत्रियों को बड़ी कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था, इसीलिए धीरे-धीरे वे उनके बताये हुए रास्ते पर आ रहे थे।

अस्तु, इधर ब्राह्मणों का जोर बढ़ रहा था, उधर बिम्बसार,प्रसेनजित आदि राजा-महाराजा तथा शाक्य, मल्ल और लिच्छवी आदि गण-राजा बुद्धके अनुयायी बनकर निम्न वर्गके शोषण का सुवर्ण अवसर हाथसे नहीं जाने देना चाहते थे। इसी तरह अनाथपिण्डक और मृगारभाता विशाखा जैसे सेठ-सेठानी बुद्धऔर भिक्षुओं के लिए बड़ी-बड़ी कीमतके संघाराम और विहार आदि बनवा कर बुद्धके भक्त बन दोनों हाथोंसे संपत्ति लूटना चाहते थे। वस्तुतः सम्राटअशोक, संप्रति आदि बड़े-बड़े राजाओं और सेठ-साहूकारों की बदौलत बौद्धऔर जैन धर्म का प्रसार दूर-दूर तक हुआ था। भारतसे बाहर लंका, चीन, जापान, और तिब्बत आदि देशोंमें बौद्ध धर्म को राजाओंने ही फैलाया था। सौराष्ट्र, दक्षिण आदिमें जैनधर्म को फैलाने वाला राजा संप्रति था। इसके अलावा यह राजा-महाराजाओं का ही प्रभाव था कि बुद्धके धर्मचक्र को धार्मिक साम्राज्य का रूप दिया गया था, और इसीलिए बुद्ध धर्म चक्रवर्ती और जैन तीर्थंकर जिन (जयति इति=विजयी) और विजेता कहे जाते थे। वास्तवमें जैसे मुगल कालमें धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें बादशाही कायम करने की धुन थी, उसी तरह आजसे २००० वर्ष पूर्व धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा था। आगे चलकर क्षत्रिय राजाओंने बौद्ध तथा जैन धर्म को इतनी जोरसे अपने शिकंजोंमें जकड़ा कि बुद्ध और महावीर को ऋणी, दास तथा राज-सैनिकों को प्रव्रज्या देने का निषेध करना पड़ा ताकि शोषकों की शोषण-व्यवस्थामें कोई व्यवधान न पड़े।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर वर्ण-व्यवस्था की निष्फलता को भलीभाँति समझकर भी उसे उखाड़ फेंकनेके लिए किसी नये मार्ग या सामाजिक ढाँचे का प्रदर्शन नहीं कर सके। वे केवल यह कहकर रह गये कि, "निर्वाण-प्राप्तिमें वर्ण या जाति सहायक नहीं। वर्ण या जाति भिक्षु बननेसे पहले तक कायम रहते हैं, उसके बाद जैसे गंगा, यमुना आदि नदियोंके समुद्रमें प्रविष्ट होने पर उनका नाम और निकास निश्शेष हो जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि वर्ण श्रमणधर्ममें दीक्षित होने पर निश्शेष हो जाते हैं।"

लेकिन इतने मात्र से समस्या हल न हुई। लोग समझ गये कि भिक्षुकों की संख्या बढ़ाने का यह प्रोपेगैण्डा मात्र है। परिणाम वही हुआ कि वर्ण-व्यवस्था या जातीय ऊँच-नीच भावके हटने से जो समाज की आर्थिक विषमता दूर हो सकती, वह नहीं हो सकी। देखा जाय तो समाजकी दासता और दरिद्रता दूर करना बुद्ध और महावीरके कार्यक्रम का अंग न था, यह बात दूसरी है कि उनके सात्विक उपदेशोंसे जातीयता की भीषणता कुछ हल्की जरूर पड़ी थी।

सम्राट् अशोकके मृत्युके बाद भारतवर्ष विदेशी आक्रमणकारियोंका अखाड़ा बन गया। भारतीय व्यापारी और बौद्ध भिक्षुओंके मुँहसे जैसे जैसे विदेशियोंने यहाँकी धन-संपत्ति और माल-खजानोंके दास्तान सुने उनके मुँहमें पानी भर आया। इसीलिए हम देखते हैं कि २०० ई. पू. से लेकर ईसवी सन्‌की ५ वीं सदी

तक हिन्दुस्तानमें लगातार विदेशी आक्रमण होते रहे। ईसवी सन्के पूर्व पहली-दूसरी शताब्दिमें सीरियन और ग्रीक लोगोंने पंजाबको जीत लिया। ईसवी सन्की पहली शताब्दिमें सम्राट् कनिष्कने काबुल,काशगर और यारकन्दसे गुजरात और आगरा तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। फिर कम्बोजियन और काबुलकी अन्य जातियोंने यहां पदार्पण किया और ५ वीं सदी में हूण लोग पश्चिमी भारतमें आकर फैल गये।

इन आक्रमणकारियोंका निराकरण करनेके लिए जरूरी था कि संगठित रूपसे उनका मुकाबिला किया जाता। लेकिन परिस्थिति कुछ दूसरी थी। एक ओर बौद्ध धर्मी क्षत्रिय राजाओंके विद्वेषी ब्राह्मण शत्रुका साथ दे रहे थे, दूसरी ओर स्वयं क्षत्रिय परस्परकी फूटके कारण कमजोर हो रहे थे। बात यह थी कि उस समय छोटे-छोटे गणतंत्र भारतमें इतस्ततः बिखरे हुए थे। उनमें दो-चारको छोड़कर बाकी आजकलके अमेरिकाके संयुक्त राज्य तथा फ्रांस आदिके मुकाबिलेमें बहुत छोटे थे।

महाभारतमें इन राज्योंके विषयमें कहा गया है कि उस समय घर-घरमें राजा थे, सब अपना मनचाहा करते थे। ये लोग साम्राज्यके अधिकारी नहीं थे और सम्राट् शब्दका उपयोग ही कठिन हो गया था।* गण राज्योंकी बहुसंख्या होनेके कारण प्रबन्धकर्ताओंको मंत्र गुप्त रखना कठिन हो गया था तथा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और कलहके कारण राजाओंमें सार्वजनिक हितकी ओरसे उदासीनता आ गयी थी।

दीघनिकायमें वैशालिके लिच्छवियोंके विषयमें कहा है कि जब मगधके राजा अजातशत्रुने उन पर चढ़ाई कर दी तो आन्तरिक कलह और पारस्परिक अविश्वासके कारण कोई भी शत्रुका मुकाबिला करने न आया और अजातशत्रु खुले द्वारों वैशालीमें घुस आया। अपनी इस चरित्रहीनताको छिपानेके लिए, आगे चलकर शारीरिक अथवा राष्ट्रीय स्वतंत्रताके स्थान पर आध्यात्मिक स्वतंत्रताके गीत गाये जाने लगे तथा ऐहिक जीवनको क्षणिक मानकर दासता और अदासता दोनोंको कल्पित मान लिया गया। कहना न होगा कि विदेशी आक्रमणकारियोंने इस परिस्थितिका यथेष्ट लाभ उठाया और वे विजयी बनकर हिन्दुस्तान पर शासन करने लगे।

जो कुछ भी हो, इस समय बौद्ध धर्म ही एक ऐसा धर्म था जो विदेशी जातियोंको पचा सकता था। अतएव ये जातियाँ बिना किसी कठिनाईके क्षत्रियोंमें मिला ली गयीं और वे बौद्ध धर्मके आचार-विचारोंको पालने लगीं। लेकिन क्षत्रिय राजाओंकी फूटका फायदा उठाकर ब्राह्मण लोगोंने पर्याप्त शक्तिका संचय कर लिया था और वे बौद्ध और उनके अनुयायियोंको नीची निगाहसे देखने लगे थे, यहाँ तक बौद्ध शब्द शूद्रका ही पर्यायवाची माना जाने लगा। ऐसी हालत में अवसर पाते ही उन्होंने कानून बना दिये जिससे कतिपय शासक तथा पदवीधारी लोगोंको छोड़कर आगन्तुक जातियोंके बहुसंख्यक सदस्योंकी गणना शूद्रोंमें की जाने लगी। मनुस्मृति (१०-४३, ४४) में कहा है कि पौण्ड्रक, उड्र, द्रविड़, कंबोज, यवन, शक, पारद, चीन, किरात, दरद, खस आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं, लेकिन कालक्रमसे धार्मिक कृत्योंके अभावमें तथा ब्राह्मणोंकी पूजा-प्रतिष्ठा न करनेके कारण वे वर्ण-संकर जातिमें गिनी जाने लगीं। इसी प्रकार दक्षिण भारतकी गोंड, कोल आदि अनार्य जातिके कतिपय सदस्योंको छोड़कर बहुसंख्यक सदस्य गोंड, भील आदि ही रह गये जो आजतक अपने मालिकोंकी मजदूरी, बेगार आदि करके अपना पेट पालते हैं।

वैदिक कालमें यज्ञकुण्डमें अग्नि स्थापित करते समय बढ़ई वेदों की ऋचाओंका पाठ कर सकता था, लेकिन वेदोत्तर कालमें उसकी गणना असत्-शूद्रोंमें होने लगी और ब्राह्मणोंने उसके हाथ का पानी पीना छोड़ दिया। पतंजलिके समय धोबी लोग ब्राह्मणोंकी थाली में भोजन कर सकते थे और माँज-धोकर वह थाली फिरसे काममें आ सकती थी, लेकिन वे भी असत्-शूद्रों में गिने जाने लगे। इसी प्रकार पराशर स्मृतिके अनुसार ब्राह्मण दास, नाई, ग्वाले आदिके यहाँ उबाले हुए चावल खा सकता था, लेकिन आगे चलकर यह असंभव हो गया। (डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त, स्टडीज़ इन सोशल पॉलिटी, पृष्ठ ३४२-३) बंगालके सुवर्ण-वणिकों

* गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्नास्ते सम्राट् शब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥

के विषयमें प्रसिद्ध है कि राजा बल्लाल सेन मगधपर चढ़ाई करनेके लिए उनसे रुपया चाहता था। उनके मना करने पर राजाने उन्हें निकाल बाहर किया। जो वणिक् बंगालमें रह गये, उन्हें पतित घोषित कर दिया गया और ब्राह्मणोंने उन्हें पढ़ाना और उनके धार्मिक त्यौहारों पर आना-जाना बन्द कर दिया। बौद्धधर्मके क्षीण होनेपर गुप्तकालमें पौराणिक हिन्दू धर्मकी स्थापना हुई।

इस कालमें वैदिक देवताओंका स्थान ब्रह्मा, विष्णु और महेशको मिल गया, इन्द्र स्वर्गके देवताओंका अधिनायक बन गया और उसकी सभा राजाका दरबार बन गयी। पहले की तरह इन्द्र अब दस्युओंका संहार नहीं करता, बल्कि दैत्य, राक्षस आदि दानव उसे हरा देते हैं और वह आखिरमें विष्णु भगवान्की शरण में पहुँचता है। गुप्तकालमें महाभारत, रामायण, पुराण आदिके नये संस्करण हुए तथा विष्णु, नारद तथा पराशर स्मृति-ग्रंथों की रचना की गयी। विष्णुस्मृतिमें बौद्ध और कापालिक आदि साधुओंका दर्शन अशुभ दर्शन बताया गया तथा मलेच्छ और अन्त्यजों के साथ भाषण करनेका और म्लेच्छ देशोंमें गमन करने का निषेध किया गया। धीरे-धीरे आर्यावर्त और दक्षिणापथ की जगह हिन्दुस्तान भारतवर्षके नामसे पुकारा जाने लगा।

वैसे सम्राट् हर्षवर्धन (६००-६५० ई०) के समय उच्च वर्णके लोग निम्न वर्णके लोगोंके साथ विवाह कर सकते थे। स्वयं हर्षवर्धनकी कन्या और बहनकी शादी क्षत्रियोंसे हुई थी। इसी प्रकार गुप्तकालमें जातियोंमें प्रादेशिक अन्तर नहीं था। ब्राह्मण ब्राह्मण सब एक थे और सबमें परस्पर विवाह-शादी और खान-पान होता था। उनमें पंचद्राविड़, पंचगौड़, गुजराती, दक्षिणी आदि भेद नहीं थे। वे अपनी शाखा और चारनसे पहचाने जाते थे। ७ वीं सदीके अन्त तक ब्राह्मण अपने गोत्र और सूत्र का उल्लेख करते हुए पाये जाते हैं, यद्यपि आजकलके ब्राह्मणोंको इन दोनोंका पता नहीं, हां वे इतना जरूर जानते हैं कि वे कनौजिया हैं या सनाढ्य। अन्य वर्णोंके विषयमें भी यही बात थी। क्षत्रियोंमें खत्री और राजपूत, तथा वैश्योंमें महेसरी, अग्रवाल आदि भेद नहीं थे और उत्तर तथा दक्षिण के लोगोंमें रोटी-बेटीका व्यवहार होता था। (सी० बी० वैद्य; हिस्ट्री ऑफ मैडिवल हिन्दू इंडिया,भाग १ पृष्ठ ६७) लेकिन इस समय से धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था भारतीय जीवनका मुख्य अंग बनती गयी जिससे जाति-उपजातियोंकी संख्या दिन पर दिन बढ़ती गयी और शूद्रोंकी दशा गिरती गयी।

हर्षवर्धनके राज्यकालमें भारतकी यात्रा करनेवाले चीनी यात्री फाहियानने लिखा है कि शूद्रोंमें चाण्डाल सबसे अधम समझे जाते थे। वे प्रायः मच्छीमार, शिकारी आदिका काम करते थे और नगरमें प्रवेश करते समय लकड़ीसे ढोल बजाकर अपने आनेकी सूचना देते थे जिससे लोग मार्गसे हट जायँ और उनका स्पर्श बचाकर चलें। इसी प्रकार यशोधर्मन् और विष्णुधर्मके मंदसौरके शिलालेख (५३३-३४ ईसवी सन्) में चारों वर्णोंके अलग अलग लाभ बताये गये हैं। हर्षवर्धनके पिता प्रभाकरवर्धनने भी वर्ण और आश्रम-व्यवस्थाको व्यवस्थित किया था। गुप्तकालीन कवि कालिदासने कहा है कि राजाको वर्णाश्रम धर्मका रक्षक होना चाहिए जिससे प्रत्येक वर्ण अपने सहज कर्म कर सके। इससे मालूम होता है कि गुप्तकालमें जैसे-जैसे ब्राह्मणोंको जमीन आदि फिरसे दानमें मिलने लगी, उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा और जात-पाँतके बंधन दृढ़ होने लगे।

बौद्ध धर्मके उपासक वैश्य भी ब्राह्मणोंके कोपसे न बच सके। पहले तो ब्राह्मणोंने वैश्योंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए उन्हें समुद्र-यात्राकी आज्ञाका विधान कर तथा समुद्रगुप्त आदि वैश्य सम्राटोंके हाथ अश्वमेध यज्ञ आदि कराकर उनके प्रति उदारता का प्रदर्शन किया। लेकिन जब उनका बौद्ध धर्मानुराग कम होता हुआ दिखायी न दिया तो उनसे द्विजातियों के अधिकार छीनकर क्षत्रियोंकी तरह उन्हें भी शूद्र की कोटिमें ला पटका। वस्तुतः सुनार, लुहार आदि पेशेवर मूलतः वैश्य थे, बाद में इनकी गणना शूद्रोंमें की जाने लगी।

सातवीं सदीके चीनी यात्री, ह्वेनसांगने अपने विवरण में लिखा है कि 'उस समय बौद्ध धर्मके साथ-साथ ब्राह्मण धर्मका प्रभाव बढ़ रहा था। उत्तर-पश्चिमी प्रान्तमें बौद्ध धर्मका ह्रास हो रहा था तथा

काश्मीरसे मथुरा तक और मध्यदेश, पूर्व भारत तथा दक्षिण में ब्राह्मण पुरोहितोंका प्रभाव बढ़ता जाता था। शूद्रोंके पश्चात् पंचम जातिके विषयमें ह्वेनसांग ने लिखा है कि ये कसाई, मछुए, जल्लाद या भंगीका काम करते थे। उनके मकानोंपर अलग निशान बना रहता था और ये लोग नगरके बाहर रहते थे। जब कोई उच्च वर्णका आदमी रास्तेमें इन्हें मिल जाता था तो वे आँख बचाकर बाईं ओर को चले जाते थे और जल्दीसे अपने घर में घुस जाते थे।

ऐसी परिस्थितिमें जैनोंने तो घुटने टेक दिये थे। उन्होंने ब्राह्मणोंके साथ समझौता कर उनका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। आवश्यक चूर्णि (७वीं शताब्दि) में कहा है कि राजा भरतने ब्राह्मण वर्णको अन्य वर्णोंसे विशिष्ट सिद्ध करनेके लिए उन्हें काकिणी रत्नसे चिह्नित किया था और वे उन्हें प्रतिदिन भोजन दान देते थे। निशीथचूर्णिमें बताया गया है कि ब्राह्मण लोग स्वर्गके देवता हैं, प्रजापतिने उन्हें पृथ्वीपर देवताके रूपमें सर्जित किया है, अतएव उन्हें दान करनेसे पुण्य होता है। दसवीं-ग्यारहवीं सदीके दिगम्बर विद्वान् जिनसेनने तो ब्राह्मणोंकी अग्नि-पूजा, सूर्यपूजा, यज्ञोपवीत-विधि तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को पूरी तरहसे अपना कर जैन धर्मकी विशिष्टताको ही समाप्त कर दिया और जिस जातिवादका समूल नाश करनेका महावीरने बीड़ा उठाया था, अन्तमें उसीको स्वीकार कर लिया। लेकिन इन चतुराईसे संभवतः यह लाभ हुआ कि जैन-धर्म भारतमें टिका रहा, बौद्ध धर्मकी नाईं अस्तंगत नहीं हुआ; यद्यपि बंगाल-बिहारकी सराक (श्रावक) आदि जातियोंको काफी नुकसान उठाना पड़ा—यहाँ तक कि उनकी गणना ही अनार्य जातियोंमें की जाने लगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे पंचनदसे गंगा-उपत्यकामें प्रवेश करनेके बाद ऋग्वेदके आर्य धर्मका ह्रास होता गया; उसी प्रकार ईसवी सन्के बाद बौद्ध धर्मका भी ह्रास होता गया तथा ईसवी सन्की छठी शताब्दिमें वह प्रायः हिन्दू धर्ममें घुल-मिल गया। इस समय फिर ब्राह्मण वर्गने अपना प्रभुत्व कायम किया और वर्ण-निर्णयके लिए जन्मकी प्रधानताको हमेशाके लिए स्वीकार कर लिया गया। वस्तुतः ब्राह्मणोंने राज्यमें अनेकों उथल-पुथल मचने पर भी एक प्रकारके कायमी श्रेणी-विभागकी रचना की थी और उसकी (अर्थात् उस वर्ग की) सभ्यता और संस्कृतिको सुरक्षित रखा था। ऐसी हालतमें लोगोंने उनकी व्यवस्थाको अपरित्याज्य मानकर उसका अनुगमन किया हो तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं।
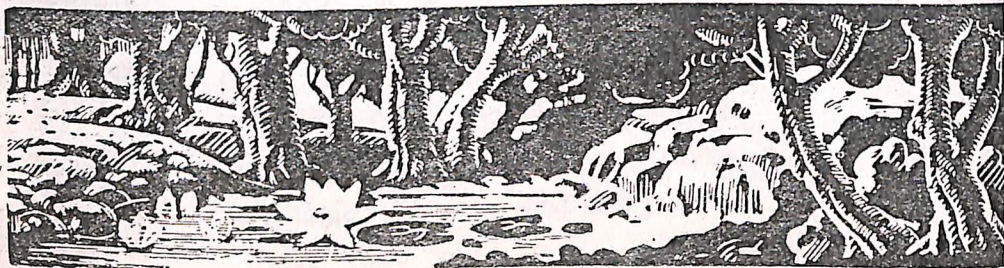
आरा-घर

डा० व्रजमोहन गुप्त

स्वतंत्र देशके उन्मुक्त वातावरण और ऊषाकालीन सुनहली किरणोंका आनन्द लेता हुआ रामजीवन प्रातः भ्रमणसे लौट रहा था। रास्ते में आरा-घर पड़ा। यह आरा-घर, उसके गाँवसे लगभग दो मीलके फासले पर स्थित है और पिछले बीस-पच्चीस वर्षसे कार्य कर रहा है। बड़े-बड़े दाँतों वाले पहियोंका तीव्र गतिसे घूमना और उनका कर्कश स्वर, एकके बाद दूसरे तख्तेका आना और एक तीखी कराहके साथ चिर कर दो हो जाना बचपनमें रामजीवनको बड़ा आकर्षक और भयावह लगता था। काँटों वाले तारोंके बाहर खड़ा हुआ बालक रामजीवन आश्चर्यचकित और भयविमूढ़ होकर घंटोंतक आरेका घूमना और तख्तोंका चिरना देखा करता था। देखते-देखते कभी उसे लगता कि किसीने उसे भी उठाकर तेजीके साथ अनवरत घूमते हुए उस पहियेके सामने रख दिया है और आरेने उसे भी बेदर्दी के साथ ठीक लकड़ीके तख्तेकी तरह, सिरसे पैरों तक चीर दिया है। इस कल्पना मात्रसे रामजीवनके रोंगटे खड़े हो जाते थे, वह ऊपरसे नीचे तक सिहर उठता था।

आरा-घरमें दो शिफ्ट काम होता है, इसलिए आरेके घूमनेकी कर्कश ध्वनि और तख्तोंके कराहने की तीखी आवाज दिन-रात दूर तक सुनी जा सकती है। रामजीवनके मस्तिष्कके किसी कोनेमें सोई पड़ी बचपनकी जिज्ञासा जाग उठी और उसके पैर अनायास ही आरा-घरकी ओर घूम गये।

रामजीवनने जाकर देखा, मैनेजरके कमरेमें कोट-पैंट टाई धारी अंगरेज साहबके स्थान पर जब धोती-कुर्ता चप्पल पहने हुए मोटी सी तोंद वाले कोई भारतीय सज्जन बैठे हुए हैं। मैनेजरके कमरेके सामने से होता हुआ रामजीवन आगे बढ़ा। उसने देखा एक ओर वही पुराना बड़े बड़े दाँतों वाला आरे का पहिया अपनी कर्कश ध्वनिके साथ घूम रहा है। एकके बाद दूसरा लकड़ी का तख्ता आता है और तीखी कराहने की आवाजके साथ चिरकर दो हो जाता है। दूसरी ओर एक मशीन लकड़ीके पतले तख्तों को तेजीके साथ खिलौनों की आकृतियोंमें काट देती है। सब आकृतियाँ जानवरों की हैं—शेर, भेड़िये, गीदड़, कुत्ते, बिल्ली, बगुले, बाज—मनुष्य की आकृति एक भी नहीं। बराबरके कमरे में इन बेडौल खिलौनों को भद्दे लाल, पीले, नीले रंगोंमें रंग कर सूखनेके लिए रखा जा रहा था, बादमें स्टैंसिल से इन पर मुँह, नाक, आँख, कान आदि बना दिये जायँगे।

थोड़ी देर बाद एक प्रकार की वितृष्णा से भरा हुआ रामजीवन अपने घर की ओर लौट चला। रास्ते में उसे कुछ आदमियों की भीड़ मिली। समीप जाकर उसने देखा कि भीड़ एक आदमी को घेरे हुए है और उसके ऊपर धौल-धप्पड़ और गाली-गलौज का प्रहार एक साथ हो रहा है। इन सब आक्रमणोंके केन्द्र शीतलादीन को रामजीवन पहचानता था। वह कई बरससे आरा-घरमें काम करता था। रामजीवन को पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि शीतलादीन ने पड़ोसके एक घरमें रातके समय कपड़े और ज्वार की चोरी की है। अधिकांश लोगों की राय थी कि उसे कस्बेमें ले जाकर पुलिसके सुपुर्द कर देना चाहिए, भीड़ को ठेलता-ठालता रामजीवन शीतलादीनके पास पहुँचा। "क्या सचमुच तुमने चोरी की है?" रामजीवन ने पूछा। शीतलादीनने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"तुमने चोरी क्यों की?" रामजीवन ने दूसरा प्रश्न किया। शीतलादीन फिर भी मौन रहा।

"क्यों? तुम तो आरा-घरमें काम करते हो न?"

नेपाल-क्रान्ति

रामदयाल पाण्डेय

बोल रही नेपाल-क्रान्ति बन आज हिमालय की अँगड़ाई ।

गिरि-वन के इस पार हुआ जो मधुमय नया सवेरा,
उसे ललच कर ताक रहा गह्वर का घना अँधेरा,
गंगा - सिन्धु - नर्मदा में जो लहराता नव यौवन,
मचली बागमती उसका करने को स्नेहालिंगन,
फूट पड़ी नेपाल-क्रान्ति बन हिमगिरि की अन्तिम अँगड़ाई ।

मचल उठा है आज अचल सत्ता विचलित करने को,
चट्टानों में नये प्राण, नव जीवन - स्वर भरने को,
धधक उठी है बर्फ युगों की, इसको कौन सँभाले,
जगे हिमालय - पुत्र, टेक पर मरने - मिटने वाले,
आज गोरखों को है अपनी किस्मत की सुधि आयी ।

श्वेत शिखर अब रहा न कोई, रहा न गह्वर काला,
उठा हिमालय लिये कोटि ज्वालामुखियों की ज्वाला,
बन्द काठ के मण्डप में है जो भूस्वर्ग निराला,
भूखी लपटों से घिर कर वह कब तक बचने वाला,
मचल उठी है आज हिमालय की बन्दी तरुणाई ।

स्वाधीन तिरंगा लेकर चलना है नगपति को,
जर्जर दीवारें रोकेंगी क्या उसकी दृढ़ गति को,
प्राची में हो चुका सुखद जनसत्ता का अरुणोदय,
विश्व विजयिनी है जनता, जानती न कहीं पराजय,
इस भुजंग को ललकारे जो उसकी शामत आयी ।

हुआ प्रशान्त अशान्त, सिन्धु का बिन्दु-बिन्दु है जागा,
जगा एशिया-खण्ड अखिल, निद्रान्धकार उठ भागा,
शिखरों के प्रिय देश को भला क्या अब नींद सताती ?
नित्य उषा की प्रथम किरण आकर जिसको सहलाती,
आज बर्फ के कण - कण में जागी नवीन अरुणाई ।

स्वाधीन तिरंगा चल - चलकर भी रुक जाता है,
हिम शिखरों पर उठ-उठकर भी बरबस झुक जाता है,
क्योंकि अभी दासता छिपी है इस घाटी के भीतर,
निर्दय एकतंत्र बैठा है जनता की छाती पर,
चली तोड़ प्रस्तर - कारा लेकिन नेपाल - तराई,
अब अन्तिम दीवार गुलामी को गिरने की आयी ।

आर्थिक समानता

"अहिंसात्मक स्वराज्य की कुंजी आर्थिक समानता है । आर्थिक समानता के कार्यक्रम द्वारा पूँजी और श्रम के बीच सदियों का विरोध मिट जायगा । हमारा उद्देश्य देश के मुट्ठी भर धनकुबेरों को नीचे लाना तथा लाखों भूखे-नंगे लोगों को ऊपर उठाना है । जब तक धनिकों और करोड़ों क्षुधार्तों के बीच इतनी चौड़ी खाई बनी हुई है तब तक अहिंसात्मक शासन बिल्कुल असम्भव है । स्वतन्त्र भारत में जब कि सबको समान अधिकार रहेगा, नयी दिल्ली के भव्य भवनों और गरीब मजदूरों की टूटी झोपड़ियों का यह अन्तर एक दिन भी नहीं चल सकता । अगर जन-हित के लिए स्वेच्छापूर्वक उस वैभव और अधिकार का परित्याग नहीं किया गया तो निश्चय ही एक भयंकर हिंसात्मक क्रान्ति होकर रहेगी ।"

—महात्मा गांधी

विवाह और विवाह-विच्छेद

श्रीमती स्नेहलता बोरदिया

हिन्दकी पार्लमेंटमें इन दिनों जो नया विधान विचाराधीन है, उसमें मानवके मौलिक अधिकारों पर विशेष जोर दिया गया है। लेकिन सचाई यह है कि देवी कहकर पूजी जानेवाली भारतीय नारीको तो विवाह तथा विवाह-विच्छेद तक का अधिकार प्राप्त नहीं है जो मानवके प्राथमिक तथा प्रधान अधिकारोंमें से है। पढ़े-लिखे माता-पिता या संरक्षक तक उसके इस अधिकारकी इतनी उपेक्षा करते हैं कि विवाहके समय उसकी सम्मति लेना भी आवश्यक नहीं समझते। अपनी पसन्द तथा सुविधानुसार वे जो चाहे उसीके गलेमें अपनी लड़कीको मढ़ देते हैं और विवाह या यों कहना चाहिए कि उसके अधार्मिक, असामाजिक एवं गैरकानूनी होनेके कारण उन स्त्रियोंको विच्छेद का अधिकार प्राप्त न होनेके कारण उन्हें दुःख या सुखसे, सन्तोष या असन्तोषसे, खूँटेसे बँधी गाय की तरह अपना समूचा जीवन पवित्र और धार्मिक कहे जानेवाले उसी विवाह-बन्धनमें बँधे रहकर काटना पड़ता है। और हमारे समाजकी संकीर्णता, गिरावट तथा नारीको हीन समझनेकी भावना इतनी प्रबल तथा व्यापक है कि किसीको इस युगातीत बलात्कारका मलाल नहीं होता। यही कारण है कि हमारे व्यष्टि और समष्टिगत जीवनमें दिन प्रति दिन नीरसता और निरुत्साह बढ़ते जा रहे हैं। स्वस्थ मानव-जीवनके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्यका दाम्पत्य-जीवन सुखी एवं सन्तोषपूर्ण हो, यह तभी संभव है जब कि विवाह तथा विवाह-विच्छेद जैसे महत्वपूर्ण मामलोंमें पति-पत्नी दोनों पूर्ण रूपसे बिल्कुल स्वतंत्र हों। तभी हम स्वस्थ तथा होनहार बच्चोंकी आशा कर सकते हैं जो आगे चलकर हमारे राष्ट्रके भावी निर्माता होंगे। व्यक्ति समाजकी इकाई है और जब व्यक्ति ही सुखी और सन्तुष्ट नहीं होगा तो उस स्थितिमें हम उन्नत तथा स्वस्थ समाजकी आशा कैसे कर सकते हैं? विवाह का मुख्य उद्देश्य है, सुखी दाम्पत्य-जीवन और उत्तम संतान। लेकिन हमारे समाजकी वर्तमान विवाह-प्रणाली से तो दोनोंमें एक भी उद्देश्य पूरा नहीं होता।

मेरा यह लिखनेसे यह तात्पर्य नहीं कि अपनी इच्छासे किये गये सभी विवाह सफल होंगे तथा उनमें विवाह-विच्छेदकी आवश्यकता ही न रहेगी। समय तथा परिस्थितिके अनुसार मनुष्यका दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। जब जीवनके छोटे-छोटे कार्योंमें हमसे प्रायः भूल हो जाया करती है, तो फिर विवाह जैसी जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटनामें भूल हो जाना भी कोई अनहोनी बात नहीं। कई बार देखनेमें आता है कि दम्पतिको एक दूसरेके निकट आने तथा समझनेमें बहुत समय लगता है और बहुत दिनोंके बाद एक-दूसरेके असली स्वभावका पता चलता है। दोनोंके विचार, दृष्टिकोण, आदतें और स्वभाव कभी एक-से तो हो नहीं सकते। यदि दोनोंके बीच सद्भावना, प्रेम और सहिष्णुता है तो स्वभावोंमें अन्तर रहते हुए भी वे एक-दूसरेकी भावनाओंका खयाल रखेंगे और सुखी रह सकेंगे। ऐसे भी अनेक उदाहरण है जिनमें यदि दम्पतिको अलग-अलग रूपसे देखा जाय तो वे सभी दृष्टियोंसे अच्छे मालूम होंगे, लेकिन दोनों साथ रहकर सुखी नहीं रहते, बल्कि उनमें एक-दूसरेके प्रति घृणा और उपेक्षाकी भावना पैदा हो जाती है। कहीं-कहीं तो यहाँ तक देखा गया है कि एक को दूसरेकी उपस्थिति तक असह्य हो जाती है। जहाँ कहीं भी ऐसी परिस्थिति है वहाँ विवाह-बन्धनको झूठमूठ बनाये रखना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? मेरे खयालसे तो कोई भी काम ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें मनुष्य केवल धर्म या कानूनके नाम पर अनिच्छा और कपट पूर्वक फँसा रहकर छुटकारा न पा सके। इससे कई बार बड़ी अप्रीतिकर प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

तलाकके विरोधियोंकी यह आशंका सर्वथा निर्मूल है कि जब तलाक की व्यवस्था कानूनी रूपसे लागू हो जायगी, तो हिन्दू-परिवार, समाज और संस्कृति छिन्न-भिन्न हो जायँगी तथा समाजमें नैतिक अराजकता छा जायगी। मेरे ख्यालसे तो ऐसी भ्रान्त धारणाओं का कोई ठोस आधार नहीं है। तलाक का अधिकार प्राप्त हो जानेसे सभी लोग तलाक देना शुरू कर देंगे, यह आशंका सर्वथा निर्मूल है। अधिकसे अधिक इससे यही होगा कि स्त्री और पुरुष को इस मामलेमें पूर्ण स्वतंत्रता मिल जायगी। यदि आज हमें किसी विशेष क्षेत्रमें स्वतंत्रता है तो उसका हम दुरुपयोग ही करेंगे यह आवश्यक नहीं। यह संभव है कि कुछ अर्से तक वर्तमान सामाजिक व्यवस्थामें कुछ उथल-पुथल जरूर होगी, लेकिन वह धीरे-धीरे ठीक भी हो जायगी। जब विवाह-विच्छेद की स्वतंत्रता होगी तो विवाहों का दृष्टिकोण अपने-आप बदल जायगा और फलस्वरूप अनावश्यक तलाक नहीं हो सकेंगे। वर्तमान हिन्दू-कानून हिन्दुओं को तलाक की इजाजत नहीं देता। हिन्दू-समाजमें पुरुष तो अनेक विवाह करने तथा पत्नी को जब जी चाहे तब छोड़नेके लिए स्वतंत्र हैं, सिर्फ स्त्रियाँ ही तलाक तथा पुनर्विवाह की अधिकारिणी नहीं हैं। क्या यह उचित एवं न्याय है? यह विषमता पहले कदापि नहीं थी। यदि हम भारतीय इतिहासके पृष्ठ उलटकर देखें तो हमें पता चलेगा कि हमारे देशमें गुप्तकाल तक स्त्रियों को विवाह-विच्छेद की अनुमति थी। गुप्तकालमें हमें ऐसी कई स्त्रियोंके उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने कुछ विशेष कारणोंसे और विशेष परिस्थितियोंमें अपने पतिको तलाक देकर दूसरा विवाह किया है। सम्राट चन्द्रगुप्तके महामंत्री कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें कुछ विशेष अवस्थाओंमें जैसे नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक पतित और नपुंसक पति होने पर विवाह-विच्छेद की व्यवस्था की है। नारदने भी कुछ विशेष परिस्थितियोंमें स्त्रियाँ तलाक दे सकती हैं, ऐसी व्यवस्था अपनी स्मृति में की है। गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें स्वर्ण-युगके नामसे प्रसिद्ध है। इससे साफ जाहिर है कि जब तक हिन्दू-समाजमें स्त्रियों को तलाक का अधिकार प्राप्त था तब तक उसमें जीवन था, फिर जैसे-जैसे हमारे समाज और जीवनमें जड़ता एवं संकीर्णता आती गयी, वैसे-वैसे इस प्रथा का लोप होता गया और मध्यकालमें तो इस प्रथा का बिल्कुल अन्त ही हो गया। मनुस्मृति का अधिकांश भाग, जो आज हमें प्राप्त है, मध्य कालमें ही लिखा गया था। मनुने स्त्रीके लिए विवाह को अविच्छेद्य सम्बन्ध बतलाया है। मनु-स्मृतिके अनुसार पति तो पत्नी को केवल अप्रियवादिनी तथा वन्ध्या होने पर ही छोड़ सकता था, लेकिन नीच, पतित और नपुंसक होने पर भी स्त्री पतिको तलाक नहीं दे सकती थी। इस एवं ऐसी ही अन्यान्य अस्वाभाविक परिस्थितियोंमें भी पत्नीसे पति की सेवा की ही आशा की गयी। मध्यकाल के बादसे हिन्दू-समाजमें स्त्रियों की स्थिति दिन-प्रति-दिन गिरती गयी और स्त्री-जातिके 'धर्म' अथवा कर्तव्यों के साथ पुरुष-जातिके अधिकारों की वृद्धि होती गयी। स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्म पर जहाँ जरूरतसे ज्यादा जोर दिया जाने लगा, वहाँ पुरुषोंके लिए एक पत्नीव्रत का पालन करना आवश्यक नहीं समझा गया। हर मानीमें, हर दायरेमें, पुरुष स्वतंत्र, स्वच्छन्द तथा उच्छृंखल होता गया और स्त्री अस्वाभाविक अनावश्यक बन्धनोंसे जकड़ती गयी। पातिव्रत-धर्मकी दुहाई देकर स्वार्थी एवं पापी पुरुषोंने हजारों स्त्रियों को सतीके नाम पर जलती हुई चितामें झोंक दिया। इस प्रकार एक दीर्घकाल तक असंख्य स्त्रियों का 'सती' के नाम पर बलिदान होता रहा।

संसारके इतिहास पर नजर डालने पर हम देखते हैं कि तलाक का प्रचलन प्रायः सभी देशों और जातियों में था और कमोबेश रूपमें आज भी है। लेकिन जिन कारणोंके आधार पर वह जायज है, वे देश-समाजके अनुसार भिन्न हैं। १०० ई० पू० तक यूरोप और अमेरिकामें विवाह-सम्बन्ध अविच्छेद्य समझा जाता था। इंग्लैंडमें सन् १८५७ तक तलाक पानेके लिए पार्लमेंटसे अनुमति लेनी पड़ती थी और बहुत कम अवस्थाओंमें तलाक की अनुमति मिलती थी। इसके विपरीत रूसके सन् १९२७ के कानूनके अनुसार तलाक पानेके लिए

अदालतमें सिर्फ सूचना मात्र देना ही पर्याप्त था। इस्लाममें सिर्फ पुरुषके तीन बार 'तलाक' शब्द का उच्चारण करने मात्रसे ही तलाक मिल जाता है। हमारे देशमें भी अनेक शूद्र जातियोंमें तलाक-प्रथा अब भी प्रचलित है। ऐसे मामलोंमें स्त्री-पुरुष दोनों को अदालतके द्वार नहीं खटखटाने पड़ते, बल्कि पंचायत ही उनका फैसला कर देती है।

हिन्दू-समाज और तलाक

स्वाधीनताके उस कालमें हमारे देशके सुधारकोंने भी धर्म और विवाहके नाम पर नारीके साथ होने वाले जुल्म और ज्यादतीको दूर करनेके लिए चेष्टा आरंभ की है। इसके लिए हिन्दू-कानूननें सुधार करनेके लिए एक बिल पेश किया गया है, जिसे लेकर काफी वादविवाद हो रहा है। हिन्दू-समाजका रूढ़िवादी वर्ग इसका कट्टर विरोधी है और सुधारक तथा शिक्षित-वर्गको यह पूर्ण रूपसे सन्तोषप्रद नहीं मालूम होता। आज हमारे देशमें राजनीतिक क्रान्तिके साथ ही जो महान सामाजिक क्रान्ति हो रही है, प्रस्तावित हिन्दू-कोड बिल उसीका परिचायक है। लेकिन दुःखका विषय है कि राजनीतिमें दिलचस्पी रखनेवाले राजनीतिज्ञों का ध्यान इस ओर ज्यादा आकृष्ट नहीं हुआ है, अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि हमारे सामाजिक रीति-रिवाजोंमें एक दम आमूल-परिवर्तनकी आवश्यकता और महत्वको इन नेताओंने एक छोटी हदसे ज्यादा नहीं समझा है। रूढ़िवादी वर्गका कट्टर विरोध तो हम एक हद तक समझ सकते हैं, क्योंकि मनुष्य स्वभावसे ही अपरिवर्तनशील होता है और किसी तरहका परिवर्तन ग्रहण करना उसके जन्मजात स्वभावके बहुत कुछ अनुकूल नहीं होता। युगोंसे चली आयी रूढ़ियोंको खत्म करके नये सिरेसे इन सामाजिक सुधारोंको कानूनका रूप देना रूढ़िवादी वर्गके जन्मजात कुसंस्कारों पर कुठाराघात अवश्य है, पर वह युग-धर्म है और आजकी परिस्थितिमें अनिवार्य है। आज प्रत्येक क्षेत्रमें व्यक्तिके अधिकारों और स्वतंत्रता पर जोर दिया जा रहा है, लेकिन पुरुष सदियोंसे समाजके अनेक क्षेत्रोंमें जिस प्रकारकी अबाध स्वच्छन्दताका उपभोग करता रहा है तथा स्त्री पर अनेक उपायों एवं बाध्यताओंसे शासन करता रहा है, अब उसकी वह मनमानी और अंधेरगर्दी कम होने जा रही है। इसकी आशंका-मात्रसे ही पुरुष-समाजका तिलमिला जाना अस्वाभाविक नहीं। पर आज जब हर क्षेत्रमें समानता, सम-अधिकार एवं सम-अवसरकी आवाज उठायी जा रही है, तो समाजमें अकेले पुरुषकी मनमानी, ज्यादती, और अन्यायपूर्ण स्वच्छन्दताको ही कैसे कायम रखा जा सकता है?

यदि हम जरा भी गंभीरतासे विचार करके देखें, तो हमें मालूम होगा कि वर्तमान समयकी समाज-व्यवस्था स्वस्थ तथा समयानुकूल नहीं है। मुमकिन है कि जब ये नियम-कानून बने हों उस समयके लिए ये समयानुकूल उपयोगी सिद्ध हुए हों। लेकिन आज तो हमें इनमें आमूल परिवर्तनकी जरूरत महसूस हो रही है। वर्तमान कालकी नवीन तथा परिवर्तित परिस्थितियोंने ही हिन्दू कोड बिलको जन्म दिया है। कानून कमेटीने १९४१ में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा था कि हिन्दू-कानूनका आंशिक सुधार करनेमें अनेक खतरे हैं, इसलिए समूचे हिन्दू-कानूनको ही नवीन परिस्थितियोंका खयाल रखते हुए नये सिरेसे स्मृतिबद्ध करनेकी आवश्यकता है। इस प्रकार पिछले छः वर्षोंमें इस कोड पर निरन्तर विचार हो रहा है। लोकमतकी प्रबल माँग और न्यायके आधार पर इसका निर्माण हुआ। गत ९ अप्रैलको कानून-मंत्री श्री अम्बेडकरने इसे हिन्द-पार्लमेंटके सामने पेश किया। लेकिन इतने महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करनेके लिए सिर्फ एक दिनका समय पर्याप्त न था। इसके अलावे ब्राह्मणों तथा रूढ़िवादी वर्गके कट्टर विरोधके कारण अगले शरत्कालीन अधिवेशन तक यह बिल स्थगित कर दिया गया। हमारा खयाल है, यदि सरकार चाहती तो इतने कड़े विरोधपर भी इस बिलको पासकर सकती थी, लेकिन शायद सरकारने तथा सार्वजनिक जीवनमें उच्चतम स्थान रखनेवाले हमारे नेताओंने इस बिलके गंभीर महत्व तथा तीखी आवश्यकताको पूर्ण रूपसे समझा ही नहीं था। फिर अगले चुनावकी चिन्तामें वह इसे पास कर रूढ़िवादियोंके वोटोंको संदिग्ध नहीं बनाना चाहते। जो कुछ भी हो, इस बिलके खटाईमें पड़ जानेसे देशके उन हजारों युवक-युवतियोंके मन

पर कैसी प्रतिक्रिया हुई, जिन्होंने अपना सारा भविष्य कांग्रेसके हाथोंमें सौंप दिया है, उसे आसानीसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। आधुनिक शिक्षित नारी-वर्गको तो इससे भयंकर निराशा हुई है।

प्रस्तावित हिन्दू कोड बिल का मुख्य लक्ष्य है विवाह-उत्तराधिकार कानून को सुव्यवस्थित और समयानुकूल बनाना। इसकी जिन धाराओं पर खास आपत्ति की जाती है वे समयानुकूल परिवर्तनों से सम्बन्ध रखती हैं। यह बिल स्त्रियों को भी पुरुषोंके समान ही विवाह तथा दाय सम्बन्धी अधिकार प्रदान करता है। स्त्रियोंके दाय-सम्बन्धी अधिकारों पर हम किसी पृथक लेखमें प्रकाश डालेंगे, यहाँ हमें विवाह तथा विवाह-विच्छेदके अधिकारों पर कुछ विचार करना है।

हिन्दू-कोडके सबसे अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन विवाहके सम्बन्धमें हैं, जिनमेंसे विशेष रूपसे ये उल्लेखनीय हैं। विवाहमें जात-पांतका कोई बन्धन नहीं रहेगा। अब तक अन्य जातिमें हुए विवाहोंकी कुछ सन्तानोंका पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार जायज नहीं समझा जाता था, क्योंकि दूसरी जातिमें हुए विवाह नाजायज समझे जाते थे। अब ऐसी सन्तानोंका पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार जायज समझा जायगा अथवा कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जातिमें ही विवाह करना चाहे तो वह उसके लिए भी स्वतंत्र रहेगा। दूसरा क्रान्तिकारी परिवर्तन है पुरुषोंकी अब तक की चली आयी एकांगी मनमानीका छिन जाना। इस कोडके लागू होनेके बाद कोई पुरुष एक पत्नीके जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकता। तीसरा परिवर्तन हिन्दुओंको विवाह-विच्छेदका अधिकार प्रदान करता है। इसी प्रश्नको लेकर बड़ा बावेला मच रहा है। कट्टरपंथी इसके विपक्षमें हैं और इसे हिन्दू-संस्कृति पर एक जबर्दस्त प्रहार समझते हैं। अब तक तो वर्तमान हिन्दू-कानूनके अनुसार पुरुषको चाहे जितने विवाह करनेका अधिकार प्राप्त था। इसके विपरीत स्त्रीको धर्म-परिवर्तनके अलावा किसी भी स्थितिमें विवाह-बन्धनसे छुटकारा पानेके किए कोई रास्ता नहीं था। इस कोडके लागू होनेके बाद अनेक विवाह करनेकी पुरुषोंकी अनुचित स्वतंत्रताका अपहरण हो जायगा तथा स्त्रियोंको कुछ विशेष परिस्थितियोंमें विवाह-विच्छेदका अधिकार मिल जायगा। प्रस्तावित बिलमें विवाहके पूर्ण विच्छेदको दो रूपोंमें माना गया है तथा इसके साथ ही कुछ अन्य अवस्थाओंमें कानूनी पार्थक्य (Judicial Separation) को भी स्वीकार किया गया है। जिन अवस्थाओंमें विवाह सर्वथा अवैध समझा जायगा, वे ये हैं:—दम्पतिमेंसे किसी एक का विवाहके समय पूर्व विवाहित साथी होना, दम्पति का प्रतिषिद्ध पीढ़ियोंमें होना और दम्पतिका सपिण्ड होना। इस बिलके पास होनेके पहले जो विवाह इन अवस्थाओंमें हो चुके हैं, वे भी अवैध माने जायँगे। इस कोडके लागू होनेसे पहले कोई भी विवाह कुछ विशेष अवस्थाओंमें अवैध ठहराया जा सकता है, बशर्ते कि विवाहके समय पति या पत्नी जन्मजात मूर्ख या पागल हों। इस कोडके लागू होनेके बाद उपयुक्त अवस्थाओंमें या निम्न अन्य अवस्थाओंमें विवाह अवैध ठहराये जायँगे। विवाह के समय वरकी आयु १८ से कम तथा वधूकी उम्र १४ से कम हो, यदि वधूकी अवस्था १६ वर्ष न हो अथवा उसके अभिभावकों से सम्मति न ली गयी हो अथवा जबर्दस्तीसे सम्मति ली गयी हो। सिविल-मैरेजमें भी यही शर्त है। इन शर्तोंसे शारदा-कानूनकी धाराएँ आवश्यक रूपसे लागू कर दी गयी हैं। पहले बाल-विवाहके लिए दण्डकी व्यवस्था थी, किन्तु विवाहको स्वीकार किया जाता था। अब इन विवाहोंकी कोई कानूनी सत्ता ही नहीं रहेगी। इससे पता चलता है कि अवैध विवाहोंके कारण बड़े युक्तिसंगत हैं। विवाह-विच्छेदके पांच कारण माने गये हैं। दम्पतिमेंसे किसी एकका नपुंसक होना, पतिका किसी अन्य स्त्रीको उपपत्नीके रूपमें रख लेना या पत्नीका किसी अन्य पुरुषसे नाजायज सम्बन्ध होना, धर्मान्तर, पाँच वर्षके बाद भी ठीक न होनेवाली मानसिक बीमारी, दम्पतिमेंसे किसी एकका उग्र और असाध्य कोढ़से पीड़ित होना, जन्मजात मूढ़ता, पागलपन तथा कुप्रसंगज। नपुंसकता विवाह की पूर्णतामें बाधक होती है, इसलिए ऐसी अवस्थामें दूसरे साथीको वैवाहिक जीवनमें बाँधे रखना न्याय-संगत नहीं मालूम होता। दूसरा कारण व्यभिचार है। वैवाहिक सम्बन्ध बड़ा नाजुक सम्बन्ध है। यदि दम्पति

में से किसी एकको दूसरेके प्रति सन्देह हो गया, तो साथ रहना कठिन हो जाता है। सन्देह की स्थिति में एक दूसरेके प्रति घृणा हो जाती है और दोनोंके आपसी जीवन का सुख और शान्ति विलीन हो जाती है। ऐसी स्थितिमें तलाकसे ही दोनों को छुटकारा मिल सकता है। पारिवारिक जीवनमें जब सुख और शान्ति का स्थान घृणा, उपेक्षा, कलह और अशान्ति ले लेते हैं, तो ऐसी दशामें एक ढोंगके रूपमें वैवाहिक बन्धनमें बँधे रहने में भी कोई सार नहीं मालूम होता। धर्मान्तर की शर्त हमें आधुनिक भावनाओंके अनुकूल नहीं मालूम होती, यह हमें ज्यादा संकीर्ण और छोटा बनाने वाली शर्त जान पड़ती है। इससे हिन्दू-समाजके दिन-प्रति-दिन क्षीण होने का ही खतरा है। अधिकांशमें तो कानूनी तौरसे विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त न होनेके कारण ही स्त्रियाँ अपने दुःखी दाम्पत्य-जीवनसे छुटकारा पानेके लिए धर्म-परिवर्त्तन का मार्ग ग्रहण करती हैं। लेकिन अब उन्हें तलाक का कानूनी अधिकार मिल जायगा, तो उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यदि कोई आध्यात्मिक भावनाके कारण धर्म-परिवर्तन करना चाहे तो उसे ऐसा करनेके लिए उसके साथीसे इजाजत मिल जानी चाहिए। हमें इस संकीर्णतासे ऊपर उठकर ज्यादा उदार तथा सहिष्णु बनना होगा। धार्मिक स्वतंत्रता तो व्यक्तिका निजी अधिकार है। इसलिए तलाक के लिए धर्म-परिवर्तनका कारण हमें न्यायसंगत नहीं लगता। जन्मजात मूढ़ता बच्चोंमें भी होती है और इस कारणसे न केवल दम्पति तथा परिवार को ही खतरा है, बल्कि समाज और राष्ट्र को भी। मूर्ख सन्तान तो समाज और राष्ट्र पर मँहगा भार ही बनकर रहेगी। इसी प्रकार पागलपनके कारण दाम्पत्य जीवन तथा पारिवारिक जीवन पर कुठाराघात होता है। पागल होनेके बाद सन्तान नहीं होना चाहिए। यदि पागल होनेसे पहले की कोई सन्तान हो भी तो उसे पागल माता-पिताके सम्पर्क में नहीं रहने देना चाहिए। दम्पतिमेंसे किसी एकके पागल होने के बाद भी दूसरे साथी को पागल साथीसे बाँधे रखना उसके प्रति ही नहीं, बल्कि समाजके प्रति भी अन्याय है। ऐसी दशामें ववाहिक सम्बन्ध को कायम रखना सामाजिक ही नहीं मानवीय अपराध भी है। ऐसी स्थितिमें केवल दो ही मार्ग हैं—संयम या अनुचित सम्बन्ध। लेकिन इसमें कई व्यवहार जनित कठिनाइयाँ हैं। अनुचित सम्बन्धसे समाजमें अनैतिकता,अस्वस्थता और अराजकता फैलने का खतरा है तथा जबर्दस्ती थोपे गये अनावश्यक संयमके परिणामस्वरूप जो भयंकर प्रतिक्रियाएँ मानव-मस्तिष्क पर होती हैं, उनका विश्लेषण करना कठिन है। बहुधा यह देखनेमें आता है कि दाम्पत्यसुखके अभ्यस्त व्यक्ति पर इस लादे गये संयम का असर उसे असमयमें ही बूढ़ा तथा अस्वाभाविक रूपसे चिड़चिड़ा बना देता है। अतः ऐसी अवस्थाओंमें कोई भी विचार-शील व्यक्ति तलाकके सुगम मार्ग को ही स्वीकार करना अधिक अच्छा समझेगा।

विवाह-विच्छेदके इन सर्वसम्मत वजनी कारणोंके अलावा कुछ विवादास्पद कारण भी हैं। इनमें भीषण अपराध, शराबीपन, क्रूरता व्यभिचार और सहवास-त्याग मुख्य हैं। लम्बी अथवा आजीवन कारावास-दण्ड पानेवाले पति को पत्नी तलाक दे सकती है। पतिका शराबीपन भी पत्नी पर एक बहुत बड़ा मानसिक बोझ हो जाती है। फिर उसके सामने आर्थिक प्रश्न भी विकट रूपमें आता है, क्योंकि पति की आय का अधिकांश भाग तो उसकी शराबखोरीमें ही चला जाता है और उसको इस बुरी लतका परिणाम भोगना पड़ता है स्त्री तथा बच्चों को। इस प्रकार सारे परिवार की तबाही हो जाती है। दम्पत्तिके बीच रात-दिनके कलह का असर बच्चों पर बड़ा घातक होता है। क्रूरता का कानूनी अर्थ है शारीरिक क्रूरता, जिसमें दम्पत्तिमें से किसी एकके जीवन, शरीरके किसी अंग या स्वास्थ्य को खतरा हो या उसकी संभावना हो तथा एक साथी का दूसरेके सम्पर्कमें आना सुरक्षित न हो। यूरोपके अधिकांश देशोंके कानून इन अवस्थाओंमें तलाक की अनुमति देते हैं। ब्रिटिश न्यायालय सिर्फ शारीरिक क्रूरता को ही स्वीकार करते हैं, मानसिक को नहीं; किन्तु कई देशोंमें मानसिक क्रूरता भी इसका उचित कारण माना गया है। अनेक बार यह देखनेमें आता है कि पति स्त्री पर हाथ नहीं चलाता, मारता-पीटता नहीं अथवा ऐसा प्रहार नहीं करता जिससे दूसरे साथी को किसी प्रकारकी शारीरिक चोट लगे; लेकिन उसकी उपेक्षा

करता रहता है तथा उसे अनेक प्रकारसे अपमानित करता है। अनेक बार यह देखनेमें आता है कि शारीरिक चोटसे मनुष्य को उतना दुःख नहीं होता, जितना उसके हृदय पर प्रहार करनेमें। उच्चवर्ग तथा सभ्य कहलाने वाले परिवारोंमें हमें मानसिक क्रूरताके ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। हमारे खयालसे नये बिलमें मानसिक क्रूरता भी तलाक का पर्याप्त कारण माना जाना चाहिए। सहवास-त्याग का कानूनी अर्थ है दम्पत्ति में से किसी एक का दूसरे को जान-बूझकर अपने संसर्गसे दो साल तक वंचित रखना। कई पाश्चात्य देशोंमें सहवास-त्याग तलाक का उचित कारण माना जाता है। कई देशोंमें तलाक के साथ कानूनी पार्थक्य की भी व्यवस्था होती है। प्रस्तावित हिन्दू-कोड-बिलमें विवाहके पूर्ण विच्छेदके साथ ही कुछ अन्य अवस्थाओंमें कानूनी पार्थक्य को भी स्वीकार किया गया है। कानूनी पार्थक्यका अर्थ है——एक प्रकारका आंशिक अलगाव। इसमें पूर्णरूपसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता और न दम्पत्तिमें से किसी एक को भी पुनर्विवाह की ही अनुमति रहती है। मध्ययुगमें जब यूरोपमें विवाह अविच्छेद्य सम्बन्ध समझा जाता था, तो उस समय इसकी व्यवस्था की गयी थी। चर्चने इसमें तलाकवाली ही शर्तें रखी थीं। तलाकमें और इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि इसमें विवाह-सम्बन्ध पूर्ण रूपसे भंग नहीं होता। हमारी समझमें तो जब प्रस्तावित हिन्दू-कोड-बिल पूर्ण रूपसे तलाक की इजाजत देता है, तब कानूनी पार्थक्यकी शर्त्त की विशेष आवश्यकता नहीं। जब दम्पतिके अलग-अलग रहने की नौबत आ ही जाती है, तो वैसी स्थितिमें सिर्फ इस आंशिक अलगावसे क्या नतीजा? जब साथ रहना संभव नहीं तो दिखावेके लिए केवल ढोंग-मात्र ही क्यों रखा जाय? जब भारतमें तलाकके सिद्धान्त को मान ही लिया गया है, तो कानूनी पार्थक्य की शर्तें भी इसीमें जोड़ देनी चाहिए। पार्थक्य की शर्तें काफी कड़ी रखी गयी हैं,उन्हें तलाकके लिए स्वीकार कर लेनेसे समाजमें किसी प्रकार की नैतिक अराजकता फैलने का कोई खतरा नहीं रहेगा। पर इसमें एक कमी यह है कि इसमें प्रवास-जनित परिस्थिति का कोई हल नहीं दिया गया है। अतः इस प्रकारकी कोई धारा बिलमें अवश्य जुड़ जानी चाहिए।

हमारे प्राचीन इतिहास तथा आज भी कई ग्रामीण जातियोंमें तलाक-प्रथाका प्रचलित होना यह साबित करता है कि हमारे देशके लिए भी यह एक दम नयी बात नहीं है। फिर हमारा रूढ़िवादी वर्ग तो इस संभावनासे ही घबरा रहा है कि स्त्रियों को तलाकके अधिकार प्राप्त हो जायँगे तो गजब हो जायगा! उसकी यह दलील "कि कानूनी तौरसे स्त्रियोंको विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो जानेसे वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता नष्ट हो जायगी, अनाचार बढ़ेगा तथा हिन्दू-समाज रसातलमें चला जायगा, निर्मूल आशंकासे अधिक कुछ भी नहीं है। सिर्फ कानूनी अधिकार मिल जानेसे मनुष्य अपनी कोमल भावनाओं, ममत्व तथा मनुष्यत्वके गुणोंसे हाथ ही धो बैठेगा, यह कैसे मान लिया जाय? असाध्य बीमारीमें तलाकका अधिकार मिल जाने भरसे ही तो यह आवश्यक नहीं है कि पति या पत्नी एक-दूसरे को रुग्णावस्थामें छोड़कर चल देंगे। यदि यथार्थ में उनमें एक-दूसरेके प्रति प्रेम है तो वे ऐसे समयमें एक-दूसरेसे सम्बन्ध-विच्छेद करना कदापि पसन्द नहीं करेंगे। तलाक-रूपी दवा तो ऐसे ही बीमारोंके लिए है जो शुरूसे ही एक-दूसरेसे दुखी तथा असहिष्णु हैं और जिन्हें अपने दुखी जीवनसे छुटकारा पानेके लिए कोई जरिया चाहिए। यह अधिकार मिल जानेसे तो समाजका हानिकी अपेक्षा कल्याण ही अधिक होगा। धर्मान्ध रूढ़िवादियोंका प्रस्तावित हिन्दू-कोड-बिलकी तलाक सम्बन्धी धाराका इतना कट्टर विरोध उनकी संकीर्णता, विचारशून्यता एवं स्वार्थान्धताका ही द्योतक है। युगोंसे नारीको गुलाम और आधीन बनाये रखनेके जिन अनीति एवं अन्यायपूर्ण अधिकारोंका उपभोग पुरुष-जाति करती आ रही है आज साम्य और समताके युगमें उनका छीन जाना उसे सह्य नहीं हो रहा है। अब तक तो स्त्रियोंको वे दासियों तथा अपनी निजी संम्पत्तिके रूपमें ही देखते आ रहे हैं। अब जब वह भी समाजके स्वतंत्र व्यक्तिकी हैसियतसे अपनी स्थिति और अधिकारोंका उपभोग करना चाहती है तो पुरुष चौंककर उसे नयी-नयी आशंकाओं एवं खतरोंसे डराना चाहता है। स्त्री अब एक मिट्टीके खिलौनेके रूपमें न रहकर स्वतंत्र, समर्थ, सचेतन प्राणीकी हैसियतसे समाजमें अपना स्थान ग्रहण करना चाहती

है। स्वतंत्रता तथा मानसिक विकासके लिए पर्याप्त अवसर तथा वातावरण और सुविधाएँ पाकर उसका ज्ञान घर-गृहस्थीके कामों तक ही सीमित न रहकर जब प्रत्येक क्षेत्रमें व्यापक होगा, तो पुरुष केवल अपने विलासकी पुतलीकी तरह उसे अपने प्रभुत्वमें नहीं रख सकेगा, इसी आशंकासे रूढ़िवादी पुरुष-समाज इतना घबरा रहा है। लेकिन समयके इतने तेज प्रवाहको भला किसकी ताकत है रोक सके? यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमारे देशमें गत कुछ वर्षोंमें राजनीतिक प्रगतिके साथ ही साथ असाधारण नारी-जागरण हुआ है। स्त्रियोंको अपनी हीनावस्थाका ज्ञान काफी हो गया है तथा वे अपने अधिकारोंको भी समझने लगी हैं।

हम आशा करते हैं कि पार्लमेंटके अगले अधिवेशन में कट्टर पंथियोंके व्यर्थ एवं निराधार विरोधकी कुछ भी परवार न कर सरकार प्रस्तावित हिन्दू-कोड-बिलको पास करके अपनी न्यायप्रियता और नैतिक साहसका परिचय देगी। लोगोंका यह भय कि इस बिलके पास होनेसे देशमें सामाजिक अव्यवस्था तथा नैतिक अराजकता फैलेगी, निराधार मालूम होता है। तलाककी शर्तें इतनी कड़ी हैं कि उनके रहते किसी भी प्रकारकी अराजकता फैलनेका डर नहीं रहता। देशको अविचारी, धर्मके नाम पर अनीति और अनाचारको कायम रखने वाले अज्ञानियोंका अधिकांश भाग भले ही इस बिलके खिलाफ हो, पर विचारशील एवं शिक्षित वर्ग और विशेष रूपसे पुरुष-निर्मित धर्मकी जंजीरोंसे आबद्ध नारी-समाज तो इसे रुग्ण समाजके लिए बहुत बड़ा इलाज समझता है। सरकारको इनका पूर्ण समर्थन प्राप्त होगा इसमें कोई सन्देह ही नहीं।

राष्ट्रभाषाके प्रश्न पर कुछ भ्रामक तर्क

प्रो. म. सी. करमरकर

१. सामान्य 'व्यवहार' की भाषा

राष्ट्रभाषाके प्रश्न पर अबतक जितनी बहस हुई है, उतनी और किसी प्रश्न पर न हुई। यह भी सच है कि जितनी उलझन इस प्रश्नपर उतनी शायद ही और किसी प्रश्न पर हो। अब फिर एक बार इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत आ पड़ी है। असलमें यह सामयिक सवाल है जो केवल राजनीतिके कारण उठ खड़ा हुआ है।

राष्ट्रभाषाके उद्देश्यके बारेमें यह हमेशा कहा जाता है कि वह 'आंतरप्रांतीय व्यवहार की भाषा' हो। इसी व्यवहार शब्द पर विचार करना जरूरी है क्योंकि इसीके कारण सारा विवाद खड़ा हो गया है। शब्द का अर्थ एक क्षेत्रमें एक, और दूसरे क्षेत्रमें दूसरा हो जाता है। या अर्थ चाहे न बदल जाय, अर्थ की परिधिमें जरूर कम ज्यादा विस्तार हो सकता है।

'व्यवहार' शब्दको ही लीजिए। सर्वसाधारण तौरपर इसका अर्थ-'बाजारमें यथा तथा जैसे वैसे अपना काम निकालनेके लिए प्रयुक्त की हुई टूटी फूटी शब्दावली।' इसमें अपने भावोंके पूरे प्रदर्शनकी अपेक्षा ही बहुत कम है। दो अपरिचित व्यक्ति जो भिन्न भाषा भाषी हों, अगर सौभाग्यवश मिल जायँ तो उनमें जिस तरह की भाषाका व्यवहार हो वह असलमें व्यवहारकी भाषा है। इसमें न लिखने-पढ़नेकी बात उठती है और न भाषा विषयक शुद्धता की। लेकिन राष्ट्रभाषाके व्यवहारकी बात इस तरह के सर्व साधारण व्यवहारसे अलग है। भाषाका व्यवहार केवल तत्कालीन बाजारू अड़चनको दूर करनेके लिए जिस तरह की शब्दावली की जरूरत है उसके लिए किसी प्रकारके महाप्रयास की आवश्यकता नहीं है। व्यवहारकी भाषाके ढर्रे पर और भी नाम राष्ट्रभाषाके लिए प्रयुक्त किये गये हैं जिसमें व्यवहार शब्दका संकीर्ण अर्थ ही सिद्ध होता है। 'बाजारू भाषा,' 'सबकी बोली' 'व्यवहारकी भाषा' ऐसे नाम ही सिद्ध कर देते हैं कि इन सबमें केवल बोलने पर ही ज्यादा ध्यान है।

प्रश्न यह है कि क्या 'व्यवहार' का अर्थ किसी भाषाके सिलसिलेमें इस तरह संकुचित रूपमें लिया जा सकता है? 'भाषाका व्यवहार' केवल बोलने तक ही सीमित नहीं रह सकता, इसलिए कि भाषाको और भी महत्वका कार्य करना पड़ता है। भाषा का विकास अगर मानवके विकास का एक आवश्यक अंग और पूर्ति है तो मानवके भावों और विचारोंके विकासके साथ भाषा भी केवल टूटी-फूटी शब्दावली बनकर नहीं रह सकती। भाषाके व्यवहारमें अपने मनके भावों और विचारों का प्रदर्शन आ जाता है। इसलिए 'भाषाके व्यवहार' का अर्थ है– **अपने भावों और विचारों का दूसरोंके साथ आदान-प्रदान।**

पूज्य महात्मा गांधीजीने राष्ट्रभाषाके प्रचारके कार्य का करीब १९२०में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभाकी स्थापनासे पहले-पहल श्रीगणेश किया। सारे भारतवर्षमें स्वतंत्रता की भावना का जल्दसे जल्द प्रचार और प्रसार करनेका उनका मूल उद्देश्य था। यही उद्देश्य आज भी हम मानते हैं। इस उद्देश्य को देखनेसे ही ध्यानमें आ सकता है कि यह एक महान् उद्देश्य है, जिसके कार्य की व्यापकता भी कम नहीं है। जहाँ उद्देश्य व्यापक है वहाँ व्यवहार शब्द की परिधि भी व्यापक बन जाती है। राजनैतिक बातों का प्रचार करने का सबसे महत्व का साधन व्याख्यानों द्वारा भाव और विचार प्रदर्शन रहता है। हर एक प्रांतके भिन्न भाषा-भाषी नेताओं को जब अपने विचारोंको भिन्नभाषी जनता तक पहुँचाने की बारी आयी तब यह सवाल उठा। पं० नेहरू और आचार्य कृपलानी जी दक्षिणमें जाने पर किस भाषामें सुलभतासे भाषण करें, या दक्षिणके मान्यवर नेता अपने प्रांतोंकी

समस्यायों को उत्तरी प्रांत की जनताके सामने किस भाषामें पेश करेंगे यह मूल सवाल रहा।

अंग्रेजी का विरोध प्रधानतया दो कारणोंसे हुआ। राष्ट्रीय जागरणके कार्यमें विदेशी भावोंके साथ विदेशी भाषाके भी बहिष्कार की बात आ गयी। दूसरा कारण था समय और परिश्रम की बचत। अँग्रेजी केवल पढ़े-लिखे लोगों की भाषा होनेके कारण जनता तक पहुँचने के लिए वह निकम्मी रही। इसीलिए अपने विचारों और भावों को सामान्य जनता तक पहुँचानेके लिए किसी सर्व साधारण माध्यम की आवश्यकता पड़ी। अपने भावों और विचारों को जब लोगोंके सामने रखना पड़ता है तब यह भी ध्यान देना पड़ता है कि सुननेवालों पर उसका प्रभाव पड़े। प्रचारमें प्रभावकी भी बात महत्व की है। यह प्रभाव भाषाके बारेमें भी आवश्यक है। भाषा का प्रभाव सुनने वालों पर तभी पड़ सकता है, जब वह शुद्ध हो, आसान हो, और सर्व साधारण की समझमें आनेवाली हो। केवल 'बाजारू बोली' में और प्रचारके लिए स्वीकृत भाषामें फर्क यहीं आ जाता है। भाषाके व्यवस्थित रूप की आवश्यकता इसीलिए आवश्यक है। बाजारू बोलीमें व्याख्यान देने की क्षमता नहीं है। क्योंकि उसमें ऊबड़-खाबड़पन रह सकता है, अशुद्धियों का भी उसमें स्थान है, भावोंके प्रभावशाली प्रदर्शन की उसमें गुंजाइश नहीं रह सकती। प्रचारके लिए मौखिक जरिएके अलावा उसका दूसरा स्थायी रूप है लिखित प्रचार, जो भाषाके व्यवहार की व्यापकता को और ही स्पष्ट करता है। बोली जब लिखी जाती है तब वह भाषा बनती है। हम राष्ट्रभाषाके प्रचार की बातें करते हैं, बोलीके प्रचार की नहीं। संकुचित अर्थमें व्यवहारके लिए बोली अगर सहायक है तो व्यापक अर्थमें भाषा ही सहायक हो सकती है। हम इस तरह की भाषा को राष्ट्रभाषाके रूपमें देखना चाहते हैं जो हमारे भावों और विचारोंके आदान-प्रदानमें उपयोगी सिद्ध हो सके और जिसका प्रचार करनेमें हमें आसानी हो। यही भाषा का असली व्यवहार है।

२. भाषाका चुनाव या बनाव ?

राष्ट्रभाषाके व्यापक अर्थको समझ लेनेके पश्चात् ही उसके प्रचारकी बात उठती है। अंग्रेजीको विदेशी भाषा होनेके कारण राष्ट्रकी भाषाका स्थान देना अनुचित समझा गया। इतना ही नहीं अंग्रेजीको उखाड़ने के लिए ही किसी भारतीय भाषाको राष्ट्रभाषाके नाते हम माननेको तैयार हुए। इसमें प्रश्न केवल एक भाषा के बदले दूसरी भाषाके चुनावका है। हर एक प्रान्तीय भाषामें उसकी अपनी-अपनी त्रुटियाँ रही हैं। लेकिन हर एक प्रांतीय भाषाका स्वरूप न्यूनाधिक परिमाण में स्थिर और स्पष्ट भी रहा है। उसमें उसके साहित्य के कारण—चाहे वह ललित हो या शास्त्रीय हो—उसका गौरव भी झलकता है। किसी भाषाके लिए ऐतिहासिक और साहित्यिक गौरवका होना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक है। तभी उस भाषाकी गति-विधिको हम समझ सकते हैं।

ऊपरकी विवेचनाका आशय यह है कि राष्ट्रभाषा किसी प्रांत विशेषकी ही भाषा हो जिसका इतिहास और साहित्य पहलेसे ही रहा हो। किसी नयी भाषाको बनानेका सवाल एक दम निरर्थक और व्यवहारशून्य है क्योंकि इस तरहके प्रयत्नमें विवादोंका जन्म होता है और कार्यकी हानि होती है।

प्रचार करनेके लिए जब राष्ट्रभाषा को चुनना है, तब तो 'ईजाद की जानेवाली भाषा' से काम निकलना कठिन है। प्रचार की भाषा एकदम निश्चित और स्थिर होनी चाहिए, उस भाषामें भी पुस्तकें, परिपत्र, लेख इत्यादि छपवाने की जरूरत रहती है जैसी अन्य भाषाओंमें रहती है। उस भाषामें समाचारपत्रों का होना नितांत वांछनीय है, ग्रंथ-निर्माण का सिलसिला पहलेसे ही रहा हो जिसमेंसे लेख या उद्धरण लिये जा सकेंगे।

प्रचारकोंके सामने तो अनिश्चित भाषाके प्रचारमें उसकी पूर्व सामग्रीके न होनेसे अड़चनेंही अड़चनें किस तरह निर्माण होती हों, इसका भी अंदाजा किया जाना चाहिए। खुद प्रचारक अगर न समझ लें कि उन्हें किस बातका प्रचार करना है, तो वह अपने मस्तिष्कसे काम लेता है और मनगढ़ंत बातोंको सामने रखने लगता है। जहाँ अनिश्चितता है वहाँ प्रचार असफल रह जाता है।

नयी भाषा को गढ़नेके प्रयत्नके साथ-साथ ही उसका प्रचार नहीं हो सकता। जब तक गढ़ंत भाषा पूर्ण रूपसे बनी-बनायी न हो, जब तक उसकी अपनी सामग्री तैयार न हो, तब तक प्रचारके लिए उसे 'बाहर निकालना' धांधली मचाना मात्र है। जनताके सामने भाषा बनाने की गतिविधि को सिखाना नहीं है, एक निश्चित भाषा को देना है।

पहले ही इस बात पर संकेत किया गया है कि हर प्रांतीय भाषामें किसी न किसी तरह त्रुटियाँ दिखायी देंगी। इसलिए चुनी हुई राष्ट्रभाषामें भी त्रुटियाँ जरूर होंगी। राष्ट्रभाषा की कसौटियों पर जो भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा ज्यादा परिमाणमें उतरेगी, उसको राष्ट्रभाषा का मान देना होगा। सौ प्रतिशत गुण कभी हमें दिखायी नहीं पड़ेंगे। इस परिस्थितिमें फीसदी ज्यादा गुण ही देखना जरूरी है। तत्व को ग्रहण करनेके बाद जिस भाषाका निर्णय आयगा, उसको मंजूर करना ही पड़ेगा।

अब सवाल यह उठता है कि अन्य भाषियों का कर्तव्य क्या होगा। राष्ट्रभाषा का सवाल राष्ट्रीय सवालोंमेंसे अगर एक है, तो उसका उत्तर भी आसान है। राष्ट्रीयता की सिद्धिमें त्याग की आवश्यकता है। हिंदी भाषी लोगोंके सौभाग्यसे गांधीजीने हिंदी भाषा को प्रारंभसे ही राष्ट्रभाषा करार कर दिया है। इसलिए अन्य भाषी प्रांतों को राष्ट्रभाषाके प्रश्न पर त्याग दिखलाने की जरूरत है। अहिंदी भाषी राष्ट्रभाषा को सीखें और आवश्यक अवसरों पर उसका उपयोग करें। उसे सीखनेके लिए जो आवश्यक सामग्री लगती है, वह राष्ट्रभाषा की साहित्यिक सामग्रीसे ले ली जाय। किस तरह का अंग्रेजी साहित्य अंग्रेजी सीखनेके लिए हम लेते आये हैं, हम जानते ही हैं। अंग्रेजी साहित्य और अन्य वैचारिक पुस्तकों की मददसे अगर अंग्रेजी का ज्ञान बोलने और समझनेमें हमको प्राप्त हो सकता है, तो राष्ट्रभाषाके सीखनेके लिए भी उस भाषाके प्राचीन और वर्तमान साहित्य की सहायता लेनेमें कोई अनुचित बात नहीं है।

अहिंदी भाषी प्रांतोंमें तो हिंदी भाषा का वातावरण न होनेसे केवल पुस्तकों, अखबारों और उसी प्रकारके लिखित (और कभी-कभी मौखिक) सामग्री का ही सहारा लेना पड़ता है। इस सामग्री का यदि अभाव हो तो राष्ट्रभाषा का प्रचार करना असंभव इसलिए व्यर्थ है।

'ईजाद की जानेवाली भाषा' के समर्थक किस तरह की सामग्री अन्य भाषी प्रान्तोंके सामने रख सकते हैं जिससे निस्संकोच होकर उसको ग्रहण किया जा सके? यही कहा जाता है कि 'उत्तर हिन्दुस्तानकी आमफ़हम बोलीको सीखना जरूरी है क्योंकि वही हिन्दुस्तानकी राष्ट्रभाषा है।' आमफ़हम बोली को सीखनेके लिए क्या उस भाषाका साहित्य अधूरा पड़ता है? अन्य प्रान्तोंकी भाषाओंके साहित्यका अध्ययन करनेसे उन प्रान्तोंमें जाकर अच्छी तरहसे बातचीत करनेकी क्षमता प्राप्त हो सकती है। उस आमफ़हम बोलीका डर नहीं रह सकता। क्या उत्तर हिन्दुस्तानकी साहित्यिक भाषाके सीखनेके बाद भी आमफ़हम बोलीका एक लफ्ज़ भी नहीं समझा जा सकता? अगर इस तरह की बात हो तो अब तकके हिन्दीके साहित्यका राष्ट्रभाषाके प्रचारके लिए कोई उपयोग नहीं है। आमफ़हम बोलीके सीखनेके लिए दो-दो भाषाओंके साहित्यको सीखना पड़ता है। यह भी एक अनोखी सूझ है। फिर भी यह भी कहा जाता है कि दोनों भाषाएँ वस्तुत एक ही हैं।

पं० जवाहरलालजी ने कहा है कि 'भाषा फूलकी तरह खिलती है।' फिर किसी भाषा पर दबाव डालकर उसको नया रूप देनेका प्रयत्न करना कहाँ तक सयुक्तिक हो सकता है। भाषा बनायी नहीं जाती, वह बनती जाती है। उसके लिए समय भी बहुत परिमाणमें लगता है।

समयकी बात जब मैंने उठायी है तब भाषाके बनावके पक्ष वालोंकी एक धारणा पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा। भाषाके प्रश्न पर भाषा संबंधी बातों पर ही हमें ज्यादा ध्यान देकर निष्पक्ष रूपसे अपना मन स्थिर करना चाहिए। भारत भरमें हम जानते हैं कि संस्कृत भाषाका पहले पहल बोलबाला रहा। चाहे किसी कारणसे संस्कृतके स्थान पर उससे निकली हुई भाषाओंका प्रचार रहा। आजकलकी भारतकी बहुतांश भाषाओंकी आकर भाषा संस्कृत है। लेकिन आज यह कहना दुस्साहस होगा कि संस्कृत

को ही फिर राष्ट्रभाषाका पद मिले। इस तरहके एकांतिक मतको वैचारिक भूमिकामें स्थान नहीं है।

हम यह देखते हैं कि कालगतिके अनुसार भाषाकी शब्दावली और गतिविधिमें फर्क होता जाता है। पचास साल पहले हिन्दी भाषाका जो रूप रहा उसमें और आजकी भाषामें काफी विकास, काफी फर्क दिखायी देता है। इस फर्कको ध्यानमें रखनेसे अपनी कल्पना-शक्तिसे हम सौ वर्षके बादकी हिंदी भाषाके स्वरूपकी कल्पना भी कर सकेंगे। उस दिशामें प्रयत्नशील एक बात है, लेकिन सौ वष बाद भाषाके जिस रूपकी कल्पना हम अभी कर सकते हैं, उस रूपको आजसे ही प्रयुक्त करके चलानेकी बातको सोचना गाड़ीको घोड़के आगे रखना है। भाषाको दनाने वाले, या भाषाको अव्यवहार्य नया रूप देनेवाले दोनों बीचके आवश्यक कालखंडको लांघना चाहते हैं जो भाषाके सिलसिले में अनहोनी बात है। केवल तत्वनिर्देशकी ओर ध्यान देकर, अभिनिवेशके कारण, व्यवहार पक्षको उड़ा देनेका यह विपरीत परिणाम मात्र होगा। भाषामें हर तरहसे आधुनिकता लानेका प्रयत्न करना एक बात है जो आवश्यक और स्तुत्य है। लेकिन सुदूर भविष्यत् की बात सोचकर समय पक्षकी महत्ताको दूर करते हुए भाषाके भविष्यकालीन रूपको वर्तमानमें लाकर दिखानेकी हामी भरना भारी भूल करना है।

३. नाममें क्या नहीं है ?

किसी प्रांतीय भाषाको चुननेके सवाल पर विचार करनेके पश्चात् सर्व साधारण रूपसे हिंदी भाषाका ही नाम हमारे सामने आता है। यहाँ एक बात पर ध्यान दिलाना जरूरी है। किसी भाषाका साहित्य श्रेष्ठ है इसीके बल पर वह भाषा राष्ट्रभाषाका स्थान नहीं प्राप्त कर सकती। साहित्यकी श्रेष्ठता राष्ट्रभाषाकी कसौटियोंमें महत्वकी कसौटी नहीं है। उसके लिए एक ही कसौटी महत्वकी है। वह भाषा पहलेसे ही सारे राष्ट्रमें लोगोंकी पहचान की हो--जिस भाषाको राष्ट्रके ज्यादासे ज्यादा लोग बोलते या समझते हों। दूसरी भी कसौटियाँ उसके लिए हैं--वह भाषा राष्ट्रकी अन्य भाषाओंके नजदीक हो, उसका व्याकरण आसान हो, उसकी रचना-पद्धति, उसका शब्द-संग्रह अन्य बहुतांश भाषाओंसे समान हो।

ऊपर-निर्दिष्ट कसौटियों पर जो भाषा उतरेगी, वही भाषा राष्ट्रभाषाके स्थानको ग्रहण कर सकेगी। इन कसौटियोंमें साहित्यकी दृष्टिसे कोई भाषा श्रेष्ठ होने पर भी, ऊपरके गुणोंके न होनेके कारण, उसको राष्ट्रभाषाके नाते सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ, राष्ट्रभाषाकी कसौटियों पर उतरनेके साथ अगर साहित्यिक गुण भी श्रेष्ठ हों तो सोनेमें सुहागकी बात है।

भारतीय भाषाओंमें बंगला भाषाका साहित्यिक गुणोंकी दृष्टिसे एक तरहसे बहुत मान्यता प्राप्त हो चुकी है, क्योंकि रवीन्द्रबाबू, शरत् बाबू जैसे लेखकोंने उसका गौरव बढ़ाया है। उसके बाद मराठी, गुजराती या कन्नड़ भाषाओंका स्थान आ सकता है। जिनमें साहित्यिक गुणोंकी बहुलता दिखायी देगी। लेकिन राष्ट्रभाषाके नाते इन भाषाओंका हम इसलिए विचार नहीं कर सकते क्योंकि इनमें राष्ट्रभाषाके लिए आवश्यक गुणों की कमी है। बंगला जिन अक्षरोंमें लिखी जाती है और जिस तरह उच्चारित होती है उसे देखकर कोई भी उसे राष्ट्रभाषाके प्रचारकी दृष्टिसे विचार नहीं कर सकेगा। कन्नड़के भी अक्षर भिन्न तरीकेसे लिखे जाते हैं और भाषा भी द्राविड़ कुल की होनेके कारण सबको आसान नहीं है। मराठी की लिपि वही है जो हिंदी की ही है और अक्षरोंके लिखने का ढंग भी प्रायः हिंदी जैसा ही है। पर उसका व्याकरण हिंदी की अपेक्षा कठिन है। इन्हीं कारणोंसे हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना उचित समझा गया। सौभाग्यवश हिंदी का भी अपना साहित्य है जो अन्य भारतीय भाषाओंके साहित्यके सामने नगण्य नहीं कहा जा सकेगा। उसकी परंपरा भी पुरानी है। हिंदी भाषाके बोलनेवालों की संख्या ज्यादा होनेके कारण उसके साहित्यके उचित विकासके लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ स्वभावतः प्राप्त हैं और हिंदी भाषाके लेखक जिम्मेदारीके साथ अपनी निष्ठा को निबाहते रहेंगे तो हिंदी साहित्य का स्वर्ण काल भी दूर नहीं है।

राष्ट्रभाषाके विचारमें नाम की महत्ता पर भी विचार करना जरूरी है। शेक्सपियरकी (what is in a name) 'नाममें क्या है' को लेकर हमेशा कहा जाता

है कि 'क्या हिंदी क्या हिंदुस्तानी।' अगर नाममें कुछ नहीं है तो हिंदीके बदले हिंदुस्तानी रखने की आवश्यकता ही क्यों? हर एक नामके पीछे उसका काम भी रहा करता है। सर्व साधारण जनताके मनमें पहलेसे ही किसी नामके पीछे जो अर्थ रहा करता है उसको लेकर ही चलना जरूरी है। उसको बदलना अनुचित भूल करना है। 'टेबुल' नामसे जिस चीज का बोध होता है वह सभी लोगोंके मनमें स्थिर हो चुका है। अगर किसी अधिकारी व्यक्तिने 'कुर्सी' को 'टेबल' कहने का प्रचार करनेकी अनधिकार चेष्टा की तो बड़ी धांधली मच जायगी। 'नाममें क्या है' तरीका यहाँ ठीक काम नहीं देगा: गुलाबके फूल को ही गुलाब क्यों कहा जाय? किसी दूसरे फूल को ही गुलाब क्यों न कहें? उत्तरमें यही कहना काफी है--(उसी शेक्सपियरके शब्दोंमें) कि किसी भी फूल को गुलाब कहिए--लेकिन एक शर्त-- उस फूलमें भी गुलाब की सुगंध हो और हम सभी जानते हैं कि गुलाब की सुगंध जिस फूलमें है वह फूल गुलाब का ही तो होगा।

'हिंदी या हिंदुस्तानी' का प्रचार इधर जो कुछ हो, हमको यही सोचना है कि अहिंदी प्रांतोंके लिए भी कौन शब्द हितकर होगा। आखिर अहिंदी प्रांतों का भी 'राष्ट्रभाषा' के मामलेमें अधिकार है। इतना ही नहीं यह अधिकार केवल उन्हीं प्रांतों का है। हिंदी वालों को किसी एक शैली को ही अहिन्दी प्रान्तोंपर लादनेका कोई अधिकार नहीं। जो कोई अहिंदी भाषी आधुनिक खड़ी बोलीके किसी गद्यग्रंथ को हाथमें लेगा वह उसे झट 'हिंदी'के नामसे ही पुकारेगा क्योंकि यही नाम उसके लिए पहलेसे ही परिचित रहा है। 'आप कहाँ गये थे!' या 'भगवान तेरा भला करे' 'तुम बिन मेरी कौन खबर ले' इत्यादि प्रकार की कोई भी पंक्ति सुनायी जाय उसको हिंदी ही कहा जायगा। सूर,तुलसी, कबीर या किसी अन्य कविको हिंदीके कवि माना जाता है। गद्यभाषाके बारेमें कहा जाय तो जिस भाषाके वाक्यके आखिरमें 'है, जायंगे, करता था' इस तरह की क्रियाएँ और 'हम, वे' इत्यादि सर्वनाम आ जायंगे वह भाषा हिंदी ही कही जायगी। असलमें हिंदी की मूल प्रकृतिसे प्रायःसभी प्रांत पहलेसे ही (यानी कई शतकोंसे) परिचित हैं और उसे केवल हिंदीके नामसे ही पहचानते हैं। इस तरह हिंदी नाम और उसके साथ-साथ हिंदी का पुराना और आधुनिक साहित्य अहिंदी प्रांतों की दृष्टिसे एक साथ जुड़ गया है, चाहे उत्तरी हिंदुस्तानके निवासियोंके मनमें हो या न हो।

अब सवाल यह उठता है कि हिंदीके ही प्रेमचंद जैसे कुछ लेखकोंके चुने हुए लेखों या कहानियों को लेकर उस संकलनात्मक पुस्तक को 'हिंदुस्तानी' के नामपर प्रचारित करनेसे कौन सा निस्वार्थ हेतु सिद्ध हो सकता है? इससे अगर कुछ होता हो तो यही कि अहिंदी भाषी लोगोंमें भ्रमके फैल जाने का डर। जिस 'हिंदी' के प्रचार का बीड़ा महात्मा गांधीजीने उठाकर करीब बीस साल उसका राष्ट्रभाषाके नाते प्रचार किया वही हिंदी अन्य प्रांतोंमें आज राष्ट्रभाषाके लिए हेय मानी जाती है। अहिंदी प्रांतोंमें जिस तरह का बुद्धि-भेद इस नीतिके कारण किया गया है उसका पूरा ब्यौरा आसानीसे यहाँ नहीं हो सकेगा। यहाँ हिंदी वालों को इतना ही सचेत करना है कि वे अपनी 'हिन्दुस्तानी या हिंदी' वाली अनिश्चितता को दूर करके 'हिंदी' नाम का ही पक्ष समर्थन अगर न करें तो अहिंदी की हिंदीके प्रचारमें सहायता मिलना दूर ही रहा, उसका प्रत्यक्ष विरोध भी होगा।

इस विरोधके बीजस्वरूप कुछ कारणों को लिखना असंगत न होगा। इसका प्रधान कारण है यही नाम की अनिश्चितता। जिस भाषा को अबतक हिंदीके नामसे पहचाना जाता था उसी भाषाके साहित्यके कुछ भागको हिंदुस्तानी नामसे भी प्रचारित किया जा रहा है। इतना ही नहीं यह भी देखा जाता है कि हिंदी साहित्यके प्रसिद्ध लेखक जब हिंदीमें साहित्य निर्मित करते हैं तब साफ-सुथरी हिंदीमें लिखते हैं, लेकिन वे ही लेखक हिंदुस्तानीके प्रचारके लिए जब लिखते ह, तब जान-बूझकर ऐसी विकृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं कि पढ़ते ही उनपर तरस आता है। सबसे ज्यादा यही खटकता है कि हिंदी साहित्यके लेखक हिंदी भाषासे निष्ठापूर्वक व्यवहार नहीं कर रहे हैं।

नाम की अनिश्चितताके सहारे अपनी बातों का प्रचार हिंदी और हिंदुस्तानीके दोनों समर्थकोंने किया। इसका उदाहरण है वर्धाकी राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति। राष्ट्रभाषा शब्दके अनिश्चित आधार पर वर्धा की इस

समितिने जिस भाषा का प्रयोग करके अपनी पाठ्य-पुस्तकों को तैयार किया वह भाषा हिंदुस्तानी की ओर झुकी थी। 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' मद्रास जब 'हिंदी प्रचार सभा' थी तब भी 'हिंदी' नाम की आड़में 'हिंदुस्तानी' का ही प्रचार करती रही, अब तो वह 'हिंदुस्तानी प्रचार सभा' बनकर खुल्लम-खुल्ला मद्रासके चारों प्रांतोंमें हिंदुस्तानी का प्रचार कर रही है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मद्रासके चारों प्रांत और वर्धा प्रचार समिति की ओरसे चुने हुए मध्यभारतके सात प्रांतोंमें हिंदुस्तानी का प्रचार खुले और छिपे दोनों तरीकोंसे करीब दस सालसे होता आ रहा है। इसके अलावा सरकारी प्रयत्नोंसे भी हिंदुस्तानी को अनुचित प्रश्रय देकर प्रचारित किया जा रहा है, वह भी एक खास लंबा विवरण होगा। हिंदी नाम को बदल कर उसे कुछ अहितकर रूप से दूसरे नामसे प्रचारित करके 'हिंदी' के पीछे जिस तरहका बोध अहिंदी प्रांतोंमें होता रहा, उसे धक्का पहुँचाया गया। 'नाममें क्या है' का उत्तर एक ही दिया जाना चाहिए कि 'नाममें क्या नहीं है?' असलमें जहाँ नाम को बदलने की कोशिश बलपूर्वक की गयी, वहाँ समझ लीजिए कि दालमें काला जरूर है।

जबसे 'न हिंदी न उर्दू लेकिन हिंदुस्तानी' का नारा बुलंद हुआ, तबसे अहिंदी प्रांतोंमें फारसी लिपि और उर्दूमय हिंदीका अभिनिवेशात्मक प्रचार हो रहा है। भाषाके बनानेके पक्षमें रहनेवाले प्रचारकोंने जिस तरहकी भाषा बनायी वह उर्दू शब्दोंसे लदी रहती है और इस तरह 'आमफ़हम बोली' की गरजको दूर किया जा रहा है।

इसका एक बुरा प्रभाव अन्य प्रांतके प्रचारकोंपर पड़ा है। उर्दू भाषा और फारसी लिपिको सीखनेमें राष्ट्रीयता समझी जाने लगी क्योंकि हिंदी तो आसान है ही, उसमें सीखना क्या है। दक्षिण हिंदुस्तानके जिन ग्यारह प्रांतोंमें उर्दू भाषाका बिल्कुल प्रचार नहीं है, जहाँ उर्दू भाषा और फारसी लिपि जर्मन या फ्रेंच भाषासे भी दूर की चीज रही, वहाँ उर्दू भाषा और फारसी लिपि के प्रचारको अत्यधिक महत्ता देकर उन सभी प्रांतों पर एक भारी अन्याय किया गया है। इस अन्यायको बंबई और मद्रास सरकारने और भी बढ़ा दिया है क्योंकि सरकारी ट्रेनिंग कॉलेजोंमें और हाई स्कूलकी पहली, दूसरी और तीसरी कक्षाके छोटे बालकों पर भी हिंदुस्तानी पढ़नेका बोझ राष्ट्रीयताके नामपर लादा गया है।

'हिंदी' को राष्ट्रभाषाके नाते स्वीकृत कर लेनेके बाद जिस निष्ठाके साथ अहिंदी प्रांतोंने उसके प्रचारमें लगातार दस पंद्रह वर्ष तक कार्य किया वहाँ इस तरह की 'नयी भाषाको बनानेवाली नीति' ने उस निष्ठा पर ही बड़ा प्रहार किया है। पतेकी बात है कि हिन्दुस्तानीकी निश्चित धारणा और उसके निश्चित रूपका हिंदुस्तानीके समर्थकोंको भी कोई पता नहीं और हर एक प्रचारक अपने ढंगसे भाषाके रूपको पेश करता है। जिस भाषामें बोलते हुए राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धाके मंत्री भदंत आनंद कौसल्यायनजी हिंदीका प्रचार करते हुए एक प्रांतमें दौरा करते हैं, उसी भाषामें बोलते हुए श्रीमान काका कालेलकर महोदय उसी समय दूसरे प्रांतमें हिन्दुस्तानीके प्रचारकी हामी भरते हुए कितनी बार दिखायी दिये हैं।

४ भाषाके प्रांतीय सवालको राष्ट्रीय रूप क्यों?

कालके प्रभावके अनुसार हर एक भाषाके रूपमें परिवर्तन होता आया है और भविष्यत् में भी वह होता ही रहेगा। हिंदी भाषाके इतिहासको देखनेसे भी यही स्पष्ट होगा। सदासुख लाल या लल्लूलालके लिखनेकी शैलीमें और आधुनिक गद्य-शैलीमें कितना महदंतर है। लेकिन यह एकदम नहीं हो पाया है। बीचमें जो कालखंड बीत चुका है उसका भी इसमें कुछ हाथ जरूर है। भाषाके स्थित्यंतरके समय कोई न कोई नये विचारक खड़े होते हैं और तत्कालीन विचारोंकी अपेक्षा उनके विचारोंमें आधुनिकता दिखायी देती है, तब उनकी भाषा भी नये ढाँचेमें ढलकर सम्मुख आ जाती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, द्विवेदीजी, प्रेमचंदजी ऐसे ही विचारकोंमेंसे थे जिनकी भाषा अपनी अपनी विशेषताओं को लेकर सम्मुख आ गयी है।

लेकिन इन विशेषताओंके कारण क्या अब तक 'हिंदी' नाममें कोई खोट आयी थी? ऊपर निर्दिष्ट सभी लेखक हिंदीके ही तो लेखक माने जाते हैं। कम से कम अहिंदी प्रांतोंमें सबोंको हिंदीके लेखक ही माना

जाता है। क्योंकि फर्क केवल शैलीमें है, आत्मा तो हिंदी ही है। पंडित बेचन शर्मा 'उग्र' भी तो हिंदीके ही लेखक माने जाते हैं।

मैं मानता हूँ कि हिंदीके ही कुछ मान्यवर लेखक या विचारक हिंदीकी आजकलकी धारासे असंतुष्ट हैं। उनका कहना है कि हिंदीका गद्य-साहित्य आज ऐसे ढंगसे लिखा जाता है जिससे भाषा 'जटिल और बोझिल' हो जाती है। हर हिंदी भाषीका अधिकार है कि भाषा पर मनमानी करनेवालोंके विरुद्ध वे आवाज उठाएं। लेकिन इसका अर्थ यही है और होना चाहिए कि यह आवाज हिंदीकी एक विकृत शैलीके विरुद्ध है जो उनके प्रांतकी और उनके साहित्यकी भाषा अबतक मानी गयी है। जनताकी भाषाका आंदोलन हर प्रांतमें इस समय जोर पकड़ता जा रहा है, और यह है भी सौभाग्यकी बात। लोकभाषा, लोक-साहित्यकी माँग आज तीव्र रूपसे हो रही है। इसलिए इस माँगको पूरा करने वाली शैलीका अनुसरण करनेकी आज आवश्यकता है। इसलिए भाषा आसान हो, शैली भी क्लिष्ट न हो और विचार सुलझे हुए हों।

हिंदी भाषा और साहित्यके इतिहाससे यही पता चलता है कि जब कभी भाषाकी गति-विधिमें कृत्रिमता का आभास मिला, कोई न कोई प्रभावी लेखक निर्माण हुए और भाषा का प्रभाव फिर सीधे रास्ते ले आये। असलमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र, शिवप्रसाद, प्रेमचंदजी इत्यादि ने अपनी-अपनी दृष्टिसे तत्कालीन भाषा को संकीर्ण पथपर चलने वालोंकाही तो घोर विरोध अपनी शैलीके द्वारा किया। हर समय आसान चलती हिंदी की माँग रहती आयी है और इस समय भी चलती हिंदी का नारा बुलंद है। यही आजके प्रचलित लोकभाषाके आंदोलन का अर्थ है। जैसे-जैसे प्रचलित हिंदी की क्लिष्टता का अनुभव लोगों को तीव्रताके साथ होता जायगा, वैसे-वैसे नये लेखक निर्माण होंगे जो नयी शैलीके प्रवर्तक माने जायँगे। लेकिन पहले पहल यह स्पष्ट होना चाहिए कि लोकभाषा या लोकसाहित्यके आंदोलन करने वाले केवल प्रचलित हिंदीके कुछलेखकों के लिखनेके ढंगके विरुद्ध आवाज उठाना चाहते हैं, या उनको हिंदी भाषा और साहित्य का ही विरोध करके एक नयी भाषाका निर्माण करना है। अपेक्षा यह है कि हिंदी भाषी और हिंदी प्रांत निवासी होनेके नाते उनको भी हिंदीके प्रति तीव्र अभिमान हो! स्व. प्रेमचंदजी पहले पहल उर्दूमें लिखते थे पर बादमें वे हिंदीके सर्व-मान्य लेखक बन गये। इसका प्रधान कारण है उनका हिंदीके प्रति असीम प्रेम और निष्ठाके साथ हिंदी के विकास का प्रयत्न। जिस त्यागसे उन्होंने हिंदी की सेवा की है वह सेवा महत्व की है।

हिंदी की आजकल की प्रवृत्ति पर अप्रसन्नता दिखाने वालों को पहले यह स्पष्ट होना चाहिए कि वे हिंदी भाषाके विरुद्ध आंदोलन नहीं करने जा रहे हैं। हिंदीके अंतर्गत जिन कुप्रवृत्तियोंके फैल जाने की आशंका उनको है, सिर्फ उन कुप्रवृत्तियोंके विरुद्ध ही उनको आवाज उठाना है। इनको हटानेके लिए हिंदी भाषा और साहित्यके प्रचलित 'हिंदी' नाम को हटाने की कोई जरूरत नहीं है। इतना ही नहीं, इस तरह का प्रयत्न करना हिंदीके प्रति अन्याय करना है। केवल हिंदी की संकीर्ण शैलीका विरोध करते हुए, अगर एक विकसित शैली को वे देखना चाहते हैं, तो मतभेद की बात ही नहीं उठती।

लेकिन दुख है कि इसी शैलीके प्रश्न पर विवाद उठाकर, उसे हिंदुस्तानी भाषा का नाम देकर हिंदीके विरुद्ध विद्रोह करनेवालों का साथ इन्हीं सत्प्रवृत्त हिंदी भाषी सज्जनोंने देने की गलती की। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि एक नये नाम को प्रस्तुत करने में हिंदी भाषाके बारेमें गलतफहमी फैलायी जा सकती है। एक नया नाम नये अर्थबोधको लेकर और बिल्कुल नयी चीज को साथ ले आता तो ठीक होता, लेकिन चीज वही थी जो हिंदी नामसे पहले ही पहचानी जाती थी। फर्क यही रहा कि कृत्रिम चीज को और बिगड़े हुए रूप को सामने रख कर, उसको नया बताने का प्रयास किया गया। भाषाके क्षेत्रमें राजनीतिने अपना प्रभाव बुरी तरह दिखाना शुरू किया और कृत्रिम, उर्दूमय शैलीके विरुद्ध मत प्रदर्शन करनेवाले अराष्ट्रीय माने गये।

अपनी भाषाके सुधारके पक्षमें प्रयत्न करने का हर एक प्रांत को अधिकार है। लेकिन इतना तो अवश्य कहना चाहिए कि इस प्रश्न की मर्यादा विशिष्ट प्रांत तक ही सीमित है। हिंदी, उर्दू या हिंदी-उर्दूके

बीच की भाषा-शैलीमेंसे संयुक्त प्रांतके लिए साहित्य की भाषा कौन हो यह सवाल हिंदीवालों को ही सुलझाना चाहिए।

स्व. प्रेमचंदजीने जब शुरू-शुरूमें हिंदी साहित्यमें अपनी साहित्यिक कृतियों को लिखना प्रारंभ किया था, तब कुछ तो शैली हिंदीमें प्रचलित थी। उस समय भी अन्य प्रांतोंमें जिस शैली को या रूप को पढ़ा होगा, उसको हिंदी मानकर ही तो पढ़ा। प्रेमचंद की कृतियोंने दिखला दिया कि आधुनिक हिंदीके गद्य का रूप उनकी शैलीसे ही निखर उठता है। अब उनकी पुस्तकों को अहिंदी प्रांतोंमें जितनी लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी है, शायद ही हिंदीके किसी अन्य लेखक को प्राप्त होगी। प्रेमचंदजीके कारण ही हिंदी का गौरव बढ़ गया है और उन्हींके कारण हिंदी साहित्य अन्य भाषाओंके सामने रखने योग्य—कुछ परिमाण में ही क्यों न हो सिद्ध हो सका है इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

जिस प्रेमचंदजी का अभिमान हर एक हिंदीके अभिमानी को होना चाहिए, उसी प्रेमचंदजी को हिंदुस्तानी भाषाके लेखक बतला कर हिंदी का अपमान ही किया जा रहा है। उसका अर्थ यही होता है कि प्रेमचंद के पहले हिंदी साहित्य की हस्ती ही नहीं थी। अगर यह बात सच थी तो १९२० से १९३६ तक हिंदी भाषा का हिंदीके नामसे जो प्रचार चल रहा था उस दीर्घ कालमें किसीने उसका विरोध नहीं किया। प्रेमचंदजी की कृतियाँ उस समयमें भी अहिंदी प्रांतोंमें बिकती रहीं और कहानीकार और उपन्यासकारके नाते उनको ख्याति प्राप्त हो गयी थी। १९३६ के बाद ही धीरे-धीरे प्रेमचंदजी को हिंदुस्तानी भाषाके लेखकके नाते हिंदुस्तानीके संकलनात्मक संग्रहोंमें स्थान दिया जाने लगा। इतना ही नहीं, प्रेमचंदजीके साथ-साथ अन्य भी कुछ लेखकों को उसी पुस्तकमें स्थान दिया जाने लगा जो हिंदीके लेखकके नाते पहलेसे परिचित रहे। इन हिंदीके लेखकोंके साथ उर्दूके लेखकोंके भी देवनागरीमें लिखे हुए मजमून संकलित होते थे और सब मिलकर जो मसाला प्रस्तुत किया जाता था, (और अब भी किया जाता है,) वह हिंदुस्तानीके नामसे परिचित किया जा रहा था। यह हालत आगे चलकर उर्दूके अत्यधिक महत्वके कारण बिगड़ती गयी और उर्दू शब्दों को ही हिंदुस्तानी शैलीमें ज्यादा प्रधानता मिलती गयी।

संयुक्त प्रांतमें हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानीके विवाद का उठना स्वभाविक है क्योंकि यहाँ की आबोहवा ऐतिहासिक कारणोंसे विभिन्न प्रकार की बनी है। लेकिन ये सभी विवाद केवल यहाँके लिए सीमित कर देने की आवश्यकता है। अहिंदी प्रांतोंमें अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं की अभिवृद्धिके प्रयत्न जिस तरह वे प्रांत सुलझाते आये हैं, उसी तरह हिंदी प्रांतों को अपने भाषिक प्रश्न आप सुलझाने चाहिए। अहिंदी प्रांतों को इन प्रश्नों की कोई आवश्यकता नहीं है। मराठी, बंगला, गुजराती या किसी भी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने वाले हिंदी भाषी सज्जन को यही करना पड़ेगा कि उन भाषाओंके प्रसिद्ध लेखकों की कृतियों को वह पढ़े जिससे मालूम होगा कि उस विशिष्ट भाषाकी गतिविधि किस तरह की है। उसी तरह अहिंदी प्रांतोंके लिए यह सुविधा दे दी जाने चाहिए थी। सन् १९३६ तक वह मिलती आयी थी।

लेकिन इस तरह की पद्धति को छोड़कर इस प्रकार का प्रचार किया गया कि अमुक लेखकों को छोड़कर बाकी हिंदी साहित्य केवल नाम मात्र है। इतना ही नहीं, वह विरुद्ध दिशा की ओर संकेत करता है, वह प्रांत की प्रकृतिके विरुद्ध है, वह संकीर्ण, जातीय और पतनोन्मुख है और सामूहिक स्वार्थमय दलबंदी का ही घोर परिणाम है। इस तरह का प्रचार हिंदीके लिए अहितकारी है। कुछ हिंदी भाषी ही इस तरह का प्रचार, हिंदुस्तानीके प्रचारके अभिनिवेशमें अहिंदी प्रांतोंमें करते आये हैं जिसका एक ही परिणाम है कि हिंदी भाषा राष्ट्रभाषाके योग्य नहीं है।

इस तरहके प्रचारमें एक महत्व का खतरा है। हिंदी प्रांतमें रहने वाला और हिंदी भाषी कोई भी ऐरा-गैरा अहिंदी प्रांतोंमें जाकर कह दे कि 'हिंदी कोई आम फ़हम भाषा नहीं है,' तो उसका विश्वास, वह हिंदी भाषी और हिंदी प्रांत निवासी होनेके कारण, अहिंदी वालों को ज्यादा हो सकता है। लेकिन अहिंदी भाषी कोई सज्जन वस्तुस्थिति को उसके समभाषियोंके सामने स्पष्ट करने का प्रयास करेगा तो सुनने वाले उसका विश्वास नहीं करेंगे, चाहे वह कितना भी विद्वान और

भाषा का अभ्यासी हो। इसका एक ही कारण है कि वह हिंदी भाषा और हिंदी-प्रांत-निवासी नहीं है।

लेकिन इस तरहके प्रचारसे हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषाके स्थानसे च्युत करनेके प्रयत्न अविरत हो रहे थे और वस्तुस्थिति का विपर्यास करते हुए। लेकिन आज कमसे कम संयुक्त प्रांत और बिहार की सरकार की सहायतासे यह सिद्ध हो गया है कि उत्तर हिंदुस्तान की भाषा हिंदी है। चाहे उसका आज का प्रचलित रूप उतना विकसित हो या न हो। इस प्रश्न को हिंदी भाषी जनता जिस किसी तरहसे हल कर सकती हो हल करने का प्रयास करे, लेकिन अहिंदी प्रांतों को इस झमेलेमें डालना बंद कर दे। उनके लिए अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, जिनके विकासमें उन्हें सहयोग देना है। हिंदीके विकासमें अहिंदी भाषी किसी तरह सहायता देनेके अधिकारी नहीं हो सकते।

भाषा का रूप समयके प्रभावके साथ जिस तरह बनता जायगा, वह अहिंदी प्रांतोंके सामने आता ही रहेगा। इस प्रांतीय प्रश्न को राष्ट्रीय रूप देनेसे हिंदी का तनिक भी लाभ नहीं होगा। अब तक हिंदीके ही अंतर्गत की हिंदुस्तानी कही जानेवाली शैली को एक नयी भाषाके नाम पर उसका अभिनिवेशात्मक प्रचार अहिंदी प्रांतोंमें जो चल रहा है, उसे पहले बंद करा देना होगा जिससे यह प्रांतीय प्रश्न प्रांतीय ही रहेगा। राष्ट्रभाषा हिंदी 'हिंदी' ही के नामसे पहचाने जानेकी आवश्यकता है, उसका जो कोई रूप स्थिर होगा, जब वह स्थिर होगा तब वह अपने आप प्रचारित होगा।

५. 'सितारे हिंद' की ऐतिहासिक हिंदुस्तानी

हिंदी भाषी लोगोंके सामने यह समस्या बड़ी विकट बनकर आयी हुई दिखायी दे रही है कि हिंदी का बोझिल रूप किस तरह दूर किया जाय। जबसे हिंदुस्तानीके प्रचार को प्रश्रय दिया गया और राष्ट्रभाषाके लिए आमफहम बोली का—उत्तर हिंदुस्तान की आम फहम बोली का—नारा बुलंद हुआ, तब वस्तुतः यह समस्या शायद ज्यादा स्पष्ट रूपसे सामने आ गयी है। भाषा का रूप क्या हो—इसी प्रश्न पर हिंदी साहित्यमें बार-बार विवाद उठ खड़ा हुआ है और इसका उत्तर भी मिल चुका है। ऐसी ही समस्या हिंदी भाषा और साहित्यके प्रेमियोंके सामने आयी थी, जब राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' के लिखने का ढंग सामने आया। 'चलती हिंदी' की माँग उस समय भी बहुत तीव्र रही और इसकी पूर्ति करने की इच्छासे प्रेरित होकर शिवप्रसादजीने अपनी ओरसे एक शैली को प्रस्तुत किया। उस समय भी संस्कृतके अनावश्यक शब्दोंके प्रयोगके कारण कहा जाता था कि भाषा बोझिल और दुरूह बनती जा रही है। इस दुरूहता को दूर करने का प्रयास शिवप्रसादजीने जब किया, तब स्वाभाविकतया उन्होंने जहाँ तक हो सके हिंदीके चलते हुए मुहावरों, वाक्प्रचारों और शब्दों का उपयोग करना शुरू किया।

जहाँ तक हिंदीके लोक प्रचलित शब्दों, मुहावरोंके उपयोग की बात रही, यह कोई नहीं कह सकता कि शिवप्रसादजीने कोई गलती की। यह उचित ही था कि हिंदी को केवल पंडिताऊपनसे बचाकर सीधासादा पहनावा दे दिया जाय। सभी भारतीय भाषाओंके प्रारंभिक विकासमें भी यही सवाल उठ खड़ा हुआ था और इसका हल भी इसी प्रकार किया गया था। यह भी विदित है कि गद्यके प्रारंभिक विकासमें संस्कृत की ही सहायता और संस्कृत का ही प्रभाव ज्यादा लक्षित होता है और यह तत्कालीन परिस्थितिमें स्वाभाविक भी था। धीरे-धीरे लोक-जागृतिके साथ जैसे-जैसे भाषाओंके लिखित साहित्य का प्रचार व्यापक होता गया—जिसमें अखबारों और छपी किताबोंने सहायता पहुँचायी—केवल संस्कृतके शब्दोंसे काम पूरा होने की संभावना कम होने लगी और भाषा भी उसके अनावश्यक प्रभावसे मुक्त होकर नये रूपमें दिखागी देने लगी।

लोक-भावना को संग्रहित करनेके लिए लोकभाषाके प्रयोगके सिलसिलेमें एक बात को नहीं भूलना चाहिए कि हर एक भाषाके लिए उसकी एक आकर भाषा भी होती है, जिससे वह भाषा निकली हुई है। उस आकर भाषाके शब्द-भंडार को जैसे वैसे न भी लिया जाय—और वैसे आवश्यकता भी नहीं है—फिर भी उस सिलसिले को तोड़ा नहीं जा सकता और वह टूट भी नहीं सकता।

जब तक शिवप्रसादजी 'शिवप्रसादजी' रह कर हिंदीमें लिखते थे, तब जरूर उन्होंने हिंदी साहित्यमें चलती हिंदी का समर्थन उचित रूपसे करके दिखाया।

पंडिताऊपन का विरोध जहाँ तक रहा, सब उचित रहा। लेकिन जब शिवप्रसाद जी 'सितारे हिंद' बन गये, तब बात ही अलग हो गयी। क्योंकि पंडिताऊ शैलीके विरोधके साथ-साथ उन्होंने संस्कृत भाषा का ही विरोध करके संस्कृतके किसी भी शब्द का हर हालतमें विरोध करना शुरू किया। मानो संस्कृत भाषा अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा की भाँति शत्रुवत रही हो। संस्कृतके शब्द का आना पंडिताऊपनके आने का पर्याय रहा। इतना पंडिताऊपनसे डर क्यों इसका कारण सबों पर विदित ही है।

इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। किसी भी कारणसे क्यों न हो अपनी भाषा की आकर भाषा का विरोध पूर्ण रूपसे करनेसे भाषा की शब्द-संपत्तिके कोषसे वंचित रहने की नौबत जब आ पड़ी, तब स्वाभाविकतया किसी दूसरी भाषा की ओरसे सहायता लेने की जरूरत पड़ी। अपनी बातोंके बहिष्कार का अर्थ, परायी बातों का ग्रहण अपने आप हो गया। इसीलिए उर्दू भाषासे और उर्दू की 'बड़ी भाषा' फारसी और अरबीसे शब्दोंके प्रयोगका सिलसिला जारी रहा।

संस्कृतकी शब्द-संपत्तिसे शब्दोंको उधार लेना पंडिताऊपन माना गया, इसीलिए वह दूषित, संकीर्ण और जातीय वृत्ति का प्रतीक समझा गया, लेकिन अरबी फ़ारसीके लफ्जों को अपनी जबानमें भरनेके उद्योगमें पंडिताऊपन की झाँकी तक नहीं दिखायी दी। संस्कृतके शब्द लोक-समाज, लोक-भाषासे दूर माने गये इसलिए त्याज्य ठहराये गये, लेकिन अरबी फ़ारसीके शब्दों को लोक-समाज और लोक-भाषामें—वह भी भारतीय लोक-जीवनमें एक दम प्रचलित मानकर उनका उपयोग हिंदी भाषा की शान को बढ़ाने की गरजसे बहुलताके साथ किया गया। आज शिवप्रसादके 'सितारे हिंद' के रूपने एक पंडिताऊपन को तो दूर जरूर किया, लेकिन उसके साथ दूसरे पंडिताऊपन को, अभारतीय मौलवीपन को भी सामने प्रस्तुत किया। वह भी तो एक आत्यन्तिकता थी।

इसीलिए दूसरे एक राजा को इस ऊपर निर्दिष्ट बादशाह का विरोध करना पड़ा। संस्कृतके नाटकों का और सर्वप्रथम शाकुंतल का हिंदीमें अनुवाद करने का राजा लक्ष्मण सिंह का जो प्रयत्न रहा वह केवल समय की सूझ निश्चित नहीं थी। जिस संस्कृतके विरोध का झंडा ऊँचा फ़हरानेकी संभावना दिखायी पड़ी, वहाँ यह आवश्यक था कि उस संस्कृतके भी भंडार को सामने रखा जाय जिसके विरोधमें काफी प्रदर्शन किया जा रहा था। संस्कृतके ग्रंथों का अनुवाद हिंदीमें करके प्रकाशित करना भी लोक-समाजके लिए आवश्यक ही था। संस्कृत भाषाके बदले हिंदी भाषामें उसको अनूदित करना भी लोक-भाषाके किसी रूप को ही तो प्रचारित करना था। राजा लक्ष्मण सिंहने यह काम करके यह दिखला दिया कि जिसके बहिष्कारके प्रयत्नमें भारतीय लोक-जीवन की दृष्टिमें परकीय भाषा को ग्रहण किया जा रहा है, वह भाषा और उसका साहित्य भी भारत की दृष्टिसे देन है। अन्य भाषाओंके शब्दों को लेनेमें इस देन को भी न भुलाया जाय।

किस तरह इन दो राजाओं की लड़ाई का निर्णय निकल आया हिंदीके विद्वान जानते ही हैं। इन दोनोंके जो प्रयत्न रहे, इन्हींके कारण भारतेंदु हरिश्चन्द्र की चलती हिंदीके सर्वमान्य रूप को हम देख सकते हैं।

मेरी यह धारणा है कि हिंदीके विरुद्ध विद्रोह करने वाले जिस तरह की हिंदुस्तानी शैली को चाहते हैं वे 'सितारे हिंद' बनना चाहते हैं। मेरी यह भी धारणा है कि इस तरहके आंदोलनसे भी कुछ अच्छा फल ही निकलेगा। अगर इस समय भी वही पंडिताऊपन हिंदीके लेखकोंमें आश्रय पा रहा हो तो उसका विरोध करके हिंदीवालों को 'सीधी राह पर' लाने का कार्य कुछ हितैषियों को करना ही पड़ेगा। दुर्भाग्य यही है कि 'सितारे हिंद' बनने का लालच इन हितैषियोंके हृदयमें काम कर रहा है।

इतिहास अपने को दुहराता है। 'सितारे हिंद' की शैली आगे चलकर सफल नहीं हो पायी, क्योंकि आत्यन्तिकता की बात उसमें स्पष्ट दिखायी दी। वही बात इस समय भी होगी।

लेकिन दुख यही है कि जहाँ पहले शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' के समय यह केवल प्रांतीय प्रश्न रहा, वहाँ आज इसी प्रश्न को अनुचित रूपसे राष्ट्रीय रूप दिया गया। शिवप्रसादजी भाषाके और हिंदी भाषाके अच्छे जानकार रहे, इसलिए कुछ न कुछ निश्चित शैली उन्होंने निर्माण करके दिखायी। हिंदीमें नयी शैली

को बनाने का काम हिंदीके ही जानकार लेखकों का है। वहाँ अहिंदी प्रांतोंके प्रचारकों की क्या जरूरत है। जो प्रचारक वर्धा राष्ट्रभाषा समितिकी पढ़ी पढ़ायी किताबों को पढ़कर 'कोविद' परीक्षा (जो मेट्रिक या एडमिशनके समकक्ष मानी जा सकती है,) उत्तीर्ण होते हैं, 'हिंदुस्तानी सनद परीक्षा'–जो तीन महीने का कोर्स रखा गया है—वह भी पास हो जाते हैं, एकदम नयी शैलीमें नयी हिंदुस्तानी भाषाके प्रचार को उद्यत होते हैं। वे न तो हिंदी अच्छी तरह जानते हैं और उर्दू तो नाम मात्र ही। लेकिन उर्दूके हामी बनकर केवल उर्दूमय शब्दों का मौके-बेमौके उपयोग करके, ऐसी भाषा सृजन करके 'सितारे हिंद' बननेके सपने देखा करते हैं, 'हिंदुस्तानी' के ऐसे हिमायती हिंदी भाषा और साहित्य का क्या उपकार करेंगे हिंदी जनता ही जाने।

हिंदी जगतका उपकार हो या न हो, अहिंदी प्रांतों का अनगिनत नुकसान मात्र इस तरह के अराष्ट्रीय प्रचारकोंने जरूर किया है। हिन्दीके भी कुछ लेखकोंने अपने राजनीतिक प्रचारके अभिनिवेशमें आकर कर्तुम् अकर्तुम् शक्तिको दिखलानेका प्रयास करके अहिंदी वालोंके सामने जिस नयी भाषाका रूप दिखाया है उसे हिंदीवालोंको एक बार परखकर ही देखना होगा।

६. 'क्या हिंदी भाषा और राष्ट्रभाषा हिंदी' अलग हैं?

हिंदी भाषाको राष्ट्रभाषाके नाते भारतभर प्रतिष्ठा प्राप्त होनेका अर्थ यह नहीं निकलता कि हिंदीकी किसी एक शैलीको लेकर उसीको अहिंदीवालोंके मत्थे मढ़ा जाय—इस बल पर कि वही असलमें 'आमफहम बोली' है। इसके पीछे राजनीतिक प्रश्नोंके अलावा एक और बात भी है। जब हिंदीको राष्ट्रभाषाका सम्मान प्राप्त होकर उसका प्रचार भारतभरमें हो गया, तब हिंदीवालोंको यह दिखायी देने लगा कि हिंदीका क्षेत्र प्रांतीय भाषाके साथ-साथ राष्ट्रीय भी हो गया। इसलिए हिंदीवालोंकी जिम्मेदारी भी बढ़ गयी। प्रांतीय साहित्य की अभिवृद्धिके साथ-साथ उसके राष्ट्रीय रूप पर भी विचार किया जाने लगा।

हिंदी भाषा का राष्ट्रभाषाके नाते भारत भरमें प्रचार होने का मतलब यह रहा कि अन्य प्रांतोंमें भी हिंदीके प्रचारक और अभ्यासक तैयार होंगे। उनमेंसे भी ऐसे लेखक निर्माण होंगे जो हिंदीमें लेखन करेंगे। मान लीजिए कि कोई महाराष्ट्री हिंदीमें लेखन करेगा तब वह अपनी कुछ विशेषताओं को हिंदीमें ले आयेगा। पर उसकी हिंदी महाराष्ट्री हिंदी होगी। इसी प्रकार हर एक प्रान्तके लेखक अगर हिंदीमें लिखने लगेंगे तो हर एक प्रांतकी अपनी अपनी विशेषताएँ देखनेको मिलेंगी। इन सबोंका सम्यक् प्रभाव हिंदी भाषा पर पड़कर जिस तरह भाषाका रूप निर्माण होगा वह हिंदीका राष्ट्रीय रूप होगा।

लेकिन भाषाके इस राष्ट्रीय रूपसे क्या हिंदीका प्रांतीय रूप अलग रखा जाय? क्योंकि इसी कल्पना पर जब भाषामें शब्दचयनका सवाल आता है, तब कहा जाता है कि भारत भरकी भाषाओंके शब्दकोषको लेकर ऐसे शब्दोंको लिया जाय, जो सभी भाषाओंमें समान हों और यही हिंदुस्तानी भाषाका शब्दकोष होगा।

इसका स्पष्ट संकेत यही है कि हिंदी भाषाका शब्दकोष ऐसा नहीं कि जिससे हिंदीभाषा असलमें राष्ट्रभाषाकी हमारी आवश्यकताको पूरी कर सके। हिंदुस्तानीका आंदोलन इसी दलील पर चलता आ रहा है कि हिंदी असलमें एक संकुचित और जातीय भावोंका प्रदर्शन करनेवालोंकी भाषा है क्योंकि हिंदी राष्ट्रीय भावोंको स्पष्ट करनेमें असमर्थ है। उसमें शब्द-संग्रह अधूरा है। उसकी रचना-पद्धति भी शायद सदोष है क्योंकि उसमें वह लोच नहीं, वह चलतापन नहीं, वह आकर्षण नहीं जो उसकी भाषाभगिनिमें—उर्दूमें—प्रकर्ष रूपसे दिखायी देता है। इसीके कारण सारा प्रपंच खड़ा हो गया है।

लेकिन 'आंतरप्रांतीय समान शब्दकोश' की जो कल्पना इस विवादमें निकली है, वह स्वागताई है इसमें कोई शक नहीं। चाहे किसी उद्देश्यसे क्यों न हो, इस तरहके कार्यकी बहुत ही आवश्यकता है और वह अगर जल्दी बन जाय तो भी राष्ट्रभाषाके सवालको हल करनेमें सहायता ही प्राप्त होगी।

यह भी सच है कि यह केवल कल्पनाकी ही चीज रही है। हिन्दुस्तानकी बहुतांश प्रांतीय भाषाएँ संस्कृतसे

निकली हैं, इसका विरोध कोई नहीं करेगा। हर एक भाषामें अपनी-अपनी प्रांतीय प्रवृत्तिके साथ जिस तरहका विकास दिखायी देता है, उससे यह सिद्ध होता है कि तत्सम तद्भव शब्दोंका प्रचलन बहुतांशसे क्यों न रहा हो सबोंकी प्रकृति एक ही है। जो शब्द संस्कृतसे बिल्कुल दूर चले गये हैं उनको आंतरप्रांतीय शब्दकोशमें स्थान मिलना असंभव है। इससे यह मतलब रहा कि संस्कृतके तत्सम और तद्भव, और कहीं-कहीं ठेठ संस्कृतके रूप ही इस तरहके कोशमें स्थान प्राप्त कर सकेंगे। उर्दूके ही शब्द ऐसे हैं जिनका संस्कृतसे 'सीधा संबंध' नहीं है। भारतीय भाषाओंमें प्रचलित और समान उर्दूके शब्दोंको ही इस तरहके कोशमें अगर दिया जायगा—और चाहिए भी—तो उनकी संख्या दालमें नमक बराबर भी नहीं रहेगी। हिंदुस्तानीके समर्थक क्या सचमुच इस प्रकार की शब्दावलीसे संतुष्ट रहेंगे जिसमें उर्दू शब्दों की कोई हस्ती नहीं रहेगी?

और एक बात पर ध्यान देना है। जहाँ तक इस तरह की शब्द-संपत्ति पर विचार करना है, हिंदी का एक समग्र शब्दकोश भी क्या इसके लिए पूरा नहीं पड़ सकेगा? वैसे तो किसी भी प्रांतीय भाषा का शब्द-कोश पूरा पड़ सकता है, लेकिन हिंदी का उदाहरण इसीलिए लिया जा रहा है क्योंकि इसीपर विचार करना है। हिंदीके शब्द-संग्रहमें ही करीब पचीस हजार शब्द अरबी-फारसीके मिल सकेंगे जो अन्य प्रांतीय भाषाओंके कोशमें नहीं मिल सकेंगे। इसलिए हिंदी का शब्द-संग्रह ही हिंदुस्तानी वालों को हिंदुस्तानीके व्यापक शब्द-संग्रह की दृष्टिसे मुकर्रर करना निहायत फायदेमंद नहीं होगा?

मैं मानता हूँ कि राष्ट्रभाषा हिंदी का शब्दकोश व्यापक होता रहेगा और जैसे-जैसे हिंदी का संपर्क प्रांतीय भाषाओंसे ज्यादा बढ़ता रहेगा, वैसे-वैसे हिंदी ही के विकासमें भी उन भाषाओं का हाथ रहेगा। उसी तरह हिंदीके संपर्कसे प्रांतीय भाषाओं का भी उपकार ही होगा। क्योंकि इस तरहके आदान-प्रदानसे दोनों पक्ष का लाभ होगा और हर प्रांतीय भाषा का भी हिंदीके साथ विकास होगा।

यह सब ठीक होने पर भी प्रश्न यह है कि इसका राष्ट्रभाषाके प्रश्नमें कहाँ तक विचार किया जाय। वैसे तो हर किसी भाषिक आदान-प्रदानमें जब कोई दो भाषाएँ एक साथ आ जाती हैं, तब इस तरह का लाभ हो ही जाता है। हिंदीके उचित राष्ट्रभाषा शब्दकोश पर विचार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। वह हिंदीके शब्द कोशके नाते होना चाहिए। वह किसी नयी भाषा का शब्दकोश नहीं होगा।

यह सब विचार भविष्यके हैं। पर इससे आजकी स्थिति पर उतना प्रकाश नहीं पड़ सकता। जब यह कहा जाता है कि प्रांतीय हिंदी भाषा और राष्ट्रभाषा हिंदीमें काफी फर्क है तब यही ध्यानमें लाना है कि हिंदी भाषा का कार्य दोनों प्रकार का है। हिंदीके संभाव्य राष्ट्रीय विकसित रूप को ही हिंदुस्तानीके समर्थक क्या हिंदुस्तानी कहते हैं? लेकिन यहाँके प्रांतमें—यानी हिंदी भाषी प्रांतमें चाहे इसे हिंदी कहा जाय या हिंदुस्तानी, अहिंदी प्रांतोंमें इसे जब हिंदीके नामसे ही पहचाना जाता है तब राष्ट्रभाषाके नाते हिंदी नाम को ही कायम रखना समुचित होगा। अन्य प्रांतों को राष्ट्रभाषाके नाते अपनी भाषाके अलावा हिंदी सीखने का त्याग करने को अगर हिंदी भाषा भाषी कह सकते हैं तो अन्य प्रांतों की सुविधाके लिए जो नाम उनको पूर्व कालसे ही परिचित है उसी नाम को आग्रहपूर्वक रखने का त्याग हिंदी भाषियों को करना आवश्यक है।

हिंदी वालोंसे मेरा यह निवेदन है कि हिंदी का जो कोई रूप पसंद हो उसे प्रत्यक्ष करनेमें कोई कसर न रखी जाय। भाषामें चाहे जितनी शैलियाँ हो सकती हैं, उनसे भाषा को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। हिंदुस्तानी का रूप हिंदी भाषा की ही विभिन्न शैलियोंमेंसे एक होकर ही रहेगा क्योंकि यह कोई नवीन क्रांति तो है नहीं। केवल नामके बदलनेसे उसकी मूल हिंदी प्रवृत्तिका लोप नहीं हो सकता। जब हिंदी हिंदुस्तानीका सवाल केवल प्रांतीय रहता, जैसा कि पहले रहा था, तो कोई आपत्ति नहीं थी। लेकिन अन्य प्रांतोंके सामने भी इस तरह दो नामोंके साथ दो भाषाओं का आभास निर्माण करके भ्रम फैलाया गया और इस प्रकारके चक्करमें हिंदीके सारे साहित्य को संकीर्ण माना गया और बिना किसी साहित्यके केवल इधर-उधर की सामग्री को संकलित करके, या अभिनिवेशमें बिगड़ी हुई हिंदी को हिंदुस्तानी का आदर्श रूप बनाकर सामने

रखकर भाषा की दृष्टि को भी बिगाड़ने का प्रयत्न किया गया। मेरा आक्षेप हिंदुस्तानीके अहिंदी-भाषी प्रांतोंमें प्रचारित बिगाड़े हुए एकांतिक रूप पर है। और जैसे मैंने पहले स्पष्ट किया है हिंदुस्तानीमें उर्दूके शब्दों और प्रयोगों पर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है क्योंकि हिंदी तो प्रांतीय भाषाओंके नजदीक होनेके कारण आसान है। उसमें असलमें सीखना क्या है। सीखना है तो उर्दू शब्द और फारसी लिपि। इसलिए उसका प्रचार ही राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानीके प्रचारमें बाकी रहकर अहिंदी प्रांतोंके सिरपर भूत बनके बैठा है। इसी को मैं एकांतिक प्रचार कहता हूँ।

७. संस्कृतनिष्ठ या संस्कृतमय?

संयुक्त प्रांत या उत्तर हिंदुस्तानके हिंदीभाषी प्रांतों की स्थिति अहिंदी प्रांतोंसे एक दो बातोंमें भिन्न है। उस पर भी ध्यान दिया जाना जरूरी है। उत्तर हिंदुस्तानमें जहाँ जहाँ हिंदी बोली जाती है, वहाँ साथ-साथ उर्दूका भी प्रचार फारसी लिपिके साथ बहुत पहलेसे होता आया है। अँग्रेजोंके यहाँ शासन करनेके पहले उर्दू दरबारकी भाषा बहुत हद तक रही। उर्दू भाषा और फारसी लिपिको राजाश्रय भी मिलनेके कारण उत्तर हिंदुस्तानकी पढ़ी-लिखी जनता दिलसे भी उर्दू बन गयी है। हिंदी भाषी प्रांतोंमें पाठशालाओंमें भी उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि अनिवार्य रूपसे अंग्रेजीके साथ-साथ भी रहती आयी है। इससे उर्दूभाषाके प्रचारकी परिधिको भी हम समझ सकते हैं।

इसलिए हिंदीभाषी लोगोंको हिंदी या उर्दूमें कोई विशेष फर्क मालूम नहीं होगा। उन्हें दोनोंमें से कोई, या दोनों, या दोनोंके मिश्रणकी भाषा भी चल सकती है।

इसलिए हमारे कानों पर हमेशा यही पड़ता है कि 'क्या हिंदी, क्या उर्दू दोनों एक ही हैं।' दोनों एकही हैं सिर्फ हिंदी भाषियोंके लिए। लेकिन इस समय क्या वे अहिंदी प्रांतोंका विचार कर सकते हैं? हिंदी-वाले उर्दूको समझ सकते हों, वे उर्दूके प्रकांड पंडित भी क्यों न हों, पर क्या उर्दूका प्रचार अहिंदी प्रांतोंमें—किसी रूपमें भी क्यों न हो—करनेका उन्हें अधिकार है?

उर्दूको भी जाननेवाले हिंदीभाषी प्रांतोंमें कितने हैं? लोकभाषाके पक्षके समर्थकोंसे मेरा यह प्रश्न है। क्या उर्दूका ज्ञान शहरों तक ही सीमित नहीं है? गांधीजीके मतको मद्देनजर रखनेसे हमें यह मालूम होता है कि भारतभरमें शहर फीसदी करीब बारह हैं। और देहात फीसदी अठासी हैं। लोकभाषाके विकासमें मग्न होनेवालोंको भी यह देखना पड़ेगा कि मध्यम वर्ग की उर्दूको भी राष्ट्रभाषाके नाते कहां तक स्थान दिया जाना योग्य है।

यह सब इसीलिए लिखनेकी जरूरत है जिससे स्पष्ट होगा कि उर्दू बोलनेवालोंकी संख्या ज्यादासे-ज्यादा हिंदीभाषी शहरोंमें ही ज्यादा है। यहाँ भी केवल पढ़े-लिखे मध्यम वर्गमें उसका प्रचार बहुतांश है, जिस तरह पढ़े-लिखे लोगोंकी एक संख्या संस्कृत जानने-वालोंकी है।

जब उर्दू जाननेवालोंकी संख्या केवल हिंदीभाषी प्रांतोंमें ही है, तब उस उर्दूके प्रचारको अहिंदी प्रांतोंमें ले जानेकी जरूरत ही क्या है? अहिंदी प्रांतोंमें उर्दू उतनी ही विदेशी है जितनी जर्मन या फ्रेंच भाषाएँ हैं। जहाँ हिंदीका भी वातावरण नहीं सा है वहाँ उर्दूका होना तो दूर ही रहा। जहाँ हिंदीभाषी प्रांतोंमें बच्चे भी उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपिसे वाकिफ रह सकते हैं, वहाँ अहिंदी प्रांतोंमें बुढ़ापे तक उर्दू भाषा और फारसी लिपिका संबंध नहीं आता। यहाँ मराठी या कन्नड़ जैसी भाषाको हिंदीभाषी जितना जानते हैं या जितना संबंध इन भाषाओंसे इनका आयुभरमें आ सकता है, उतना भी संबंध उर्दू भाषा या फारसी लिपिका अहिंदी प्रांतोंमें नहीं रहा है।

पहलेसे ही हिंदी भाषाको राष्ट्रभाषाके नाते स्वीकार करने पर भी अहिंदी प्रांतोंने यह कभी शिकायत नहीं की, कि हिंदीमें अमुक शब्द उर्दू हैं। भाषाके सीखनेके सिलसिलेमें भाषामें रूढ़ हुए शब्दोंका बहिष्कार नहीं किया जा सकता, यह महत्वकी बात अहिंदी प्रांत भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। अंग्रेजीके सीखनेसे हमें पता चलता है कि अंग्रेजीमें भी हिंदी शब्द घुस पड़े हैं और वे अंग्रेजी ही बन गये हैं। इसी प्रकार जो शब्द भाषामें पहलेसे ही रूढ़ हुए हैं और जो उस भाषाकी ध्वनिके साथ हिल-मिल गये हैं उनके विरुद्ध

कभी शिकायत नहीं हुई है। शिकायत हुई है जानबूझ कर, मौके बे मौके उर्दू के ही बोझिल शब्दोंके उपयोगके विरुद्ध—जो भाषाकी ध्वनिको ही बिगाड़ते हैं, अर्थमें दुरूहता लाते हैं और हमारे कानों पर अत्याचार करते हैं।

हिंदीके लेख या हिंदी की पुस्तकों को पढ़ते हुए कितने ही शब्द ऐसे आ जाते हैं जिन्हें पढ़कर हिंदी भाषियोंके ध्यानमें भी नहीं आ सकेगा कि वे उर्दू हैं। क्योंकि उन्हें वे अपनेसे रहे हैं। लेकिन अहिंदी प्रांतोंमें रहने वालों को उन शब्दों का ध्यान आये बिना नहीं रहेगा। फिर भी भाषाके सीखनेके सिलसिलेमें किसी उर्दू शब्द विशेषके बारेमें अहिंदीवालोंने कभी शिकायत नहीं की है। प्रेमचंद की शैली पढ़ने पर भी उनकी ओरसे प्रयुक्त हुए उर्दू शब्दों पर कभी एतराज नहीं किया गया क्योंकि प्रेमचंदजी ऐसे शब्दों को कभी काममें नहीं लाये जो हठकर उर्दू प्रयोग हों। क्योंकि हिंदी भाषामें रूढ़ हुए शब्दों को चाहे वे उर्दू हों, अंग्रेजी हों या और किसी भाषाके हों बहिष्कृत नहीं करना है। १९३८ तक अहिंदी प्रांतोंने शब्दोंके झमेलेमें पड़कर कभी उर्दू हिंदी का विवाद नहीं खड़ा किया, हिंदीके प्रचारमें रूढ़ उर्दू शब्दों का भी प्रचलन किया गया, पर उन्हें हिंदी भाषाके अंतर्गत हिंदी मान कर।

भाषाके विकास पर विचार करते समय केवल हिंदी उर्दू शब्दोंके अनुपात का प्रश्न खड़ा करके, हिंदी वालोंने ही पहले-पहल अहिंदी भाषी प्रांतोंके सामने इसे रख दिया। राष्ट्रभाषा का प्रचार जो निश्चित और अबाधगतिसे चल रहा था, उसमें इससे बाधा पड़ गयी। इतना ही नहीं भाषाके प्रांतिक प्रश्न को राष्ट्रीय प्रश्न का रूप देकर हिंदी को राष्ट्रभाषाके पदसे च्युत कर देनेमें ही सारी शक्ति का, समय और धन का अपव्यय किया गया। भाषाके सवाल को राजनीतिके क्षेत्रमें ले जानेके कारण हिंदीके लेखक भी हिंदी साहित्य और भाषा की गतिविधिसे असंतुष्ट रहे और हिंदुस्तानी भाषाके पीछे पड़े। वस्तुत: प्रेमचंदजीके कार्य को आगे बढ़ाते हुए हिंदीके लेखकोंको हिंदी भाषा और साहित्यके विकासमें प्रयत्नशील रहना चाहिए था। उसमें जो दोष हों, जो त्रुटियाँ हों, उन्हें दूर करते रहना उनका कर्तव्य था। लेकिन हिंदी भाषा और साहित्य का ही ऋण लेकर हिंदुस्तानीके अव्यापारेषु व्यापारमें लगे रहनेसे कृतकार्य-सिद्धि असंभव रही, हिंदीके प्रति उनकी कृतघ्नता मात्र स्पष्ट हो गयी।

हिंदीके प्रति प्रेम होने का मतलब उर्दू के प्रति द्वेष कदापि नहीं। दोनों भाषाएँ अपनी-अपनी दृष्टिसे फूलती-फलती रहें। जिस तरह भाषा बनायी नहीं जा सकती, उसी तरह वह दबायी भी नहीं जा सकती।

हिंदुस्तानी का सवाल हिंदी उर्दूके शब्दों पर ही बहुतांश चल रहा है। किसी भी भाषा का विकास उसके शब्द-संग्रह पर है, यह बात अहिंदी वालों को भी अच्छी तरह परिचित है। भारत की हर एक प्रांतीय भाषामें अंग्रेजीके शब्द आये हुए हैं और उसके पहले कुछ परिमाणमें अरबी फारसीके भी। साहित्य जिस तरह सामाजिक भावों का कुछ अंशमें प्रतिबिंब है, उसी तरह भाषा पर भी तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। उदाहरणके लिए मराठी को हम ले सकते हैं। सन् १२०० से लेकर १८५० तक के उसके विकासमें बहुत प्रकार की शैलियाँ दिखायी देती हैं और बहुत भाषाओंसे शब्द भी उसमें आये हुए हैं। संस्कृतसे निकली हुई होने के कारण संस्कृतके तद्भव, तत्सम शब्द उसमें हैं ही, साथ-साथ विदेशियोंके शासन-प्रभावके कारण मुसलमानोंके जमानेमें अरबी फारसीके और अंग्रेजी शासन-कालमें अंग्रेजीके भी शब्द बहुलताके साथ आये हुए हैं। मराठीमें उर्दू शब्दोंके आने पर भी कोई 'मराठीस्तानी' भाषा नहीं निकली। उसका नाम मराठी ही रहा। यही बात हिंदी को छोड़ अन्य भारतीय भाषाओं की है।

अहिंदी भाषी जब 'संस्कृतनिष्ठ हिंदी' का नारा लगाते हैं तब उनका उद्देश्य अपरिचित, अवांछनीय उर्दू शब्दोंके ठूँसनेकी कृत्रिम प्रणाली का सिर्फ विरोध करना रहता है। क्योंकि अहिंदी प्रांतों का अनुभव है कि उर्दू मिश्रित हिंदी को ही हिंदुस्तानीके नामसे प्रचारित किया गया है। हमें उर्दू भाषा और उर्दू साहित्यसे कोई चिढ़ नहीं है, कोई शत्रुता नहीं है। हमारा कहना यही है कि राष्ट्रभाषा की कसौटियों पर कसने पर जिस तरह उर्दू वह स्थान प्राप्त करने योग्य नहीं रह सकती, उसी तरह एक कृत्रिम भाषा किसी नये

नामको लेकर राष्ट्रभाषाका पद नहीं प्राप्त कर सकती।

यहाँ संस्कृतनिष्ठ शब्द को भी ज्यादा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। संस्कृत निष्ठ का यह अर्थ नहीं कि हम केवल संस्कृतके शब्दों को ही भाषामें ठूँसना चाहते हैं। यहाँ प्रश्न शब्दोंके भरने का नहीं है, संस्कृत भाषा के प्रति निष्ठा का है। संस्कृत भाषा और साहित्यसे किसी अन्य कारणोंसे विरोध क्यों न हो, एक बात स्पष्ट है कि हिंदीकी आकारभाषाके नाते हिंदीके विकासमें संस्कृत का काफी हाथ रहा है। संस्कृत निष्ठ कहने का मतलब हिंदी को बोझिल और पंडिताऊ बताना नहीं है, न संस्कृत का अत्यधिक प्रेम भी दिखाना है। थोड़ेमें, संस्कृत निष्ठ का अर्थ संस्कृतमय कदापि नहीं है भाषामें नये शब्दों को जब बनाने का सवाल आता है। तभी असलमें विचार करना पड़ता है कि किस भाषाकी सहायतासे शब्द बनाये जायँ। साधारणतया किसी भाषाकी आकर भाषासे ही ऐसे समय पर सहायता ली जाती है। संस्कृत निष्ठ कहनेसे केवल मतलब यही है कि हिंदीके लिए नये शब्दों की माँग संस्कृतसे ही पूरी हो सकती है। उसके लिए अरबी, फारसी या और किसी विदेशी भाषाका मुँह ताकने की आवश्यकता न पड़े। हिंदी में जो गुण नहीं हैं वे अगर उर्दू में हैं तो उन गुणों को हिंदीमें लानेमें कोई हर्ज नहीं है।

हिंदी भाषाके विकासमें जिस तरहके प्रयत्नों की आवश्यकता हो, उसमें कोई गुंजाइश न रखी जानी चाहिए। इसके लिए अन्य भाषाओंसे अनुवाद किये जा सकते हैं, अन्य भाषाओंसे शब्द भी उधार लिये जा सकते हैं या नये भावों या शैलियों को भी ग्रहण किया जा सकता है। भाषा की व्यापकता की कोई सीमा नहीं रह सकती, न उसके लिए किये जानेवाले प्रयत्नोंकी भी। कहा जाता है कि हिंदी और उर्दू वस्तुतः एक ही हैं। अगर यह सच है तो उर्दू भाषाके आधुनिक साहित्य को देवनागरीमें भी लिखकर उसे हिंदी साहित्यमें ले आने का प्रयोग किया जा सकता है जिससे यह दिखायी देगा कि हिंदीमें एक अलग प्रकार की या विशेष प्रकार की शैली का सूत्रपात हो गया है। हिंदीके नये लेखकों की कृतियोंसे ही कुछ कालके बाद पता चलेगा कि कौन शैली स्वाभाविक और आधुनिक है। उर्दूमय हिंदी (यानी हिंदुस्तानी) हो या देवनागरीमें लिखी हुई उर्दू हो, दोनों हिंदी भाषा की ही शैलियाँ होकर रह सकेंगी। लेकिन अहिंदी भाषी प्रांतोंके सामने राष्ट्रभाषाके नाते इनमेंसे किसी एक शैली को न रखकर भाषा को रखना आवश्यक है और वह भी हिंदी भाषाके ही नामसे जो उनको पहलेसे ही परिचित है, जिसमें कबीर, तुलसी, रहीम, रसखान, भूषण इत्यादि पुराने कवि और प्रसाद, प्रेमचंद जैसे आधुनिक लेखक भी सम्मिलित हैं।

सांस्कृतिक प्रगति

कौशाम्बी की खुदाई

पुरातत्वविदों, इतिहास प्रेमियों और भारतीय संस्कृतिमें दिलचस्पी रखने वालोंके लिए यह बड़े हर्ष का समाचार है कि प्रयाग विश्वविद्यालयने यू० पी० सरकार की आर्थिक सहायताके द्वारा कौशाम्बी की खुदाई का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

महाभारत युद्धके बाद पाण्डव वंशकी पाँचवीं पीढ़ीमें नृचक्षु नामक राजाने हस्तिनापुरमें जमुनाके जलप्लावनसे तंग आकर कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। यह काल कमसे कम ईसासे हजार वर्ष पूर्व का होगा। वत्सराज उदयन यहीं का राजा था। यह बुद्ध का समकालीन था। बौद्ध साहित्यके अनुसार कौशाम्बी की गणना भारतके ६ प्रमुख शहरोंमें है। अशोकके समयमें यह शहर उत्तर भारत का प्रमुख केन्द्र था। इसका प्रमाण यह है कि प्रयाग का अशोक स्तम्भ कौशाम्बीके महामात्योंके नाम है। कुशान राज्यके शिथिल हो जाने पर मघ राजाओंने यहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और वे स्वतन्त्र हो गये थे। डाक्टर जायसवाल का मत है कि गुप्तकालमें भी कौशाम्बी महत्वपूर्ण केन्द्र था। सम्भवतः यहींके युद्धमें समुद्रगुप्त उत्तर भारत का विजेता हुआ। सातवीं सदीमें—हर्षवर्धनके कालमें—युवान् च्वांग नामक चीनी यात्री यहाँ आया था। उसने इस शहर की समृद्धि का वर्णन किया है। यह तो कौशाम्बीके सम्बन्धमें प्राप्त साहित्यिक प्रमाण हैं। इसके अलावा प्रागैतिहासिक काल सम्बन्धी-ताम्र युग की—कुछ सामग्रियाँ यहाँ मिलती हैं जैसे, तांबे की कुल्हाड़ी। कुछ मिट्टीके टुकड़ेके वर्तन भी यहाँ मिलते हैं जिनको पुरातत्ववेत्ता 'ब्लैक पालिश्ड वेयर' कहते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये मौर्य कालके हैं। कुशान और गुप्त युग की तो बहुत सी सामग्रियाँ यहाँ मिलती हैं जो इलाहाबाद म्युजियममें सुरक्षित हैं।

१९ वीं सदीके अन्तमें जनरल कनिंघमने सर्व प्रथम कौशाम्बी को थोड़ी सी खुदाई की थी। इसके बाद दूसरा प्रयत्न १९३७-३८ में हुआ। पर उस समय की सरकारने सहायता बन्द कर दी जिसके कारण रिपोर्ट आजतक न छप सकी। कौशाम्बीकी खुदाई कोई मामूली कार्य नहीं है। प्राचीन साहित्यके अनुसार यह सात मील लम्बा-चौड़ा शहर था। किन्तु जमुना मैयाने अब इसके खण्डहरों को साढ़े चार मील का ही रख छोड़ा है। विद्वानोंके मतसे यह साढ़े चार मील उसकी केवल एक भुजा है। प्रयाग विश्वविद्यालयने संयुक्त प्रान्त की सरकार की सहायतासे इसी ८ जनवरी १९४९ से कौशाम्बी की खुदाई का कार्य शुरू किया है। खुदाईके कार्य की देखरेख प्रो० गोवर्द्धनराय शर्मा करते हैं। यह सुलझे हुए विचारोंके और हिन्दू कालके विद्वान हैं। इनकी पुरातत्व की शिक्षा भी अच्छी हो चुकी है। प्रयाग विश्वविद्यालयने इनके हाथमें यह कार्य देकर इसलिए और भी उचित किया कि इस प्रदेश की खुदाईके कार्य की जिम्मेदारी इसी प्रान्तके व्यक्तियों पर डालना ही उचित था। संयुक्त प्रान्त की सरकारने ९ हजार रुपया साल इस कार्यके लिए देने का निश्चय किया है। इसमेंसे इस साल का साढ़े चार हजार रुपया दे भी चुकी है। विश्वविद्यालय भी अपनी ओरसे कुछ रुपया लगायेगा। किन्तु इस कार्यके लिए इतना रुपया बहुत ही कम है। इस गतिसे काम होने पर तो मुद्दतोंके बाद भी कुछ न सा ही रहेगा। अच्छा होता यदि सरकार फ़ोटोग्राफर, प्लेट्स, उत्तम कैमरा आदिके अलावा कमसे कम पचास हजार रुपया सालाना इस महत्वपूर्ण कार्यके लिए दे। यह याद रहे कि कौशाम्बीके गर्भमें पड़े हुए इतिहासके अध्यायके खुलने का अर्थ है सम्पूर्ण हिन्दू काल पर प्रकाश पड़ना और यह संयुक्त प्रान्त का काम है कि इस खुदाई को आगे बढ़ावे।

—बैजनाथ सिंह 'विनोद'

अखिल भारतीय समाज सेवा सम्मेलन

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् सामाजिक समस्याओंका जो अभी तक राष्ट्रीय नेताओं और सार्वजनिक कार्यकर्ताओंके राजनीतिक कार्योंमें फँसे रहनेसे पृष्ठभूमिमें पड़ी हुई थीं, महत्व अब काफी बढ़ गया है। ऐसी स्थितिमें बम्बईके 'टाटा इन्स्टीटचूट ऑफ सोशल सायंसेज' की ओरसे बम्बईके प्रमुख समाजसेवियोंके सम्मेलनका आयोजन एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसका उद्देश्य छिटफुट तथा अप्रभावकर ढंगसे किये जाने वाले सेवा-कार्यको सुसंगठित करना तथा उसके लिए एक केन्द्रीय संस्थाका निर्माण करने पर विचार-विमर्श करना था। इस प्रस्तावका सब लोगोंने स्वागत किया और फलस्वरूप नवम्बर १९४७ में बम्बईमें प्रथम अखिल भारतीय समाजसेवा सम्मेलन हुआ जिसमें विभिन्न सरकारी तथा गैरसरकारी सामाजिक संस्थाओंके करीब ४५० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे।

सम्मेलनमें प्रतिनिधियोंने सर्वसम्मतिसे एक स्थायी संस्थाका निर्माण करनेका निश्चय किया जिसका नाम 'भारतीय समाज सेवा सम्मेलन' रखा गया। इसका उद्देश्य वैज्ञानिक समाज-सेवाके लिए केन्द्रीय कार्यालय का काम करना तथा देशके अन्दर सामाजिक कार्यों और अनुसन्धानोंको प्रोत्साहित करना एवं उनका पथ-प्रदर्शन करना था। इस संस्थाका कार्य जनताको सुशिक्षित करनेके लिए वर्तमान सामाजिक समस्याओंका विशेष अध्ययन करना तथा सरकारको उचित परामर्श देना था।

गत वर्ष सम्मेलनने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के समक्ष यह सुझाव रखा कि वे विभिन्न विभागोंके वर्तमान तथा भावी सार्वजनिक हितके कार्योंको संगठित करने के लिए समाजसेवा विभाग खोलें। १९४८ में दिल्ली, मद्रास, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त और मैसूरमें सम्मेलनकी शाखाएं स्थापित हुईं, केन्द्रीय कार्यालयका संगठन किया गया और देश भरकी समाजसेवी संस्थाओंकी एक विवरण पत्रिका तैयार करनेका निश्चय हुआ।

द्वितीय वार्षिक अधिवेशन

सम्मेलनका द्वितीय वार्षिक अधिवेशन १८ से २३ दिसम्बर १९४८ तक मद्रासमें हुआ। भारत-सरकारकी स्वास्थ्य-मन्त्रिणी राजकुमारी अमृतकौरने इसका उद्घाटन किया और वही आगामी वर्षके लिए अध्यक्ष भी निर्वाचित हुईं। तत्पश्चात् सम्मेलन निम्नलिखित चार विभागोंमें विभाजित हो गया:—

(१) राज्य और समाजसेवा।

(२) शरणार्थियोंकी सहायता और पुनर्वासन।

(३) गाँवोंकी सेवा और उनका पुनर्निर्माण।

(४) श्रमिकों का हित-साधन।

उपर्युक्त चार विभागों के लिए क्रमशः चार प्रमुख विद्वान और समाजसेवी अध्यक्ष चुने गये।

(१) डाक्टर सर ए० एल० मुदालियर

(२) डाक्टर एल० सी० जैन

(३) श्री जे० सी० कुमारप्पा

(४) श्री वी० वी० गिरि

प्रथम विभागमें निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श हुआ—केन्द्रीय सरकारके स्वास्थ्य-विभागके प्रतिनिधियों की ओरसे 'राजयक्ष्मा और आहार' विषय पर प्रकाश डाला गया। बम्बईके 'टाटा इंस्टीटचूट ऑफ सोशल सायंसेज' की डाक्टर कुमारी गौरी रानी बनर्जीने अस्पतालों की सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए रोगके सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक बुराइयोंके उन्मूलनके लिए आवश्यक कानून बनाने तथा आमूल पुनर्वासन का भी जोरदार सुझाव रखा। मद्रास सरकार के आबकारी मन्त्री डाक्टर जी० एस० गुरुबाथम्ने मद्य-निषेध योजना पर अपने विचार प्रकट किये।

मद्रास सरकारके लेफ्टिनेण्ट कर्नल फोर्ड थामसन और लेफ्टिनेण्ट कर्नल जी० एस० गिल, युक्तप्रान्तीय सरकारके डाक्टर ए० एस० राजा बम्बईके श्री पेडान-

कर और सावरकर—इन सभी विशेषज्ञोंने सरकार और जनतासे अनुरोध किया कि वह अपराधी की एक रुग्ण व्यक्तिके समान देख-भाल करे और बाल्यकालसे ही निरोधक उपायोंसे काम लिया जाय।

दूसरे विभागमें शरणार्थियोंके पुनर्वासन की समस्या पर ग्रामीण, शहरी और सांस्कृतिक दृष्टिसे विचार-विमर्श हुआ तथा यह सुझाव रखा गया कि शरणार्थियों को अन्य लोगोंके साथ घुल-मिल जानेके लिए प्रोत्साहित किया जाय, शहरोंके समीप उनकी बस्तियाँ बसायी जायँ तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे उन्हें आत्मसात् कर लेने की एक योजना तैयार की जाय। जिन लोगोंने इस विचार-विमर्शमें भाग लिया उनमें केन्द्रीय सहायता और पुनर्वासन विभागके मेजर टी० रामचन्द्र और डाक्टर ताराचन्द तथा टाटा इन्स्टीटयूट ऑफ सोशल सायंसेजके डाक्टर ए० एम० लारेंजोके नाम उल्लेखनीय हैं।

तृतीय विभागके जिसमें ग्रामोद्धार की आर्थिक योजना पर विचार हुआ, अध्यक्ष श्री जे० सी० कुमारप्पा थे। इस विषय पर श्री के० जी० शिवास्वामी जो एक समाजवादी किसान कार्यकर्त्ता हैं, और मद्रास सरकारके आर्थिक परामर्शदाता डाक्टर नटराजन्ने अपने विचार प्रकट किये। श्री वी० एन० कुडवाने जो एक सरकारी अधिकारी हैं, पंचायतोंके पुनस्संगठन की एक व्यापक योजना पेश की। इस विभागके सेक्रेटरी श्री मोहन सुन्दरम्ने गाँवोंके सामाजिक पुनरुत्थानके लिए एक विस्तृत कार्यक्रम उपस्थित किया। सर्वेंट ऑफ इण्डिया सोसाइटीके डाक्टर काकाडे और श्री सूर्यनारायण राव एम० एल० सी० ने बाढ़ और अकाल की स्थितिमें सहायता-कार्य पर अपने विचार व्यक्त किये। उन लोगोंने इसको रोकनेके उपायों पर विशेष जोर दिया और उसके लिए एक स्थायी समिति और कोषके लिए सुझाव रखा। उन्होने अकाल सम्बन्धी वर्तमान कानूनमें भी कुछ महत्वपूर्ण संशोधन करने की सिफारिश की।

चतुर्थ विभागमें औद्योगिक श्रमिकों की स्थिति सुधारने पर विचार हुआ। इसके अध्यक्ष श्री वी०वी० गिरि थे। इसमें गृह-निर्माण और विशेषकर मजदूरोंके लिए कुछ ठोस सुझाव रखे गये। सम्मेलनमें इस बात पर जोर दिया गया कि चाहे कितना भी आवश्यक हो किन्तु अव्यवस्थित रूपसे गृह-निर्माण की सुविधा प्रदान नहीं की जानी चाहिए क्योंकि गन्दी बस्तियों की संख्या-वृद्धि करनेसे कोई लाभ नहीं। कुछ लोगोंने गृह-निर्माणके लिए उपयुक्त देशी साधनों को उपयोगमें लाने का भी सुझाव रखा। इस सम्बन्धमें प्रादेशिक आधार पर नगर-निर्माण की योजना का भी प्रस्ताव किया गया। श्री वी० वी० गिरि, सम्मेलनके डाक्टर जे० एफ० बलसारा, मद्रास कारपोरेशनके राव साहब नरसिंहम् जो इस विभागके सेक्रेटरी थे, तथा भारत-सरकारके प्रधान फैक्टरी इंसपेक्टर श्री मानकेकरने गृह-समस्याके सम्बन्धमें विस्तृत योजना तैयार की।

टाटा इण्डस्ट्रीजके डाक्टर दस्तूर, 'इण्डियन इंस्टीटयूट ऑफ पब्लिक हेल्थ एण्ड हाइजिन, कलकत्ता' के डाक्टर राव तथा श्री मानकेकरने सरकार तथा मिल-मालिकों का ध्यान औद्योगिक स्वास्थ्य, दुर्घटना, बीमारी और श्रमिकों के लिए पोषक-तत्व की ओर आकृष्ट किया। उन लोगोंने श्रमिकोंका स्वास्थ्य सुधारनेके लिए कुछ ठोस सुझाव पेश किया। इस विभागमें श्रमिक वर्ग की उन्नति, ट्रेड युनियन और मजदूर हितकारी कार्यों पर भी विचार हुआ।

मद्रास अधिवेशनमें कुल करीब ३०० प्रतिनिधि और १८६ दर्शक आये हुए थे। इनमें पन्द्रह केन्द्रीय, प्रान्तीय और रियासती सरकारों के ६३ प्रतिनिधि तथा वे ५२ विशेष प्रतिनिधि भी शामिल हैं जिन्होंने विभिन्न विषयों पर लिखित भाषण किया। अधिकांश प्रतिनिधियोंने सामाजिक सेवा-कार्य संचालनके लिए सुशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकतापर जोर दिया।

सम्मेलन की केन्द्रीय समितिने सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करनेके लिए एक अनुसन्धान-समिति भी नियुक्त की।

—प्रोफेसर श्रीधर नीलकण्ठ रानाडे

समाजवादी की डायरी

६ पैसे शाम पर जीवन-निर्वाहका आदर्श रखने वाले महात्मा गांधी के भारत के ये राजदूतः—

	देश	राजदूत का नाम	मासिक वेतन मय भत्ता	वार्षिक बजट
१.	रूस	श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित	१२५००)	५३७०००)
२.	मिस्र	डाक्टर सैयद हुसेन	६०००)	२७००००)
३.	अफगानिस्तान	श्री रूपचन्द	५०००)	२२८०००)
४.	टर्की	श्री चम्मन लाल	५०००)	२५२०००)
५.	फ्रांस	श्री राघवन् पिल्लई	६५००)	३८००००)
६.	नेपाल	श्री सुरजीत सिंह	३०००)	१५८१००)
७.	अमेरिका	श्री रामराव	८७००)	१२५००००)
८.	जापान	श्री वी० एन० चक्रवर्ती	??	३७३४००)
९.	बेल्जियम	श्री तैय्यब जी	??	३३८०००)
१०.	ईरान	अली जहीर	५०००)	२१५०००)
११.	चीन	श्री पन्नीकर	६०००)	५६४५००)
१२.	श्याम	श्री भागवतदयाल	२६६७)	६४७००)
१३.	स्वीटजरलैण्ड	श्री धीरूभाई देसाई	५२५०)	२३३६००)
१४.	ब्राजील	श्री मसानी	५५००)	२६४४००)
१५.	बरमा	डाक्टर रऊफ	४०५०)	२७००००)
१६.	मलाया	श्री तीवी	३८७५)	१९२२००)
१७.	लंका	श्री वी० वी० गिरि	२७५०)	१३७०००)
१८.	कनाडा	श्री मल्लिक	३२५०)	२०००००)
१९.	इंगलैण्ड	श्री कृष्णमेनन	५५००)	२३६९०००)
२०.	पाकिस्तान	श्री श्रीप्रकाश (करांची)	३०००)	१८६०००)
	,,	श्री सम्पूर्ण सिंह (लाहौर)	१५००)	४४०००)
	,,	श्री० पी० के० सेन (ढाका)	??	??
२१.	आस्ट्रेलिया	श्री दयाल सिंह बेदी	??	२१२०००)
२२.	दक्षिण अफ्रीका	??	??	१४७२००)
२३.	वेस्ट इण्डीज	श्री सत्याचरण	२५००)	६६८००)

× × ×

विगत दिसम्बरमें कलकत्तामें हिन्दुस्तानके गैरकांग्रेसी, गैरकम्युनिस्ट मजदूर प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन हुआ जिसमें हिन्द मजदूर सभाकी स्थापना हुई। सम्मेलनमें निम्नलिखित 'उद्योगोंकी ट्रेड युनियनोंके प्रतिनिधियोंने भाग लियाः—

	कारोबार	ट्रेड युनियनों की संख्या	मजदूरों की संख्या
१.	खान	२४	७९३३३
२.	बन्दरगाह	९	२४८५५

३. जूट	१९	१५८८९
४. सूती उद्योग	४२	९८५२९
५. जल यातायात	६	१८७१८
६. रेलवे	१९	४९६९६
७. अन्य यातायात	२५	८६०२७
८. इंजिनियरिंग इत्यादि (लोहा, स्टील तथा अन्य धातुएँ भी शामिल हैं)	२३	४५८२८
९. व्यवसाय	२६	१६२८१
१०. छापाखाना और कागज	१८	१७९३५
११. सार्वजनिक कर्मचारी	५१	५०७२७
१२. वार्तावहन	४	७३०७
१३. चमड़ा	२	५२५
१४. रासायनिक	३४	१९२७१
१५. चीनी, खाद्यान्न तथा तम्बाकू (चाय और जंगल भी शामिल हैं)	४८	४८६४७
१६. अन्य कारोबार	४७	२५९०४
कुल जोड़	४२७	६०६४७२

हिन्द मजदूर सभाके पदाधिकारी तथा कार्यकारिणीके सदस्यः —

अध्यक्ष	आर. एस. रुइकर
उपाध्यक्ष	१. शिवनाथ बनर्जी
	२. मनीबेन केरा
	३. टी. एस. रामानुजम्
जनरल सेक्रेटरी	अशोक मेहता
सेक्रेटरी	१. जी. जी. मेहता
	२. माथुर
कोषाध्यक्ष	आर. ए. खेडगीकर

सदस्य

१. जयप्रकाश नारायण	९. हरेन घोष
२. वी. जी. दलवी	१०. अन्थानी पिल्लई
३. अरुणा आसफ अली	११. चिन्ना दुराई
४. वी. बी. कारनिक	१२. पीटर अलवेरीज
५. दिनकर देसाई	१३. ए. एम. विलियम्स
६. एन. वी. फड़के	१४. मुंशी अहमद्दीन
७. एम. वी. डांडे	१५. विनायक कुलकर्णी
८. रजनी मुकर्जी	१६. निनारन न. बोरा

१७. बसावन सिंह

———

सम्पादकीय—

कश्मीरकी समस्या और उसका समाधान

१४ महीने के बाद कश्मीर में लड़ाई स्थगित कर देने की घोषणा हो गयी। अब कश्मीरकी समस्या को यू. एन. ओ. की सुरक्षा कौंसिल को सिपुर्द कर दिया गया है जो वहाँ की जन-मतगणना के आधार पर यह निश्चय करेगी कि कश्मीर हिन्द युनियनमें रहेगा अथवा पाकिस्तानमें।

कश्मीर की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वही कश्मीर-समस्या को अन्तरराष्ट्रीय महत्व प्रदान कर देती है। कश्मीर अफगानिस्तान, रूस, चीन, पाकिस्तान और हिन्द युनियन की सीमापर है। इस समय अमरीका और रूसका अन्तरराष्ट्रीय दाँव-पेंच जारी है। अमरीका जिन मुसलिम देशोंके अन्दरसे रूसको घेरना चाहता है, कश्मीर उसकी एक महत्वपूर्ण कड़ीके रूपमें है।

शेख अब्दुल्लाके नेतृत्वमें कश्मीरके अन्दर प्रजातन्त्रका आन्दोलन करीब १८ सालका पुराना है। इस प्रजातन्त्री आन्दोलनको कश्मीर नेशनल कांफरेंसके रूपमें शेख अब्दुल्लाने संगठित किया। शेख अब्दुल्लाने कश्मीर में जिस जनतन्त्रका आन्दोलन खड़ा किया, उसकी बुनियाद आर्थिक और सामाजिक है। इसीलिए नेशनल कांफरेंसका कश्मीरके राजासे सदैव संघर्ष रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी बुनियादमें जनतन्त्री भावना का प्राधान्य रहनेके कारण कश्मीर नेशनल कांफरेंस की उसकी मैत्री रही है। यह मैत्री विशुद्ध राजनैतिक सिद्धान्तों की मैत्री थी। वैसे कश्मीरमें मुसलमानों की संख्या ज्यादा है; शेख अब्दुल्ला भी मुसलमान हैं। भाषा, रस्म-रिवाज, रहन-सहन और धर्मकी दृष्टिसे कश्मीरका बहुमत मुस्लिम संस्थाओं की ओर झुकना चाहिए; पर मुसलिम लीगमें जनतन्त्री भावनाकी स्पष्ट कमीके कारण ही शेख अब्दुल्ला और कश्मीर नेशनल कांफरेंस की मैत्री कभी न थी। अपनी जनतंत्री भावना और आर्थिक तथा सामाजिक बुनियादके कारण कश्मीर नेशनल कांफरेंसने १९४६ में कश्मीरके महाराजाके विरुद्ध 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन शुरू किया। अपनी जनतन्त्री परम्पराके कारण पं० जवाहरलाल नेहरूके नेतृत्वमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसने 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलनका समर्थन किया। यह वही समय है कि जब भारतवर्षमें भी अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोहके विस्फोट हो रहे थे।

अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनके दबावसे ब्रिटिश साम्राज्यने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेससे समझौता किया। इस समझौते द्वारा भारतवर्षको 'एक किस्म' की स्वाधीनता प्राप्त हुई। पर इसके साथ ही पाकिस्तानके रूपमें भारतका अंग-भंग भी हो गया। पाकिस्तान अमरीकी-ब्रिटिश शक्ति द्वारा उत्पन्न बालक राष्ट्र था, उसका लालन-पालन इन्हीं दोनों शक्तियों पर निर्भर था और वह इन पर निर्भर रहनेके लिए बाध्य भी था। भारतवर्ष ऐसा नहीं था। वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकनेमें समर्थ भी था। इसलिए अमरीकी-ब्रिटिश कूटनीतिमें शरीक रहनेके लिए वह बाध्य नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी परम्परा जनतन्त्री थी। 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलनमें कांग्रेसने राजाके विरुद्ध शेख अब्दुल्लाका समर्थन भी किया था। इसलिए नयी व्यवस्थामें कश्मीरके राजा हरीसिंह की दृष्टि भारतवर्षकी ओर न होकर अमरीकी-ब्रिटिश शक्तिकी ओर थी। इसी समय पाकिस्तानके फलस्वरूप साम्प्रदायिक विद्वेषकी अग्नि सम्पूर्ण देशमें जल उठी। इस ज्वालामुखीको अंग्रेजोंने पिट्रोल छिड़ककर धधकाया था। हिन्द युनियनमें देशी रजवाड़े इस अंग्रेजी षड्यन्त्रके एक महत्वपूर्ण पुर्जे थे। पाकिस्तानके पास पड़ोस पड़ने वाले मुसलिम बहुमतवाले हिन्दू देशी राजाओंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को हथियार देकर मुसलिम जनता का

सफाया करवाना शुरू कर दिया। कश्मीरके राजाने भी यही किया। उसने न केवल मुसलिम रियाया का ही सामूहिक सफाया करना शुरू किया, बल्कि अपने मुसलिम राज कर्मचारियों का भी सफ़ाया शुरू करवाया। उस समय कश्मीर नेशनल कांफरेंसके कार्यकर्ता अपने नेता शेख अब्दुल्लाके साथ जेल में थे। कश्मीरके राजाके जुल्म की कहानी हिन्दुस्तानमें पहुँची। यहाँसे कांग्रेसके एक नेता कश्मीर गये; पर वह राजा और राजप्रासाद तक ही सीमित रह गये। इसी समय कश्मीर राजाके जुलमसे संत्रस्त कश्मीरी मुसलमान पाकिस्तान की शरणमें भागे। पाकितानमें अमरिकी-ब्रिटिश षड़यन्त्रकारी मौके की ताकमें बैठे थे। उनकी यह पूर्व योजना थी कि किसी तरह कश्मीर उनके बालक पाकिस्तानके हाथमें आ जाय। उन्होंने पाकिस्तानमें मुसलिम बहुमत का खयाल कर अंग्रेजी साम्राज्य द्वारा पेंशन प्राप्त कवायलियों को आधुनिक हथियारोंसे लैस कर कश्मीर पर चढ़ा दिया। इसीलिए उन्होंने 'आजाद कश्मीर सरकार' नामक एक कठपुतली सरकारभी खड़ी कर दी। इस समय अफ़ग़ानिस्तानके पासके इलाकेके कवायलियों को लूटमें दौलत पाने का लालच दिलाकर अंग्रेजोंके एजेण्टोंने उधरसे भी बहुतसे कवायली कश्मीर पर हमलेके लिए भेजे।

इस बीच २९ सितम्बर १६४७ को शेख अब्दुल्ला रिहा कर दिये गये। पर उस समय तक वहाँ की स्थिति बहुत बिगड़ चुकी थी। अंग्रेज षड़यन्त्रकारी महाराजके प्रति कश्मीरियों की घृणा को हिन्दुओंके प्रति घृणामें बदलनेकी कोशिश कर रहे थे। इसी समय महात्मा गान्धीने अपना एक विशेष दूत कश्मीरकी स्थितिका अध्ययन करनेके लिए भेजा। उसने आकर राजा के अत्याचार की जो रिपोर्ट महात्माजी को दी वह दिल बैठा देने वाली थी। उधर पाकिस्तान की ओर से आधुनिक हथियारोंसे लैस लुटेरों की फौज कश्मीर में घुसती जा रही थी। महाराजा की सेना कवायलियों को रोकनेमें पस्त हिम्मत हो गयी। इसी समय शेख अब्दुल्लाने 'रक्षकदल' का गठन किया। उस दस्तेमें कुछ के पास राजा की दी हुई टूटी-फूटी रायफलें थी, कुछके पास साधारण बन्दूकें थी और कुछके पास लाठियाँ ही थीं। इस समय शेख अब्दुल्ला और उनकी नेशनल कांफरेंस की जनतन्त्री परम्परासे डरकर पाकिस्तान सरकार और उसके अकाओंने शेख साहबके प्रस्तावको नहीं माना। इसके बाद ही शेख अब्दुल्ला और महाराजा कश्मीरने हिन्द युनियनसे सहायता की मांग की। पर कश्मीरके हिन्द युनियनमें मिल जाने पर ही हिन्दकी सहायता सम्भव थी। इसलिए नेशनल कांफरेंस और महाराजाकी सम्मिलित प्रार्थनासे हिन्द युनियनने कश्मीरको अपनेमें मिला लिया। इसके बाद कश्मीरकी रक्षाके लिए हिन्द युनियनने बाकायदे फौज भेजी।

कश्मीरके हिन्द युनियनमें शरीक हो जानेके बाद कश्मीरके राजाके बावजूद वहाँ एक सरकार कायम कर दी गयी। इस सरकारके शेख अब्दुल्ला प्रधान मन्त्री हुए। शेख अब्दुल्लाने कश्मीरके सम्बन्धमें नये कश्मीर की अपनी योजना बहुत पहले ही बना रखी थी। इस योजना का अर्थ है कश्मीरसे सभी किसमके शोषण का अन्त। यद्यपि राजाके रहते शेख अब्दुल्ला को पूरे अधिकार नहीं थे। पर फिर भी शेख अब्दुल्लाने अपनी सरकार द्वारा और इस भीषण संकटके अन्दर भी क्रान्तिकारी कदम उठाया। उन्होंने जागीरदारी और जमीन्दारी को "कलमके एक कश" में खतम कर दिया। जमीन्दारों को सख्त आदेश दिया कि जमीन पर से अपने भवनोंके मलवे शीघ्र हटा लें वर्ना वे नीलाम कर दिये जायंगे। बकाया लगान की वसूली की मनाही करा दी; जमीन की बेदखली को गैरकानूनी करार दिया। सिल्क और ऊनके उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उत्पादकों की सहयोग समितियाँ गठित की। क्रान्तिकारी शेख अब्दुल्लाके इस क्रान्तिकारी कार्यों की खबर दकियानूस भारतीय राज-विभाग की कृपासे सम्पूर्ण भारतने ठीकसे नहीं जाना। शेख अब्दुल्ला राजाके ऊपर भी नियन्त्रण रखना चाहते थे; पर भारतीय 'स्टेट विभाग' के प्रतिक्रान्तिके देवताके दबावसे वह ऐसा न कर सके; उन्होंने राजाके निजी खर्चमें सिर्फ थोड़ी सी कमी ही की—वह राजा की १० हजार फौज को मैदाने जंगमें न भेज सके। उसे हिन्द युनियन की 'सलाह'से "आकस्मिक" घटनाके लिए रिजर्व रखा गया।

इसके बाद हिन्द युनियनने कश्मीरके मसले को यू. एन. ओ. की सुरक्षा-समितिमें पेश किया। जो

घटनाएं और प्राप्त प्रमाण थे, उनसे सिद्ध था कि पाकिस्तान और अमरीकी-ब्रिटिश शक्ति की शाजिशसे कश्मीरमें उत्पात हो रहा था। किन्तु फिर भी अमरीकी ब्रिटिश बहुमतके यू. एन. ओ. में. कश्मीरके प्रश्न को रखा गया। यदि अत्याचारी राजा को खतम करके शेख अब्दुल्लाके आर्थिक सामाजिक कार्यक्रम को कार्य रूपमें परिणत करके कश्मीरमें युद्ध जारी रहने दिया जाता, यू. एन. ओ. में इस समस्या को न रखा जाता तो भी शेख अब्दुल्ला की कश्मीर सरकार अजेय होती। पर ऐसा न करके 'बन्दरके सामने रोटीके बँटवारे' का प्रश्न रखा गया! यह शायद इसलिए कि यदि कश्मीरके राजा को खतम किया जायगा तो किस आधार पर और देशी राजाओं को रखा जायगा? यदि कश्मीरमें जागीरदारी-जमीन्दारी खत्म की जायगी तो किस आधार पर हिन्द युनियनके बाकी हिस्सोंमें उसे कायम रखा जायगा? यदि कश्मीरके गृह-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा तो हिन्द युनियनके सभी उद्योगोंके राष्ट्रीयकरण को किस आधार पर रोका जायगा? इसीलिए पूंजीवादी राष्ट्रोंके प्राधान्य यू. एन. ओ. में काश्मीरके प्रश्न को रखा गया है जिससे कश्मीर की समस्या का कोई पूंजीवादी राष्ट्र सम्मत हल निकल आये। पूंजीवादी सरकारके सामने कश्मीर की समस्या का उपयुक्त हल यू. एन. ओ. द्वारा ही सम्भव था।

यू. एन. ओ. की सुरक्षा-समितिने कश्मीरके सम्बन्धमें जो फैसला किया है, उससे कश्मीरमें इन समस्याओं की सृष्टि होती है:—

१. पाकिस्तानके द्वारा अधिकृत स्थानोंमें स्थानीय प्रभुत्व का स्वरूप क्या होगा?

२. अन्तर्वर्ती समयमें शान्ति का वातावरण रखना।

३. चित्राल और गिलगिट की व्यवस्था रखना।

४. भागे हुए लोगोंके मनमें भरोसा पैदा करके उनको वापस बुलाना।

५. अन्तिम मीमांसा का उपाय सोचना।

ये समस्याएं पाकिस्तानके सामने नहीं हैं। इन समस्याओंसे उसका लाभ भी नहीं है। यदि भागे हुए अल्पसंख्यक पुनः वापस न आये तो पाकिस्तान का कुछ भी नुकसान नहीं है; बल्कि शायद फायदा ही है। इस समस्याओंके सुलझावके लिए शेख अब्दुल्ला की सरकार को ही प्रयत्न करना होगा। इसके लिए सम्पत्ति और सद्भावना दोनों की ज़रूरत होगी। इसके बाद एक और विचित्र समस्या इसीके दरम्यान आयेगी कि भागे हुए पुनः वापस आने वालोंमें वही लोग हैं अथवा अन्य लोग हैं। इसकी जांच बहुत कठिन होगी। किन्तु इन सबसे भी कठिन जो समस्या होगी, वह इस प्रकार होगी:—

पाकिस्तान जोरोंसे प्रचार करेगा कि हिन्दू राजाने मुसलिम प्रजा पर जुल्म किया था, अतः पाकिस्तान राजा का खात्मा कर देगा—अर्थात् 'पाकिस्तान को वोट देकर राजा को खतम करो।' पाकिस्तान का यह प्रचार इसलिए भी कारगर सिद्ध होगा कि राजाने मुसलिम प्रजा पर भीषण जुल्म किया था और वहाँ की आबादीमें ४ में ३ मुसलमान हैं। शेख अब्दुल्ला की सरकारके सामने पाकिस्तानके इस प्रचार का जवाब देना रहेगा। हम यह जानते हैं कि यदि उस समय शेख अब्दुल्ला की ही चली, भारतीय युनियन का राज विभाग उसमें बाधक न बना तो शेख अब्दुल्ला की सरकार कहेगी कि—'हमने तो राजाके विरुद्ध 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन किया है; हम तो राजा को खतम करेंगे ही। यही नहीं, हम तो जमीन को किसानोंमें बाँट देंगे और उद्योगों पर मजदूरों का अधिकार कायम करेंगे।' यदि शेख अब्दुल्लाने यह नारा दिया तो वह निश्चय जीत जायंगें और कश्मीर हिन्द युनियनमें सम्मिलित हो जायगा। किन्तु सवाल है कि हिन्द युनियनके देशी रजवाड़ों सम्बन्धी नीति शेख साहब को क्या ऐसा करने देगी? जिस युनियन की नीति हैदराबाद आदि देशी रजवाड़ों को सुरक्षा दे रही है, जिस युनियनने परम्परासे देशद्रोही रजवाड़ों को देशभक्त कह कर प्रतिष्ठित किया जा रहा है, वह हिन्द युनिनन कश्मीरके राजा को किस तर्कके आधार पर खतम करेगा? और यदि हिन्द युनियन कश्मीरके राजा को खतम करेगा तो फिर किस तर्क पर बाकी राजाओं को कायम रखेगा? किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि हिन्द युनियन कश्मीरके राजा को खतम नहीं

करेगा, तो कश्मीर हिन्दके हाथसे शायद चला ही जाय। अतः कश्मीरके प्रश्न का अन्तिम समाधान समाजवादी नीति का ही एक अंग होगा; और समाजवादी नीति ऐसी होती ही नहीं जिसे कुछ लिया जाय, कुछ छोड़ा जाय। इसलिए हमारा यह मत है कि यदि कश्मीर को हिन्द युनियनमें रहना है--अर्थात हिन्द युनियन चाहता है कि कश्मीर हिन्द युनियनमें रहे तो उसे अपनी सम्पूर्ण नीतिमें आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। दूसरे शब्दोंमें यदि कश्मीर हिन्द युनियनमें नहीं रह सका तो इसका सारा दोष हिन्द युनियन की पूंजीवादी-सामन्तवादी नीतिके मत्थे होगा।

--बैजनाथ सिंह "विनोद"

मजदूरों का फैसिस्टी दमन

मौजूदा नेहरू सरकार फैसिज्मकी ओर जा रही है, यह हमने अनेक बार कहा है। उद्योगोंका राष्ट्रीय-करण न करना, जमीन्दारी-प्रथा खतम करके जमीन का नया बन्दोबस्त न करना, देशी राज्योंको कायम रखना, पूंजीवादी साम्राज्यवादी गुटका साथ देते हुए कामनवेल्थ में बने रहना, मजदूरोंका हड़ताल और उनके अपने युनियनकी स्वाधीनता को संकुचित करना, खेत मजदूरों की गुलाम स्थिति को वैसे ही कायम रहने देना। इन सबके परिणाम स्वरूप मुद्रास्फीतिपर काबू पानेमें असमर्थ रहना। बढ़ती हुई मँहगीसे देशमें असन्तोष का बढ़ना और उस असन्तोष को रोकनेके लिए बोलने, लिखने और प्रदर्शन की स्वाधीनता को खतम करना--नागरिक स्वाधीनता को संकुचित करना। यह सब ऐसी स्थिति है जिनसे एक ही परिणाम निकल सकता है कि वर्तमान सरकार फैसिज्म का स्वरूप धारणा कर ले। धीरे-धीरे सरकार का कदम उसी दिशामें बढ़ भी रहा है।

डालमियाँनगर (बिहार) में ८ सप्ताहसे मजदूरों की हड़ताल जारी है। इस हड़तालके सम्बन्धमें बिहार की सोशलिस्ट पार्टीने एक प्रस्ताव पास किया है यह प्रस्ताव सरकारके फैसिज्म की कहानी कह देता है। इस प्रस्ताव को हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

"रोहतास इन्डस्ट्रीज एन्ड कम्पनीके दस हजार मजदूरों की हड़ताल पिछले ५ हफ्तोंसे चल रही है। इस हड़तालके सिलसिलेमें डालमियांनगरमें जो कुछ हो रहा है उसे जानकर सोशलिस्ट पार्टी (बिहार) की कार्यसमिति द्रवित और स्तम्भित है। मजदूरों को दबानेके लिए कांग्रेसी सरकारने जिस दमन और गुण्डाशाही की नीति अख्तियार की है वह विदेशी हुकूमत द्वारा स्वातन्त्र्य-संग्रामके दिनोंमें किये गये दमन की सीमा को भी पार कर गयी है।

फैक्टरी मजदूरों, युनियनके नेताओं और सोशलिस्टों पर पुलिस अफसरों और घुड़सवार सिपाहियों का खूंखार हमला, बिना वारंटके उनकी अन्धाधुन्ध गिरफ्तारी, भयानक लाठीचार्ज, गिरफ्तार मजदूरों की स्त्रियों और बच्चों को क्वाटरोंसे जबर्दस्ती निकालना, सभाओं, प्रदर्शन और पर्चे बाँटने पर रोक, मजदूरोंके बीच राशन बाँटने की मनाही, युनियनके दफ्तरमें, घरों, खेतोंमें मजदूरों और सोशलिस्टों को हंटरसे पीटना, डालमियांनगर युनियन आफिसमें चिट्ठियों, तार या समाचारके भेजे जाने या पानेकी मनाही, घोड़ोंके लगाम से मजदूरों को बांधना और सड़कों पर तबतक घुमाना जबतक कि बेहोश न हो जायं; मजदूरों को पीटना, मजदूरों की स्त्रियों को बेइज्जत करना, मजदूरों पर इस तरहके अमानवीय अत्याचार जारी रखना--ये सारी बातें सरकारके दमन-कार्य और आतङ्क की कहानी कहती हैं और ये इसके जोरदार सबूत हैं कि सरकार

इतनी तेजीके साथ फैसिज्म की ओर बढ़ रही है जितनी की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

यहां संक्षेपमें उन परिस्थितियों का वर्णन करना अप्रासंगिक नहीं होगा जिनके कारण रोहतास इन्डस्ट्रीज एन्ड कम्पनीके मजदूरों को हड़ताल करने और मुसीबत और भूखमरी का मुकाबला करनेके लिए मजबूर होना पड़ा। सन् १९३८ से ही उक्त कम्पनीके मजदूरों की सुसंगठित और पूर्ण प्रतिनिधि-युनियन रही है। अनेक बार मजदूरोंने बिहारके प्रसिद्ध नेता श्री बसावन सिंहके, जो रोहतास इन्डस्ट्रीज युनियनके प्रेसिडेन्ट भी हैं नेतृत्व में लड़ाइयां लड़ी हैं और अपनी संगठित ताकत, दृढ़ता और अनुशासनके बल पर मालिक को घुटने टेकनेके लिए और उचित मांगों को कबूल करनेके लिए मजबूर किया है। लेकिन हालमें युनियनके इतिहासके लिए एक नयी घटना घटी गोकि उसकी कोई जरूरत नहीं थी। शाहाबाद जिलाके कांग्रेसी नेता श्री हरगोविन्द मिश्र एम० एल० ए० ने राष्ट्रीय ट्रेड युनियन कांग्रेसके तत्वावधानमें एक नयी युनियन वहाँ खड़ी की। स्वभावतः तुरन्त ही मैनेजमेंट की ओरसे इस युनियन को स्वीकृति मिल गयी गोकि इस युनियनमें १% मजदूरों की भी नुमाइन्दगी नहीं थी। मैनेजमेंट की इस अप्रजातांत्रिक और तानाशाही नीति का मजदूरोंने विरोध किया। उनका धैर्य उस वक्त टूट गया जब उन्होंने देखा कि युनियन, जिसके पीछे उनकी संगठित ताकत है, द्वारा पेश मांगों को नयी फर्जी युनियनके कहने पर ठुकरा दिया गया। इस तरह मजदूरों को हड़ताल करनेके लिए मजबूर किया गया और जनता को यह अच्छी तरह मालूम है कि हड़ताल मुकम्मिल रही बावजूद इसके कि मालिक, सत्तारूढ़ पार्टी और सरकारने मजदूरों की एकता और ताकत को छिन्न-भिन्न करने और उसके साहस को खतम करनेके लिए कुछ भी नहीं उठा रखा।

डालमियाँनगर की हड़ताल की यही संक्षिप्त कहानी है जिसे तोड़नेके लिए कांग्रेस, मैनेजमेंट और सरकार का त्रिगुट कायम हुआ है और जिन्होंने डालमियाँनगर में आतंक और फौजी राज कायम किया है। झगड़े को आरबिट्रेशनमें भेजने की युनियन की मांग को मैनेजमेंट और राष्ट्रीय ट्रेड युनियन कांग्रेस की कागजी युनियनने ठुकरा दिया। और इसके बाद भी मजदूरोंके लिए सरकार का मालिक और कांग्रेसके साथ गुटबन्दी और फौजी मदद पहुँचाना सरकारके न केवल अप्रजातांत्रिक रुख, असभ्य वर्त्ताव और पूँजीपरस्त और तानाशाही वृत्ति का सूचक है, बल्कि आजादी, प्रजातंत्र और स्वतंत्र मजदूर आन्दोलनके लिए भी खतरे की बात है।

इसलिए कार्यसमिति आम जनतासे और खास तौर से प्रजातंत्र और स्वतंत्रताके प्रेमियोंसे अपील करती है कि वे बिहारमें आज जो कुछ हो रहा है, खास तौरसे डालमियाँनगरमें, उसके प्रति अपनी उदासीनता छोड़ें और वे जागरूक होकर ऐसा जनमत तैयार करें और इस तरह दावा करें कि सरकार को मजबूर होकर दमन और आतंक की नीति छोड़नी पड़े। कार्यसमिति जनता से इस बातके लिए भी अपील करती है कि वे धन जन और गल्लासे डालमियाँनगरके आज भूखों मरने वाले मजदूरों की मदद करें।

जनता की स्वतंत्रता ही खतरेमें पड़ी हुई है। यद्यपि बहुत देरी हो चुकी है, फिर भी नहींसे तो देरी अच्छी।"

इसके बाद "जनता" में एक अपील भी प्रकाशित है. जिसमें कहा गया है:--

"डालमियाँनगरमें बिहार सरकारने फौजी शासन कायम कर रखा है। मजदूरों को संगीनों की नोक पर कारखानेमें काम करने को मजबूर किया जा रहा है। मजदूरों की बाकी मजदूरी तो सरकारने चुरा ही ली, उनके लिए राशन गल्ला वगैरह मिलना भी रोक दिया है। मजदूर युनियनके जरिये जो गल्ला पहुंचाया जाता था उसे रोकनेके लिए मजदूर युनियन पर ताला लगा दिया गया है और मजदूर नेताओं को खोज-खोज कर गिरफ्तार किया जा रहा है। साधारण मजदूरों की भी गिरफ्तारी जारी है। मजदूरों को उनके मकानोंसे निकालने का सिलसिला शुरू है और नये मजदूरों की भर्ती करने की सर तोड़ कोशिश की जा रही है। फिर भी एक भी कारखाना, चीनी कारखाना भी नहीं चल पा रहा है।

आखिर, इस सारी कार्रवाईके माने क्या हैं? सरकारने इस हड़ताल को पूरे गृहयुद्ध की शकल क्यों दे दी है? वह संगीनोंके जोरसे, फौजी ताकतसे मजदूरों की शक्ति को, मजदूरों को कुचलने की पूरी कोशिश

ज न वा णी

मार्च १९४९

विषय-सूची

अतिरिक्त—

सोशलिस्ट पार्टीके सातवें वार्षिक अधिवेशन (पटना) में आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा सभापति पदसे दिया गया अभिभाषण ।

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' एक प्रतिका ।॥)

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष ३ भाग ५] मार्च १९४९ [अङ्क ३ पूर्णाङ्क २७

पंचतिक्त

रामधारी सिंह "दिनकर"

चोरों का झुंड उचक्का है, लोभी, बेरहम, लुटेरा भी,
रोटियाँ देख कमजोरों पर क्यों नहीं झपट्टे मारेगा ?
डैने इनके झाड़ते रहो दम-ब-दम कड़ी फटकारों से,
आँखें तरेरते रहो और आवाजें अपनी तेज करो ।
औ हो जायें जो ढीठ, न मानें अदब-रोब फटकारों का,
तो कहीं रोटियों के समीप नेजों की नोंकें खड़ी करो ।

साँपों को तो देखिए मौत का रस दाँतों में भरे हुए
चन्दन से लिपट पड़े रहते, खेलते फूल की छाँहों में ।
जन्नत से कढ़वा दिया शुरू में ही बेचारे आदम को,
औ तब से ही निश्चिन्त स्वर्ग में दूध-बताशे खाते हैं ।
साँपों से पायें त्राण, अक्ल में आती कोई बात नहीं,
जनमेजय कितना करे ? देवता ही जब इनके बस में हैं ।
शंकर को तो देखिए, गले में हैं नागों के हार लिये,
औ विष्णुदेव भी साँपों की गुलगुली सेज पर सोते हैं ।

जो घटा घुमड़ती फिरती है, क्या बिना बुलाये ही आयी ?
आकाश ! नहीं क्या चीख-चीख तूने इसका आह्वान किया ?
क्वाँरी थी, काँप उठा था मन कुन्ती का रवि के आने पर,
थरथरी तुझे क्यों लगी ? अरे, तू तो उस्ताद पुराना है ।
है वृथा यत्न, दम साध, पेट में यह तूफ़ान पचाने का,
मानेंगे बरसे बिना नहीं न्योते पर ये आने वाले ।

पीयूष गाड़ कर शीशे में दूकान सजाना काम नहीं,
तारों को भट्टी बीच डाल सिक्के न ढालना आता है ।
यों तो किस्मत ने फेंक दिया मुझको भी उन्हीं जनों में जो
बेंचते नहीं शरमाते हैं ईश्वर को भी बाजारों में ।
पर, एकरूप होकर भी हम दोनों आपस में एक नहीं,
अय चाँद ! देख मत मुझे आदमी समझ शुभा की आँखों से ।

ओ बदनसीब ! क्या हाथ उठाए है ? आगे को पाँव बढ़ा;
छाया देने के लिए घटा कोई न स्वर्ग से आयेगी ।
संयोग, किसी दिन मिले, सभी दिन तो 'ओयसिस' नहीं मिलती,
पर प्यास पसीने से भी तो बुझती है रेगिस्तानों में ।
आगे बढ़, खड़ा-खड़ा किसकी आशा में समय बिताता है ?
जिनकी थी आस बहुत तुझको वे चले गये तहखानों में ।

हमारी सांस्कृतिक समस्याएं

प्रो० डी. पी. मुखर्जी

नव संस्कृति संघके प्रथम प्रांतीय सम्मेलनका उद्घाटन करनेके लिए आपने जो मुझे निमंत्रित किया है उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ । ऐसे स्थान और समय पर इस सम्मेलन का होना उचित ही है । भारतके लगभग सभी बड़े सांस्कृतिक आन्दोलन काशीसे या तो आरम्भ हुए हैं या यहाँ पर उनकी परीक्षा हुई है; यह वह पवित्र नगरी है जिसने अनेक परम्पराओंको सुरक्षित रखा और कड़ी परीक्षा के बाद अनेक प्रयोगोंको स्वीकृति दी । बुद्धने यहीं धर्मचक्रका प्रवर्तन किया; शंकरने यहीं पर शास्त्रार्थ में मंडन मिश्रपर विजय पायी, इस्लामने यहीं आकर हिन्दू धर्मके साथ अपनी शक्तिकी परीक्षा की; दयानन्दने इसी सनातन नगरीको आर्यधर्मके पुनरुद्धारका आधार बनाया और गांधीजीने भी राजाओं तथा कट्टरपंथियोंको नव जागरणके आह्वानसे यहीं उत्प्रेरित किया । हम यह भी नहीं भूल सकते कि इस नगरीने ही इस देशके प्रथम गैरसरकारी विश्वविद्यालयका जन्म देखा है । दिल्लीमें एशियाई प्रतिनिधियों के सरकारी सम्मेलनसे कुछ वर्ष पहले काशीमें ही इस प्रकारका प्रारंभिक सम्मेलन हुआ था । मेरी इच्छा काशीका इतिहास उपस्थित करनेकी नहीं है । मेरा अभिप्राय यही संकेत करने का है कि स्थानके चुनावमें आपने बुद्धिमानी की है । यह बुद्धिमानी दुहरी है; एक तो वर्तमान परिस्थितिकी माँगके साथ अपनी सांस्कृतिक परम्पराओंका सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता सम्बन्धी, और दूसरी है ऐतिहासिक परम्परा सम्बन्धी । काशी प्राचीन होते हुए भी नवीन है । मेरी कामना है कि आपका विचार-विमर्श इस द्वन्द्वात्मक तत्त्वको प्रतिबिम्बित करे ।

इस सम्मेलनके समयका चुनाव भी उतनाही उपयुक्त है । हमारे देशमें कुछ असाधारण घटनाएँ घटी हैं । आज जब कि राष्ट्रीय राज्यके गुणोंके संबंधमें पर्याप्त मतभेद है, इस देशको जीवनके अधिकांश क्षेत्रोंमें स्वशासनकी एक बड़ी मात्रा उपलब्ध हुई है । इसके अनेक परिणाम दृष्टिगत हो रहे हैं जिनमेंसे कुछ तो तत्काल सामने आ गये हैं, कुछ अभी कार्यरूपमें प्रकट नहीं हुए हैं जिनसे हमें भय होता है कि न जाने वे कब अपने भीषण रूपमें फूट पड़ें । संभवतः ऐसी स्थिति भारतके लिए ही विशिष्ट नहीं है । किसी भी देशमें प्रत्येक महान् परिवर्तनके समय ऐसा होना अवश्यम्भावी है । इससे हमें नम्रताकी शिक्षा मिलती है और ऐसी ही परिस्थितियोंमें पड़े हुए देशोंके अनुभवोंसे लाभ उठानेका अवसर प्राप्त होता है । फिर भी जब वह स्थिति हमारे सामने आ ही गयी है तब हमें उन्मुक्त शक्तियोंको संगठित करनेमें अपनेको लगाना है । स्वतंत्रता एक ऐसी चुनौती है जिसके सामने अनेक राष्ट्रोंने हार मान ली, क्योंकि या तो उसका उत्तर देनेमें उनकी शक्ति अपूर्ण थी, या उनकी प्राकृतिक सम्पत्ति अपर्याप्त थी । दूसरी सम्भावनाको छोड़ा भी जा सकता है क्योंकि हमारे भौतिक साधन बहुत हैं; श्रम-साधन की भी समस्या हमारे सामने नहीं है । जनसंख्या हमारे लिए एक बड़ी प्रारम्भिक सुविधा है, कदाचित् आवश्यकता [illegible] अधिक । यह निश्चयपूर्वक नहीं समझा जा सकता [illegible] हम भारतीयोंने अपनी योग्यताको प्रयोगमें न लानेके का[illegible] खो दिया है । अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता [illegible] कि उसमें मोर्चा लग गया है । हमारे देशमें बौ[illegible] सम्पत्ति भी पर्याप्त है । उससे अधिक यहाँ पर नि[illegible] चिन्तनकी प्रवृत्तिका संचित कोष है जो घातक पला[illegible] वादके निकट होते हुए भी उचित नियोजनके द्वारा ह[illegible] तैयारीके समय सहायक हो सकता है । यहाँ मैं [illegible] शक्तिको प्रधानता नहीं देता । यह शक्ति अवसरकी [illegible] है न कि उसका समाधान । इच्छा-शक्तिका यह [illegible] हानिकारक भी है जब वह शक्तिवाद (Cult of po[illegible]

का सहायक हो जाता है। इसलिए स्वशासनकी चुनौती के सामूहिक तथा जाग्रत उत्तरके लिए आरम्भमें जो आवश्यक है वह है चेतना। और मनोवैज्ञानिक अर्थमें चेतना दुरवस्थामें जन्म लेती है तथा संकटकालमें पलती है। स्पष्ट है कि अनेक लोग संकटके साथ ही सचेत नहीं हो सकते। चेतनाकी तीव्रता भी भिन्न-भिन्न होती है। लेकिन जब कोई बड़ी राजनीतिक घटना हम पर आ पड़ती है या कोई बड़ा आर्थिक परिवर्तन उपस्थित होता है तो चेतना सबमें उत्पन्न होती है। अनेक आवेग उसके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। ये आवेग चेतनाको या तो तीक्ष्ण बनाते हैं या उसे विरूप करके उसकी शक्तिको क्षीण कर देते हैं? मेरा निवेदन है कि किसी दल (पार्टी) या विशिष्ट चेतन वर्ग या बुद्धिजीवी समूह या नव संस्कृति संघ जैसे सम्मेलनका यह प्रारंभिक कार्य होता है कि वह देखे कि सामान्य चेतनाका किसी तरहसे अपव्यय तो नहीं हो रहा है और इस बातका प्रबन्ध करे कि वह चेतना अपने गुण, मात्रा, रूप और विषयका विस्तार करे। संक्षेपमें इस चेतनाको कुछ और अधिक निर्देशन, विषयवस्तुके कुछ और आधिक्य, तथा कुछ और अधिक आंगिक समानुपातकी सहायतासे तीव्रतर बनाना होगा। 'संकटवाद' में इस बातके अतिरिक्त और कोई बुराई नहीं है कि उसमें कल्पित संकटोंको चेतनाका आधार बनाया जा सकता है। मेरा विचार है कि आपका सम्मेलन भारतवर्षके इस निर्णायक कालमें विवेकपूर्ण सतर्कताकी प्रेरणासे ही प्रेरित होकर आयोजित हुआ है। किंतु मैं आपको अत्यधिक बुद्धिमान नहीं कह सकता, क्योंकि आपने सम्मेलनका स्थान काशीको और समय आजकी घड़ीको चुनकर चाहे जितना भी अच्छा किया हो, परन्तु मेरी जगह पर किसी भी और व्यक्तिको सम्मेलनका उद्घाटन करनेके लिए आप आसानीसे बुला सकते थे। मेरी योग्यता बहुत कम है। मैं एकान्तवासी रहा हूँ। मैं कार्यक्षेत्रसे और विशेषरूपसे दलगत राजनीतिसे अलग रहा हूँ। इस तरह आत्मनिरोधकी साधनाने मेरी उपयोगिताको बहुत ही सीमित कर दिया है। इसलिए आज जो कुछ भी मैं कहूँगा, आवश्यक नहीं है कि वह व्यावहारिक अथवा निर्णयात्मक हो।

भारतवर्षका आज जो नक्शा है उसे थोड़ा बहुत सब जानते हैं। हमारे नेताओंको छोड़ कर, कठिनाइयोंके बीचमें भी जिनका साहस बना हुआ है, शेष हम सभी लोगोंको निराशाने जकड़ रखा है। हमारे नवयुवक जिनके विषयमें मुझसे अधिक जानकारीकी आशा की जा सकती है, अभी तक निराशावादी नहीं हुए हैं, यद्यपि वे महसूस करते हैं कि उनकी सेवाओंका पूरा उपयोग नहीं हो रहा है। मैं नहीं कह सकता कि इस अवशिष्ट आशा का कितना अंश जीविकोपार्जनकी बढ़ी हुई संभावनाओंसे उद्भूत है और कितना उनकी सहज मनोवृत्तिसे। किन्तु वे हमारी राष्ट्रीय नीतिकी कड़ी आलोचना कर रहे हैं। अभी एक विश्वविद्यालय की वादविवाद समितिमें हमारे नवीन विधानके मसविदेका समर्थन करने वाले एक भी नवयुवकका मिलना मुश्किल हो गया था। हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघसे सहानुभूति रखने वालोंकी आलोचना तो और भी कटु होती है जिनकी बौद्धिक अस्पष्टता भावुकताकी स्पष्टतामें ही परितोष पाती है। वामपक्षी तरुणोंकी स्थिति भी जटिल है। वे वर्तमान नीतिको नापसन्द करते हैं, परन्तु नहीं जानते कि उसके स्थानपर कौन-सी दूसरी नीति अपनानी चाहिए। परिणामतः वे सभी चीजोंको नापसन्द करने लगे हैं जो सामयिक चेतनाके लिए उपयुक्त अवस्था नहीं है। मेधावी तरुणोंमें ऐसे बहुत कम मिलेंगे जो अपने बौद्धिक निश्चयके परिणामस्वरूप कांग्रेसी अथवा सरकारी नीतिके समर्थक हों। किन्तु कुछ वर्ष पूर्व ऐसे युवकोंकी काफी संख्या रही होगी, कमसे कम उस समय जबकि उन्हें दास उत्पन्न करनेवाले कारखानोंसे विषकी तरह बचनेके लिए कहा गया था। किन्तु यह अनिश्चयावस्था कुछ तो किसी अन्य नीतिके समर्थनके लिए सामग्रीके अभावके परिणामस्वरूप हो सकती है, (पहलेकी भाँति आज भी अध्ययनकी सारी सामग्री सरकारी फाइलोंमें दबी पड़ी है) और कुछका अवसर पानेकी आशाके कारण।

इस सामान्य चित्रमें वकील, राजकर्मचारी, डाक्टर, इंजीनियर तथा अन्य अनुभवी लोग भी सम्मिलित हैं। अभी मुझे प्रयागमें विभिन्न प्रकारके बुद्धिजीवियों इत्यादिसे मिलनेका संयोग प्राप्त हुआ था। उनमें भावनाकी कटुता आश्चर्यजनक थी। इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि इस भावना ने पण्डित नेहरूके शहर तथा इस प्रान्तकी प्रख्यात बौद्धिक राजधानीको आवेष्ठित कर लिया है। वैदेशिक नीतिके समर्थन में दी हुई दलीलों, कठिनाइयोंके वर्णन तथा केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों द्वारा किये हुए कार्योंकी सूचीका उनके ऊपर कोई असर नहीं हुआ। सम्भवतः साधारण जनता --मजदूर और किसानकी मनःस्थिति इससे बेहतर नहीं है। उनके लिए अज्ञानकी अपेक्षा जीवनोपयोगी वस्तुओं की महँगीही सरकारी नीतिको समझनेमें अधिक बाधक है।

इस नैराश्यपूर्ण वातावरणको और अधिक सघन करनेका मेरा विचार नहीं है। मेरा प्रयोजन तो केवल इस नैराश्यके सांस्कृतिक परिणामोंको और वर्तमान समस्याओंको स्पष्ट करना है जिससे स्वतंत्रताके इस उषाकालमें आप इस नैराश्यको दूर करनेके उपायोंपर विचार कर सकें तथा इतिहास-निर्माणमें कुछ योग दे सकें।

इस समय कुछ रुककर थोड़ा विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। इस समयकी हमारी मानसिक रचनाका एक कारण स्वातन्त्र्य-युद्धके पश्चात्‌की थकावटको बताया जाता है जिसे पिछले युद्धसे उत्पन्न परिस्थितियोंने और भी बढ़ा दिया। परन्तु मैं इसे माननेके लिए तैयार नहीं हूँ क्योंकि एक तो हमारे प्रयत्न न तो सर्वतोमुखी थे और न दीर्घकालव्यापी। हम अपनेको यह समझकर धोखा न दें कि स्वतंत्रताके लिए किये गये हमारे ऐच्छिक त्याग और बलिदान इतिहासमें अनुपम हैं, अथवा जनताके सब वर्गोंने उनमें समानतया और पूर्णतया भाग लिया है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ हुआ वह सब हमारे प्रयत्नोंका ही परिणाम था। साम्राज्यवादके दिन लद चुके थे। एक साम्राज्यने अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यने इस बातको समझ लिया था। उसकी इस अनुभूतिके साथ हमारे प्रयत्नोंकी रफ्तार मिल गयी।

यदि, जैसा कि टी.एस.इलियटने अपने ग्रन्थ Notes towards the Definition of Cultureमें कहा है, "स्वतन्त्रतामें उच्छृंखलताका खतरा निहित है और कठोर शासनमें जड़ताका" तो भी हम जानबूझकर इस जड़ता की अवस्थाको बढ़ाने और स्थायी बनानेका औचित्य सिद्ध नहीं कर सकते। वर्तमान समयमें निश्चय ही हमारे नेताओंको राजनीतिज्ञताके रूपमें जाग्रत सूक्ष्म बुद्धि और उच्च रचनात्मक प्रयत्नका ठोस केन्द्रबिन्दु दिखायी देता है। किन्तु वास्तविक खतरा तो इस घने केन्द्रके पार्श्ववर्ती तारल्यमें विलीन हो जाने का है। इसलिए थकावट संबंधी कारण एकदम अग्राह्य है। वह तो वस्तुस्थितिका कथनमात्र है जिसके आधार पर हम अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त होनेकी कल्पना कर लेते हैं।

इस समय नेतृत्वकी असफलताकी ओर संकेत करनेका मेरा विचार नहीं है जिसे अधिकांश लोग हमारे नैराश्यका मुख्य कारण समझते हैं। मेरे पास भ्रष्टाचार और नैतिक पतन संबंधी आरोपोंके समर्थनमें कोई सामग्री नहीं है। हो सकता है आपके पास हो, परन्तु मुझे इसमें सन्देह है कि आपने उसमेंसे सत्यासत्यको अलग-अलग कर लिया है। इसके अतिरिक्त मुझे इसमेंभी सन्देह है कि भारतीय अपने युद्धके किसी भी दौरमें आजकी अपेक्षा नैतिकतया अधिक उच्च स्तर पर थे। ऐसा मानना अहंकार ही होगा कि हम साधारण जनोंका नैतिक स्तर बराबर ऊँचा रहा है और जो सरकारमें हैं वे सत्ताके कारण एकदम अनैतिक हो गये हैं। मैं तो इसे भी स्वीकार नहीं करता कि कभी कोई राजनैतिक लड़ाई नैतिक स्तर पर लड़ी गयी है। यह सत्य है कि गांधीजी एक अपूर्व नैतिक विभूति थे और उन्होंने अपने निकटवर्ती अनुगामियोंको बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया था। यदि आप इसे स्वीकार करें तो उनके महानिर्वाणके कुछ ही महीने पश्चात्, बल्कि उससे कुछ पहले ही यह नैतिक अवरोह उनकी कार्यपद्धति और नेतृत्वकी आलोचना है। आपकी आलोचनाका अर्थ होगा कि वे यथार्थवादी नहीं थे, उन्होंने साधारण जनताको पहचाना ही नहीं।

परन्तु तथ्य कुछ दूसरा ही है। वस्तुतः सदा यही होता आया है और हमारे यहाँ भी यही हुआ। पुरानी परम्पराओंको जो नैतिकताका आधार होती हैं नये नजरियेका जामा पहनाया जाता है। यह नवीन दृष्टिकोण हमारे कार्यका पथ-प्रदर्शन करनेवाली शक्तियोंका एक नया संगठन प्रस्तुत करता है। राजनैतिक संग्राममें यह नया दृष्टिकोण देशभक्ति, राष्ट्रीय हित तथा इसी प्रकारकी अन्य भावनाओंके रूपमें उपस्थित होता है। परन्तु देशभक्ति कभी हमारी परम्परा नहीं रही। इसलिए वह एक गुण--नैतिकता नहीं हो सकती। इसलिए सत्ता-प्राप्तिके बादका भ्रष्टाचार उस नवीन दृष्टिकोणके स्वाभाविक त्यागका उदाहरण मात्र है जो एक कृत्रिम

आकारके रूपमें एक निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके लिए स्वीकार किया गया था। उद्देश्य-पूर्तिके बाद उसका त्याग स्वाभाविक है।

अगर आप केवल यही स्मरण रखें कि राष्ट्रीयता हमारे लिए एक नयी भावना थी जो हमारी परम्पराओंके सर्वथा अनुरूप न थी तो हमें इस नैतिक उत्साहकी हानि पर दुःख प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीयता कभी भी भारतीय स्वभावका आवश्यक अंग नहीं रही है। हम हृदयसे उसे नहीं चाहते। इसलिए हम इस विदेशी भावनासे भयभीत होकर स्वतन्त्रतासे ही भयभीत हो गये क्योंकि यह स्वतंत्रता उसी विदेशी राष्ट्रीयताके द्वारा प्राप्त की गयी।

यदि यह विश्लेषण आपको युक्तिसंगत प्रतीत होता है तो आपको यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनने हमारी संस्कृतिको किसी विशेष सीमातक क्यों नहीं प्रोत्साहित किया। आजका साहित्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, और वह सब कुछ जिसे संस्कृति कहते हैं, परिमाण और गुण दोनोंमें अत्यन्त दरिद्र है, एकान्तिक दृष्टिसे और तुलनात्मक दृष्टि से भी। क्योंकि इन क्षेत्रोंमें सन् १९२०से पहले बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र और गुजरातमें तथा भारतके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के द्वारा जो कुछ किया जा चुका था उसकी तुलनामें भी आजकी संस्कृति दरिद्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय चेतनाका विस्तार और परिमाण सांस्कृतिक गुणोंको नुकसान पहुँचाकर ही बढ़ा है। जैसा कि मैंने कहा है, यह विस्तार हमारे जीवनके केवल राजनैतिक रूप में ही हुआ है जो कदाचित् ही जीवनके मूलको स्पर्श करता है। राष्ट्रीय आन्दोलनकी प्रगतिने निम्नमध्यम वर्गको भी अपनी लपेटमें ले लिया जो अबतक अछूता पड़ा हुआ था। परन्तु उसने उस सीमाको नहीं तोड़ा जिसने मध्यम वर्गको जनतासे अलग कर रखा था। इस स्थितिको समझे बिना हमारी बीमारीके स्वरूपको नहीं समझा जा सकता। इसके निर्माणमें ये मुख्य तत्व पाये जाते हैं—(१) प्रादेशिक भावनाको, जो सामान्यतया तीव्र और उत्तेजक होती है क्योंकि यह भावना रहन-सहनके तरीकेमें अधिक घनिष्ठताके साथ समन्वित रहती है जो कि संस्कृतिका वास्तविक स्वरूप है, कुछ मात्रामें राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकताओंसे एक स्पष्ट अखिल भारतीय भावनाके अधीन होना पड़ा है। इसके परिणामस्वरूप प्रादेशिक संस्कृतियोंकी शक्ति क्षीण हुई है। किन्तु इसके साथ भारतीय संस्कृतिकी शक्तिमें वृद्धि नहीं हुई है।

मध्यम वर्गकी संस्कृति जो स्वरूपतः संकर होती है, मध्यमवर्गके दायरेसे आगे नहीं बढ़ सकी गोकि ऐसा करनेके लिए आन्दोलन एवं शिक्षा द्वारा प्रयत्न किये गये। किन्तु ये प्रयत्न इसलिए निष्फल रहे क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा प्रभावित संस्था भी स्वयं वैसी ही सीमित थी। जहाँ उदार शिक्षाने जनताके सांस्कृतिक स्तरको ऊपरसे ऊँचा करना चाहा वहाँ कांग्रेस आन्दोलनने उन्हें देशभक्ति के द्वारा उठाना चाहा, और देशभक्ति भी मानव-व्यवहार के भावात्मक स्तरसे नीचेकी गहराइयों में प्रवेश नहीं करती। कांग्रेसके आन्दोलनने जनताको एक फालतू चीजके रूपमें देखा और उसे एक भीड़के रूपमें परिवर्तित करनेमें ही सफलता पायी। इस तरह इस युगका राष्ट्रीय साहित्य महज चुनाव संबंधी वक्तृत्व-कलासे भरा पड़ा है। साथ ही यह जनताके हितोंपर दृढ़तापूर्वक आधारित नहीं है जो सचमुच राष्ट्रीय आन्दोलनको स्थायित्व दे सकता है। परिणामतः साहित्य और संस्कृति में हमारा 'जनवाद' इतना झीना और भावुकतापूर्ण है और हमारे लोकगीत भी इतने फीके जँचते हैं। प्रादेशिक संस्कृति और देशव्यापी संस्कृति, जनसंस्कृति और मध्यम-वर्गीय संस्कृति की खाईमें राष्ट्रीय आन्दोलन बिखर गया। यदि प्रादेशिक और सार्वदेशिक संस्कृतियाँ संतुलित होतीं और जन-संपर्क जनताके हितोंके आधारपर बढ़ाया गया होता तो सम्भवतः आजकी निराशा मिटायी जा सकती थी। मैं ऐसा इसलिए कहता हूँ कि नैतिक पतनमें एक पर्याप्त सांस्कृतिक संस्थानके अभावका भी बड़ा भाग होता है। यदि संस्कृति जीवन-विधि है और नैतिकता परम्परागत होती है तो सांस्कृतिक ह्रास और वर्तमान नैतिक शिथिलताका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

मैंने पहले चेतना शब्दका प्रयोग किया है और इसपर काफी जोर भी डाला है। मैंने संकेत किया है कि चेतनाका प्रादुर्भाव संकटसे होता है और संकट-भावनाकी तीव्रताके साथ इसकी वृद्धि होती है। किन्तु संकट स्वतः चेतनामें कोई गुण नहीं ला देता। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि संकटसे चेतनाका केन्द्र विक्षिप्त हो गया है। इस सामान्य

खतरेसे बचनेके लिए सामाजिक प्रवृत्तियोंके ज्ञानपर आधृत विश्लेषण आवश्यक है। यह चेतनाका बौद्धिक पक्ष है। अपने कुछ नेताओंके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेका सौभाग्य रखता हुआ मैं कदापि उनकी बौद्धिक तीक्ष्णता एवं योग्यताके महत्वको कम नहीं कर सकता। फिर भी यह सत्य है कि राजनैतिक चेतनाको पैदा करने एवं फैलानेके प्रयत्नमें ऐतिहासिक विश्लेषणकी उपेक्षा हुई है। ऐतिहासिक विश्लेषण हमारे राष्ट्रीय जागरणकी विविध वर्ग-प्रेरणाओंको उसके भौगोलिक और परम्परागत मूल्योंसे उसकी विच्छिन्नताको खोलकर रख देता। इससे कुछ लोगोंका असली स्वरूप सामने आ जाता और दूसरोंको प्रोत्साहन भी मिलता। सम्भवतः पंडित जवाहरलाल नेहरू इसे दूसरोंकी अपेक्षा अधिक समझते थे, किन्तु उनको अपने ऐतिहासिक ज्ञानको इतिहासके निर्माण में नियोजित करनेके मार्गमें एक तो इतिहासको केवल दैशिक और भौगोलिक दृष्टिसे, तथा एक नाटकके रूपमें देखनेके चलचलपंथी दृष्टिकोणके कारण बाधा पड़ी, और दूसरे अंग्रेजोंको भारतसे बिदा करनेके तत्कालीन सवालके प्रति उनकी वफादारीके कारण; यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो यह सत्य है कि मार्क्सवादी नेताओंका हाथ कांग्रेसके नीति-निर्धारणमें नहींके बराबर रहा है। मैं यह नाम जनताकी इस धारणाके लिहाजसेही ले रहा हूँ कि सामाजिक शक्तियों को अलग रखकर केवल हमारे नेताओंने ही इतिहासका निर्माण किया है। यह हो सकता है कि सामाजिक शक्तियां अधिक सहायक नहीं रही हों, किन्तु केवल बहिर्गत अवस्थाओंमें अत्यधिक विश्वास यदि भाग्यवाद नहीं तो नियतिवाद अवश्य ही है। किसी भी दशामें कांग्रेसके द्वारा सामाजिक शक्तियोंकी विवेचना आवश्यक थी, किन्तु पूरे संगठनको चेतन बनानेके लिए जिस प्रकार यह कार्य होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ। यदि ऐसा किया गया होता तो उस संगठनका अनुसरण करनेवाला भारतीय जनवर्ग अवश्य ही प्रत्येक संकटके साथ चैतन्य लाभ करता। इस बातके कई प्रमाण हैं कि जो कुछ भी विश्लेषण हुए, जनवर्ग उससे अछूता रखा गया। कमसे कम मेरी तो यही धारणा है। सामाजिक तथा राजनैतिक विश्लेषणोंको समझनेमें जनता पीछे नहीं रहती अपितु पीछे हम लोग रहते हैं। इस प्रकार पहलेकी अनेक दूसरी भ्रान्तियोंकी तरह, किन्तु पड़ोसकी भ्रान्तियोंके विपरीत भारतीय क्रान्तिका स्वरूप ही एक अबौद्धिक आन्दोलन रहा और परिणामतः हम क्रान्तिसे उत्पन्न वातावरण और घटनाओंसे लाभान्वित होनेके अयोग्य और निराश रह गये। शोरोकेनने जिसे अपने ग्रंथ "क्रान्तिके समाजशास्त्र"में क्रान्तिका अवश्यम्भावी परिणाम बताया है, हमारे साथभी लागू होता है। मैं अत्यन्त विनीत भावसे निवेदन करता हूँ कि इसके समान परिणाम समान अवस्थाओंमें ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उन अवस्थाओंमें जहां विश्लेषणात्मक बुद्धिके प्रति उपेक्षा एवं चेतनाके बौद्धिक पक्षके प्रति अविश्वास करने और इस कार्यको सहज प्रेरणाओंपर छोड़ देनेकी प्रवृत्ति होती है। विदेशी सत्ताकी बौद्धिक जाग्रति उत्पन्न करनेके प्रति उदासीनताके कई कारण थे। अनुशासनके लिए बौद्धिक जागरूकता खतरनाक थी। फिर बुद्धिवाद एंग्लो-सैक्सनकी अनुभवात्मक प्रतिभा और प्रेरणामूलक स्वभावके विरुद्ध भी था। किन्तु भारतीय संस्कृति कभी भी बुद्धिसे संकुचित नहीं रही। यहाँ तक कि उसके मूढ़ग्राह और पारलौकिक रहस्यवाद भी उसके लिए अरुचिकर नहीं हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि वैधानिक पद्धति और अहमन्यताके साथ हमने बुद्धिके प्रति अविश्वास भी एंग्लो-सैक्सन जातिसे लेकर सुरक्षित रखा। यह उत्तराधिकार राजनैतिक अथवा आर्थिक व्यवहारके लिए भले ही लाभदायक हो किन्तु संस्कृतिके लिए हानिकारक हो सकता है।

मैं नहीं चाहता कि मैं आपके सम्मुख ज्ञान अथवा विश्ले- षणके प्रति तिरस्कारपूर्ण सन्देहके प्रमाण उपस्थित कर[illegible] क्योंकि मैं ऐसा नहीं मानता कि देशमें उसका आधिक्य [illegible] और मुझे ऐसे तिरस्कारके प्रति कोई शिकायत ही है, गो[illegible] तिरस्कारके योग्य भी कुछ लोग तो होंगे ही। मैं तो [illegible] इतना ही कहना चाहता हूँ कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन[illegible] हमारी चेतनाके एक अंग को—राजनैतिक अंगको [illegible] स्पर्श किया, बाकी अंग अछूते ही रहे। इसका परि[illegible] यह हुआ कि हमारे ज्ञानका हमारे जीवनसे कोई सम्ब[illegible] नहीं रहा। मैं समझता हूँ कि आपने मेरे विचारके आ[illegible] को स्पष्टतया समझ लिया होगा। संस्कृति स[illegible] चेतनासे संबन्धित है—उसके लिए हमारे चेतन[illegible] सम्पूर्णताको नियोजित करनेकी आवश्यकता होती [illegible] नहीं तो भावुकताके मरुस्थलमें उसका विनष्ट हो जा[illegible] अवश्यंभावी है। क्या आपने हमारे फिल्मी ग[illegible]

कहानियों तथा उपन्यासोंकी अत्यधिक भावुकता पर कभी ध्यान दिया है। सस्ती भावुकता वह है जिसका उदय एकांगी, विभक्त, एकान्त चेतनासे होता है। हमारा समाजवादी साहित्य भी अत्यन्त भावुक है। विश्लेषणकी कुछ मात्रा ही इसे वह ठोस आकार प्रदान कर सकती है जिसका अभाव इसमें खटकता है, चाहे वह उससे कोई पूर्ण रूप न दे सके।

दूसरे शब्दोंमें इसका मतलब यह हुआ कि हमारी राजनीतिने हमारी संस्कृतिको विनष्ट कर दिया। परन्तु आप मुझे इससे गलत मत समझ बैठें। भारत सरीखे एक औपनिवेशिक देशमें राजनीतिका स्थान अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक ही था। किन्तु यह भी सही है कि राजनीतिमें उलझे रहनेके कारण हमने बहुत कुछ खोया भी; राजनीतिके मौलिक सिद्धान्तोंका निर्माण भी इसीमें शामिल है। त्यागके जोशमें और कभी-कभी निराशाके साथ भी हम कार्य-क्षेत्रमें उतरे अवश्य, किन्तु ज्ञानकी पूंजीका हमारे यहाँ प्रायः अभाव ही रहा। जिनके लिए बुद्धिकी पर्याप्त मात्रा उपलब्ध भी थी वे अपेक्षित अनासक्त दृष्टिको स्थिर नहीं रख सके। हमारे बुद्धिसम्पन्न नेताओंकी जीवनियाँ देशभक्ति और वास्तविकताके नाम पर समझौतेके उदाहरणोंसे भरी हुई हैं जो कि अत्यन्त खेदजनक हैं।

किसी जमानेमें सामाजिक स्थिरता इतनी सुरक्षित थी कि बुद्धिजीवी वर्ग उसका नीति-निर्धारण करते हुए भी निर्लिप्त रहता था। किन्तु यह दीर्घकालीन उथल-पुथलका युग है जब कि अन्तरजातीय व्यवहारकी गति काफी तीव्र हो गयी है। ऐसी स्थितिमें मन्त्रियों या ब्राह्मणोंकी कोई श्रेणी नहीं रखी जा सकती है और न राजकीय आदेशोंके बलपर ही इसकी सृष्टि की जा सकती है। अगर यह सम्भव भी हो तो हमारी जन्मना जातीय व्यवस्था तथा कुटुम्ब-भक्ति शीघ्र ही ऐसे विचारकों के योजना-निर्माण-मण्डलको आनुवंशिक रूप प्रदान कर देगी। किन्तु समाजमें ऐसे एक समुदायकी सदैव आवश्यकता रहती है। अगर ऐसी विद्वन्मण्डलीको जाति-प्रथाके छुआछूतसे मुक्त रखा जा सके और उसके अन्दर मिथ्या, संकीर्ण, यान्त्रिक विशेषीकरण जैसी दुष्प्रवृत्तियोंको प्रश्रय न मिले तो उसके द्वारा निष्पक्ष भावसे किया गया वैज्ञानिक विश्लेषण काफी उपादेय सिद्ध होगा, और इससे हमारी संस्कृतिकी दलगत भ्रष्टतासे भी रक्षा हो सकेगी। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि किसी प्रश्नपर पक्ष-विशेषका समर्थन स्वतः अवैज्ञानिक नहीं होता। वास्तव में वैज्ञानिकोंका तथाकथित निष्पक्ष दृष्टिकोण प्रयोग सम्बन्धी उनके व्यवहारसे सिद्ध नहीं होता है। जब कभी वह किसी असामान्य क्रियाका स्पष्टीकरण करनेके लिए दूसरे सिद्धान्तोंकी शरण लेता है, तब भी वह 'कार्यकारण सिद्धान्त' की परिधिके अन्दर ही रहता है। ऐसे समयमें वह गणनात्मक यंत्र-विज्ञानका सहारा लेता है। विज्ञानमें जिसे निष्पक्षता कहते हैं, वह वास्तवमें सूक्ष्मरूपसे वस्तु-स्थितिका ही समर्थन रहती है। वस्तुओंकी प्रवृत्तिके सम्बन्धमें विशिष्ट मत होनेपरभी उनकी वास्तविक स्थिति का निष्पक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप साहित्यमें कोई भी वस्तुवादी रोमैण्टिक काव्यके अन्दर चित्रित पीड़ाका भलीभांति रसास्वादन कर सकता है; कोई भी समाजवादी पूँजीवादी उत्पादनकी जटिल कार्य-प्रणालीको समझ सकता है और उससे लाभान्वित हो सकता है; कोई भी आधुनिक चित्रकार प्रारम्भिक क्रिश्चियन चित्रोंसे आनन्द और शिक्षा प्राप्त कर सकता है, यद्यपि यह कठिन कार्य है। किन्तु संकटकालमें तो छुरेकी धारपर चलना ही पड़ता है। अतएव यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संस्कृतिको राजनैतिक दलबन्दियोंके प्रभावसे मुक्त करनेके लिए ऐतिहासिक दृष्टिके साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी अपनाया जाय। किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसी विद्वत्-परिषद सांस्कृतिक निर्माणकी योजना बना सकती है। मेरे विचारसे यह सम्यक् रूपेण सम्भव नहीं है। अगर हम यह मानते हैं कि संस्कृतिका सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन-प्रणालीसे है तो निस्संदेह हमें उसके उस वृहद् अंशको भी स्वीकृति और सम्मान देना पड़ेगा जो अव्यक्त चेतनामें छिपा रहता है। यह बात व्यक्तिके लिए जितनी सच है उससे अधिक समाज के लिए और उससे भी अधिक उन वर्गोंके लिए जिनके जीवनका आधार ही परम्परा-पूजा है। उदाहरणके लिए एक कारीगरको देखिए। वह अपने भौतिक साधनों —रंग और चित्रपट, शब्द और प्रस्तर-खण्डसे बँधा रहता है, किन्तु उनपर नियन्त्रण प्राप्त करनेके लिए वह अपने पूर्वजों और शिक्षकों द्वारा प्रदत्त कुछ विशेष युक्तियोंका उपयोग करता है। आगे चलकर वह इन साधनों

की रचना और कारीगरीके नियमोंको समझकर और उनका अनुगमन करके इन युक्तियोंमें कुशलता प्राप्त कर लेता है। फिर तो वह ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है कि अब अपने मौलिक भावों एवं आकृतियोंको अभिव्यक्त कर सके। इस अभिव्यञ्जनाके क्रममें एक और बात होती है जिसे आप चाहे प्रेरणा, प्रतिभा अथवा आकृतिकी सूझ कुछ भी कह लीजिए, किन्तु यह उसमें अवश्य विद्यमान रहती है। यह एक सर्वथा नवीन वस्तु होती है। यह उसके अनुभवोंका चाहे वह वैयक्तिक हो, अथवा पारिवारिक या सामूहिक, सारांश हो सकती है और व्यक्तिकी इसी प्रतिभापर उसके समूह, श्रेणी, गण, जाति और कभी २ राष्ट्रकी भी छाप पड़ी रहती है और उनसे उसकी दिशा निर्दिष्ट होती है। अतएव प्रत्येकका प्रभाव उसकी शिक्षा और अव्यक्त आनुवांशिकताका योग होता है। कोरी चेतनासे भी रचनामें कृत्रिमता आ जाती है। अधिकांश आधुनिक कला-कृतियोंमें यह दोष पाया जाता है कि उसमें जानबूझकर कोई विशेष प्रयोजन, उद्देश्य अथवा सिद्धान्त आरोपित करनेकी चेष्टा की जाती है जो या तो अनुकूल नहीं होता, अथवा अव्यक्त चित्त के संस्थानोंके सर्वथा विरुद्ध होता है। इससे रचनामें व्यक्त विचारोंका और सामूहिक अव्यवत चेतनाकी भावनाओंके साथ सामञ्जस्य नहीं हो पाता। इसका परिणाम अस्थिरता होता है। यही प्रचारात्मक कलाकी वास्तविक त्रुटि है। सिवाय इसके ऐसी कलामें और कोई वास्तविक दोष नहीं निकाला जा सकता। उपनिषद्, रामायण, महाभारत सभी अपने-अपने मतवादका प्रचार करते हैं किन्तु उनमें व्यक्त और अव्यक्तका सुन्दर समन्वय होता है। उनके प्रतीकोंसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतएव अगर सर्वहारा वर्गकी विजय-घोषणा करनेवाला समाजवादी साहित्य प्रचारसे ही ओतप्रोत समझा जाता है तो इसका मुख्य कारण यही है कि उसमें संस्कृतिके उन दोनों अवयवोंका संग्रंथन नहीं हो पाया है, और यह दोष उसके अन्दर प्रतीकोंके अभावसे स्पष्ट हो जाता है। किन्तु व्यक्त और अव्यक्त चित्त दोनों पृथक, परस्पर विरोधी शक्तियाँ नहीं हैं। एककी दूसरेसे उत्पत्ति और उसीमें उसकी परिणति भी होती है। इसके लिए दोनों ओर सहिष्णुताकी आवश्यकता होती है। ऐसी जटिल परिस्थिति संकट उत्पन्न करती है, किन्तु संकटकी स्थिति यदि संकटका ज्ञान उत्पन्न करे और यदि ऐतिहासिक विवेचना तथा वैज्ञानिक विचार-पद्धतिकी सहायतासे इस चेतनामें तीव्रता उत्पन्न की जाय तो इस असामञ्जस्य की अवधिको कम किया जा सकता है और उसे उपयोगी आदान-प्रदानके अवसरमें रूपमें परिणत किया जा सकता है, इस द्वन्द्वके क्षेत्र और उसकी तीव्रताको कम कर उसे सृजनात्मक रूप प्रदान किया जा सकता है। यदि यह क्रान्तिकारी स्थिति स्वच्छन्द रूपसे विकसित होती है तो व्यक्त चित्तपर अव्यक्तका ही प्रभुत्व होगा। किन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। प्रतिक्रान्तिमें भी यही बात होती है। इसलिए भविष्यकी ओर देखनेवाली दृष्टि अर्थात् इतिहासकी दिशाको देखनेवाली दृष्टि आवश्यक होती है। यही दृष्टि प्रगतिशील साहित्यका प्राण है। इसलिए अत्यन्त सावधानीके साथ उस आच्छन्न क्षेत्रमें प्रगतिके लिए वैज्ञानिक योजना बनाना ही एकमात्र सही दृष्टिकोण है। दूसरे शब्दोंमें यद्यपि संस्कृतिके उस भागकी योजना नहीं बनायी जा सकती जिसका सम्बन्ध अचेतनसे है, फिर भी उसमें प्रवेश करने तथा उसे उसकी गुहासे बाहर निकालनेके लिए प्रत्येक प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार संस्कृतिकी योजना बनानेका अर्थ संस्कृतिके लिए आवश्यक स्थितियोंको उत्पन्न करना है।

संस्कृतिकी स्थितियाँ स्वतन्त्रताकी द्योतक हैं क्योंकि जैसा कि मेलिनोवस्कीने अपने अन्तिम तथा सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ "स्वतंत्रता और सभ्यता" में कहा है, स्वतंत्रता संस्कृति की देन है। स्वतंत्रतामें चुनावकी स्वतंत्रता जिसका सम्बन्ध उद्देश्य-निर्धारणसे है, साधन-सम्पत्ति जिसका सम्बन्ध उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए आवश्यक साधनोंसे है, और प्राप्त उद्देश्योंका पूर्ण उपभोग शामिल है। इनमेंसे प्रथमके लिए तर्क-वितर्क तथा राय प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता, द्वितीयके लिए संगठन तथा कार्यकी स्वतन्त्रता और तृतीयके लिए अभावके भय तथा सुखभोगकी बाधाओं को हटाकर सबके लिए न्याय प्राप्त करनेकी स्वतन्त्रता वांछनीय है। स्वतंत्रताके ये अंग संस्कृतिके लिए नितान्त आवश्यक शर्तें हैं। मेलिनोवस्कीके शब्दोंमें "संस्कृति परस्पर सम्बद्ध संस्थाओंकी पद्धति के द्वारा कार्य करती है। सांस्कृतिक मूल्य उसके आदर्शों, पौराणिक कथाओं, राजनैतिक विधान तथा आर्थिक सिद्धान्तमें समाविष्ट रहते हैं। इसके साधन संस्थाओंके संतुलित व्यवहारके

रूपमें कार्य करते हैं। जीवनका स्तर सम्पत्ति, अधिकार, शक्ति, कला, विज्ञान तथा धर्मके क्षेत्र, स्तर, वितरण और उपभोगपर निर्भर रहता है। किसी भी संस्थाका प्रत्येक सदस्य अपनी निजी विशिष्ट स्वतंत्रताका उपभोग उसी अनुपातमें करता है जिस अनुपातमें उसका योजना बनाने, उसे कार्यान्वित करनेके साधनोंतक पहुँचने और उसके प्राप्त फलमें हिस्सा बँटानेमें भाग होता है। अपनी छोटीसे छोटी तथा नगण्यतम अभिव्यक्तियोंमें भी स्वतन्त्रता समाजके प्रत्येक सदस्यको सफलताकी तथा उसके द्वारा व्यक्तिगत मूल्योंके सम्पादनकी प्रतीति उत्पन्न करती है। स्वतन्त्र संस्कृतिमें लोग अपने उद्देश्योंको निर्दिष्ट कर सकते हैं तथा इन प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए कार्यारम्भ कर सकते हैं, और इस प्रकार सम्पादित कार्योंके द्वारा प्राप्त फलका उपभोग कर सकते हैं।" आप इसे तुरत स्वीकार कर लेंगे कि यह दृष्टिकोण तत्वतः प्रयोजनवादी है। मैंने किसी दूसरे संदेहात्मक सैद्धान्तिक आधारसे बचनेके लिए ही एक बहुत बड़े समाजशास्त्रीके कथनको उद्धृत किया है। संस्कृति और स्वतंत्रताके पारस्परिक सम्बन्धको समझनेके लिए तथा अपनी प्राप्त स्वतन्त्रता एवं परम्पराप्राप्त संस्कृतिके तथ्योंको जाँचनेके लिए इस सिद्धान्तको मैं एक कसौटीके रूपमें उपस्थित करता हूँ। पारस्परिक सम्बद्धताके इस दृष्टिकोणमें संस्कृतिके अनुचित दबावोंके विरुद्ध एक चेतावनी भी अन्तर्निहित है जो दबाव स्वतन्त्रताको लंगड़ी कर देते हैं, और स्वतन्त्रताके उन रूपोंके विरुद्ध भी जो संस्कृतिको विकृत कर देते हैं। मैं उन खतरनाक सम्भावनाओंसे आपको आगाह करनेके लिए कुछ प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ। सबसे पहले हम संस्थाओंको ही ले लें। जैसे, परिवार, जाति, ग्राम्य-समाज , नागरिक जीवन, विश्वविद्यालय आदि। किसी जमानेमें इनमेंसे प्रथम तीन आपसमें सम्बद्ध थे। क्या वे आज भी वैसे ही हैं? क्या आज हम कह सकते हैं कि वे सन्तुलित सामञ्जस्यके साथ कार्य कर रहे हैं? क्या ये संस्थाएं आज भी संस्कृतिके साधक हैं? रूढ़िगत उत्तराधिकार पर प्रतिष्ठित सम्मिलित कुटुम्ब, जन्मना जाति-प्रथा, ग्राम्य-जीवनकी आत्म-निर्भरता, ये सारी चीजें आजकी उन नयी शक्तियोंके सामने टूटती जा रही हैं जिनको आत्मसात् करने या कार्यान्वित करनेकी इस परम्परागत सांस्कृतिक व्यवस्थामें क्षमता नहीं है। हम जानते हैं कि हमारे शहरोंमेंसे अधिकांश अभीतक अपना सांस्कृतिक स्वरूप विकसित करनेमें असमर्थ रहे हैं, और जो समर्थ हुए हैं वे लखनऊ या बनारस की तरह अपने प्राचीन रूपको ही बनाये हुए हैं। और अन्य जो कानपुरके समान हैं अभीतक सांस्कृतिक सामञ्जस्यको प्राप्त नहीं कर सके हैं। अर्वाचीन भारतीय शहरोंकी मजदूर बस्तियाँ, उनकी बढ़ी हुई मृत्यु-संख्या, म्युनिसिपल बोर्डोंके झगड़े, ये सब प्राचीन और नवीन संस्थाओंके बीचके प्रमुख वैषम्यके ही लक्षण हैं। क्या हम लोग एक नवीन साम्यपर पहुंच सके हैं? क्या हमारे सांस्कृतिक मूल्य हमारे राजनैतिक विधान और आर्थिक सिद्धान्तमें समाविष्ट हैं? इस सम्बन्धमें ग्राम-पंचायतको विधानका एक अंग करार देनेकी माँगपर कानून मन्त्रीका तीव्र प्रत्युत्तर स्मरण होगा, वह उत्तर अर्द्ध सत्य ही था। अभी भी भारत ग्राम्य-संस्कृतिके ढांचेको रखे हुए है; यहाँतक कि हमारे अर्वाचीन सामाजिक मूल्य भी अभी ग्राम्य-संस्कृतिसे ही बँधे हुए हैं। उस आलोचनाका सत्य इस तथ्यमें निहित है कि उन सामाजिक मूल्योंके विकासमें जिनके लिए ही विधानमें व्यवस्था की जा रही है, संस्कृतिका यह ग्रामीण ढाँचा एक रुकावटका काम करेगा। किन्तु उस माँगमें भी वास्तविकता है। कोई नहीं जानता कि ये हमारे देहात कबतक अपने स्वरूपको बनाये रखेंगे। उन्हे अपने अस्तित्वके लिए आनेवाले जमानेमें संघर्ष करना पड़ेगा और उस क्रममें ये अपना रूप परिवर्तित करेंगे। तबतक विधानमें वह धारा बनी रहेगी। कमसे कम मैं अपने लिए तो कह सकता हूँ कि मैं ग्रामीण सामाजिक मूल्योंकी, जैसे कि वे आज हैं, नित्यताको स्वीकार नहीं कर सकता। हमारी संस्कृति दिन प्रति दिन शहरी होती जा रही है, और जितना ही शीघ्र हम लोग आजके वैषम्यके निराकरणका उपाय कर लेंगे उतनी ही सरलतासे हम इस संक्रमण को पार करके संस्कृतिके एक नये दौरमें प्रवेश कर सकेंगे।

और उसके बाद आर्थिक सिद्धान्तका प्रश्न सामने आता है। अगर आप सिद्धान्तसे तात्पर्य एक अस्पष्ट आकांक्षा मानते हैं तब तो भारतका आर्थिक सिद्धान्त निश्चित रूपसे समाजवादी है। इसके विपरीत अगर सिद्धान्तका अर्थ कुछ विशेष कार्योंका विधान और कुछका निषेध होता है तो भारतका आर्थिक सिद्धान्त अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें, अन्य आनुषंगिक बुराइयोंको निकालकर

मुक्त उद्योगका सिद्धान्त है। विधानके आधारभूत आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्त शुभ संकल्पमात्र हैं। जब वे आर्थिक व्यवहारका एक आदर्श स्थापित करनेमें सफल हो जांयगे तभी उनकी विचार-धारा सांस्कृतिक प्रेरणाका रूप प्राप्त करेगी। तबतकके लिए शक्ति-प्रयोगके अन्य रूपोंके मुकाबिले इस सांस्कृतिक शक्ति के निर्माणमें राज की सहायता वांछनीय होती, क्योंकि राज इस प्रकारकी अकेली वर्तमान संस्था है जिसका प्रभाव व्यापक और सर्वग्राही है।

धनकी वर्तमान दशा, उसकी वितरण तथा उपभोग-प्रणालीको देखते हुए यह बात मेरी समझमें नहीं आती कि इस प्रणालीमें किसी समाजके प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह किस प्रकार संभव है कि वह योजना-निर्माणमें अपनी विशिष्ट शक्तिका स्वतंत्रतापूर्वक उपभोग कर सके और उस योजनाको कार्यान्वित करनेके साधन भी उसे पूर्णमात्रामें प्राप्त हों, तथा उससे उत्पन्न लाभमें भी उसका उचित भाग हो जो कि संस्कृतिके लिए प्रारंभिक आवश्यकताएँ हैं। वर्तमान स्थितिमें व्यक्ति किस प्रकार सफलता और इसके द्वारा व्यक्तिगत मूल्योंकी प्राप्तिका अनुभव प्राप्त कर सकता है? व्यक्तिगत उद्योगकी स्वतंत्रता संस्कृतिका आवश्यक साधन नहीं है। बालिग मताधिकार अधिक-से-अधिक व्यक्तिको मतदानकी स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है, लेकिन यह भी संस्कृतिका आवश्यक अंग नहीं है। और यही वह नाभि-तंतु है जो संस्कृतिको जनतंत्र तथा समाजवादसे बाँधता है। आज संस्कृति वर्गविशेषके विलासकी सामग्री है।

आपने बहुत देर तक धैर्य धारण किया। आपके इस कष्टके लिए मुझे खेद है। मैंने पहले ही आपको अपनी अव्यावहारिकता तथा अनिश्चयतासे आगाह कर दिया था। आपके सामने मैंने कुछ विचारोंका विश्लेषण करना चाहा था। आप इसका और विशद विश्लेषण कीजियेगा। अतएव, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि अब आप राष्ट्रीय आन्दोलनका परीक्षण करें जिसने हमें स्वशासनका सुअवसर प्रदान किया, लेकिन जिससे हमारी जीवन-यापनकी विधि अर्थात् हमारी संस्कृतिको परिवर्तित करनेमें उसी प्रकारकी सफलता नहीं मिली, क्योंकि उसे हमने मुख्यतः स्वेच्छावाही शक्तियोंकी और थोड़ी बहुत ऐच्छिक शक्तियोंकी दयापर छोड़ दिया था। ऐसी दशामें विगत भूलोंका परिमार्जन करना तथा शाश्वत तत्वोंका समर्थन करना आपका कर्तव्य हो जाता है। इस आत्म-परीक्षणमें नेताओंकी आलोचनाके लिए कोई स्थान नहीं है। एक वस्तुनिष्ठ तथा ऐतिहासिक विश्लेषण होना चाहिए। दूसरी आवश्यकता उस रीतिकी छानबीन करनेकी है जिसकी हम सम्प्रति चर्चा कर रहे हैं तथा अपना रहे हैं ताकि हमारी स्वतंत्रताके लिए उपयुक्त सांस्कृतिक ढाँचा तैयार हो सके। उक्त छानबीन शुद्ध वैज्ञानिक पद्धतिसे होनी चाहिए। एक बात पर मैं आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहूँगा। आज चारों ओर एकताकी जबर्दस्त पुकार सुनायी पड़ रही है। राजनीतिज्ञ, राष्ट्रभाषाके समर्थक तथा पूँजीपति--सब एकता चाहते हैं जो उनकी दृष्टिसे अखण्ड हिन्दुस्तान ही है। राजनीतिज्ञ संकटकालकी दुहाई देकर नवजात राष्ट्रके प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णयका निष्ठापूर्वक पालन करवाना चाहते हैं, राष्ट्रभाषाके समर्थक सांस्कृतिक एकताकी आवश्यकताके नामपर एकताकी पुकार करते हैं तो पूँजीपति उत्पादनकी साम्यावस्था बनाये रखनेके लिए ही एकताकी रट लगाता है। मैं चाहता हूँ कि आप इस बातपर ध्यानपूर्वक विचार करें कि क्या भारतीय इतिहासमें इस प्रकारकी एकरूपताका उदाहरण मिलता है, चाहे आजकी वह गंभीर आवश्यकता ही क्यों न हो? कहनेका तात्पर्य यह कि आपको उस बहुपरिचित 'वाद' का परीक्षण करना चाहिए जिसके अनुसार भारतका उत्कर्ष एक केन्द्रीय शासन सम्बन्धी एकतामें—यथा हिन्दू, बौद्ध तथा मुसलमान सम्राटोंके कालमें हुआ और जब यह एकता अनेक खंडोंमें विभाजित हो गयी तो इसका अपकर्ष हुआ। उत्कर्षापकर्षका यह सिद्धान्त विवादास्पद है। आपको उपयुक्त सिद्धान्तके उपसिद्धान्त अर्थात् प्रादेशिक संस्कृतियों की परिस्थिति तथा मूलकी भी छानबीन करनी चाहिए। यह देखना चाहिए कि इन्होंने अबतक संस्कृतिरूपी पच्चिकारीमें योग दिया है अथवा नहीं, या अब भी ये सांस्कृतिक धाराको प्रभावित कर सकते हैं या नहीं। यह भी देखना है कि अवान्तर संस्कृतियोंके स्तरपर उतरनेपर अखिल भारतीय संस्कृतिके गुणोंका ह्रास होगा अथवा नहीं। विश्व-संस्कृतियोंके प्रकरणमें आपको भारतीय संस्कृतिका सम्बन्ध भी स्थापित करना होगा। उपर्युक्त तमाम विषयोंमें आपकी संस्थापनाओंका जो स्वरूप होगा उससे आजकी बहुत-सी तात्कालिक समस्याओंके सम्बन्धमें आपकी मनोदशा निर्धारित होगी। एक

तीसरी बातकी ओर में आपका ध्यान आकर्षित करूँगा—वह यह कि किस हदतक संस्कृति नियोजित की जा सकती है। क्या आप उस विशाल एवं शक्तिशाली अचेतन मनके खण्डको छोड़ ही देंगे अथवा अपने चेतन विचारकी आदत ऐसी बना डालेंगे जिसके परिणाम-स्वरूप कालक्रममें यह भी अचेतनका एक भाग बन जाय? स्मरण रखिए कि अचेतन मनके जीवित रहने और अपने कार्यके लिए अवसर चुननेकी अपनी विशिष्ट पद्धतियाँ हैं और ये पद्धतियाँ प्रायः तर्कशक्ति या बुद्धिसे बलवती तथा सूक्ष्म होती हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा हिन्दू महासभाके उभारसे चेतन मनपर अचेतन मनका छलपूर्ण प्रभुत्व स्पष्टरूपसे लक्षित होता है। तथापि संस्कृति सदैव मनुष्यकृत है। अपने अस्तित्वकी कीमत इसे आन्तरिक शक्तियोंके साथ निरन्तर तनावके रूपमें चुकानी ही पड़ती है। हम अधिक-से-अधिक मानसिक व्याधियोंके प्रभावको कम कर सकते हैं। किस प्रकार हम यह करेंगे, यही अन्तिम प्रश्न है। जीवन-यापन की उस रीतिसे, जिसे हम पूँजीवादी संस्कृतिके नामसे पुकारते हैं, जीवनमें असमान अवसर, मजदूरीके लिए गुलामी तथा आत्मसम्मानके ह्रासके कारण मानसिक व्याधियोंकी संख्या तथा तीव्रतामें वृद्धि होती है। यह रीति व्यक्तित्वको विकसित होनेका अवसर नहीं प्रदान करती। जिस 'स्व' की ओर यह संकेत करती है वह जीवनवृत्तिके चुनावकी स्वतंत्रता नहीं है। इस प्रणालीमें मनुष्यको इच्छानुसार काम करने तथा उस कामके प्रतिफलका उपभोग करनेका अधिकार प्राप्त नहीं है। वह साधारण व्यक्तिको संस्थाओंके निर्माण करने तथा उन्हें उच्चतर जीवनका साधन बनानेमें सहायता नहींकरती। अतः आपको यह तय करना है कि आप कलाकार, शिल्पकार तथा नागरिक होनेके नाते किस हदतक बुद्धिपूर्वक समाजवाद ग्रहण करने जा रहे हैं। प्रचारका प्रश्न गौण है। प्रचार तो आंशिक निश्चयका प्रमाण मात्र है। जिसकी धारणा दृढ़ हो जाती है वह चिल्लाता नहीं फिरता, बल्कि प्रशान्त रहता है और इसी प्रशान्तिमें कलाका गुण सन्निहित है।

मैं नहीं समझता कि मुझे पुनः आपसे यह निवेदन करनेकी आवश्यकता है कि प्रवंचनाका जो समाधान मैंने आपके सामने रखा है वह तत्वतः प्रत्याशित, भविष्य-दर्शी और साधनान्वेषी है। जिस प्रकारके ऐतिहासिक विश्लेषणका मैंने निर्देश किया है उसका तात्पर्य अतीतके मुर्दे उखाड़नेसे नहीं है, चाहे वह कार्य कितना ही महत्व-पूर्ण क्यों न हो। शोधकार्यसे, जो कि मूलतः पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रयास हैं, हमें अपने ज्ञानकी वृद्धि तो करते रहना चाहिए, लेकिन ऐतिहासिक विश्लेषणका एकमात्र उद्देश्य ऐतिहासिक विकासके मूलस्वरूपको जानना है। वह स्वरूप परिवर्तन है—वह परिवर्तन जो जीवित, स्पन्दनयुक्त, समकालीन वर्तमान पर अतीतके अन्तर्भावके रूपमें सन्निहित है। लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि इतिहासका कार्यक्षेत्र हमारे कार्यकलाप तथा हमीं तक सीमित नहीं है। कभी-कभी तो जोरशोरसे लेकिन अक्सर रुक-रुककर यह भविष्यमें भी प्रवेश करता है। पूरी-की-पूरी जातियोंके कुण्ठित जीवनके अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं। वे तामसिकताके कारण ही जीवित हैं। निश्चय ही यह कदापि वांछनीय नहीं है कि भारतीय संस्कृति जहाँ-की-तहाँ अवस्थित रहे। इससेभी अवांछनीय बात तो यह होगी कि माताके गर्भमें अवरुद्ध बालककी तरह वह आदिम सुरक्षा और मनोराज्यमें विचरण करनेके लिए पुनः गर्भमें चली जाय। संक्षेपमें, सांस्कृतिक पुनरुज्जीवनवादकी कोई भी रीति प्रवंचनाका उपचार नहीं कर सकती। ऐसा करना परिवर्तनके नियमके विरुद्ध अपराध है। आंतरिक साधनोंमें आकुंचित होना, जिसकी कि आजकी संस्कृतिके संकटके समाधानके लिए टॉयनबीने सिफारिश की है, तभी स्वीकार्य होगा जब कि वह अगला कदम उठानेकी तैयारीके रूपमें हो। यह पथ सरल नहीं है, न पथिक ही सर्वदा अग्रसर हो रहे हैं लेकिन सामान्य दिशा अग्राभिमुख है,जैसा कि उपनिषदोंने कहा है—'चरैवेति'। यदि भलीभाँति विचार किया जाय तो हमारी परम्परामें बुद्धिको नष्ट कर देनेका स्थान नहीं है बल्कि वह उसे विपदाओं और अनिश्चितताओंका भी सामना करनेकी शक्ति प्रदान करती है। इसी प्रकार अचेतन मनका महत्त्व भी पीछे हटनेके लिए ही नहीं है बल्कि यह कार्य करनेकी प्रेरणा देता है, बशर्ते हम उस प्रेरणाका स्वरूप पहचानें और उसे काममें लानेकी योग्यता प्राप्त करें। अतएव, संस्कृति आगे कदम उठानेकी माँग कर रही है। धन्यवाद।

काशीमें युक्तप्रान्तीय नव संस्कृति सम्मेलनके उद्घाटनके अवसर पर दिया गया अभिभाषण।

बापू को न बचा सका

डा० जगदीशचन्द्र जैन

[डा० जगदीशचंद्रजी संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यके माने हुए विद्वान हैं। यह कांग्रेसी हैं। १९४२ के आन्दोलनमें आपने जेल-यात्रा भी की है। गान्धी-हत्याकेसमें आप प्रमुख गवाह थे। जजने अपने फैसलेमें कहा है कि यदि पुलिसने सतर्कतासे काम लिया होता तो महात्माजीकी हत्या न होती। इस लेखको पढ़कर पाठक बहुत कुछ समझ सकते हैं। यह "बापूको न बचा सका" ग्रन्थका एक अंश है। यह ग्रन्थ "जागरण साहित्य मन्दिर" (बी० २१।१५१ कमच्छा, बनारस) से शीघ्र ही प्रकाशित हुआ है।
—सम्पादक]

षड्यंत्रकारियोंके एक साथी मदनलालसे मेरा परिचय उस समय हुआ जब वह अक्तूबर महीनेमें मेरे पास नौकरीके लिए आया।

मदनलाल पंजाबका एक शरणार्थी था। उम्र उसकी बीस-बाईसकी होगी। गेहुँआ रंग, गठीला बदन, लम्बा कद, लम्बा चेहरा। चैम्बूरमें शरणार्थियोंके कैम्पमें रहते-रहते वह तंग आ गया था।

२६ अक्तूबरकी शामको वह मेरे पास आया। उस समय कुछ और मित्र बैठे हुए थे। मैंने परिचय कराते हुए कहा—ये पंजाबके शरणार्थी हैं, पंजाबमें इन्होंने बहुतसे लोगोंकी जान बचायी है, इसमें इनकी एक उँगली भी कट गयी है, ये कुछ काम चाहते हैं।

शरणार्थी कहने लगा—यहाँके 'एम्पलॉयमेंट एक्सचेंज' में मैं प्रायः रोज चक्कर लगाता हूँ। लेकिन एक ही उत्तर मिलता है कि जगह खाली नहीं। मैंने अब निश्चय करलिया हैकि यदि मुझे किसी दफ्तरमें चपरासी-का काम भी मिल जाये तो मैं करनेको तैयार हूँ। इस समय मेरे मित्र अंगद सिंहजी (गान्धी-हत्याकाण्डके मुकदमेमें आप सरकारी गवाह थे) भी उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि चपरासी बननेकी अपेक्षा तो आप साग—भाजी बेंचनेका धंधा क्यों नहीं करते? बसईमें बहुत सस्ती भाजी मिलती है, वहाँसे लाकर बम्बईमें बेंचिये। मैंने कहा—बात तो ठीक है,और यदि तुम आगे पढ़ना चाहो तो मैं अपने कालिजमें भरती करानेकी कोशिशकर सकता हूँ। लेकिन शरणार्थीने जवाब दिया—साग-भाजीका व्यापार करनेके लिए पैसा कहाँ है?

मैंने पूछा—अच्छा, किताबें बेंच सकते हो? उसमें पैसेकी जरूरत नहीं? शरणार्थी खुश होकर बोला—हाँ, यह काम कर सकता हूँ। मैंने कहा—मैं तुम्हारे वास्ते प्रकाशकसे किताबें मँगवा दूँगा और तुम्हें २५ प्रतिशत कमीशन मिलेगा। कहने लगा—तो लाइए किताबें, आज ही से काम शुरू कर दूँ। मैंने तीन किताबें दे दीं। शरणार्थीने अपना पता लिखवा दिया—मदनलाल, १६२ चैम्बूर कैम्प—और कहा कि आजकी तारीखमें मेरे नाम तीन किताबें दर्ज कर लीजिए।

अगले दिन सुबह जब सैर करके आया तो देखता हूँ मदनलाल बैठा हुआ है। मैंने पूछा—कहो क्या खबर है? बोला—वे तीनों किताबें तो मैंने रात ही को चैम्बूर लौटते समय लोकल गाड़ीके एक सेकण्ड क्लासके मुसाफिरको बेंच दी थीं। उसने शरणार्थी समझकर मुझे दस रूपयेका नोट दिया। यह लीजिए कमीशन काट-कर आपकी किताबोंकी कीमत।

मदनलालकी कार्य-शक्तिका यह प्रथम परिचय था। उसने दस दिनमें लगभग दो सौ रुपयेकी किताबें

सकते। आप लोग जनताके सेवक हैं। उसने आपको इस पदपर बैठाया है। आप पर भरोसा रखकर आपके पास आया था जिससे आप बापूको बचा लें। आप उनको नहीं बचा सके यह देशका दुर्भाग्य, लेकिन आप उल्टा मुझे दोषी ठहराते हैं कि हत्यामें मेरा भी........?

काश, गान्धीजीकी आत्माने यह सुना होता !

मोरारजी भाई शान्त हो गये थे। कहने लगे--यदि मैं आपको षड़यंत्रकारी समझता तो अबतक कभी का आपको गिरफ्तार करा लेता। बात यह नहीं है। असलमें जो आप हम लोगोंको दोषी ठहराते हैं, उसका यह उत्तर है। यदि आपको कोई निष्कारण ही दोषी ठहराये तो आपको कैसा लगे? दिल्ली पुलिस जब बम्बई पुलिस-को दोषी बताने लगी तो उससे भी हमने यही कहा कि जो कुछ सूचना हमें आपके द्वारा २१ जनवरीको मिली थी, उसे हमने दिल्ली पहुँचा दिया था, इसमें हमारा दोष नहीं।

मैंने कहा तो अब समझा कि आप अपने आपको निर्दोष साबित करनेके लिए मुझे डराकर दोषी ठहराना चाहते हैं।

सरकारी बंगलेसे निकलकर इन विचारोंमें डूबा बसमें बैठा हुआ मैं चला जा रहा था। मालूम नहीं कहाँ? पता नहीं कि कॉलेज कब पहुँचा। देखा कि विद्यार्थियोंका एक विशाल जनसमूह गांधीजीकी शोक-सभामें एकत्रित है। मुझे भी बोलनेकी आज्ञा हुई। ज्यों-त्यों करके बोलने खड़ा हुआ। सम्प्रदायवाद और उसके पोषकोंको बहुत कुछ कह डाला और उसके जहरको नष्ट करनेके लिए जोरदार अपील की। चाहिए था कि बड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर महान् आत्माके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की जाती, लेकिन बोल गया बहुत कुछ।

× × ×

एक दिन अचानक एक पुलिसके अफसरने मेरे घर प्रवेश किया। मालूम हुआ कि वे खुफिया विभागसे आये हैं। सोचा कहीं वारंट लेकर तो नहीं आये। मैंने कहा कि आपलोगोंकी बहुत दिनोंसे इन्तजार थी। कहने लगे--आपके बयान लेनेके लिए आया हूँ। मैंने कहा--अपने बयान तो मैं २१ जनवरीको श्री बालासाहब खेर और श्री मोरारजी भाईको तथा १ फरवरीको मिस्टर नगरवालाको सुना चुका हूँ। बोले--लिखित बयान चाहिए। मैंने पूछा--उसका क्या होगा? कहने लगे--गांधी-हत्याकाण्डका मुकदमा चलेगा, उसमें आपकी शहादत होगी, आपको दिल्ली जाना पड़ेगा। मैंने पूछा--इसमें मेरे खिलाफ तो कोई बात नहीं? बोले--आपके खिलाफ इसमें क्या हो सकता है? आपने तो गांधीजीको बचानेके लिए सब कुछ किया।

ब्योरेवार मैंने अपना सब बयान लिखवा दिया। अन्तमें खेर साहब और मोरारजी भाईका नाम लिखने-की बात आयी तो पुलिस अफसर लिखनेमें आनाकानी करने लगा। मैंने कहा--तो फिर यह बयान ही फिजूल है, मैं बयान नहीं देना चाहता। कहने लगे--देखिए, इसमें हमारे मालिकोंपर आँच आती है। अस्तु, बहुत कहनेपर उन्होंने मंत्रियोंके नामकी जगह उच्च पदाधि-कारियोंको सूचना दी, ऐसा लिख दिया।

कुछ दिनों बाद बम्बईके चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेटके सामने हलफिया बयान देनेके लिए उपस्थित किया गया। जाति-उपजाति, धर्म आदि लिखानेके बाद मैंने अपना संक्षिप्त बयान लिखा दिया। देखा जाय तो पुलिसके सामने मैं अपना विस्तृत बयान दे चुका था, सिर्फ इसमें बम्बई सरकारके प्रधान मंत्री और गृहमंत्रीका नाम नहीं आया था, इसलिए मैंने केवल कुछ महत्वपूर्ण घटनाओंके साथ इन नामोंको इस बयानमें दर्ज करा दिया।

साहित्य में अतीत और अनागत

बैजनाथसिंह "विनोद"

भविष्यमें साहित्य-सृष्टिके वे सारे आधार बदल जाँयगे, जो भूतकालमें साहित्यका नियमन करते थे और आज भी जिनका अस्तित्व सर्वथा लुप्त नहीं हो गया है। भारतीय समाज आज भी प्रागैतिहासिक कालसे मुक्त नहीं हो सका है। प्राचीन कालमें गुलाम और शूद्र उत्पादनके साधनके रूपमें इस्तेमाल किये जाते थे, आजभी मजदूर-किसान वर्गको उत्पादनका साधन समझा जा रहा है। राज्य द्वारा व्यवहारतः यही सिद्धान्त मान्य भी है। किन्तु प्राचीन युगमें गुलाम और शूद्र संगठित नहीं थे। पर आज वह मिलोंमें मजदूरके रूपमें और खेतोंमें भूमिहीन किसान तथा साधारण किसान के रूपमें संगठित हैं तथा और भी होते जा रहे हैं। यह संगठनही समाजमें पुराने सम्बन्धोंको तोड़नेवाला और नये सम्बन्धोंका प्रतिष्ठाता है।

बूर्जुआ अर्थनीति संकटोंका निवारण नहीं कर पा रही है। वह न तो पूंजीपतियोंको हानि, कर्ज और दिवालि-यापनसे बचा पाती है; और न तो श्रमिकोंको बेकारी और दरिद्रतासे सुरक्षित ही रख पा रही है। परिणाम-स्वरूप एक किस्मकी रहस्य भावना की, जिसके बीज कबा-यली समाजमें प्रस्तुत हुए और कृषिके बादमें दास प्रथाके समय जिसे दार्शनिक रूप देकर समाजमें प्रभुवर्गको प्रति-ष्ठित किया गया, जिसे पूर्व जन्मका कर्म-सिद्धान्त कहते हैं, नियतिवाद जिसका अनिवार्य परिणाम है, और आजके वैज्ञानिक युगमें भी जो वर्तमान है, सृष्टि हुई। इसलिए "अपने मनकछु और है, कर्ताके मन और" की कहावत चरि-तार्थ हो रही है। आजभी समाज और साहित्यमें यह भावना मौजूद है कि मनुष्य कुछ चाहता है और अदृष्ट (उत्पादन-की सामन्तवादी-पूंजीवादी प्रणालीकी वह व्यापक वाह्य शक्ति, जिसका जीवनके प्रत्येक क्षेत्रपर प्रभाव पड़ रहा है) उस पर पानी फेर देता है। वर्तमान समाज-व्यवस्थामें जीवनकी सार्थकताके साधन थोड़ेसे लोगोंके हाथमें केन्द्रित होनेसे, साधारण जन अपनेको समर्थ नहीं पाते; विपरीत इसके वह अपनेको एक अदृष्ट शक्तिके हाथमें खेलता हुआ पाते हैं। असहाय-बोधकी इस भावनाका जन्म व्यक्तिगत पूंजी और राजके विकासके साथ ही प्रागैतिहासिक कालमें हुआ। इस असहाय-बोधसे मुक्ति पानेके लिए यथार्थमें इस समाज-व्यवस्थाको पलटकर समाजवादी व्यवस्था कायम करनी चाहिए। पर शक्तिके अभावमें पीड़ित होकर कुछ लोग एक काल्पनिक स्वर्ग की ओर अपनी दृष्टि ले जाकर उस कल्पनामें ही अपनी सार्थकताको इस प्रकार तृप्त करते हैं, जैसे गरीब बाप अपने बच्चेको आटा घोलकर दूधकी तृप्ति प्रदानकर सन्तोष प्राप्त करता है। कुछ लोग इसीलिए दुनियासे मुख मोड़कर अध्यात्म अथवा देव-जीवनकी सुखद कल्पनामें विचरण करते हैं; अधिकतर इन लोगोंका बैंक-बैलेंस किसी प्रकारसे तगड़ा रहता है। इसके अलावा कुछ लोग जीवनकी सार्थकताके सम्बन्धमें हताश होकर नाना छलसे 'चिरन्तन प्रिय' की ओटमें अपनी अतृप्त वासनाको कल्पनामें सार्थक करते हैं। यही नहीं कभी-कभी संघर्षमय जगतसे भागकर मृत्युतकके आलिंगनकी चाह व्यक्त करते हैं; रहस्यवाद अथवा छायावादके अन्दर तो यही भाव है। निराशावाद भी इसीका रूप है। पर असहाय-बोधसे मुक्ति पानेके लिए संगठित शक्तिके रूपमें आज मजदूर और किसान संघर्षरत हैं। वह अब प्रकृतिका दास न रहकर, प्रकृतिका स्वामी होनेके लिए लड़ रहा है। यही आजका जीवन-सत्य है। इसलिए प्रगतिशील साहित्य-में छायावादी और रहस्यवादी अथवा अध्यात्मवादी भावनाओंके लिए कोई भी स्थान नहीं रहेगा।

प्रगतिशील साहित्यका आधार समाजवादी संस्कृति-में है। समाजवादी संस्कृति अभी समाजमें प्रतिष्ठित नहीं है, पर उसका लक्ष्य स्पष्ट है और ऐतिहासिक शक्तियाँ उसी ओर धावमान हैं। समाजवादी समाजमें उत्पादन के सारे साधनोंपर उत्पादकोंके समाजका कब्जा करके, योजनानुसार उन साधनोंका प्रयोग करके, समाजके

Hindu fatalism as an ideological guise to support the status quo & the inequality & oppression of society.

साधारण जनगणको उस बन्धनसे मुक्त किया जायगा, जिसमें अबतक साधारण जनगणका चित्त आबद्ध था, जो बन्धन उनके सामने एक दुर्दमनीय वाह्य अतीन्द्रिय शक्तिके रूपमें वर्तमान था और जिससे हारकर ही अबतक जन-चित्तमें यह संस्कार शेष था कि "कर्ताके मन और" समाजवादी समाजमें मनुष्य केवल इच्छा करनेवाला ही नहीं होगा, बल्कि उसका प्रतिष्ठापक भी होगा। जब ऐसा होगा, उसी समय वह अन्तिम वाह्य शक्ति, जिसका मानव-मनपर गहरा असर है––और जिसका प्रतिबिम्ब अभीतक धर्ममें वर्तमान है, लुप्त हो जायगा। इसलिए कि प्रतिबिम्ब होनेके लिए उस समय कोई आधार ही शेष नहीं रहेगा। अतः एंगिलसके मतानुसार साहित्यके अन्दर धार्मिक भावनाओंका जो मानसिक आधार अभी चल रहा है, वह प्रगतिशील साहित्यमें अग्राह्य होगा; क्योंकि प्रगतिशील साहित्यका लक्ष्य ही दूसरा है।

रहस्यवादी, छायावादी भावधाराके अलावा आधुनिक साहित्यमें आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ भी प्रमुख रूपसे हैं। परन्तु यह आदर्शवादी साहित्य सामन्ती और बूर्जुआ श्रेणीसे उद्भूत है। इसके अन्दर अत्यन्त व्यक्तिकेन्द्रिकता भी है। इस साहित्यका रचयिता भले ही मध्यम श्रेणीका हो; पर इस साहित्यके अन्दर नाना छलसे बूर्जुआ श्रेणीके जीवनका ही प्रतिफलन हुआ है। यहाँतक कि राष्ट्रको परिवर्तनशील मानव-प्रकृतिसे परेकी वस्तु सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। जहाँ भी जन-जीवनके अभावोंका प्रसंग इस साहित्यमें आया है, वहाँ दया, निष्क्रिय करुणा और सादे जीवनका छलनामय उपदेश ही है। जनगणकी आशा और आकांक्षाओंके प्रति यह साहित्य उदासीन है। अर्थात् इसके निकट बूर्जुआ जीवनही सर्वोपरि है। परन्तु प्रगतिशील साहित्यका आश्रय जनजीवन ही होगा और उस जनजीवनकी भावी सार्थकता जनगणके उस वास्तविक जीवनपर आश्रित होगी, जिसका मुख इतिहासके अतीतकी ओर न होकर भविष्यकी ओर होता है। प्रगतिशील साहित्य जीवनकी सम्पूर्ण वास्तविकताको देखता, जानता और चित्रित करता हुआ आगेकी ओर चलेगा। 'आगेकी ओर' को वह समाजकी उत्पादन-पद्धति और सम्पूर्ण समाजपर उसके अर्थनीतिक सामञ्जस्यसे नापेगा। भविष्यकी ओर उसका मुख होनेसे वह उद्देश्यमूलक होगा। वह उत्पादन-पद्धतिको समाजकी सामयिक स्थितिसे बाँधेगा नहीं, समाजकी गतिमें उसको नियोजित करेगा। क्रान्तिमय संघर्षके अनुभवोंके आधार पर वह श्रमजीवी राष्ट्रकी स्थापना करेगा। इसलिए उसका भाव-सम्पद समाजकी अग्रगतिमें निवास करेगा। भाव-सम्पदकी सचलता और उत्पादन-पद्धतिके साथ समाजके अग्रगमनको देखनेके कारण उसमें तीव्रगतिसे प्रवाहित होनेवाली शक्ति होगी–– अर्थात् उसके निकट प्रतिक्रियाकी भावनाएं टिक न पाएंगी। इसलिए वर्तमानकी उस वास्तविकतासे उसको घृणा होगी जिसका मुख अतीतकी ओर होगा। इसी तरह उस वास्तविकतासे उसको प्रेम होगा जिसका मुख भविष्यकी ओर होगा–और जिसके अन्दर श्रमजीवी समाजकी भावधारा प्रवाहित होगी। इसीलिए प्रगतिशील साहित्यमें मुख्य चरित्रों या भावोंको जनगणसे विच्छिन्न अथवा विरुद्ध रूपमें नहीं दिखाया जायगा। उसके चरित जनगणके पूर्णतम प्रयासोंके रूप होंगे। उन चरित्रोंके अन्दरसे जनगणकी भावनाएं, आशा और आकांक्षाएं ऐतिहासिक शक्तिके रूपमें चित्रित होंगी। वहाँ स्त्रियों और पुरुषोंकी सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को केवल वैयक्तिक रूपमें ही नहीं, इतिहासकी निर्णायक शक्तिके रूपमें दिखाया जायगा। इसीलिए प्रगतिशील साहित्यका वातावरण कृत्रिम और बनावटी नहीं होगा; व्यावहारिक, जीवन्त, ग्रतिशील और दीप्त होगा। उसमें आन्तरिक विषयीनिष्ठ प्रक्रिया नहीं होगी; उसमें होगा व्यावहारिक जगतका वस्तुनिष्ठ वास्तववाद। वस्तुनिष्ठ वास्तववादी होनेके कारण ही श्रमजीवियोंके यथार्थ समाजवादी आदर्शों द्वारा नियंत्रित होना प्रगतिशील साहित्यके लिए आवश्यक होगा।

प्रगतिशील साहित्यमें सम्पातीकी वह दिव्य दृष्टि होगी जिससे वह अपने पास-पड़ोसको तो खूब अच्छी तरह देखेगा ही; साथ ही वह उसे भी देखेगा जिसे साधारण आँखें नहीं देख पातीं। वह उस रहस्यके पर्देको तार-तारकर देगा जिसके फानूसी झिलझिलमें साधारण आँखें चौंधिया जाती हैं तथा "कर्ताके मन और" की भावना मनके निभृत कोनेमें घर बना लेती है। वह सोनेकी लंकापुरीमें बन्दिनी जन-स्वाधीनता रूपी सीताको भी देखेगा, और देखकर सम्पूर्ण समाजको दिखाभी देगा, जिससे उस सोनेकी लंकाको खाक करनेके लिए, जन-

स्वाधीनता रूपी सीताके उद्धारके लिए संघर्षशील सर्वहारा वहाँ जाय।

समाजवादी समाज और संस्कृतिकी प्रतिष्ठा जिस तरह अपने आप नहीं हो जाती, उसी तरह प्रगतिशील साहित्यकी प्रतिष्ठा भी सहज नहीं है। प्रकृतिके दासत्वके संस्कारोंसे सर्वथा भिन्न प्रकृतिपर स्वामित्वकी भावधारा प्रगतिशील साहित्यमें प्रवाहित होगी। इसीलिए वह वास्तवका निरपेक्ष संवाददाता नहीं होगा। वह अपने आसपासकी सम्पूर्ण मर्मवेदनाओंका उद्धार करेगा; सुख और दुखमें जो मानव-समूह निर्वाक हैं, विश्वके सम्मुख जो स्तब्ध नतसिर हैं, उनकी समवेत वाणी प्रगतिशील साहित्यमें मिलेगी। अतीताश्रयी भावधाराकी मृत्यु, वर्तमान बूर्जुआ आदर्शवादका प्रलय और अनागत भविष्यकी सूचना उसके साहित्यमें मिलेगी। तीनों उसके साहित्यमें व्यक्त होंगे। जिस प्रक्रियासे निपीड़ित जनगणमें शक्तिका बोध हो, वह अपने अभियानमें सफल हो, वही वर्तमानमें प्रगतिशील साहित्यका लक्ष्य होगा। वह अतीताश्रयी भावधाराको इस प्रकार व्यक्त करेगा जिससे उसके प्रति तीव्र घृणाकी प्रेरणा मिले। वर्तमान बूर्जुआ आदर्शवादके नकाबको चीरकर वह उस पर इतने तीखे व्यंग वाणोंकी वर्षा करेगा––उसको खोल खोलकर, उसके अन्दर छिपे बूर्जुआ स्वार्थको नंगा करेगा जिससे निश्चय ही यह आदर्शवाद विनष्ट हो जाय। जिस कला-कौशलसे मजदूरों और किसानोंमें अपने कार्योंके प्रति गौरव-बोध हो, जिससे उनमें स्रष्टा और स्वामी दोनोंकी भावधारा प्रवाहित हो, जिससे उनका विजयाभियान सफल हो, उसकी सृष्टि करेगा। यही वर्तमानमें प्रगतिशील साहित्यका कर्तव्य होगा, वर्तमान कालमें जिस साहित्यके अन्दर यह भावधारा नहीं है, उसे और चाहे जो कहा जाय, प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता।

प्रगतिशील साहित्यकी भावधारा अन्तहीन भविष्यमें निवास करती है। अन्तहीन भविष्यमें जो असीम मानव-सत्य है, उसको जीवनमें, समाजमें, संस्कृतिमें और साहित्यमें प्रतिष्ठित करना प्रगतिवादकी साधना है। इस भावधाराको रूपायित करनेमें प्रगतिशील साहित्यमें एक किस्मका रोमांस भी पैदा होगा। यह रोमांस अतीतके साहित्यिक रोमांसोंसे इसलिए सम्पूर्ण भिन्न होगा कि इसमें अतीतका काल्पनिक आदर्शीकरण नहीं होगा, बल्कि भविष्यकी वास्तव समाजवादी सम्भावना पर रोमांसकी रचना होगी। इसके अन्दर बाधाग्रस्त होनेपर निराशा और सिर धुननेकी भावना नहीं होगी, इसमें होगी अपने समाजवादी आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिए तीव्र अभियानकी वह शक्ति, जो मरके भी नहीं मरती––जिसमें शरीर-पात भले ही हो जाय, आत्मपात नहीं होता। ऐसी ही कुछ प्रेरणाओंको लेकर एक कालमें कुमारजीवने हिमाद्रिराजके तुंग शिखरोंको पार किया था, अपने आदर्शके प्रति जो पवित्रता और लगन कुमारजीवमें थी, समाजवादी आदर्शके लिए उसी पवित्रता और लगनको प्रगतिवाद धारणा करेगा। प्रगतिशील साहित्यमें समाजवादी आदर्शके लिए तीव्र प्रेम होगा; इसीलिए समाजवादी समाजकी प्रतिष्ठामें जो बाधाएं होंगी उनके प्रति उसमें तीव्र घृणा भी होगी। उसकी घृणा भी उस वस्तुस्थितिके आधारपर होगी जो शोषित जनगणके पूर्ण मानव-जीवनमें बाधक है, जिसके कारण समाजकी गति कुंठित होती है। वह ललकार कर कहेगा:––

"घृणित-लुटेरे, शोषक,
समझा पर-धन-हरण बपौती,
तिनका-तिनका खड़ा दे रहा
तुझको खुली चुनौती।
जर्जर कंकालोंपर वैभव
का प्रासाद बनाया,
भूखे मुखसे कौर छीनते
तू न तनिक शरमाया।
तेरे कारण मिटी मनुजता
माँग-माँग कर रोटी,
नोची श्वान-शृंगालों ने
जीवित मानवकी बोटी।

०　　०　　०

तुझे देखना तक हराम है
छाया तलक अखरती,
तेरे कारण रही न
रहने लायक सुन्दर धरती।
रक्तपान करता तू
धिक-धिक अमृत पीने वालों,
फिर भी तू जीता है
धिक-धिक जगके जीने वालों।

देखें कल दुनियामें
तेरी होगी कहाँ निशानी ?
जा तुझको न डूब मरने
को भी चुल्लू भर पानी।
शाप न देंगे हम
बदला लेंनेकी आन हमारी,
बहुत सुनाई तूने अपनी
आज हमारी बारी।
आज खूनके लिए खून
गोलीका उत्तर गोली,
हस्ती चाहे मिटे, न
बदलेगी बे-बसकी बोली।
तोप - टंक - ऐटमबम
सब कुछ हमने सुना गुना था,
यह न भूल मानव की
हड्डीसे ही वज्र बना था।
("सुमन")

इस तरह प्रगतिवाद इतिहासकी अग्रगति और शक्तिके साथ वीर, रौद्र और वीभत्स रसकी सृष्टि करेगा। इसी तरह इसका दूसरा, किन्तु मूल रस होगा प्रेम। यह किसी मानवी नायिकासे न होकर, नव-नव रूप धारण कर इतिहासमें बराबर अवतरित होनेवाली उस मानवतासे होगा, जिसका यौवन कभी क्षीण नहीं होता, जिसके अद्भुत लावण्य माधुरीपर मुग्ध होकर, जिसके नव-नव रूप पर रीझ कर हजारों-हजार क्रान्तिकारियोंने फांसीके फन्देको चूमा है, उन्नत वक्षपर संगीनोंकी बाढ़ें थाम ली हैं। ऊर्ध्वगामिनी मानवता उसीके चित्तमें निवास करती है, जिसके शरीरपर भयकी धूलि भी नहीं पड़ी होती, जिसके उन्नत ललाटपर कहीं भी कलंकका छींटा नहीं पड़ा होता। जिसमें मृत्युका आलिंगन करनेका साहस नहीं, उसे मानवता अपनी छाया भी नहीं दिखाती। ऐसी अपूर्व रूपसीको पानेके लिए, उसे समाजमें प्रतिष्ठित करनेके लिए, प्रगतिशील साहित्यमें तीव्र प्रेरणा होगी। यह तीव्रता ऐसी होगी कि प्रगतिवादी साहित्यिक संघर्षमय जनसमुद्र की दोलायमान लहरोंमें अपनी कला-तरीको लेकर पैठ जायगा। लहरोंमें यदि उसकी तरी टूट जायगी--जीवन-साधनका सम्बल टूट जायगा--और ऐसी स्थितिमें भी यदि राज-यक्षिणी आकर उसे अपने यशः-आलिंगन द्वारा जनसमुद्रकी लहरोंसे अलग करना चाहेगी, तब भी वह अलग नहीं होगा। वह संघर्षमान लहरोंपर वक्ष ऊंचाकर गान करेगाः--

"ज्ञात मुझे, आह्वान-गीत जिसके कानोंपर आता है,
संकटके आवर्त चीरता वह निर्भय प्राणों जाता है।
विश्व विसर्जित किये झेलता, सिर आँखों लेता निर्यातन;
सुनता है वह ऐसे, जैसे हो संगीत मृत्युका गर्जन !

० ० ०

शत-सहस्र गीतोंको कविने अपना कंठ मुक्तकर गाया,
देश-देशमें उसके ही चरणों अपना वैभव बिखराया।
उसकी मंगलध्वनि गभीर-गुरु सागरके समीरणपर टेरे,
उसका अंचल-छोर फैलकर लुंठित हो नीलाम्बर घेरे;
उसकी प्रेममूर्ति परिपूर्णा, विश्व विजयिनी, परमनिमेषे,
प्रियजनके मुखपर होती है प्रकट, प्रफुल्लित, विकसित वेशे।

० ० ०

इतना भलीभाँति जाने हूँ, विश्व प्रियाके प्रेम द्वार पर,
क्षुद्र-भावकी देनी होगी बलि, जीवन-सीमा पसारकर;
होना होगा खड़े दर्पसे जी की सारी शक्ति जगाए,
चिर-अपमान-भारको त्यागे और समुन्नत शीश उठाए,
--वह मस्तक जो भयके लेखेसे बेदाग, अछूत-अलीका,
जिसपर खींचा नहीं दासताकी धूलीने काला टीका।
कर उसको धारण अन्तरमें, बोले-बिन चुपचाप, अकेले--
जाना होगा जीवन-संकट-पथ परसे सुख-दुख सब झेले।
चलना होगा--नीर आँखका पोंछ, कहीं सूना-सा पाकर,
प्रतिदिन आलस छोड़, काममें लग, लोगोंको सुखी बनाकर।"*

आदर्शके प्रति प्रेमकी यह तीव्र प्रेरणा, यह रोमांस, प्रगतिवादको बल प्रदान करनेके लिए होगा। इससे प्रगतिवादको प्रति अपने कर्तव्यका बोध पैदा होगा और वर्तमानके प्रति अपने कर्तव्यका बोध पैदा होगा और वर्तमानमें हँसकर बाधाओंको झेलनेकी शक्ति पैदा होगी। प्रगतिवाद वर्तमान संघर्षके बीचसे अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता है। लक्ष्यके प्रति तीव्र प्रेमकी साहित्यिक अभिव्यक्ति और वर्तमानमें अविराम संघर्षकी प्रेरणा प्रगतिशील साहित्यमें अनिवार्य है। इसीके अन्दरसे--द्वन्द्व-विकासके द्वारा--समाजवादी नैतिकताका विकास भी होगा--अतीतकी श्रेणी-नैतिकतासे सर्वथा भिन्न। प्रगतिवादी साहित्यकी ऐसी ही साधनासे समाजमें मुक्त मानवकी प्रतिष्ठा होगी--

* "एबार फिराओ मोरे"--रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक--श्री भवानी प्रसाद मिश्र। "विश्व भारती पत्रिका" से।

वहाँ यह मुक्त मानव प्रतिष्ठित होगा--'चित्त जहाँ भयसे शून्य हो, सिर जहां उन्नत हो, जहाँ गृहके प्राचीर अपने आगमनमें दिनरात इस वसुधाको खण्डित और क्षुद्र करके नहीं रखें, जहाँ वाक्य हृदयके उत्ससे उच्छ्वसित होता हो, जहाँ निर्वारित स्रोतमें देश-देशकी नाना दिशाओंमें कर्मकी धारा अजस्र प्रकारोंकी चरितार्थतामें प्रधावित होती हो, जहाँ तुच्छ आचारकी मरु-बालु-राशि विचारके स्रोत-पथको ग्रस नहीं लेती हो और पौरुष जहाँ शतधा विच्छिन्न न हो।' ऐसे ही स्वर्गमें भारतवर्षको प्रतिष्ठित देखनेकी गूढ़ कामना रवीन्द्रनाथ ठाकुरने की थी। इसीलिए जब सोवियत रूसका निमन्त्रण पाकर रवीन्द्रनाथ रूस गये, तब उन्होंने वहाँ उल्लासमें भरकर कहा--"पृथ्वीमें जहाँपर सबसे बड़े ऐतिहासिक यज्ञका अनुष्ठान है, वहाँ पर निमन्त्रण पाकर भी न आना मेरे लिए अक्षम्य होता।.........फिलहाल रूसमें आया हूँ, न आता तो इस जन्मका तीर्थ-दर्शन अत्यन्त असमाप्त रह जाता।......... यह लोग सनातनको जड़से ही उखाड़कर फेंक रहे हैं, भय-भावना, संशय कुछ भी मनमें नहीं है।.........मैं देख रहा हूँ बहुत दूर तक फैले हुए क्षेत्रको लेकर ये लोग एक नवीन जगतके निर्माणके लिए कमर कसकर लग गये हैं।"* इस नवीन मानवकी प्रतिष्ठा समाजवादी रूसमें ही सम्भव हुई। इसीलिए समाजवादी रूसके सभी प्रयोग प्रगतिशील साहित्यकी सम्पदा हैं। इस समाजवादी समाजमें प्रतिष्ठित नवीन मानवने पौरुषको शतधा विच्छिन्न करनेवाले मानव-श्रमके शोषणके सभी साधनोंको मिटा दिया है; उसने मूक मुखोंको भाषा ही नहीं, ज्ञान और गौरव भी प्रदान किया है; उसने स्रष्टा और स्वामी दोनोंके गौरवको एक साथ धारण किया है; इसीलिए समाजवादी रूसमें नवीन मानव अर्थनीतिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारोंकी समताका जाति तथा लिंगनिर्विशेष रूपसे उपभोग कर रहा है, इस नवीन मानवने काम, विश्राम, शिक्षा और सुरक्षाको स्वायत्त कर लिया है। यह नवीन मानव अभी कर्मके अनुसार धन प्राप्त करता है, पर यह इस मानवका प्रथम चरण है, यह इसकी पहली मंजिल है। इस नवीन मानवकी चरम परिणति तो वर्गविहीन समाजमें होगी, जब नियोजित अर्थनीति द्वारा कामका दिन सिमिट कर छोटा और कला तथा संस्कृतिका दिन उमड़कर विस्तृत हो जायगा; जब कर्मके अनुसार ही नहीं, प्रयोजनके अनुसार द्रव्योंकी प्राप्ति होगी; जब समाजवादी कर्म-धाराके अन्दरसे स्वतः मानव ऐसा हो जायगा कि वह समाज और जीवनसे जितना ग्रहण करेगा, उससे ज्यादा उसको देगा। जब ऐसा होगा तभी और केवल तभी मानवको धारण कर यह धरा धन्य होगी। किन्तु आज तो ऐसे मानवकी प्रतिष्ठाके लिए प्रगतिशील साहित्यको संघर्ष करना है।

---

* 'रूस की चिट्ठी'--रवीन्द्रनाथ ठाकुर

नव संस्कृति-संघ का प्रस्तावित घोषणा-पत्र

[विगत ४, ५, ६ जनवरीको काशीमें युक्तप्रान्तीय नव संस्कृति-संघ का सम्मेलन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके सभापतित्वमें हुआ था। घोषणापत्र तैयार करनेके लिए प्रतिनिधियोंकी जो बैठक हुई, उसमें यह निश्चित हुआ कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी घोषणापत्र शीघ्र तैयार कर दें जो विचारार्थ प्रसारित किया जाय, और आगामी मार्च महीनेमें प्रयागमें फिर संघका एक सम्मेलन किया जाय जिसमें अन्तिम रूपसे घोषणा-पत्र स्वीकृत कर लिया जाय। आचार्य द्विवेदी ने घोषणापत्र तैयार कर भेज दिया है जिसे हम विद्वानों, संस्कृति प्रेमियों तथा पाठकोंके विचारार्थ यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

--सम्पादक]

"भारतीय समाजमें महान् परिवर्तन होनेके चिन्ह स्पष्टरूपसे दिखायी दे रहे हैं। देशमें नवजीवन हिलोरें ले रहा है। उसकी अवरुद्ध जीवनी-शक्ति मुक्ति पाकर वेगवती हो गयी है। इतने दिनोंतक हमारे मनीषियोंने मानवता, समता और स्वतन्त्रताके आधारपर जिस नव-निर्माणका स्वप्न देखा था, उसे देशवासियोंके अनेक कष्ट-सहन और त्याग-स्वीकारके बाद सत्य सिद्ध करनेका सुयोग मिला है। यद्यपि हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकारके नवनिर्मुक्त जीवन-प्रवाहको कोई रोक नहीं सकता--उसे रोकनेके सब प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होते हैं, तथापि इतिहास की गवाहीसे स्पष्ट है कि कुछ व्यक्ति या समूह मोहवश ऐसे प्रवाहको रोकनेका प्रयत्न किया करते हैं और उसे गलत दिशामें मोड़ देते हैं। इस प्रकार सामाजिक शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होती है। इसे इस प्रकार नष्ट होने देना एकदम वाञ्छनीय नहीं है और इसीलिए ऐसा करनेवालों को रोकना आवश्यक है, तथा साथ ही इस प्रकारके संघ-टित प्रयत्नकी आवश्यकता है जो सामाजिक शक्तिका नियन्त्रण करे और उसे उचित दिशामें ले जाय।

"आज पुरानी परम्पराएँ और पुरानी सामाजिक रीति-नीति सब समय हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकतीं। इसीलिए आजकी नयी परिस्थितिमें हमें उनका सुधार और नियमन करना पड़ेगा। हमारा विश्वास है कि किसी भी सुधार या नियमनका औचित्य सिर्फ इसलिए नहीं है कि उसके पीछे प्रयत्नपूर्वक चिन्तित योजना है बल्कि इसलिए है कि उस योजनाका उद्देश्य मनुष्यका कल्याण है। हम जनताके व्यापक और विस्तृत हितके आधारपर निर्मित एक ऐसे सिद्धान्तकी आवश्यकता अनुभव करते हैं जो जनताको अज्ञान, मोह, भय, कुसंस्कार और पर-मुखापेक्षितासे मुक्त कर सके। और उसमें आत्मबल और आत्म सम्मानका बोध संचारित कर सके। इस प्रकार हम एक ऐसी सबल संस्कृतिकी सृष्टि करना चाहते हैं जो मानवता, समता और स्वतंत्रताके सिद्धान्तपर आधारित हो।

"यद्यपि मनुष्यकी प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए यह आवश्यक है कि उत्पादनके सभी साधनों पर समाजका प्रभुत्व स्थापित हो तथापि हमारा विश्वास है कि केवल प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो जाने मात्रसे हम उक्त प्रकारकी सबल संस्कृतिका निर्माण नहीं कर सकेंगे। इसके लिए हमें समुचित रूपसे पुर्ननिर्माणका कार्य करना होगा। मानव-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए नागरिक स्वतंत्रता या उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाकी आवश्यकता होगी। हमारा विश्वास है कि सुन्दर और परिपूर्ण मनुष्यत्वके आदर्श तक पहुँचनेके लिए साधनोंका भी सुन्दर और मनुष्योचित होना आवश्यक है। उद्देश्य और साधन परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरेपर निर्भर होते हैं। दोनोंका अपना-अपना महत्व है।

"दीर्घकालतक मनुष्य-जाति अनेक प्रकारकी कठिनाइयों से जूझती आयी है। इन संघर्षोंसे उसका सामाजिक विकास हुआ है और मानवता, स्वतंत्रता और समताके आदर्शकी ओर ले जानेवाले अनेक सत्य समाजमें प्रतिष्ठित हो गये हैं। हम दीर्घ आयास और संघर्षसे प्राप्त इन मानवीय सत्योंपर जोर देना चाहते हैं। और समाजके पुर्ननिर्माण में इन सत्योंको उचित स्थान दिलानेका प्रयत्न आवश्यक समझते हैं। उनकी अवहेलना करके स्वस्थ सामाजिक जीवनका निर्माण संभव नहीं है। श्रेणी-नैतिकताके नाम पर सभी पुरानी मान्यताओं और सिद्धान्तोंका बहिष्कार अनुचित है।

"हमें स्पष्ट शब्दोंमें घोषित करते हैं कि हम दीर्घ-कालीन अनुभवों और मनन-चिंतन द्वारा अर्जित ज्ञान-राशिको मनुष्यताकी अग्रगतिके लिए आवश्यक समझते हैं। हम उन रसात्मक रचनाओं और कलात्मक कृतियोंको देशकी सबसे बड़ी सम्पत्ति समझते हैं जो मनुष्यके हृदयको दीर्घकालसे संवेदनशील और उदार बनाती आ रही हैं। हमारा सम्पूर्ण पुरातन साहित्य और ऐतिहासिक अव-शेष हमें प्राचीन कालके मनुष्यके साथ योगयुक्त करते हैं, उनसे हम मनुष्यके उत्थान-पतनकी कहानी जान सकते हैं और मनुष्यताके महान् लक्ष्यकी ओर बढ़नेके लिए उसके प्रयत्नों और संघर्षोंके अनुभवसे लाभान्वित हो सकते हैं। इसीलिए हम सम्पूर्ण पुरातन ज्ञान-भण्डार और ऐति-हासिक अवशेषोंकी सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। हमारा विश्वास है कि पुरानी संस्कृतिके अध्ययनसे देशवासी अधिक आत्मगौरवी, अधिक उदार और अधिक सहिष्णु होंगे और इसीलिए नवीन संस्कृतिके निर्माणमें पुरानी संस्कृतिके अध्ययनको हम बहुत आवश्यक समझते हैं।

"इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए साहित्यकारों और कला-कारोंके ऐसे संघटनकी आवश्यकता है जो देशकी नव-निर्मुक्त सामाजिक शक्तिको उचित दिशामें ले जा सके। 'नव संस्कृति-संघ' इसी आदर्शपर संघटित हो रहा है। इस संघका कार्य होगा नवीन संस्कृतिके आलोकमें सम[illegible] सामाजिक जीवनमें स्फूर्ति और तेज भरकर कला और साहित्यके माध्यमसे सभी समस्याओंके समाधानमें यो[illegible] देना। संघका कार्य कलाकारों और साहित्यकारों[illegible] इस प्रकारका संघटन करना होगा कि भावों और विचारों[illegible] पारस्परिक आदान-प्रदानके साथ वे एक दूसरेसे प्रेर[illegible] और प्रोत्साहन प्राप्त करते रहें।

"नाना प्रकारके दलगत स्वार्थोंने भिन्न-भिन्न देशों[illegible] जनताके विषयमें गलत बातोंका प्रचार किया है[illegible] विज्ञानके साधन उपलब्ध होते हुए भी संसारके भिन्न-भि[illegible] भागोंकी जनता परस्परके विषयमें केवल अज्ञ ही न[illegible] बनी हुई है, बल्कि झूठी और विषैली बातोंके प्रचारसे उस[illegible] चित्त विषाक्त हो गया है। इसीलिए सब समय घात[illegible] महायुद्धोंकी आशंका बनी रहती है। नव संस्कृति-[illegible] अपनी समूची शक्ति लगाकर उन बातोंका विरोध करे[illegible] जो जातिगत या देशगत संकीर्णता और घृणाका प्रचा[illegible] करती हैं और इस प्रकार युद्धके मूल कारणोंको ही न[illegible] करनेका प्रयत्न करेगा।

"हमारा विश्वास है कि साहित्य और कलाके माध्यम[illegible] ही लोकचित्तमें इस प्रकारकी उदारता और संवेदन[illegible] विकास संभव है जो व्यक्तियों और समूहोंमें फैली [illegible] कटुता और विद्वेषकी भावनाका उन्मूलन कर सकती है[illegible] केवल वैज्ञानिक शक्तियोंपर प्रभुत्व और राजनीति[illegible] तथा आर्थिक व्यवस्थाओंके परिवर्तन होनेसे ही यह का[illegible] नहीं हो जायगा। इसीलिए साहित्यकारों और कलाका[illegible] का यह नया संघटन जनतामें उन सभी मानवोचि[illegible] गुणोंके प्रचार करनेका अपना संकल्प घोषित कर[illegible] है जो मनुष्यको न्यायप्रिय, निर्भीक, परदुःखकातर औ[illegible] उदार बनाते हैं, और उन सभी बातोंके साथ अप[illegible] दृढ़ विरोध घोषित करता है जो मनुष्यको परमुखापेक्षी[illegible] भीरु और सम्मानसे वंचित करती हैं।"

--हजारीप्रसाद द्विवे[illegible]

राष्ट्रभाषा पर जैन दृष्टिकोण

मुनि कान्तिसागर

बौद्धिक जीवन-यापन करनेवाले मानव-समाजके सम्मुख युगकी आवश्यकताओंके अनुसार प्रतिदिन नूतन समस्याओंका उद्भव हुआ ही करता है। वह अपनी सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितिके अनुसार उन्हें हल करता है। तब उनके सम्मुख व्यष्टि और समष्टिका प्रश्न प्रधान रूपसे खड़ा हो जाता है। इस तरह वह अपने व्यक्तित्वको समष्टिमें मिला देता है। क्रमशः वह एक ऐसा राष्ट्रीय रूप खड़ाकर देता है जिसके बलपर सच्चे अर्थोंमें मानव बनानेकी योजनाको सफलतापूर्वक क्रियात्मक रूप दे सके, मानवमात्रके व्यापक अधिकारोंकी रक्षा कर सके; चाहे कितना ही अमानवीय तत्त्वोंसे संघर्ष क्यों न करना पड़े। नवोदित मानव संघर्षको उन्नतिका पूर्वरूप मानता है, जैसा कि वर्तमान युगके समष्टचात्मक प्रयोगोंसे प्रमाणित हो चुका है। सच कहा जाय तो गान्धीयुगके निर्माणमें संघर्षका बहुत बड़ा स्थान रहा है। भारतीय स्वाधीनता-प्राप्तिके पूर्व आम तौरसे माना जाता था कि राजनैतिक स्वातन्त्र्यके बाद संघर्षकी परम्परा खतम हो जायगी। यदि ऐसा होता तो मृत्यु अवश्यम्भावी थी।

मुझे तो यही प्रतीत होता है कि स्वाधीनता–प्राप्ति के बाद सम्पूर्ण भारतीय जनजीवन संघर्षके तत्वोंसे ओतप्रोत हो गया है। संस्कृति, भाषा आदि कुछ अंशोंमें प्राचीन परम्पराके अनुसार स्थायी माने जानेवाले तत्वोंमें भी संघर्षकी परम्परा वर्तमान है, चाहे हम इसे समस्या ही क्यों न मान लें। स्वाधीन भारतके सम्मुख आज जितनीभी उलझी हुई समस्याएं हैं, उन सभीमें राष्ट्रभाषाका प्रश्न ऐसा जटिल है जिसपर आम जनता एवं बुद्धिजीवियोंका दृष्टिबिन्दु केन्द्रित है, क्योंकि भावी भारतकी ये सुदृढ़तम शिला हैं। हम लोग सोचते तो अवश्य हैं कि भावी भारतकी शिक्षाका माध्यम विदेशी भाषा न होकर हमारी भाषा हो। परन्तु आज राष्ट्रभाषाके नामपर कई विवाद खड़े हुए हैं। राष्ट्रभाषा कैसी हो? क्या हो? और उसका स्वरूप कैसा हो? आदि प्रश्न कलाकारोंके मस्तिष्कको तो नहीं अपितु नेताओंके दिमागको कुतर-कुतर कर खाये जा रहे हैं। कलाकारोंके सम्मुख एक समस्या रहती है, वह यह कि अपने हृदयके भाव वह ऐसी भाषामें व्यक्त करें जिसे जनता हृदयंगम कर सकें। परन्तु नेतागण भाषाके वास्तविक प्रवाहको मोड़कर आमूल परिवर्तन करनेपर तुले हुए हैं। जहाँतक राष्ट्रभाषाका प्रश्न है, यहाँपर जैसा वायुमण्डल है वह न होना चाहिए था। भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा राष्ट्रभाषाके अलग-अलग रूप जनताके सम्मुख आते हैं जो प्रधानतः इन्हीं दो मतोंमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। एक पक्षका कहना है कि राष्ट्रभाषा वही हिन्दी होनी चाहिए जिसमें आर्यभाषा संस्कृतके शब्दोंका बाहुल्य हो एवं वह देवनागरी लिपिमें लिखी जाय। इस पक्षकी मानता है कि हिन्दीकी उत्पत्ति संस्कृत भाषासे हुई है, अतः आर्य-संस्कृतिका संरक्षण एवं विकास इस प्रकारकी हिन्दी द्वारा ही सम्भव है। दूसरा पक्ष कहता है कि राष्ट्रभाषा ऐसी सरल और सुबोध होनी चाहिए जिसे जनता सरलतासे बोल, समझ सके। इसमें अरबी, फारसी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओंके शब्द भी रहें, एवं जो उर्दू तथा देवनागरी लिपियोंमें लिखी जाय।

भाषा और संस्कृतिका अभिन्न सम्बन्ध रहा है। किसी भी देशकी संस्कृति एवं सभ्यताके उन्नतिशील तत्वोंका संरक्षण उसकी प्रधान भाषा तथा उस परिपुष्ट साहित्यपर अवलम्बित हैं जिसमें जन-जीवनसे सम्बन्धित सभी प्रकारकी भावनाएं सुग्रथित हों। वर्ग विशेषकी उन्नतिको व्यक्त करनेवाला साहित्य जनताकी भावनाको समुचित रूपेण उपस्थित नहीं कर सकता। साहित्य परिवर्तनशील है। वह युगकी आवश्यकताओंके

अनुसार नूतन भावनाओंका न केवल निर्माणही करता है, अपितु उन्हे सक्रिय रूप प्रदान करनेके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। हम मानते हैं कि भाषा एकमात्र भावोंको व्यक्त करनेका माध्यम है। अतः राष्ट्रभाषाका स्वरूप निर्धारित कर लेना चाहिए। यह प्रश्न जितना सरल दीखता है उतना ही श्रमसाध्य होते हुए भी अनुपेक्षणीय नहीं। जब युगने करवट ली, नयी समस्याएं खड़ी हुई, मानव-मस्तिष्कके भावोंमें आमूल परिवर्तन हुआ एवं मानव यह सोचने लगा कि अब हमें एक ऐसे युगमें जीवन बिताना है जिसमें मानव कृत उच्चत्व-नीचत्व जैसे भाव पनप नहीं सकते हैं, ऐसी स्थितिमें भाषा भी भावमूलक होनी चाहिए। यों तो सभी जानते हैं कि भाषाका निर्माण किया नहीं जाता, वह स्वयं बनती है। कलाकारों द्वारा उसे बल मिलता है, जनताके सार्वभौमिक व्यवहारसे यह परिष्कृत होकर स्वयं अपना स्थान स्थिरकर लेती है। परन्तु हमारे देशका दुर्भाग्य है कि राजनैतिक नेता एकाधिक भाषाओंके शब्दोंके सहारे एक नवीन भाषा बलात् जनतापर लाद रहे हैं जो सर्वथा अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक एवं असमाजिक है। वे लोग प्रत्येक विषयपर राय देनेके अभ्यस्तसे हो गये हैं। इसीलिए संस्कृति-हितैषी लोग राष्ट्रभाषाके सुनिश्चित स्वरूपपर गम्भीरतासे अपना ध्यान आकृष्ट किये हुए हैं। प्रथम पक्षका मन्तव्य है कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी राष्ट्रभाषा इसीलिए होनी चाहिए कि वह संस्कृतकी पुत्री है। आजके प्रगतिशील युगमें ऐसी बातोंको शुष्क भावुकताके अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है। इस उक्तिके पीछे साम्राज्यवाद-पोषिणी वैदिक संस्कृतिका आभास मिलता है जो भावी जनोत्थानमें एक प्रकारसे स्पष्टतः बाधक है। वह हिन्दीके व्यापक स्वरूपको और भी संकुचित बना देगी। संस्कृत चाहे उतनी व्यापक भाषा क्यों न हो फिर भी वह एक सम्प्रदाय विशेषकी भाषाके रूपमें प्रसिद्ध रही है। हिन्दीको इसकी पुत्री कहना न केवल उसे अपने बलसे अर्जित पदसेही गिराना है अपितु अपनी बुद्धिसेभी शत्रुता करना है। हिन्दीसाहित्यका समुचित अध्ययन तबहीकिया जा सकता है जब कि जैनोंके अपभ्रंश भाषाकेसाहित्यको भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे कठोरतापूर्वक छान डाला जाय, क्योंकि इसकी जड़ संस्कृतमें न होकर अपभ्रंशमें है जो प्राकृतके अपभ्रष्ट रूपमें प्रसिद्ध रही थी। संस्कृतका साहित्य भले ही पुष्ट हो पर उसमें जिस वर्ग और श्रेणीका प्रतिबिम्ब है, वह एकांगी है। जब कि हिन्दी एक सम्प्रदाय की भाषा कभी नहीं रही, वह मानवकी भाषा रही है। एशियाका अधिकांश भाग अपभ्रंशके आनुवंशिक संस्कारोंसे ओतप्रोत है। हिन्दीने सन्त संस्कृतिके विकासमें बहुत बड़ा योगदान दिया है। सारे भारतको १८ सौ वर्षोतक संस्कृतिके सूत्रमें यदि किसी भी भाषाने बाँध रखा है तो वह हिन्दीने ही। स्पष्ट कहा जाय तो भारतीय मस्तिष्कको समस्त चिन्ताओंका विकास उस हिन्दीके द्वारा हुआ जो सरल थी और जिसके स्वरूप-निर्धारणमें आज जितनी माथा पच्ची नहीं करनी पड़ी थी। कारण कि हिन्दुस्तानीका जैसा रूप हमारे सामने उपस्थित है वह भाषाका एक प्रकारसे मखौल है। अमुक प्रान्तके परिमित शब्दोंकी शक्तिसे एक नयी भाषाका गठन नहीं किया जा सकता। जिन लोगोंको प्रसन्न रखनेकी चेष्टाओंकी भावनाओंमें से हिन्दुस्तानीका जन्म हुआ पर आज तो उन लोगोंका अस्तित्व ही अलग हो गया है तब हम ऐसी बातें कौन-सी बुद्धिमानीके प्रमाण रूपमें उपस्थित करते हैं।

राष्ट्रभाषाकी समस्या कुछ तो सचमुच उलझी हुई है परन्तु आन्दोलनके चक्करने इसे और भी दुरूह बना डाला। भारतीय विद्वान-जिनके हृदयमें भाषा विषयक प्रश्नके पश्चात् भागमें किसी भी तरहका साम्प्रदायिक व्यामोह न हो; यदि राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें जैन दृष्टिकोणको जान लें तो समस्या बहुत कुछ अंशोंमें सुलझ सकती हैं। भाषा विषयक जैनोंका दृष्टिकोण प्रारम्भ कालसे बहुत ही व्यापक और स्पष्ट रहा है। भगवान महावीरने अपनी विचारधाराका निर्मल प्रवाह तत्कालीन प्रान्तीय भाषाके द्वारा बहाया था। यही हाल भगवान बुद्धका रहा। जैन विद्वान संस्कृत आदि विद्वत्-योग्य भाषाओंमें ग्रन्थ निर्माण करके ही चुप नहीं रहे। उन्होने विभिन्न प्रान्तोंमें रहकर प्रत्येक शताब्दीमें लोकभोग्य साहित्यकी सरिता बहाकर तत्कालीन जनसंस्कृतिको विकसित किया। परन्तु संस्कृत भाषाके धुरन्धर पण्डितोंने जनताकी भाषामें रचना करना अपना एक प्रकार से अपमान समझा क्योंकि उनका जीवन उन सामन्तोंकी छायामें पलता था जो अपनेको साधारण जनसे पृथक् संसार के प्राणी समझते थे, अतः वे एकांगी साहित्यके ही रचयिता

रह गये हैं। जनजीवनकी सार्वभौमिक समस्याओंको न तो उन्होंने समझनेकी चेष्टा की, न उनकी वहाँतक पैठ ही थी। वे अपने आश्रयदाताओंकी वैयक्तिक खुशामदमें अनुरक्त थे। सामन्ती पद्धतिमें जिस प्रकार मनुष्योंका आर्थिक शोषण निहित था ठीक उसी प्रकार संस्कृतके प्रखर पण्डितका बौद्धिक शोषण निर्दयतापूर्वक किया जाता था। जब कि जैनाचार्योंके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी जनता की। उनके सम्मुख आदर्श था भगवान महावीर और बुद्धका। वे जनताको दर्शन एवं साहित्य, तथा अन्य जनोत्थानके उच्च तत्वोंका परिज्ञान सरल और बोधगम्य भाषामें कराना चाहते थे। वे सफल भी रहे। इसका अर्थ कोई यह न लगावे कि वे विद्वत्‌भोग्य साहित्य-सृजनमें पश्चात्पाद रहे।

जैन-साहित्यकी सबसे बड़ी यही विशेषता रही है कि उसने भाषाकी दृष्टिसे अवश्य ही युगका साथ दिया। जहाँ तक हिन्दीका प्रश्न है, उसका अभीष्ट भी यही है। कहना न पड़ेगा कि जबसे अपभ्रंश साहित्यका सूत्रपात हुआ तबसे लगाकर चौदहवीं शताब्दीतक जैनोंने इस धाराको सुरक्षित रखा। कारण कि उन दिनों वही भारतके बहुत बड़े भागकी जनभाषा थी। अतः जैनोंने इसे साहित्यिक विचारोंसे ओतप्रोत कर जन-संस्कृति के नैतिक उत्थानका साधन बनाया। हिन्दी भाषा और भावोंकी दृष्टिसे सोलहों आना अपभ्रंशकी पुत्री है। हम तो स्पष्ट कहेंगे कि भारतीय संस्कृति और साहित्यके विकासमें यही एक जैनोंकी सबसे बड़ी मौलिक देन है जिसका उपयोग भावी भारतके कलाकार करें। भाषा विषयक औदार्यके प्रश्नपर राहुलजीके शब्दोंमें "अपभ्रंशके कवियोंका विस्मरण करना हमारे लिए हानिकी वस्तु है। येही कवि हिन्दी काव्यधाराके प्रथम स्रष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और बाणकी सिर्फ जूठी पत्तलें नहीं चाटते रहे बल्कि उन्होंने एक योग्य पुत्रकी तरह हमारे कार्यक्षेत्रमें नया सर्जन किया है, नये भाव पैदा किये हैं। हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसीके यही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं। उन्हें छोड़ देनेसे बीचके कालमें हमारी बहुत हानि हुई है और आज भी उसकी सम्भावना है। जैनोंने अपभ्रंश साहित्यकी रचना और उसकी सुरक्षामें सबसे अधिक काम किया।"

तेरहवीं शताब्दीतक अपभ्रंशमें पर्याप्त प्रौढ़ता रही। यहींसे अपभ्रंश भाषा विकसित होते-होते क्रमशः प्रान्तीय भाषाओंके रूपमें परिणत हो गयी। भाषा-विज्ञानका अकाट्य नियम है कि प्रत्येक समयमें भाषा विद्वान और लोक भोग्य-- दो रूपोंमें बहती है। परन्तु भावी भारतीय संस्कृति और भाषाके निर्माणमें उपर्युक्त प्राचीन नियमका पालन हो सकेगा कि नहीं, कहना कठिन है। क्योंकि भाषा-विज्ञानके जिन आधारोंपर उपर्युक्त नियम बना, शायद वह भविष्यमें विपरीत समस्याके कारण बिल्कुल टिक नहीं सकता। भावी भारतकी भाषा और संस्कृतिका प्रश्न बड़ा गम्भीर है। परन्तु इस प्रश्नको स्थानाभावके कारण हम छोड़ देते हैं।

निबन्धका सारांश यही है कि जैनोंने जिस समय जिस प्रान्तमें जिस भाषाका प्रभुत्व रहा, उसमें रचना कर वे समादृत हुए एवं अपने विचारोंको भी साधारण जन तक पहुँचाया। भावी भारतकी भाषा संस्कृतिके अनुकूल अत्यन्त सरल और बोधगम्य होनी चाहिए। राष्ट्र-भाषा पर यह प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता कि वह अमुक भाषाका अनुधावन करनेवाली ही हो। ऐसा करना जनतापर मानसिक अत्याचार होगा। जब हमारी संस्कृति औदार्यपूर्ण भावोंको लिये हुए होगी, ऐसी स्थितिमें यदि हम राष्ट्रभाषाको संकुचित करेंगे तो वह जनताकी भाषा न रहकर एक वर्ग विशेषकी वस्तु रह जायगी। हम तो चाहते हैं कि जनता आगामी युगके सिद्धान्तोंके अनुसार ही अपना अधिकारपूर्ण जीवनयापन करें। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और भाषाके बलपर यदि हम स्वर्णिम भविष्यकी कल्पना करते हों तो कोरी भावुकता होगी। कारण कि जिस युगकी परिस्थितियोंके अनुकूल उपर्युक्त चीजोंका निर्माण हुआ था वह युग अब खतम हो गया। आगामी युग व्यक्ति प्रधान न होकर समाज प्रधान होगा। यदि परिस्थितियोंने साथ दिया तो बहुत शीघ्र जो आज एक काल्पनिक स्वप्न माना जाता है वह सत्य होकर रहेगा। प्रत्येक मानवके हृदय, विशेषतः शोषित पीड़ित हृदयमें, मानवीय अधिकारकी आग सुलग रही है।

वर्ण-व्यवस्था का उदय

प्रो० राजाराम शास्त्री

प्राचीन भारतमें जन-व्यवस्थाका किस प्रकार अन्त हुआ और वर्ण-व्यवस्थाके साथ-साथ किस प्रकार 'राज' का उदय हुआ, इस परिवर्तनको हम प्राचीन भारतके तीन युगोंके इतिहासमें देखते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकारके ग्रन्थ 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' के अनेक स्थलोंसे हम वैदिक युग, उत्तर वैदिक युग तथा महाजनपद युगमें आर्य-समाजके परिवर्तनके इतिहासको संकलित कर रहे हैं।

वैदिक युग

वैदिक आर्योंका समाज पशुपालकों और कृषकोंका था, केवल शिकार पर जीनेके युगको वे पीछे छोड़ चुके थे तो भी उस युगकी याद अभी ताजी थी जब कि लोग अनवस्थित--अनवस्थित विशः--थे। अर्थात् जब आर्य-लोग केवल पशुपालक थे और कृषक-जीवन उन्होंने अपनाया न था।

वैदिक समाजका संगठन कबीलोंके रूपमें था। उन कबीलोंको वे लोग 'जन' कहते थे। एक 'जन' की समूची जनता 'विशः' (विशका बहुवचन) कहलाती थी। जन या विशः का ही राजा होता और राजनैतिक रूपसे संगठित विशः अर्थात् जिस प्रजाका अपना देश हो और राजा हो, राष्ट्र कहलाती। संसारके इतिहासमें जहाँ कहीं और जब कभी 'जन' रहे हैं, उनकी कल्पना एक परिवारके नमूनेपर होती रही है। वैदिक आर्योंके जनोंकी कल्पनाभी वैसी ही थी; अर्थात् प्रत्येक जनके लोग (विशः) यह समझते थे कि हमारा मूल पूर्वज एक जोड़ा था।[१] उसकी सन्तान हुई, सन्तानकी फिर सन्तान हुई, इस प्र... संयुक्त परिवार बढ़ता और फैलता गया, उसकी अ... खापें होती गयीं। और जिस प्रकार एक छोटे परिवा... सबसे बुजुर्ग व्यक्ति--पिता या पितामह शासन क... है, उसी प्रकार जन नामक बड़े परिवारकाभी एक... या पितामह शासन करता था। वह जनका मु... या 'राजा' भले ही निर्वाचन द्वारा चुना जाता हो ... रिवाजसे मुकर्रर होता हो। जनके सब लोग 'सजात ... सनाभि' होते, अथवा कमसे कम अपनेको सजात ... सनाभि' मानते। एक जनके सब लोग परस्पर ... (अपने) भी कहलाते। अपने जनके बाहरके ... उनके लिए 'अन्य नाभि, निष्ठ्य (निकाले हुए)' ... 'अरण (जिनके साथ बातचीत--रण शब्द--या ... न हो सके)' होते। इस प्रकारकी राज्य-संस्था ... जिसमें सबलोग परस्पर सजात या सनाभि हों तथा ... राजा पितामहकी तरह समझा जाय हम पितामह ... (Patriarchal) कहते हैं। वैदिक आर्यों ... राज्य-संस्था ठीक पितामह-तंत्र थी। प्रत्येक 'जन' ... अनेक खापें या टुकड़ियाँ होतीं जो 'ग्राम' कहलाती ... 'ग्राम' का अर्थ था जत्था या टुकड़ी, बादमें ग्राम जिस ... में बस गया वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा। ... शुरूसे 'ग्राम' में स्थानका विचार न था, बल्कि ... ग्राम भी होते थे; शर्याति मानवके अपने ग्रामके ... भटकते-फिरनेकी कहानी वैदिक वाङ्मयमें प्रसिद्ध ...

ग्रामका नेता ग्रामणी कहलाता। यह नेतृत्व ... युद्धमें ही शुरू हुआ। वही शान्ति-कालमें भी काम ... लगा। आपत्तिके समय या आक्रमणके लिए ... भिन्न-भिन्न ग्राम इकट्ठे होते। वह समूचे जनका ग्राम... करके जुटना ही 'संग्राम' कहलाता। उसीसे युद्धका ... ही संग्राम हो गया। संग्राममें पदाति और र...

१. अथ० ८, १० (१) में यही विचार दीखता है कि 'विराट्'--अराजकता--के बाद पहले 'गृहपति' का शासन खड़ा हुआ, उससे सभा और समितिका विकास हुआ।

थे। जनके सभी जवानोंका वह सं-ग्राम या ग्रामशः जमाव ही जनकी सेना होती।

युद्धमें जनका नेता राजा होता था। बल्कि वैदिक वाङ्मयमें यह विचार पाया जाता है कि राजत्वका प्रारम्भ युद्धमें ही हुआ। शान्ति-कालमें भी राजा जनका या विशः का राजा होता, न कि भूमिका; राज्य 'जान-राज्य'१ कहलाता और वह एक किस्मका 'ज्यैष्ठ्य-प्रमुखता या नेतृत्व--मात्र था न कि मलकियत।

युद्ध बहुत बार आर्योंके जनोंमें परस्पर भी होते, पर प्रायः जंगली लोगों--दासोंसे होते, जो अपने पुरों या कोटोंमें रहते थे। विभिन्न जनोंके सब लोग मिलकर आर्य-जाति हैं और दास लोग उनसे अलग हैं, उनसे नीचे दर्जेके हैं और सदा आर्योंसे हारना और लूटे-सताये जाना ही उनका काम है, यह विचार भी आर्योंमें भरपूर था। दासोंका रूप-रंग भी आर्योंसे भिन्न था; वे भिन्न वर्णके--काली त्वचा वाले--और 'अनासः'--बगैर नाकके--अर्थात् कुछ चिपटी नाकवाले होते; वे 'मृध्र' अर्थात् अव्यक्त बोली बोलते थे। गोरा रंग, उभरा माथा, नुकीली नाक, स्पष्ट ठोडी आर्योंकी विशेषताएं थीं। विभिन्न जनोंके सब आर्योंको मिलाकर 'पञ्चजनाः' अर्थात् 'सब जातियाँ' भी कहा जाता था।

पशुपालन और खेती जनता की मुख्य जीविकाएं थीं। उनके अतिरिक्त मृगया (शिकार) भी काफी प्रचलित थी। कृषि केवल वर्षापर निर्भर न थी, सिंचाई भी होती थी। तो भी वैदिक आर्योंकी खेती प्रारम्भिक दर्जेकी थी। जनताका धन मुख्यतः उनके ढंगरों के रेवड़ और दास-दासियाँ ही होतीं। युद्धमें जीतनेके बाद शत्रुकी भूमि,दास-दासियाँ और ढंगर विजेताओंको खूब मिलते तो भी भूमिका स्वामी राजा न होता था। जीती हुई भूमि जनमें बँट जाती होगी। दास-दासी यद्यपि सम्पत्तिमें सम्मिलित होते तो भी समाजका जीवन उनकी मेहनतपर निर्भर न था; जीवनके सभी साधारण कार्य जनके स्वतन्त्र गृहस्थ स्वयं करते। भूमि यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्तिमें सम्मिलित थी तो भी उसका विनिमय और व्यापार न के बराबर होता। जमीन खरीदनेका रिवाज नहींके बराबर था।१ दूसरी तरफ जंगम संपत्तिका लेन-देन काफी था। मुद्रा नहीं के समान थी, वस्तु-विनिमय ही चलता था। ऋण देने-लेनेकी प्रथा भी थी। जुआ खेलनेका रिवाज बुरी तरह था और वही प्रायः ऋणका कारण होता। ऋण न चुकानेसे ऋणी दास बन सकता था।

कृषि और पशुपालनके सिवाय कुछ शिल्प भी प्रचलित थे। बढ़ई या रथकारका काम बड़े महत्वका था क्योंकि बढ़ई युद्धके लिए रथ और कृषिके लिए हल और गाड़ी बनाता। युद्ध और कृषिकी सामग्री तैयार करनेके कारण लोहार (कर्मार) का काम भी बड़े गौरवका था। चमड़ा रंगने और ऊनी कपड़ा बुननेके शिल्पोंका भी बड़ा गौरव था। स्त्रियाँ चटाई आदि भी बनाती थीं। यह विशेष ध्यान देनेकी बात है कि शिल्पियोंकी स्थिति साधारण विशःसे कुछ ऊँची ही थी। प्रत्येक ग्राममें कृषकोंके साथ साथ सूत (रथके सारथी) आदि भी

१: यजुः ९, ४०।

१. "प्राग्ऐतिहासिक कालमें भूमिपर पूरे समाजका स्वामित्व माना जाता था, इसका पता कुछ आचार्योंके इस मतसे चलता है कि पूरे ग्राम, गोत या बिरादरीकी अनुमतिसे ही भूमि बेंची या हस्तांतरित की जा सकती है। प्राग्ऐतिहासिक कालमें समाजगत स्वामित्वका प्रभाव ऐतिहासिक कालमें दो बातोंके रूपमें देख पड़ता है। भूमिकर न देनेपर भूस्वामीको उसकी भूमिसे हटा सकनेका राज्यका अधिकार मकानदारके किराया न देनेवाले किरायेदारको हटा सकनेके अधिकारके समान है। यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि पहले राज्य सब भूमिका स्वामी था। ऐतिहासिक कालमें भी ऊसर, जंगल और खानोंपर राज्यका अधिकार पूर्वकालके उसके समस्त भूमिपर स्वामित्वके ही आधार पर था। भूमिके इस समाजगत स्वामित्वका अर्थ यह नहीं कि समाज सरकार द्वारा किसी व्यक्तिकी भूमि छीन सकता था। इससे तो केवल भूमिके हस्तांतरित किये जाने पर एक रोक सी रहती थी ताकि कोई अवांछनीय व्यक्ति ग्राममें न आ जाय। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि वैदिक कालमें राजा भी कोई भूमिदान तभी दे सकता था जब पड़ोसी उसमें आपत्ति न करें। (प्रो० अल्तेकर कृत 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति' से)।

थे, वे बुद्धिमान और मनीषी माने जाते और उनकी स्थिति लगभग ग्रामणीके बराबर होती।

वैदिक कालमें नगरों और नागरिक जीवनकी सत्ता विशेष नहीं दीख पड़ती। 'पुर' से अभिप्राय प्रायः पर-कोटेसे घिरे हुए बड़े गाँवसे ही है। व्यापार भी बहुत नहीं चलता था। पणि नामक विनिमय करनेवाले व्यापारियोंका उल्लेख जरूर मिलता है। पर वे पणि प्रायः असुर या अन्य अनार्य प्रतीत होते हैं जिन्हें आर्यों तथा उनके देवताओंसे सदा हारना और लुटना पड़ता था। कहीं कहीं 'देवपणियों'का भी उल्लेख आया है। नदियाँ पार करनेके लिए नावें खूब चलती थीं।

समितिका जहाँ राज्यमें इतना अधिकार था, वहाँ यह भी कुछ कठिन न था कि कहींपर बिना राजाके समिति ही राज्य करे। इस प्रकार अराजक जन भी वैदिक आर्योंमें थे। यादवोंमें वीतिहोत्र या वैतहव्य एक प्रसिद्ध अराजक जन थे।

समाजमें ऊँच-नीचका भेद कुछ जरूर था, पर बहुत नहीं।सबसे बड़ा भेद आर्य और दासका था। दास वास्तव में आर्योंके बाहर थे; वे दूसरी नस्ल और दूसरे वर्ण-रंगके थे और विजित जातिके। तो भी उनसे सम्बन्ध, चाहे घृणित समझे जाँय, सर्वथा न रुक सकते थे।

आर्य और दासके भेदके अतिरिक्त और कोई जाति-भेद न था। 'वर्ण' वास्तवमें दो ही थे,१ और जो भेद थे वे साधारण सामाजिक ऊँच-नीचके। रथी और महारथी की स्थिति साधारण पदाति योद्धासे स्वभावतः ऊँची होती। इस प्रकार रथियोंके क्षत्रिय परिवार यद्यपि विशःके ही अंश थे तो भी विशःके साधारण व्यक्तियों--वैश्यों--से अपनेको ऊँचा समझते। रथियों या क्षत्रियोंमें भी जिन परिवारमेंसे प्रायः राजा चुने जाते, उनके व्यक्ति--राजन्य लोग--साधारण रथियों या क्षत्रियोंसे स्वभावतः ऊँचे माने जाते। उधर यज्ञोंका क्रिया-कलाप बढ़नेके साथ-साथ पुरोहितोंकी भी एक पृथक श्रेणी बननेकी प्रवृत्ति हुई। विद्या और ज्ञानकी खोजमें भी कुछ लोग लगते और अपना जीवन जंगलोंके आश्रमोंमें काटते। वे ब्राह्मण लोग भी 'विशः'का ही एक अंश थे। यह थोड़ा-बहुत श्रेणी-भेद होनेपर भी सब आर्योंमें परस्पर खानपान और विवाह-सम्बन्ध खुला चलता था।

० ० ० ०

प्रोफेसर अल्तेकरने अपने ग्रंथ "प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति" में लिखा है:- बहुत कालतक भारतमें जनराज्योंका ही प्रचलन रहा। विशपति, जनपति आदि के उल्लेख हमें अनेक जगह मिलते हैं और उनके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर यदु, पुरु, अणु, और तुर्वशु आदि विशिष्ट जनोंका भी उल्लेख प्रचुरतासे किया गया है।

नृपतन्त्र और उच्च वर्गतन्त्रके साथ-साथ विशुद्ध प्रजातन्त्रका अस्तित्व भी भारतमें वैदिक कालसे ही है। ऐतरेय ब्राह्मणमें एक स्थलपर कहा गया है कि हिमालयके पास उत्तर कुरु और उत्तर मद्र आदि जनोंमें वि-राट् (राजा रहित) शासन-तन्त्र प्रचलित था।

उत्तर-मद्र तथा उत्तर कुरु आदि हिमालयके उत्तरके प्रदेशोंमें 'वैराज्य' व्यवस्था थी और वहाँके लोग विराट् शब्दसे सम्बोधित किये जाते थे। इसमें सन्देह नहीं है कि उत्तर कुरु और उत्तर मद्रके 'वैराज्य'गणतंत्र ही थे क्योंकि विराट् सम्बोधन उनके राजाओंका नहीं वरन् 'नागरिकों'का है और अभिषेक राजाका नहीं, जनताका होता था। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि उत्तर कुरुओं और उत्तर मद्रोंके देशमें चौथी सदी ईस्वी तक गणतंत्र व्यवस्था ही प्रचलित थी।

० ० ० ०

चिन्तामणि विनायक वैद्य कृत 'महाभारत मीमांसा' में लिखा है:--महाभारतमें कुछ लोगोंको 'गण' कहा गया है।

गणान् उत्सवसंकेतान् दस्यून्पर्वतवासिनः।
अजयत् सप्त पाण्डवः॥

इसमें वर्णित है कि पर्वतवासी सात गणोंकी--उत्सव संकेत नामके लोगोंको--अर्जुनने जीत लिया था। सभापर्वमें वर्णित गण इसी प्रकारके लोग थे। यह बात प्रसिद्ध है कि पहाड़ी प्रदेशोंमें रहनेवाले लोग प्रायः स्वतंत्र और प्रजासत्ताक प्रवृत्तिके होते हैं। महाभारतकालमें 'गणपति' एक विशिष्ट पदवी मानी जाती थी जिसका अर्थ गणोंका मुखिया होता है। महाभारतमें उत्सव संकेत,

१. उभौ वर्णौ--ऋ० १, १७९, ६।

गोपाल, नारायण, संशप्तक इत्यादि नामोंसे जो गण वर्णित हैं, वे प्रजासत्ताक लोग होंगे। जान पड़ता है कि ये लोग पंजाबके चारों ओरके पहाड़ोंके निवासी होंगे। पंजाबके चारों ओरके पहाड़ोंके निवासी होंगे। संसप्तकोंको संसप्तक गण कहा गया है और इसके साथ नारायण और गोपाल-गण और भी बताये गये हैं। (द्रोण पर्व १७वाँ अध्याय) हमारा अनुमान है कि संसप्तक गण अथवा उत्सव-संकेत गण१ प्रभृतिका जो उल्लेख मिलता है वह ऐसे ही लोगोंके लिए है। युधिष्ठिरने इस सम्बन्धमें शान्तिपर्वके १०७वें अध्यायमें स्वतन्त्र प्रश्न किया है। उसने पूछा है कि "इन गणोंका उत्कर्ष कैसे होता है और इनमें फूट किस तरह होती है?" इनके जो वर्णन पाये जाते हैं उनसे जान पड़ता है कि इन लोगोंमें कुछ मुखिया होते हैं। उनके उत्कर्षका आधार ऐक्य ही है।

न गणः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुर्महन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यंगणहितमिथः॥

इस श्लोकसे जान पड़ता है कि इन गणोंके सामान्यतः सर्वसाधारणकी सभा होती थी, परन्तु गुप्त परामर्श गणोंके मुखियोंसे ही करनेका उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि:--

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्धचा रूप द्रव्येण वा पुनः॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्तेरिपुभिर्गणाः।

इससे प्रतीत होता है कि ये गण एक ही जातिके और एक ही कुलके होते थे, और केवल भेदसे ही जीते जाते थे।

इन लोगोंमें बहुत्वके कारण मंत्र नहीं हो सकता और इनका नाश भेदसे होता है:--

भेदमूलो विनाशोहि गणानामुपलक्षये।
मंत्र संवरणं दुखं बहूनामिति मे मतिः॥

इस वर्णनसे स्पष्ट देख पड़ता है कि महाभारतमें कहे हुए गण प्रजासत्ताक लोग ही हैं।

० ० ० ०

१. गणानुत्सव संकेतानजयत् पुरुषर्षभः।
शूद्राभीरगणांश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्॥
वर्तयन्ति च मत्सयर्येच पर्वतवासिनः।
(सभा० अ० ३२ : १०)

उत्तर वैदिक युग

जातिभेद प्रारम्भमें केवल आर्य और दासका ही था। वैदिक कालमें विजातीय जनतासे स्वाभाविक घृणा थी, कोई निश्चित बंधन न होनेसे स्वाभाविक सम्बन्ध भी बहुधा हो जाते थे। जब लगातार साथ रहने से अधिक सम्बन्ध होने लगा, तब आर्योंकी पवित्रता बनाये रखनेके लिए नियम और बन्धन बनाये जाने लगे। दास स्त्री आर्यकी धर्मपत्नी न हो सकती। तो भी 'रामा'के रूपमें रमणके लिए काली जातिकी स्त्रियोंको रखना वर्जित न था। वैसे भी दास अब आर्योंके समाजके बिल्कुल बाहर न रहे, वे उनका एक अंग--शूद्रके रूपमें--बनने लगे। किन्तु शूद्रके साथ विवाह-सम्बन्ध घृणित माना जाता, आर्योंके समाजमें आ जानेपर भी वह एक दलित श्रेणी था। आर्य और शूद्रमें वास्तविक जाति-भेद अर्थात् नस्लका भेद था।

स्वयं आर्योंमें भी विभिन्न श्रेणियाँ शकल पकड़ रही थीं। 'रथेष्ठाः' या रथी लोग साधारण पदाति से हैसियतमें स्वभावतः ऊँच थे, सो पीछे कहा जा चुका है। बहुतसे राजकीय पदोंपर स्वभावतः उन्हींकी अधिकांश नियुक्ति होती। यद्यपि वैसा कोई नियम न था। राजन्यका दर्जा उनसे भी ऊँचा था। उसमें राजकीय परिवारोंके लोग थे। राजन्यों और रथेष्ठाओंको मिलाकर क्षत्रिय श्रेणी बनती थी जो शुरूसे ही कुछ कुछ विशःसे ऊपर थी। अब केवल उसका ऊपर होना अधिक स्पष्ट होने लगा।

किन्तु एक नयी श्रेणी ज्ञान और विचारके मार्गमें जानेवाले, अध्ययन और अध्यापनमें लगे लोगोंकी बन रही थी। वही ब्राह्मण श्रेणी कहलाती। ब्राह्मणका मूल अर्थ केवल 'ब्रह्मन्'-ऋच्, साम और आथर्वण मंत्रों-को दोहरानेवाला, अर्थात् पद्यपाठक मात्र था। पद्यपाठकके काम से ही एकतरफ तो पुरोहितके कामका विकास हो गया। दूसरी तरफ पद्योंके अनुशीलनसे ही अनेक ज्ञानों और अध्ययनोंका विकास हुआ। इस प्रकार ज्ञान और अनुशीलन, अध्ययन और अध्यापन करनेवाले गृहस्थ त्यागियोंकी एक दूसरी श्रेणी बन उठी। उनमेंसे जो बड़े-बड़े आश्रमों या शालाओंके नायक थे वे 'महाशाल' ब्राह्मण कहलाते। पुरोहित ब्राह्मण और महाशाल ब्राह्मण दोनों ही का अध्ययन-अध्यापन मुख्य लक्षण था क्योंकि राष्ट्रके धर्म और व्यव-

हार (नियम-कानून)की और हिताहितकी वे विशेष विवेचना करते थे, इसलिए एक तरफ राष्ट्रके मन्त्रधर (अमात्य, सलाहकार, नीति-निर्धारक) का कार्य तथा दूसरी तरफ न्याय विभाग का कार्य प्रायः उन्हींके हाथोंमें आ जाता। इन ऊँचे पदोंमें या पुरोहित पेशेमें आमदनी जरूर थी, किन्तु साधारण ब्राह्मणका मुख्य कार्य तो अध्ययन-अध्यापन ही था जिसके साथ गरीबीका भाव प्रारम्भसे जुड़ा हुआ था। ज्ञान और गरीबीका आदर सम्पत्ति और समृद्धिसे कभी कम नहीं रहा। जनताकी इस मनोवृत्तिके कारण क्षत्रिय श्रेणी जैसी कुलीन और अभिजात समझी जाती, ब्राह्मण श्रेणी भी वैसी ही कुलीन और अभिजात गिनी जाने लगी।१

क्षत्रिय और ब्राह्मण ये दोनों श्रेणियाँ साधारण 'विशः' मेंसे ही ऊपर उठी थीं। विशःके साधारण लोग वैश्य थे। वे सबका आश्रय थे। वैश्य गृहपति राष्ट्रका आधार थे। शिल्प और व्यवसायके परिपाकके साथ-साथ वैश्य समुदायमें भी 'गण' बनने लगे, और उत्तर वैदिकवाङ्मयमें जहाँ 'श्रेणी' शब्द आता है, उसका अर्थ बहुतसे विद्वान 'गण' का प्रमुख ही करते हैं। 'श्रैष्ठच' का अर्थ गणकी मुख्यता। अर्थात् उस प्रारम्भिक समाजमें जो पहले समूचा कृषकों और पशुपालकोंका था और जिसमें कुछ साधारण शिल्प केवल कृषिके सहायक रूपमें थे, अब कृषि, व्यापार और अनेक शिल्प-व्यवसायोंकी भिन्नता फूटने और अंकुरित होने लगी, श्रमकी विभिन्नता प्रकट होने लगी, तथा जिस प्रकार ज्ञान और अध्ययनका पेशा उसी विशःमें से फूटकर एक पृथक अंग बन रहा था उसी प्रकार अन्य शिल्पों और व्यवसायोंके समूह या गण भी पृथक अंगोंके रूपमें प्रकट होने लगे। किन्तु यह अभी बीजमात्र था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका उक्त वर्गीकरण केवल एक श्रेणी-भेद था। अपनी-अपनी श्रेणीमें ही खानपान, विवाह-व्यवहार रखनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और तब भी थी, किन्तु आजकल की जात-पाँतकी तरह वे
दायरे न थे। जात-भेद यदि था तो आर्य और
था और जाति-भेदके आधारपर था।

'अवस्थिति' या स्थिरताके कारण जैसी परिप
इस उत्तर वैदिक युगके आर्थिक और सामाजिक जी
आ रही थी वैसी ही आर्योंकी राज्यसंस्थामें भी।

'जनों' के लगातार एक स्थानपर बसे रहते
अवस्थित हो जानेके कारण उन स्थानों या 'जनप
भी धीरे-धीरे स्थिर व्यक्तित्व -स्पष्ट 'नामरूप'
होने लगा। और उसका यह फल हुआ कि राज्य
'जन' के बजाय धीरे-धीरे 'जनपद'का माना जाने ल
'जनपद' का अर्थ ही है जनका रहनेका स्थान (पद)
जहाँ जनके पैर जमे हों। देश जनपद इसी कारण कह
लगा कि वह जनका अधिष्ठान था, उसपर कोई
बस गया था। प्रारम्भमें 'जनपद' में यही विचार
अब हम साधारण रूपसे देशको 'जनपद' कहते हैं, वह
'जन' (कबीलें) का अधिष्ठान है या नहीं सो कभी
विचारते। किन्तु प्राचीन कालके लोग इसी विचा
जनपदको जनपद कहते थे। जनपदोंके नाम ज
नामसे ही पड़े थे, जैसे, पञ्चाल, चेदि, वत्स,
शूरसेन, अवन्ति, यौधेय, मद्र, शिवि, अम्बष्ठ, उशी
मालव, केकय, गांधार आदि। किन्तु ऊपरसे नाम
रहते हुए भी अन्दरसे उनकी राज्य-संस्थामें चुपके-चु
परिवर्तन हो गया--'जानराज्य' के बजाय अब वे 'जा
पद राज्य' हो गये। कुरु, पाञ्चाल, मद्र, मालव
अब जन या कबीले न रहे। यद्यपि अब भी उन उन ना
जनपदोंमें उन्ही उन्ही मूल जनोंके बंशज--सजात
अभिजन--मुख्यतः बसे हुए थे तो भी और जो कोई
व्यक्ति उन राष्ट्रोंमेंसे किसीमें बस जाय, उसमें 'भ
रखे, वह राष्ट्र उसका अभिजन हो या न हो, वह
अब उसकी प्रजा हो जाता। बाहरी लोग किसी
प्रजा तो पहले भी बन ही सकते थे किन्तु उस समय
कल्पित सजातता या अभिजनता स्वीकार
पड़ती थी। अब वे सजात या अभिजन नहीं बनते
अभिजनत्वके बजाय अब उन्हे जनपदमें 'भक्ति' र
आवश्यकता होती थी। इसी प्रकार 'ग्राम' पहले
टुकड़ी या जत्था होता था, अब उसमें भी बस्तीका
मुख्य हो गया।

१. यह भूलना न चाहिए कि छठवीं सदी तक अन्तरजातीय विवाहकी प्रथा थी। अतः क्षत्रियोंकी अलग और स्वयं पूर्ण जाति न बन सकी थी। सेनामें उच्च पद प्राप्त करने वाले वैश्य या शूद्रको क्षत्रिय पदसे वंचित करना सम्भव न था।

केवल इतना ही नहीं विभिन्न जनपदोंमें विभन्न प्रकारकी राज्य-संस्थाएं स्थिर सी हो चली थीं। प्राची दिशा अर्थात् मगध, विदेह, कलिंग आदिमें साम्राज्यके अभिषेक होते; वहांके राजा 'सम्राट' कहलाते। आजकल हम एकछत्र शासनको साम्राज्य कहने लगे हैं। प्राचीन साम्राज्य शब्दका मूल अर्थ शायद था राज्य-संघ या राज्य-समूह, अर्थात् अनेक राज्योंका गुट जिनमेंसे एक मुखिया मान लिया गया हो। 'दक्षिण' दिशामें सत्वत (यादव) लोगोंमें भौज्य राज्य-संस्था थी, वहाँ प्रमुख शासक 'भोज' कहलाते। 'भोज' का अर्थ प्रतीत होता है कुछ समय के लिए नियुक्त राजा। 'प्रतीची दिशा' (पच्छिम) में नीच्य और अपाच्य लोगोंमें अर्थात् दक्खिन-पच्छिम और ठेठ पच्छिम--सुराष्ट्र, कच्छ और सौवीर (आधुनिक सिंध) आदि देशोंमें 'स्वाराज्य' राज्य-संस्था थी; वहाँके राजा 'स्वराट्' कहलाते। 'स्वाराज्य' का अर्थ था 'अग्रयं समानानां--ज्यैष्ठयम्--बराबर वालोंका अगुवापन। इस प्रकार 'स्वराट्' आनुवंशिक राजा न था। बराबरके लोगोंमेंसे चुना हुआ अगुवा मात्र था।

उदीची दिशामें हिमालयके परे उत्तर कुरु, उत्तर मद्रों के जो 'जनपद' थे, उनमें 'वैराज्य' प्रणाली थी; वे विराट--राजहीन--जनपद थे। उत्तर कुरु, उत्तर मद्रसे इस युगमें क्या समझा जाता था, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। और 'ध्रुवा मध्यमा प्रतिष्ठा दिशा' में अर्थात् अन्तर्वेदमें, 'कुरु-पञ्चाल वंश और उशीनर' (पूर्वोत्तर पंजाबके) लोगोंमें 'राज्य' की प्रथा थी। वहाँके राजा ठीक 'राजा' थे और कहलाते थे। अर्थात् मध्यदेश और प्राचीके सिवाय सभी जगह एक राज्यकी प्रणाली न थी। विशेषकर मध्यदेशके उत्तर पच्छिमसे दक्खिनतक पंजाबसे बराड़--महाराष्ट्रतक संघ राज्योंकी एक मेखला थी। प्राचीन भारतमें जिन राज्योंके राजा वंशागत न होते और चुने जाते थे, उन्हे 'संघ या गण' कहते। चुने हुए मुखिया भी प्रायः राजा ही कहलाते। काठियावाड़के अन्धक-वृष्णि यादवोंमें एक राजाका राज्य न होता। अन्धक-वृष्णियोंका एक 'संघ' था और उस संघके दो मुखिया चुने जाते जो 'संघमुख्य' कहलाते। गुजरातमें यादव-संघके अतिरिक्त पंजाबमें यौधेय, मद्रक मालव आदि जो राज्य थे वे भी शायद संघराज्य ही थे।

० ० ०

डॉक्टर अल्तेकर ने लिखा है:--वैदिक वाङ्मयमें कभी कभी राजाओंकी समितिका वर्णन मिलता है। यह भी कहा गया है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिसके लिए अन्य राजाओंने सहमति दी हो। सम्भवतः इससे सामन्त अथवा गण-राज्यका अभिप्राय हो, जिसमें सारा अधिकार उच्च वर्गका या सरदारोंकी परिषद्के हाथ रहता है। उसके सब सभासद् राजा कहे जाते थे और ये ही राज्यके सर्वोच्च अधिकारीको चुनते थे और वह भी राजाकी ही उपाधिसे सम्बोधित होता था। देशके कुछ हिस्सोंमें इस प्रकारके राज्योंका ईस्वी पूर्व छठवीं शताब्दीतक अस्तित्व था।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि गणका अर्थ एक विशिष्ट राज्य-व्यवस्था है जो नृपतन्त्रसे नितान्त भिन्न है। मध्यदेशके कुछ व्यापारियोंसे दक्षिणके एक राजाने पूछा कि आपके देशमें कौन राजा राज्य करते हैं तो उन्होने उत्तर दिया कि महाराज, हममेंसे कुछ ऐसे देशके हैं जहाँ राजाका राज्य है, पर औरोंके देशमें गणतन्त्रकी व्यवस्था है[१]। एक जैन ग्रंथमें कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देशमें न जाँय जहाँ राजा न हो, या जहाँ युवराजका राज्य हो, या जहाँ आपसमें लड़नेवाले दो राजाओं (द्वैराज्य) का राज्य हो, या जहाँ गण-राज्य हो। इन दो उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि गणका एक निश्चित वैधानिक अर्थ है और इससे ऐसे राज्यका बोध होता है जहाँ अधिकार एक आदमीके हाथमें न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियोंके हाथ में होता है। ठीक इसी अर्थमें 'संघ' शब्दका भी प्रयोग किया जाता था। हम जानते हैं कि यौधेयोंमें शासन-सूत्र ५००० व्यक्तियोंकी परिषद्के हाथमें था, जिनमें से प्रत्येकके लिए राज्यको एक हाथी देना जरूरी था। अस्तु, यह स्पष्ट है कि इस राज्यके शासक अमीर या उच्च वर्गके सदस्य ही होते थे जिनमें एक एक हाथी दे सकनेका सामर्थ्य था। जनसाधारणका राज्यके शासनमें कोई हाथ न था। शाक्यों और कोलियोंके राज्यमें भी यही स्थिति थी। समस्त जनताके जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले सन्धि-विग्रह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नका निर्णय भी थोड़े से शाक्य और कोलिय राजाओं अर्थात् सरदारोंके हाथ था।

१. देव केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः। अवदानशतक २ पृ० १०३।

साधारण किसान और मजदूरोंका काम केवल अधिकारी वर्गके निश्चयको मानना और पूरा करना था।

प्राचीन भारतके यौधेय, शाक्य, मालव और लिच्छवि गणराज्योंमें शासनकी बागडोर सामान्य जनताके हाथमें नहीं थी। प्राचीन यूनान और रोमके प्रजातन्त्र राज्योंमें मतदानका अधिकार बहुत छोटेसे अल्पसंख्यक समूहके हाथमें था जो स्वतन्त्र मगर अधिकार-रहित नागरिक और बहुसंख्यक दास वर्गपर शासन करता था। वैशालि का लिच्छवि गण-राज्य आजकलके दो जिलोंसे बड़ा न था, फिर भी उसके शासक-वर्गमें ७७०७ आदमी थे। इस वर्गके सदस्य क्षत्रिय होनेके कारण 'राजा' कहे जाते थे। शबरने स्पष्ट लिखा है कि 'क्षत्रिय' और 'राजा' पर्यायवाची हैं। उत्तरी-पूर्वी भारतके प्रायः सभी गण राज्योंमें शासन-मण्डलके सभासदोंको राजाकी पदवी देनेकी प्रथा थी। इसीसे अमरकोषमें 'राजन्यक' का अर्थ क्षत्रियोंका गण-राज्य बताया गया है और अपनेको राजन्य माने क्षत्रिय गण कहते थे।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय गणराज्योंमें शासक वर्ग प्रायः क्षत्रिय होता था। ऋगवेदके एक स्थलपर राजाओंके समितिमें एकत्र होनेका वर्णन किया गया है। दूसरे स्थानपर यह कहा गया है कि राजा वही हो सकता है जिसे अन्य राजा लोग स्वीकार करें।[१] यहाँपर अन्य राजाओंका अर्थ सम्भवतः विशपति है। और यह राज्य भी बादके प्रजातन्त्र राज्यके प्रकारका था। राजशक्ति सर्वसाधारण जनताके हाथमें न होकर विशोंके मुखियोंके हाथमें थी। यदि इनके द्वारा स्वीकृत अध्यक्ष या अधिपतिका पद आनुवंशिक हो जाता था तो राज्य नृपतन्त्रमें परिवर्तित हो जाता था। पर यदि विशपति या सरदारों द्वारा स्वीकृत अधिपतिके अधिकार की काल-मर्यादा सीमित होती थी और उसका पद आनुवंशिक न होने पाता था तो बादमें चलकर यही राज्य परवर्ती कालके क्षत्रिय गण-राज्यके रूपमें विकसित हो सकता था।

ऐतिहासिक कालमें भारतके उत्तरी-पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी भूभागोंमें गणतन्त्र-राज्य कायम थे। ये राज्य बड़े ही समृद्ध और सुव्यवस्थित थे। इस व्यवस्थामें व्यापार और उद्योगकीभी बहुत उन्नति हुई थी। पंजाब और सिन्धुके गणराज्योंमें सुखी और समृद्ध नगरोंकी बहुतायत थी।

अधिकांश गणतंत्र एक ही ज्ञातिके रहते थे। इनका शासकवर्ग समझता था कि उसके सब व्यक्ति एक ही ऐतिहासिक या पौराणिक मूलपुरुषके वंशज हैं। केन्द्रीय समितिकी सदस्यताका अधिकार प्रायः उन्हीं तक सीमित था।

गणतंन्त्रोंकी स्थापना या विकासमें वंशैक्यकी भावनाका बड़ा हाथ रहा। जहाँ यह भावना वर्तमान न थी वहाँ गणराज्योंकी स्थापना प्रायः न हो सकी। यह भी प्रतीत होता है कि गणराज्योंके अधिकारका विस्तार या प्रभाव ऐसे प्रदेशोंमें न हो पाता था जहाँ उनके वंशके लोग पर्याप्त संख्यामें नहीं रहते थे। यह सत्य है कि गणराज्य समान शत्रुसे मोर्चा लेनेके लिए आपसमें मिल जाते थे। परन्तु मौर्य और गुप्त साम्राज्योंकी भाँति कोई शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य वे स्थापित न कर सके। उनकी दृष्टि अपने निवास-प्रदेशके परे न जाती थी। अपनी स्वतन्त्रतापर संकट आनेपर वे प्राण होम करनेको तैयार रहते थे। पर विदेशी आक्रमणके निवारणके लिए पंजाब, राजपूताना और सिंधके गण-राज्योंको मिलाकर एक विशाल उत्तर-पश्चिमी राज्य-संघ बनानेकी कल्पना उनके मनमें न आ सकी। कुलाभिमान, आपसी झगड़े और अत्यधिक स्वातन्त्र्य-प्रेमके कारण गणतन्त्रोंमें सुदृढ़ केन्द्रीय शासनका विकास भी न हो सका क्योंकि इसके लिए विशेषाधिकारी वर्ग और स्थानीय संस्थाओंके बहुतसे अधिकार केन्द्रीय सरकारको सौंपने पड़ते हैं।

नदसा गाँवके यूप परके एक लेखसे पता चलता है कि तीसरी शताब्दीमें ही मालव गण-राज्यकी सत्ता पैतृक परम्परा गत होकर ऐसे कुलोंके हाथमें जा रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियोंसे बताते थे। चौथी शताब्दीमें यौधेय और सनकानिक गणोंके नेता महाराज और महासेनापति जैसी राजसी उपाधियाँ धारण कर रहे थे। यही दशा लिच्छवि गणराज्यकी भी रही होगी क्योंकि 'राजपुत्री' कुमार देवी लिच्छवि प्रदेशकी उत्तराधिकारिणी थीं। अस्तु, जब गण-राज्योंकी सत्ता

१ यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति न स यस्मै न। श० प० ब्रा० ९-३-२५।

(आनुवंशिक) अध्यक्षोंके हाथमें सीमित हो गयी जो सेनापति रहते थे और जो राजसी उपाधियाँ भी धारण करते थे तो गणराज्य और नृपतन्त्रमें अन्तर ही क्या रहा। वैदिक राज्योंके छोटे होनेके कारण इस युगमें प्रान्तीय या प्रादेशिक शासनका प्रारम्भ भी नहीं दिखायी देता है। ग्रामणीका (मुखिया) राजा और उसकी रत्नि-परिषद से सीधा सम्बन्ध था। कालक्रमसे राज्योंका विस्तार बढ़ा। राज्य-संघ बनानेकी प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। कुरु और पंचालोंके मिलकर एक राजा बनानेका उदाहरण हमारे सम्मुख है। ब्राह्मण-ग्रंथोंमें सम्राट और साम्राज्यका भी उल्लेख मिलता है। पर ये साम्राज्य शायद ही आधुनिक कमिश्नरियोंसे बड़े रहे हों। पर इनके विकाससे जनराज्यों (Tribal states) का अन्त हो गया। १००० ई० पू० से सर्वत्र प्रादेशिक राज्यों का ही चलन हुआ।

प्राचीन भारतमें गण-राज्य, उच्च जनतन्त्र, द्वैराज्य और नृपतन्त्र आदि विविध शासन-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पर अन्तमें नृपतन्त्रका ही सर्वत्र प्रचार हुआ। यह घटना प्राचीन भारतमें ही नहीं घटी; प्राचीन यूरोपमें भी ऐसा ही हुआ। प्राचीन ग्रीस और इटलीमें भी नृपतन्त्र और साम्राज्यने गणराज्योंको विनष्ट किया था। प्रतिनिधि-शासनकी पद्धति प्राचीन कालमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों ही देशोंको ज्ञात न थी। अतएव गणराज्य या प्रजातन्त्र तभीतक कायम रह सकते थे जबतक राज्यका विस्तार थोड़ा हो और लोक-सभाके सभी सदस्य जो अधिकतर उच्च वर्गके होते थे, एक स्थानपर एकत्र हो सकें। प्राचीन ग्रीस और रोमके प्रजातन्त्र राज्योंकी भाँति यहांके गणराज्योंमें भी सत्ता साधारण जनके हाथमें न होकर क्षत्रिय या कहीं कहीं ब्राह्मण जैसे छोटेसे विशेषाधिकारी वर्गके ही हाथोंमें रहती थी। हिन्दू राज्यतन्त्र ऐसे समाज-में काम कर रहा था जहाँ जाति-प्रथा वर्तमान थी और शासन-कार्य क्षत्रियोंका कार्य और कर्तव्य माना जाता था; कुछ हदतक ब्राह्मण भी इस कार्यमें उनकी सहायता करते थे। अतः प्राचीन भारतीय गण-राज्योंमें प्रतिनिधि चुनने या मतदानका अधिकार साधारण जनको नहीं दिया जा सकता था।

o o o o

चिन्तामणि विनायक वैद्यने 'महाभारत-मीमांसा' में इन भारतीय गणराज्योंके सम्बन्धमें लिखा है:—जैसे-जैसे वर्णव्यवस्था दृढ़ होती गयी, वैसे-वैसे राजाओंके अधिकार मजबूत होते गये; और जैसे-जैसे राज्यमें शूद्र वर्णकी वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे प्रजाका अधिकार घटता गया। जब यह बात निश्चित हो चुकी कि राज्य करना क्षत्रियोंका ही अधिकार है और यह उन्हींका मुख्य धर्म है, तब ब्राह्मण और वैश्य (विशेषतः वैश्य) राज्य-काजसे अपना मन हटाने लगे। दूसरे जब राज्य छोटे-छोटे थे और अधिकांश लोग आर्य ही थे, उस समय राजकीय प्रश्नोंके सम्बन्धमें लोगोंकी सभा करके उनकी राय लेना सम्भव और उचित जान पड़ता था। परन्तु जब राज्य विस्तृत हो गये, शूद्र लोगों और मिश्र वर्णके अन्य लोगोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी, और इन लोगोंकी राय लेना अनुचित मालूम होने लगा, तब ऐसी सभाओंका निमंत्रण रुक गया होगा। स्वभावतः शूद्रोंको पराजितके नाते राजकीय अधिकारोंका दिया जाना सम्भव नहीं था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि बहुत बड़ी मनुष्य-संख्याकी ओरसे प्रतिनिधि द्वारा सम्मति लेनेकी आधुनिक पाश्चात्य पद्धति प्राचीन कालमें नहीं थी। यह पद्धति ग्रीस और रोमन लोगोंको भी मालूम न थी। इसलिए ग्रीक और रोमन लोगोंकी प्रजासत्ताक राज-व्यवस्थाके अनुसार प्रत्येक ग्रीक या रोमन मनुष्यको लोक-सभामें उपस्थित होना पड़ता था। अतएव वहाँके प्रजासत्ताक राज्योंका प्रबन्ध धीरे-धीरे बिगड़ता चला गया और अन्तमें वे राज्य नष्ट हो गये। इसी प्रकार हिन्दुस्तानमें भी जबतक राज्य छोटे थे और राज्यके अधिकारी लोग आर्य थे तबतक राजकीय बातोंमें इन थोड़े लोगोंकी राय लेनेकी रीति जारी थी। परन्तु आगे जब राज्यका विस्तार बढ़ गया, लोगोंकी संख्या अधिक हो गयी, और शूद्र लोग भी चातुर्वर्ण्यमें समाविष्ट हो गये तब सर्वसाधारणकी राय लेनेकी नीति बन्द हो गयी। इसका एक दृढ़ प्रमाण हमें देख पड़ता है, वह इस प्रकार है।

हिन्दुस्तानमें पश्चिमी प्रदेशके और विशेषतः पहाड़ी मुल्कके लोग एक ही वंशके, मुख्यतः आर्य जातिके थे। इसलिए उनकी व्यवस्था निराली थी, यानी वह

प्रमुख लोगोंके हाथमें स्वतन्त्र प्रकारकी थी। इसके विरुद्ध पूर्वकी ओर मगध आदि देशोंके राज्य बड़े थे। वहाँकी प्रजा विशेषतः शूद्र वर्णकी या मिश्र वर्णकी अधिक थी, इसलिए वहाँकी राज-व्यवस्था दूसरे ही ढंगकी थी, अर्थात् वह राजसत्ताक थी। यह बात ऐतरेय ब्राह्मणके नीचे दिये हुए अवतरणसे मालूम हो जायगी। रमेशचन्द्र दत्तने इस अवतरणको अपनी पुस्तकोंमें लिया है। इसका भावार्थ यह है—"पूर्व राजाकी 'सम्राट' पदवी है, दक्षिणके राजाको 'भोज' कहते हैं, पश्चिमी लोगोंमें 'विराट्' नाम है, और मध्यदेशमें राजाको केवल 'राजा' ही कहते हैं।" इससे प्रकट होता है कि पूर्वी लोगोंमें सम्राट अथवा बादशाह संज्ञा उत्पन्न हो गयी थी। वहाँके राजाओंके अधिकार पूरी तरहसे बदल गये थे और साधारण लोगोंके अधिकार प्रायः नष्ट हो गये होंगे। अधिक क्या कहें, एकतन्त्र राज्य-पद्धति प्रथम पूर्वी देशोंमें ही जारी हुई होगी। म्लेच्छ अथवा मिश्र आर्य इसी देशमें अधिक थे। इतिहाससे मालूम होता है कि पूर्वकी ओर मगधका राज्य बलवान् हो गया और आगे वही हिन्दुस्तानका सार्वभौम राज्य हो गया। यह भी निर्विवाद है कि पूर्वी राजाओंकी सम्राट् पदवी थी। उपनिषदोंमें भी देख पड़ता है कि जनककी वही पदवी दी गयी थी। अर्थात् मगधके सिवाय विदेहके राजाओंकी भी यही संज्ञा थी। महाभारतसे भी प्रकट होता है कि दक्षिणके राजाओंको 'भोज' कहते थे। दक्षिणके बलवान् राजा भीष्मक और रुक्मीको यही 'भोज' संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार देख पड़ता है कि मध्यदेशके कुरु, पञ्चाल आदि लोगोंके राजाओंके लिए महाभारतमें भी केवल 'राजा' पदका उपयोग किया गया है। मत्स्य देशके विराटके नाममें इस विचार-श्रेणीसे कुछ विशेष अर्थ प्रतीत होता है। अस्तु, ऊपरके अवतरणसे भी यही दृढ़ अनुमान निकलता है कि सम्राटकी कल्पना पूर्वकी ओरके मिश्र लोगोंके बड़े विस्तीर्ण राज्योंके आधारपर उत्पन्न हुई होगी।

o o o o

महाजनपद युग

इस युगमें भूमिका दान और विक्रय हो सकता था। पिताकी सम्पत्तिका उसके पीछे पुत्रोंमें बंटवारा भी होता था। फलतः भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। इसके बादके युगमें खेत बँटाईपर भाड़े देनेका रिवाज भी था, जो सम्भव है इस (महाजनपद) युगमें भी रहा हो।

गाँवके लोग सामूहिक रूपसे सिंचाईका प्रबन्ध करते। खेत छोटे-बड़े दोनों किस्मके थे, १००० 'करीस' (?) के खेतोंका भी उल्लेख है। भाड़ेके श्रमियों (भृतकों) से भी खेती करायी जाती थी और इस प्रकारके ५-५ सौ तक हलवाहोंका एक व्यक्तिकी जमीनपर मजदूरी करनेका उल्लेख मिलता है।

खेती एक ऊँचा पेशा गिना जाता था। वह "वैश्यों" का काम तो निश्चयसे था ही, किन्तु ब्राह्मण भी प्रायः खेती करते थे, और गण-राज्योंके सभी समान क्षत्रिय मुख्यतः कृषक ही होते थे। वे क्षत्रिय लोग जमींदार न थे; जमींदार और किसानका भेद उस समय नहीं था। जमींदारी प्रथा न होनेका मुख्य कारण यह था कि पहलेसे बसे हुए किसी कृषक-समुदायपर विजयकर क्षत्रिय लोगोंने उनकी जमीनपर अपना स्वत्व न जमाया था, प्रत्युत जंगल काटकर ही अपने खेत तैयार किये थे। प्रारम्भिक जातियाँ जिन्हें उन्होने जीता था प्रायः शिकारी और मछु-ओंका पेशा करती थीं, न कि खेती। दास-दासी प्रत्येक धनी आर्य 'गृहपति' के घरमें रहते किन्तु उनकी संख्या कम थी और उनसे खेती नहीं करायी जाती थी। बड़े खेतोंपर भृतकों द्वारा जरूर खेती होती थी और उन भृतकोंका जीवन काफी कठिनाईका था। उन्हें रहनेको जगह और अनाज अथवा सिक्केके रूपमें भृति मिलती। कृषिमें श्रम-विभाग भी हो चला था। उदाहरणके लिए हम ऐसे लोगोंका उल्लेख पाते हैं जिनका पेशा हल वाहने-का ही था।

कृषिकी तरह व्यवसाय और शिल्पकी भी यथेष्ट उन्नति हो गयी थी। उनमें से बहुत कुछ श्रम-विभाग हो गया था। नमूनेके लिए 'वड्ढकि' (बर्धकि, बढ़ई) का एक बड़ा पेशा था जिसमें इमारतोंके केवाड़-चौखटे और बैलगाड़ीसे लेकर जहाजतक बनानेके अनेक काम शामिल थे; 'थपति' (स्थपति, इमारत बनानेवाला), 'तच्छक' (तक्षक, रंदा फेरनेवाला) और भमकार (भ्रमकार, खराद करनेवाला) आदि इसके विशेष विभाग थे जो अलग अलग पेशे बन चुके थे। 'कम्मार' (कर्म्मर) में सब किस्मके धातुका काम करनेवाले सम्मिलित थे, पर उनमें भी अनेक विभाग थे।

शिल्पोंका स्थानीय केन्द्रण भी हो चला था, अर्थात् विशेष शिल्प बहुत जगह विशेष स्थानोंमें जम गये थे। उदाहरणके लिए ऐसे गाँव थे जो केवल बढ़इयोंके, लोहारोंके कुम्हारोंके या शिकारियों ('नेसादो' निषादोंऔर 'मिगलुद्धकों'—मृगलुब्धकों) आदिके थे। एक 'कम्मारगाम' में एक हजार लोहार परिवार और उसी प्रकार एक 'महा-वड्ढकिगाम' में एक हजार बढ़ई परिवार रहनेका उल्लेख है। बड़ी नागरियोंमें, गली-मुहल्लोंमें विशेष शिल्प केन्द्रित हो गये थे, जैसे, बनारसकी दन्तकार बीथी (हाथीदातका काम करनेवालोंका बाजार), रजक बीथी (रंगरेजोंकी गली), जुलाहोंका 'ठान' (स्थान) आदि।

शिल्पके विकासके साथ साथ व्यापारकी भी खूब उन्नति हुई। एक बस्तीमें भी वहाँकी कृषि या शिल्पोंकी उपजको कृषकों या श्रेणियोंसे जनतातक पहुँचानेके लिए छोटे व्यापारियोंकी थोड़ी-बहुत जरूरत होती थी; किन्तु व्यापारियोंका उद्यम और चेष्टा मुख्यतः बाहरके व्यापारमें प्रकट होती थी। वे व्यापारी 'सार्थो' अर्थात् काफलों में चलते और स्थल तथा जलमें लम्बी-लम्बी यात्राएं करते।

इस देशी और विदेशी व्यापारकी बदौलत भारतवर्ष-की नगरियोंकी समृद्धि दिन-दिन बढ़ती थी। नगरियोंके अन्दर विभिन्न श्रेणियोंके कारखाने तथा बाहरी वस्तुओंके बाजार अलग-अलग मुहल्लोंमें रहते।

क्रय-विक्रय खुले सौदेसे होता। दामोंपर कोई बन्धन न था। कभी-कभी कुछ चीजोंके दाम अवश्य रवाजसे स्थिर हो जाते थे। सट्टेका भी चलन था। व्यापार मुख्यतः धातुकी मुद्राओंसे होता जो खूब प्रचलित थी। कभी-कभी वस्तु-बिनिमय भी होता था। मुख्य सिक्का 'कहापण' (कार्षापण) था। प्रत्येक चीज या सेवाकी कीमत उसीमें कही जाती थी। जब सिक्केका नाम लिये बिना भी संख्यामें किसी चीजका दाम कहा गया हो तब कहापणसे ही अभिप्राय होता है। उसके सिवा 'निक्ख' (निष्क) और 'सुवण्ण' नामके सोनेके सिक्के चलते थे। ताम्बे या काँसेके कुछ रेजगारी सिक्के भी थे।

गहने आदि रेहन रखनेऔर ('इणपण्ण') लिख देनेका भी रवाज था। सूदपर रुपया देने (इणदान) का पेशा भी काफी चलता था।

बेटेके लिए अपने बापके पेशेमें जाना आवश्यक न था और धन्धा चुननेकी पूरी स्वतन्त्रता उस समयके समाज-में थी। निस्सन्देह कुछ पेशे ऊँचे और कुछ नीचे गिने जाते थे। लिखनेका पेशा, शर्राफका काम, दन्त-(हाथी-दाँत) कार, जुलाहे, हलवाई, जौहरी, सुनार, लोहार, कुम्हार, मालाकार (माली), केश-साधक, वणिक, नाविक आदिके पेशे अच्छे गिन जाते थे। दूसरी तरफ निषाद, मृगलुब्धक, मछुए, कसाई, चर्मकार, संपेरे, नट, गवैये, नलकार (नड़ोंकी चटाई, पिटारी आदि बनानेवाले) रथकार आदिके पेशे तुच्छ समझे जाते थे। रथकारका पेशा नीचा समझा जाने लगा था, यह एक विचित्र बात थी। किन्तु उसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस युगमें मगध आदि जनपदोंमें —जिनका चित्र हमें पालि वा ङमय में मिलता है—वह अनार्य जातियोंके हाथमें था। निषाद, रथकार आदि नीच जातियाँ ही थीं। यह ऊँच-नीच रहते हुए भी अवस्थाओं और आवश्यकताओंके अनुसार सब आदमी सभी पेशोंको अख्तियार कर सकते थे।

कुलकी उच्चताका भाव बल्कि क्षत्रियोंमें ब्राह्मणोंसे अधिक था, वे कुलका विचार (गोत्तपटिसारियों) सबसे अधिक करते थे और वह स्वाभाविक भी था। क्योंकि बड़े-बड़े कृषक सरदार जो प्रायः युद्धमें नेता होते थे, वही तो क्षत्रिय थे; और उन पुराने खानदनोंके सरदारोंमें अपने कुल या गोत्रकी उच्चताका भाव उठ खड़ा होना स्वाभाविक ही था। यदि एक क्षत्रिय ब्राह्मणीसे शादी करे या ब्राह्मण क्षत्रियासे, तो उनकी सन्तानको क्षत्रिय अपनेसे कुछ नीचा मानते हैं, पर ब्राह्मण वैसा विचार नहीं करते।

कुलकी ऊँच-नीचका भाव समाजमें जरूर था। एक तरफ कुलीन क्षत्रिय थे, तो दूसरी तरफ चण्डाल आदि अनार्य जातियोंके लोग और दास भी थे। दासत्व कई तरह से होता—युद्धमें पकड़े जानेके कारण, मृत्युदण्डके बदलेमें, ऋण न चुका सकनेकी दशामें, अन्य कानूनी दण्डके रूपमें, अथवा गरीबी आदिसे तंग आकर स्वयं दास बन जानेसे। कई बार मालिक अपने दासोंको मुक्त भी कर देते थे, या दास अपनी कीमत अदाकर अपनेको मुक्त करा लेते थे। दासोंकी संख्या बड़ी न थी; खेती या अन्य मेहनत-मजदूरी उनके द्वारा न करायी जाती थी;

उनका मुख्य कार्य घरेलू सेवा ही था और इस प्रकारकी सेवाके लिए सभी सम्पन्न परिवारोंमें दास रहते थे। साधारणतः उनके साथ अच्छा वर्ताव होता था। इस प्रकार जहाँ दासत्व कुछ कानूनी कारणोंसेभी होने लगा था, वहाँ वास्तवमें प्रायः सब दास मूलतः अनार्य लोग ही रहे होंगे। जब वे दास न होते, तब भी प्रायः तुच्छ पेशे करते थे। गणिकाएं या वेश्याएं 'वण्णदासी' कहलाती थीं जिससे यह प्रतीत होता है कि वे आर्योंसे मैले रंगकी स्त्रियाँ होती थीं।

सार यह कि कुल और गोत्रका अभिमान, पेशोंकी ऊँच-नीच, सब थी, किन्तु एक तरल परिवर्तनशील रूपमें, न कि काठ और पत्थरकी जातोंकी शकलमें। बेटेको स्वभावतः बापके पेशेमें जानेमें सुविधा होती थी, पर उसका भी कोई बन्धन न था। (अपूर्ण)

प्रश्न और उत्तर

जयकिशोरनारायण सिंह

प्रश्न स्रोत अनेक, उत्तर एक पारावार
एक मर्मर, अमित पत्तोंका चरम उद्गार।
मूक नभकी भावना ही जलद का आह्वान
मर्मकी चुप्पी जगाती है गलेमें गान।
मौनका ही कर रहे सब शब्द चिर-अभिसार।

प्यासके ही पास मिलती तृप्तिकी पहचान
वेदना ही है, मनुजकी हो रही मुसकान।
उँगलियोंकी चोट चुप, जो छेड़ती झंकार।

धूलकी कुछ और, नभकी नील सत्ता और,
पर जहाँ पर एक दोनों, क्षितिजका वह ठौर।
मिलन-भूमि सुदूर ही भ्रम-भेदके उस पार।

साँस है अस्तित्वसे या साँससे अस्तित्व
व्यक्ति ही व्यक्तित्वसे या व्यक्तिसे व्यक्तित्व।
उदित दोनों पक्ष जिससे एक वह आधार।

मुखरता औ, मूकताके छोर दोनों नाप-
पल उठा बन प्रश्न, पल उत्तर हुआ मिट, आप।
अर्थहीन न बुद्बुदोंका उदय-उपसंहार।
प्रश्न स्रोत अनेक उत्तर एक पारावार।

नवीन संस्कृति

शिवनाथ एम. ए.

इधर नवीन संस्कृतिकी चर्चा प्रायः होती है । जो लोग 'पुर्ननिर्माण'की चर्चा करते हैं उनका तात्पर्य भी नवीन संस्कृतिसे ही है, और जो 'सर्वोदय'की चर्चा करते हैं उनका मतलब भी इसीसे है । राजनीतिक संघर्ष और गुलामीके जीवनसे अवकाश पानेपर इधर लोगोंका प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, क्योंकि हमारे समाज और जीवनके जो सत् तत्व हमसे विलग हो गये हैं, इनके जो ढांचे टूट-फूट और विध्वस्त हो गये हैं उन्हें पुनः प्राप्त करना है, उनका पुर्ननिर्माण करना है ।

संस्कृतिकी व्याप्ति बहुत बड़ी है । वैसे तो संस्कृति संस्कारकी क्रिया है और यह अपनी अभिधामें ही प्रयुक्त होती और हो सकती है, परन्तु इसके द्वारा बोध केवल इतने का नहीं होता, संस्कृतिसे तात्पर्य समाज और जीवनके सर्वांगीण संस्कार, सुधार और विकाससे है । इसकी सीमा में साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन, आचार-व्यवहार, नीति-रीति, रुचि, धर्म, अर्थ, राजनीति आदि समाज तथा जीवनसे संबद्ध सभी तत्त्व आते हैं, और इन सभीके संस्कार, सुधार और विकाससे इसका संबंध होता है । किसी युगकी संस्कृतिसे तात्पर्य होता है उस युगके सर्वतोमुखी विकाससे । इस प्रकार सर्वोदय भी संस्कृति ही है ।

कुछ लोग 'नवीन संस्कृति'की बात करनेपर भीत होतेसे देखे जाते हैं। यह नाम सुननेपर वे उसी प्रकार भीत होते हैं जिस प्रकार 'प्रगतिशीलता' अथवा साहित्य, कला आदि संबंधी अन्य किसी नवीन नामके सुननेपर । इस विषयमें इतना कह दूं कि नाममात्रसे भीत होना पलायन है और यह पलायन 'नवीनता'से है, ऐसी नवीनतासे जो परिस्थितिवश आती ही और प्राचीन युगोंमें जो बराबर आती रही है, आगमनसे उसे कोई न रोक सका और न रोक सकेगा । ऐसे लोग समझते हैं कि 'नवीनता'की चर्चा करनेवाले प्राचीनताको नहीं समझते और वे इसे नष्ट कर, इसीके ध्वंसावशेषपर 'नवीन'का निर्माण करना चाहते हैं । जो 'प्राचीनता'को नहीं समझते, जो इसे नष्टकर इसके ध्वंसावशेषपर 'नवीन'की स्थापना करना चाहते हैं उनके विषयमें मैं तो कुछ नहीं कह सकता, कुछ ऐसे लोग होंगे भी । मगर इतने कुछ लोगोंसे ही तो नवीनतापर दृष्टि रखनेवाले सभी दोषी नहीं कहे जा सकते । ऐसे लोगोंको संतोष और विश्वास होना चाहिए कि अधिक लोग ऐसे हैं जो नवीन निर्माणके लिए उत्कंठित रहनेपर भी प्राचीनताके प्रेमी हैं, इसपर उन्हें गर्व है और नवीनका निर्माण वे प्राचीनको दृष्टिपथमें रखकर करना चाहते हैं, वे उसी नवीनको ग्रहण करेंगे जो प्राचीनसे मेल खायेगा, वे उसी विदेशीको ग्रहण करेंगे जो स्वदेशी परिस्थितिमें घुलमिलकर स्वदेशी हो जायगा । ऐसे लोगोंको संतोष और विश्वास होना चाहिए कि हम अपनी इतनी लम्बी प्राचीन संस्कृतिकी परम्पराको दूषित कर नवीन संस्कृतिके निर्माणके अभिलाषी नहीं हैं ।

ऐसे लोग संस्कृतिके संबंध में कुछ सैद्धान्तिक बातें भी करते हैं । इनका कथन है कि संस्कृतिकी सत्ता शाश्वत तथा निरपेक्ष होती है, यह न नवीन होती है और न प्राचीन । इसकी निरपेक्षताके संबंधमें इनके तर्क अभी सामने नहीं आये हैं । इस विषयमें इतना ही निवेदन करना है कि संस्कृतिके अंग प्रत्येक दशामें एक ही हो सकते हैं; जैसे साहित्य, दर्शन, धर्म आदि जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, सभी संस्कृतिके अवयव होते हैं और इन्हींको देखकर संस्कृतिका निर्धारण होता है, संस्कृतिके संपूर्ण काया-निर्माणके ये तत्व हैं, परन्तु ये तत्व परिस्थितिके परिवर्तित होनेपर बदलते नहीं, बराबर एक-रस रहते हैं यह कैसे कहा जाय, क्योंकि हम देखते हैं कि युग परिवर्तित होनेपर इन तत्वोंकी रूपरेखा भी परिवर्तित होती है । इसीलिए संस्कृतिके अवयव समान होते हुए भी मौर्य-कालीन एवं मुगल-कालीन संस्कृतियोंमें बहुत ही भिन्नता है । इसी प्रकार नवीन तथा प्राचीन संस्कृतिमें भी भेद है और यह बराबर रहेगा । आजकी संस्कृति तथा मुगल-कालीन संस्कृतिमें अन्तर है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा, अतः संस्कृति निरपेक्ष नहीं युग सापेक्ष है ।

संस्कृतिके अन्तर्गत आनेवाले तत्वोंकी चर्चा ऊपर की गयी है । इन्हींका पुर्ननिर्माण करना है । इनका पुर्ननिर्माण करते समय आजकी परिस्थितिमें इनकी लोकोपकारितापर भी दृष्टि रखनी है, अर्थात् इनके ऐसे रूपजन-जीवन और समाजमें खड़े करने हैं जिससे लोकको मानसिक और सामाजिक स्थितिका स्तर सुन्दर और ऊँचा हो । आजकी संस्कृतिके निर्माताओंको इसपर दृष्टि रखनी है कि उन्हें लोक-संस्कृतिका निर्माण करना है—समाजके किसी छोटेसे वर्गकी नहीं । उन्हें संस्कृतिके आधारभूत तत्वोंका विकास इस रूपमें करना है कि वे जनताके, लोकके संपर्कमें आकर उनका विकास-परिष्कार करें । नवीन संस्कृतिको कोठरीकी संस्कृति नहीं, वरन उसके बाहरके समाजकी संस्कृति बनाना है । साहित्य और कला, तथा संस्कृतिके अन्य क्षेत्रोंमें भी आज भी ऐसे साहित्यकार तथा कलाकार हैं जो कोठरीके साहित्य और उसकी कलाके निर्माणमें दत्त-चित्त हैं, जो कलाका निर्माण कलाके लिए ही आज भी कर रहे हैं । यहाँ यह स्पष्ट कर दूं कि चित्रकला, संगीत आदिके क्षेत्रमें ऐसे कलाकार अधिक हैं । ये कहते हैं कि हम कलाका निर्माण अपने संतोष, अपने आनंदके लिए करते हैं । इससे यदि दूसरोंको संतोष और आनन्द मिले तो भी ठीक, न मिले तो भी ठीक क्योंकि हमारी दृष्टि तो अपने संतोष तथा आनन्द पर है । ये यह भी कहते हैं कि जिन मानसिक परिस्थितियोंके वशीभूत हो हम कला का निर्माण करते हैं उन परिस्थितिमें पड़े अन्य व्यक्ति भी होंगे और हमारी कला कमसे कम उन्हें तो संतोष तथा आनन्द अवश्य देगी । हमारी कलाकी सफलता इसी रूपमें है । ये एक बात और कहते हैं । वह यह कि हमें समयकी धारामें प्रवाहित नहीं होना है, उसे मोड़ना है । मतलब यह कि हमें जनताकी रुचिके साथ बह नहीं जाना है, उसकी रुचिका परिष्कार करना है, उसका निर्मा[illegible] क्योंकि यदि हम ऐसा न करेंगे तो हमारी भली क[illegible] दूषित और विकृत हो जायगी । हम देखते हैं कि इ[illegible] प्रकारके कलाकार दो विरोधी बातें कहते सुने जाते हैं[illegible] एक ओर तो ये 'कला कलाके लिए'की बात करते हैं औ[illegible] दूसरी ओर अपनी भली कलाको बचाते हुए लोकरुचि[illegible] परिष्कार, निर्माणकी बात । ये लोककी रुचिका परि[illegible] करना तो चाहते हैं, उसे बदलना तो चाहते हैं, मगर [illegible] जनतासे सम्पर्क रखना चाहते हैं और न उसकी जी[illegible] सामग्रीको अपनी कलामें स्थान ही देना चाहते [illegible] ऐसी स्थितिमें उनका अभिप्रेत कैसे सिद्ध होगा, यह स[illegible] नहीं आता । एक कमरेमें बैठकर क्लासिकल तथा [illegible]टिक कलाका निर्माण करनेसे तो न लोक-क[illegible] निर्माण होगा और न समाजकी कलागत रुचि बदलेगी ।

नवीन संस्कृतिके निर्माणके लिए हमें लोक-सा[illegible] लोक-कला, लोक-संगीत और ऐसे ही संस्कृतिके [illegible] तत्वोंकी ओर जाना ही होगा । हमारे साहित्य[illegible] चित्रकारों, संगीतज्ञों आदिके जनतासे दूर पड़ [illegible] हो जानेके कारण लोक-संस्कृतिको जो धक्का ल[illegible] वह किसीसे छिपा नहीं है । यहाँ मूर्ति तथा चित्रक[illegible] ही बात लीजिए । आजकी मूर्तिकला तथा सम[illegible] चित्रकला कितने विकृत रूपमें हमारे सम्मुख आ र[illegible] यह किसीसे छिपा नहीं है । परिस्थितिवश इन कला[illegible] शिष्ट कलाकार ऐसे विमुख हो गये कि इनका [illegible] बदल गया । प्राचीनकालीन मूर्तियोंमें तथा आ[illegible] निर्मित मूर्तियोंको देखनेसे हमारी बात स्पष्ट हो [illegible] आजकी मूर्तिमें सजीवता जैसे रह ही नहीं गयी । [illegible] की कला तो इतनी गिर गयी है, उसमें इतनी बर्ब[illegible] आ गयी है कि वह एकदम विकृत रूपमें सामने [illegible] उससे सौंदर्य जैसे छू तक नहीं गया है । हमारे [illegible] चित्रकारीका भी यही हाल है । कुम्हार-कला[illegible] विकृत हो गयी है कि उसमें न स्वदेशी-विदेशी [illegible] पहचान रह गयी है, न रूपका सौंदर्य रह गया है[illegible] का सुष्ठु और शिष्ट चुनाव रह गया है । पर्व, [illegible] धार्मिक संस्कार, मंगलोत्सव आदिके अवसरों[illegible] भूमि-चित्र और भित्ति-चित्र कैसे हों, इनका हमें [illegible] नहीं रह गया, [illegible] ध्यान ही इनकी ओर [illegible]

ज्ञान है और न अपनी सामाजिक परिस्थितिके अनुकूल इन्हें रूप देनेकी ओर रुचि ही। जो कलाकार नवीन संस्कृतिकी रचनाके लिए आगे आयेंगे उन्हें लोककलागत इन विकृतियोंको दूर करना होगा। ऐसा बिना किये संस्कृतिमें निखारका आना संभव नहीं। इन लोक व समाजगत कलाके विकृत रूपोंपर हमारी दृष्टि नित्य ही जाती है, मगर हम इनके पुनर्निर्माणकी ओर सचेष्ट नहीं दिखायी पड़ते। हमें इस ओर लगना है।

नवीन संस्कृतिका निर्माण करते समय हमें दृष्टि-संकोचसे नहीं वरन् इसके विस्तारसे काम लेना है। हमें ऐसे साहित्य, शिल्प, ऐसी कला आदिका निर्माण करना है, जिसकी सीमा क्षुद्र न हो, व्यापक हो; और जिसका लक्ष्य हो किसी प्रभु वर्गका विकास नहीं, समस्त जन गण का विकास। इस प्रकार हमें सम्पूर्ण राष्ट्रके लिए एक संस्कृतिकी रचना करनी है। नवीन संस्कृतिके निर्माणमें हमें सांप्रदायिकतासे काम नहीं लेना है। हमें ऐसी संस्कृतिको रूप नहीं देना है जो साम्प्रदायिकताको उत्तेजित करे। हमें तो इसके विषको निकाल बाहर फेंकनेवाली संस्कृतिकी रचना करनी है। नवीन संस्कृतिको तो परस्पर मेलभावकी संस्कृति बनानी है। नवीन संस्कृतिमें हमें संघर्षकी भावना भी भरनी है-- ऐसे संघर्षकी भावना जिसका अंतिम फल जन गण का उत्थान हो, हमें तो ऐसी संस्कृतिका निर्माण करना है जिसमें अधिकसे अधिक लोगोंको अधिकसे अधिक सुख प्राप्त हो सके और अंतमें जो जन गणके लिए हो, जो सर्व-जन सुखाया हो।

यहाँ में यह भी कह दूं कि भारतीय प्राचीन साहित्य, संगीत, शिल्प, उसकी कला आदिको मार डालनेका हमारा प्रयत्न कभी नहीं होना चाहिए, क्योंकि नवीन संस्कृति मारनेवाली नहीं, जिलानेवाली संस्कृति होगी। उदाहरणके लिए यहाँ चित्रकलाको लें। हमें इसकी सभी कलाओंके पुनरुत्थानका प्रयत्न करना होगा।

इस प्रकार हमारा काम है जीवित रहनेवाले, ग्राह्यको जीवन देना, ग्रहण करना और ऐसा करते हुए नवीन संस्कृतिका निर्माण। मतलब यह कि नवीन संस्कृतिमें ऐक्यकी प्रेरणा भरनी है, अनैक्यकी नहीं।

वर्गहीन संस्कृतिके निर्माणके लिए संस्कृति-निर्माताओं में भी ऐक्यका होना आवश्यक है। इस विषयमें मेरा निवेदन यह है कि अद्यतन परिस्थितिमें निर्मित होनेवाली नवीन संस्कृति सभी वर्ग संघर्ष के तत्वोंको लेकर चलेगी। अतः जीवन तथा समाजके सभी क्षेत्रोंमें कार्य करनेवाले संस्कृति-निर्माताओंके सहयोगसे ही सर्वसुखद संस्कृति निर्मित हो सकती है। कहनेका मतलब यह कि द्वेषका त्याग और रागका ग्रहण कर संस्कृतिके निर्माताओंको एक आधारशिला पर स्थित हो निर्माण-कार्य करना है। अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने रागसे सुष्ठु संस्कृति का आविर्भूत होना संभव नहीं दिखायी पड़ता।

महल का राज़

बच्चन सिंह

पूनमका चम्पई चाँद अभी अभी निकला ही था कि महलकी मुस्कुराहट चाँदनीमें घुलमिल गयी। चाँदनीके समान ही सफेद महल आसपासके टूटे-फूटे ठिगने महलोंके बीच अपनी सुडौल देहयष्टिके अभिमानमें अँगड़ाइयाँ ले रहा था। रूप-गर्विता नारियोंका वर्णन काव्य-ग्रंथोंमें पढ़ा था, जीवनमें देखा था। अपने रूपपर इतराते बालकों, वयस्कोंकी पहचान की थी। आज मुझे यह भी मालूम हो गया कि रूपोन्माद जड़को भी मदसे भर देता है। बरसती हुई चाँदनीके अमृतसे सराबोर महलकी भव्य छविमें आँखें डूबी हुई थीं कि कानोंमें आवाज आयी--

'लिख दो न मेरी कहानी, कलाकार।'

चाँदनीके अमृत और वासंती सौरभसे छककर मन कहने लगा--'लिखो न, बेचारा बहुत दिनोंसे अनुरोध कर रहा है।' रूपका आकर्षण होता है अजीब। कहनेको चाहे जो कहा जाय, प्रथम दर्शनमें मनुष्यपर रूप-का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। मैं तो सुबह-सांझ इसके रूपको रोज देखता हूँ। लेकिन नहीं, मैं तुम्हारी कहानी नहीं लिखूँगा। तुम सुन्दर हो, महान हो। मैं हृदयका अनुरोध ठुकरा दूँगा।

'तब तुम कहानी नहीं लिख सकोगे और चाहे जो लिखो कथाकार। साहित्य हृदयकी वस्तु है। मस्तिष्कका व्यायाम नहीं।'

मैं चौंका। महलने विचारोत्तेजक बात कह हमें उस पर सोचनेको बाध्य किया--'जिसकी कहानी लिखने से मानवताके विकासमें बाधा हो, उसकी कथा, उसके विलासकी कथा क्यों लिखी जाय?'

'देखो कथाकार, तुम प्रतिभावान हो। प्रतिभा बड़ी साधनाके बाद अनन्त पुण्यके फलस्वरूप प्राप्त होती है। जीवनकी नित्य और शाश्वत वस्तुओंके अंकनका प्रयास करो। इसीमें तुम्हारा अमरत्व है, साहित्यकी सार्थकता है। मैं तुम्हें सावधान कर देता हूँ, प्रचारवादके कुसंस्कारोंसे बचाओ, अपनेको बचाओ।'

मैं चुप था। मैं सोच रहा था कि साहित्यमें किसी न किसी बातका प्रभाव अवश्य रहता है। सूर, तुलसी सभीके सामने एक प्रकार था। हाँ, उनकी कृतियाँ साहित्य पहले हैं, प्रचार बादमें। मैं बोला नहीं, महल ही बोला--

"कालिदास और श्री हर्षने मेरी ही कहानी लिखी है। रामायण, महाभारतमें मेरे पूर्वज सौधोंका ही वर्णन है। शेक्सपियर, शेली, कीट्स आदिका आदि प्रेरक मैं ही हूँ। मनुष्यकी आदिम वासनाओंके स्पर्शसे ही तुम हृदयका स्पर्श कर सकते हो, वही सच्चा साहित्य है।"

मुझे लगा महलकी बातोंमें सचका अंश जरूर है। मुझे चुप देखकर महल फिर बोला। लगता था उसे मेरी कमजोरियोंका पता चल गया था।

'मेरी चमचमाती हुई कार और बगलामें रखी हुई श्वेत घोड़ोंकी बग्घी आकृष्ट नहीं करती है तो न करे। तुम्हारे सामने ही तो नयनताराका प्रकोष्ठ है। नीले सघन घनोंसे युक्त केशी बड़े बड़े नयनो वाली नयनतारा --नीली-पीली केसरिया और धानी साड़ियोंमें जिस किसी प्रकार अपने उफनते यौवनको उसाँसोंके छीटेसे बहने नहीं देती। तुम्हारे ऊपर उसके रूपका, अल्हड़ जवानीका, रससिक्त आँखोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। सचमुच तुम पाषाण हो--सहृदय साहित्यकार नहीं। जरा जरीदार साड़ीमें सजी हुई ताराको एकबार निहार तो लो। यह रूपराशि अन्यत्र कहाँ मिलेगी? घूरमें हीरा नहीं मिलेगा, वहाँ कूड़ा-करकट और गौरवकी सड़ाँध प्राप्त होगी।'

मैंने नयनताराको एक नहीं सौ बार देखा था। सचमुच विधाताकी कलाका अन्यतम नमूना है वह। जब कभी उसकी आँखोंकी शीतल चाँदनी मेरी आँखोंमें उड़ेल दी गयी, मैं उसके आस्वादसे घंटों विभोर रहा। किन्तु उसकी आँखोंके उपेक्षा भरे लाल डोरोंके तीखे व्यंगसे तिलमिला उठा था। संभवतः यह मेरी कमजोरी थी, उसका अर्थ मेरी समझमें न आया। कभी-कभी

बौद्ध तत्त्ववादमें जवन (=गतिमान्) चित्तका विवेचन

भदन्त शान्तिभिक्षु

मनकी जिन विविध अवस्थाओंका बौद्ध तत्ववादमें विवेचन है, वे ये हैं--

भवांग चित्त = समूचे भव या जीवनमें अंगभूत चित्त जिसकी विविध प्रवृत्तियाँ प्रकाशमें नहीं आ पायी हैं। यह मनकी बहुत कुछ सहजावस्थाका नाम है।

पंचद्वारावर्जनचित्त = भवांगावस्थासे प्रच्युत चित्त-विकृत चित्त जिसमें पांचो इन्द्रियां भी साधन रूपमें व्याप्त रहती हैं।

द्विपंचविज्ञान = चक्षु-श्रोत्र - घ्राण - जिह्वा - काय विज्ञान तथा रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य विज्ञान।

संप्रतीच्छन चित्त = इन्द्रिय जनित ज्ञानपर मनका ऊहापोह।

संतीर्ण चित्त = इन्द्रियजनित ज्ञानकी ऊहापोहसे निर्णयपर पहुँची हुई मनकी अवस्था।

व्यवस्थापन चित्त = इन्द्रियजनित ज्ञानके निर्णयके अनन्तर मनकी निश्चित धारणा।

जवन चित्त = क्रमशः पूर्वोक्त चित्तोंसे प्रभावित मनकी सक्रियावस्था, जिसमें मन रागादि वृत्तियोंसे युक्त होता है। यद्यपि सभी मन गतिमान् होते हैं, पर इसमें गति सर्वाधिक होती है। इसीलिए यह जवन कहलाता है।

तदालंबनचित्त = जवनालंबन चित्तका फिर भवांगावस्थामें पहुँचना।

इन अवस्थाओंको यदि बादमें तार्किकोंकी परिभाषाओंमें व्यक्त करें तो यों कहना होगा--

पंचद्वारावर्जन } = बाह्य प्रत्यक्ष
द्विपंच विज्ञान }

संप्रतीच्छन चित्त }
संतीर्ण चित्त } = बाह्य प्रत्यक्षमूलक आभ्यन्तर प्रत्यक्ष।
व्यवस्थापनचित्त }

ये सब मनकी अवस्थाएं तब होती हैं जब मन बाह्य विषयसे क्षुब्ध होता है। यदि मनका क्षोभ आभ्यन्तरिक श्रद्धा, प्रेम, क्रोध आदि वृत्तियोंसे हुआ हो तो मनकी पहली अवस्था व्यवस्थापन चित्त ही होती है। इस अवस्थामें मनही मुख्यरूपसे साधन रहता है। इसलिए इसे मनोद्वारावर्जन चित्त कहते हैं। इसके अनन्तर फिर जवन तथा फिर तदालम्बन चित्त होते हैं।

इस तरह मनकी दो धाराएं हुई। एक जिसमें मन पंचद्वारों = पंच इन्द्रियोंकी प्रधान सहायतासे विविधावस्थाओंको पहुँचता है। द्वितीय जिसमें मन केवल स्वयं ही द्वार बनकर विविधावस्थाओंको प्राप्त होता है। इस प्रकार द्वारभेदसे पहली धाराको पञ्चद्वारवीथी तथा दूसरी धाराको मनाद्वारवीथी कहते हैं।

इन सब भवांग और जवन चित्तके बीचकी जो विविध अवस्थाएं हैं, वे चाहे बाह्य विषयसे प्रभावित हों और चाहे आभ्यन्तर विषयके कारण अस्तित्वमें आयी हों, उनके साथ कोई मानसिक हेतु नहीं होता। मानसिक हेतु मनकी ही विविध वृत्तियां है। मनोनिष्ठ इन वृत्तियों से यहाँ अभिप्राय लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ (= त्याग, परसेवा बुद्धि), अद्वेष (= मैत्री, परहित बुद्धि) और अमोह (= सम्यक् दृष्टि) इन छः मनके धर्मोंसे है। इन हेतुओं द्वारा भवांग और जवनके बीच की अवस्थाओं का विवेचन नहीं होता। इसलिए इन मध्यवर्त्ती अवस्थाओं को अव्याकृत कहते हैं। अव्याकृत का अर्थ है जिसकी कुशल या शुभ (= पुण्य) तथा अकुशल या अशुभ (= पाप) भावनाओंसे व्याख्या (= व्या + कृ, व्याकृति) न हो सके। लोभ, द्वेष और मोह अकुशल हेतु हैं तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह कुशल हेतु हैं। इन दोनों हेतुओंके द्वारा जिनकी व्याख्या न हो सके, वे

निर्हेतुक मन की अवस्थाएं ही अव्याकृत चित्त हैं। यद्यपि भवांग और जवन चित्तोंके बीच की विविध मनकी अवस्थाओंके साथ कोई हेतु नहीं देखा जाता, पर कितने ही अन्य भावों का संयोग दिखायी दे जाता है। उदाहरणके लिए एक ऐसे बालक को लें जो शान्तिके साथ घूमते-घामते बगीचेमें जाता है और वहाँ नगरके झाड़के नीचे जा बैठता है, और उसपर वायुके झोंकेसे नगरकी पुष्पवर्षा हो जाती है। इस पुष्पवर्षासे उसका मन संचालित हो उठता है और इस संचालनके कारण का अनुसंधान करते जब उसका मन अपनी विभिन्न अवस्थाओं को पार करते संतीर्णावस्थामें पहुँचता है, तो नगर की पुष्पवर्षाके प्रिय होनेके कारण उसके मनमें सौमनस्य (= हर्ष और सन्तोष) उत्पन्न होता है। जब उसके शरीरपर पहले पुष्पवर्षा होती है तो मन की चंचलताके साथ काम का पुष्पोंके साथ जो स्पर्श होता है, वह अच्छा ही लगता है। फलतः जो काय-विज्ञान होता है, उसके साथ सुख सम्मिलित रहता है। पर यदि घूमते-घामते उस बालकपर अकस्मात् वर्षोपल (ओले) गिरने लगें तो उसे जो काय-विज्ञान होगा, वह दुःख के साथ युक्त होगा। इस तरह हम काय-विज्ञानके साथ सुख और दुःख को भी जुड़ा देखते हैं। अन्य चित्तोंमें सन्तीर्ण-चित्त सौमनस्यके साथ हो भी सकता है और नहीं भी। यदि विषय मनके अनुकूल होगा, तो उसे सौमनस्य होगा, अन्यथा न होगा। अन्य चित्तोंके साथ और कोई मनोभावना या अनुभति नहीं देखी जाती है। तत्ववादियों की भाषामें कहना होगा कि मनकी अन्य अवस्थाओंके साथ उपेक्षा रहती है। उपेक्षा सुख-दुःखके अभाव की ही अवस्था होती है।

इन सब भवांग और जवन चित्तोंके मध्यवर्ती चित्तों में मूलभूत चित्त पंचद्वारावर्जन और मनोद्वारावर्जन ही हैं। यह दोनों सर्वथा व्यापार रूप हैं और व्यापार भी मूलभूत या आदिम व्यापार है। इसीलिए प्राचीन आचार्योंने इन्हें क्रियाचित्त कहा है। शेष चित्तों को यदि आज की भाषामें कहें, तो वे इन दोनों आदिम व्यापार रूप चित्तोंके विपाक या फल-मात्र हैं। और इस विपाकमें हमारे पूर्व जन्मके कर्मों का हाथ न होकर इस जन्मके कर्मों का ही हाथ है। फिर भी इस विपाकमें जहाँ सुख या सौमनस्य का योग है वहाँ पूर्व जन्मके कुशल कर्मों का, जहाँ दुःख का योग है वहाँ पूर्वजन्म के अकुशल कर्मों का योग माना जाता है। जहाँ उपेक्षा है, वहाँ यह नहीं कह सकते कि वह कर्म किसका फल है। इसलिए वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि वह कुशल कर्मों का भी फल है और अकुशल कर्मों का भी फल है। यह बुद्धघोष, अनुरुद्ध आदि आचार्यों की मान्यता जान पड़ती है। इस मान्यताके आधारमें धम्मसंगणि ग्रन्थके विवेचन का ही मुख्य स्थान है। पर इस मान्यताके विरोधमें प्रामाणिक सामग्री सूत्रग्रंथोंमें दिखायी देती है। उसके विषयमें यहाँ यह बात ध्यानमें रखने की है कि जो कुछ मनुष्य को सुख, दुःख, अदुःख या असुख प्राप्त होता है, उन सब को बुद्धने पूर्व कर्मका फल नहीं माना है।

इसी विषयमें मिलिन्द-प्रश्नमें नागसेन और मिलिन्द का संवाद है। उससे बुद्ध द्वारा माने गये कर्मफलके सिद्धान्त पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है। संवाद का सार यों है:--

मिलिन्द--"भन्ते नागसेन! क्या बुद्धके सब अकुशल (पाप) समाप्त हो गये थे, या कुछ बच रहे थे?"

नागसेन--"महाराज! भगवान्‌के सब पाप समाप्त हो चुके थे, बचा कुछ न था।"

मिलिन्द--"भन्ते! क्या तथागत को जीवनमें दुःख उठाना पड़ा था?"

नागसेन--"हाँ, महाराज! राजगृहमें पत्थरके चुभनेसे तथागत को पीड़ा हुई थी। रक्तातिसार भी हुआ था। उदर-विकार भी हुआ था। वात रोगसे भी बाधा हुई थी।"

मिलिन्द--"तब तो भन्ते! तथागतके पाप सब समाप्त न हुए थे, क्योंकि दुःख तो पूर्वके पापकर्मोंका ही फल है, और तथागत को दुःख हुआ ही था, सो उनके पापकर्म जरूर बच रहे होंगे।"

नागसेन--"महाराज! 'नहि सब्ब वेदयितं कम्म मूलं' सब सुखदुःखकी वेदना कर्मके कारण नहीं होती। बुद्धने संयुक्तनिकायके मोलिसीवक सूत्रमें कहा है कि वेदना पित्तके प्रकोपसे होती है। कफ, वात, सन्निपात, ऋतु परिणाम, विषमाहारसे होती है। उपक्रम अर्थात् प्राणियोंके उपद्रवसे होती है, तथा

कर्मविपाकसे भी होती है। 'ये ते समणब्राह्मणा एवं वादिना एवं दिट्ठिन यं किंचायं पुरिस युग्गलो पटि संवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सव्वं तं पुव्वे कत हेतूहि, यं च सामं त्रातं तं च अति धावन्ति यं च लोके सच सम्मतं तं च अति धावन्ति तस्मा तेसं समण ब्राह्मणानामिच्छाति वदानि।'–जिन श्रमण-ब्राह्मणों का ऐसा कथन है--ऐसा मत है कि यह पुरुष (जीव) सुख, दुःख, अदुःख वा असुख जो कुछ भोगता है, वह सब पूर्वकृत हेतुओंसे होता है, वे जो कुछ स्वयं ज्ञात है, उसका अतिक्रमण करते हैं; जो लोक सम्मत है, उसका अतिक्रमण करते हैं। इसलिए उन श्रमण ब्राह्मणों का मत मिथ्या है।"

अस्तु! जो भी हो, बुद्ध का मत यह नहीं था कि सभी सुख-दुःख आदि पुरबले कर्मोंके फल हैं। पर सुख-दुःखके पीछे इस जगत्के वर्तमान कारणों को नजर-अन्दाज कर उसे पुरबली करनी का फल मान लेना हमारे आचार्यों का गड्डुलिकाप्रवाह न्याय को चरितार्थ करना है। कुएँमें यदि एक भेड़ गिरे, तो सब उसी का अनुसरण कर कुएँमें गिरती हैं। संसार की विषमताओं को उपनिषदोंने कर्म का फल माना, तो बादके लोगोंने जो कुछ यहाँ हो रहा है, उस सबको ही पूर्व जन्मके साथ जोड़ना शुरू कर दिया। जैसे मनुष्य को इस जन्ममें अपने-आपसे कुछ करना ही नहीं है, वह पहलेके ही किये का भोग भोग रहा है। बुद्ध ने इस अन्ध-परम्परा पर विचार किया। उनके खयालसे जहाँ सुख-दुःखके पीछे इस जन्मके कारण नहीं दिखायी देते या इस जन्मसे उनका योग किसी तरह नहीं बिठाया जा सकता, वहाँ अगत्या यह मान लेना चाहिए कि वे पूर्वजन्मके कारण हुए हैं। अन्य सुख-दुःखके कारणको इसी जगत्में खोजकर उनका प्रतिकार करना चाहिए।

बाह्य प्रत्यक्ष सापेक्ष तथा बाह्य प्रत्यक्ष निरपेक्ष आभ्यन्तर प्रत्यक्षके अनन्तर मनकी अत्यंत व्यापारशील या जवन अवस्थामें कुशल और अकुशल हेतुओंका ही प्राधान्य होता है। पर कुशल और अकुशल हेतु मनमें वासनावश स्थित होते हुए भी सदा सक्रिय नहीं हुआ करते। वे कैसे सक्रिय होते हैं, इस बातका यहाँ संक्षेपमें वर्णन बहुत आवश्यक है। अकुशल हेतुओंमें लोभ अत्यन्त प्रधान है। लोभके कारण ही आदमी दूसरेकी चीजको हड़पना चाहता है। वह कैसे हड़पे? इसके लिए नाना प्रकारके उपाय किये जाते हैं। चोरी, डाका, ठगी, बईमानी सर्वसाधारणके रोग हैं। सभी लोभवश इनको करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। इन बातोंसे रोकनेके लिए सन्तोंने आचारकी शिक्षा दी है, लोभ-द्वेषसे परे रहनेका पाठ सिखाया है। सदाचारके नियमोंसे प्रभावित हो राजनियम और कानून बने हैं। पर चोरी, ठगी, बेईमानी आदि रुक गयी हों, सो बात नहीं। चोर या डाकू किसी एकका अपराध करता है, उसके लिए जेल है। दलबद्ध चोर और डाकुओंका दमन करनेके लिए सेना और पुलिस है। पर धर्मके नामपर यदि लोग दूसरे धर्मके लोगोंको मार-काट डालें, तो उसे अन्याय कहकर विरोध करनेवाले इने-गिने मिलेंगे। विश्वमें सब ओर अशान्ति मची हुई है, पर इसके विरोधमें बोलनेवाला कोई नहीं है। जान पड़ता है, शान्तिके अग्रदूत संसारसे बिदा हो चुके हैं और मानववेशमें शैतानोंकी सेना दुर्बलोंको पीसनेपर तुली हुई है। और इन शैतानोंका स्थान जेल नहीं है, प्रत्युत इनके लिए बड़े-बड़े महल, मुलायम गद्दीदार गाड़ियाँ, देवदुर्लभ विमान, सुन्दर वस्त्र और स्वादु खाद्यपेय सब-कुछ उपस्थित हैं। और इस सब उपभोग-सामग्रीमें इनकी कमाईका छदाम-भर भी नहीं है। जिस जनसमूहने अर्जन किया है, वह इससे वंचित है। इस प्रकारकी वंचना और इस प्रकारके वंचकोंको उत्पन्न करनेमें मनुष्यकी आदिम प्रवृत्ति लोभका ही प्रमुख स्थान है।

पर लोभ क्यों नहीं छोड़ते? लोभ छोड़नेकी शिक्षा तो बुद्ध प्रभृति संतोंने एक चिर कालसे ही दी है। ज्यों-ज्यों इस बातपर विचार करते हैं, जान पड़ता है कि लोभके परित्याग न करनेमें जहां स्वयं ही अधिकाधिक सुख भोगनेकी भावना काम करती है, वहाँ साथ एक दूसरी धारणा भी काम करती है जिसे बौद्ध शास्त्रोंमें दृष्टि कहा है। दृष्टिसे अभिप्राय उस गलत निगाहसे है जिसके कारण लोग खुद भोगकी सामग्रीको अधिक-से-अधिक हड़पकर दूसरोंको उससे वंचित करनेमें भी दोष नहीं मानते। इस वंचनाके लिए विविध प्रकारके धार्मिक सिद्धान्त वंचकोंके सहायक होते हैं। पुराने भारतीय समाजमें परम्पराका भेद रंगरूप, नस्ल तथा जन (कबीला)

या जनपदकी विभिन्नताके कारण था। अपने ज्ञानके विकासमें कुछ जातियाँ पिछड़ी हुई थीं और कुछ बढ़ी हुई। समय बदलनेके साथ नाना जातियाँ बनीं, जिनमें बहुत-सी तो मौलिक जातियां थीं और बहुत-सी मौलिक न होकर अपने पेशेके कारण अलग-अलग नामसे पुकारी जाती थीं। कुछ जंगली थीं, कुछ ग्राम्य और नागरिक। राजा और पुरोहितोंके शासनमें इन्हें बँधकर रहना पड़ा। विभिन्न नस्लोंके साथ साथ रहनेसे रुधिरका मिश्रण हुआ। फलतः रंगरूपका भेद सब गड़बड़ा गया। गोरोंमें काले और कालोंमें गोरे होने लगे। राजा और पुरोहितोंने द्विजवर्गकी स्थापना की। यह वर्ग शासकोंका ही वर्ग था। राजाओंने हथियार सँभाले। ब्राह्मणोंने बुद्धि-बलसे उनकी सहायता की तथा वैश्योंने धन्न-धान्यको सँभाला। तीनोंका गठबन्धन हो गया और सब भोग-संपत्ति इन तीनोंके हाथमें चली गयी। जो बाकी रह गये, वे सब इनकी सामाजिक दासताके लिए रह गये। सामाजिक दासता तो अब भी बची है। पर पुराने समयमें बड़े घरोंमें दास-दासी रखनेका रस्म जो बड़े जोरोंपर था (तथा जिसका टूटा-फूटा रूप अब भी कहीं बच रहा है), वह रस्म अभी-अभी शासनच्युत हुए अंग्रेजोंके शासन-कालमें नष्ट हो चुका है। घरेलू दासों, अन्य पेशेवर शूद्रों तथा अन्त्यजोंको मनुके हिसाबसे संपत्ति रखनेका कोई अधिकार नहीं है। संपत्ति-भोगके अधिकारी द्विज हैं और वह इसलिए कि पूर्व-कर्मके कारण वे द्विज हुए हैं। शूद्र और अछूत पूर्वजन्मके पापी हैं। फलतः उन्हें जिस अवस्थामें ईश्वरने उत्पन्न किया है, उन्हें उसी अवस्थामें रहना चाहिए। यदि न रहें, तो ब्राह्मणों द्वारा बनाया स्मृतियोंका कानून है ही। इस मिथ्या दृष्टिके कारण अनेक सहस्राब्दियोंसे शूद्र और अन्त्यज नंगे, भूखे, अपमानित तथा मूढ़ताका जीवन बिताते आ रहे हैं और उन्हें अपने विकासके साधन प्राप्त नहीं हैं। भारतीय समाजकी यह सब दुर्गति तो थी ही, इस्लामके प्रवेश तथा देशपर उसके शासनने सामाजिक दुर्गति और बढ़ा दी। इस्लामकी धर्म-दीक्षाने आगन्तुकों और इस्लाममें दीक्षित भारतियों को मिलाकर एक अत्यंत अनुसार समाजको उत्पन्न किया जो इस देशमें फल-फूलकर, कितनी ही शतियों तक राज्य कर और फिर राज्यच्युत होकर अपने दिन भारतमें बिताये। जिनका शरीर और मन भारतीय अन्न-जलकी उपज है, पर एक चिर तक भारतमें रहते हुए भी वे भारतके न बन सके, भारतके बहुसंख्यक समाजसे घुलमिल न सके। आज भारतमें उन्होंने पाकिस्तानकी स्थापना की है। उनके नेताओंकी इस्लामकी आड़में रुधिर पिपासा प्रबल हो उठी है। कश्मीर और हैदराबादमें उनके अत्याचार जारी हैं। पर सब अत्याचारोंकी प्रवृत्तिमें राज्यलोभ, धनलोभ आदिका स्वार्थ कितना ही क्यों न हो, पर इसके मूलमें जो मनोभाव काम कर रहा है, वह कुछ और ही है। जो इस्लामका अनुयायी नहीं है, वह गैर है, पराया है, शत्रु है; उसका वध, उसकी लूट-पाट, उसके घरकी स्त्रियोंके साथ जोर जबरदस्ती, उसे डरा-धमका कर इस्लाम ग्रहण करानेमें पुण्य है। उसके लि[ए] बहिश्तका दरवाजा खुला है। और इस दुनियामें लूट-[पाट] और अपहरणसे धन-धान्य, सुन्दर स्त्रियाँ हैं ही, [...] इस सब लूट-पाटमें, अपहरणमें, पापकी छाया तक [...] हैं तथा इस्लामकी बड़ी सेवा है। इस भयंकर मि[थ्या] दृष्टिके कारण धरती न मालूम कितनी बार [...] लथ-पथ हो चुकी है और न जाने कितनी बार [...] होगी। इस्लामके प्रवेशने जो बात की, ठीक वही [...] ईसाइयतके प्रवेशने भी की, पर मृदु मात्रामें और [...] कुछ शिष्टताका पर्दा डालते हुए। आज ईसाइ[यत] भी एक अत्यन्त अनुदार समाज उत्पन्न हो गया [...] उसमें भी वही मिथ्या दृष्टि है जो मुसलमानोंमें [...] जाती है। ईसाके अविश्वासीको परलोकमें स्थान [...] है ही नहीं। हाँ, इस लोकमें जब तक ईसाइ[यत] नहीं चलती, तभी तक औरोंको जगह है। भार[त] ये दोनों मेहमान इस्लाम और ईसाई मत वर्ण[...] धर्मकी अनुदारताको तो न दूर कर सके, पर उ[...] एक-एक अनुदार समाजको उत्पन्न करके मान[...] हृदयोंको एक-दूसरेसे विलगानेका ही काम कि[या] पश्चिमके संसर्गसे जहाँ ईसाइयत भारतमें पधारी, [...] पश्चिमी शिक्षा-दीक्षाके साथ राष्ट्रीयताके भूतका [...] भारतीयोंमें आवेश आना शुरू हुआ। जाति[...] वर्णवाद, इस्लाम और ईसाइयतके भूतावेशसे छु[...] नहीं मिली थी कि राष्ट्रीयताका भूत सिरपर चढ़ आ[या] यह भूत अभी बहुत दुर्बल है। इसको दुर्बल बना[...]

ति-भेद और मजहब एवं दीनके भेदका ही मुख्य ान है। और साथ-साथ प्रान्तीयताका प्रकोप भी रतको एकराष्ट्र बननेमें रोक रहा है। डर है कि हीं विभिन्न प्रान्त ही अपनेको अलग-अलग राष्ट्र घोषित कर बैठें। यदि ऐसा हुआ तो धर्म-भेद, ति-भेद आदिसे विच्छिन्न भारत विभिन्न राष्ट्रोंमें कर परस्पर कलहका युद्धक्षेत्र बन जायगा। ष्ट्रीयता एवं प्रान्तीयता आदिकी दृष्टियाँ भी मनुष्यसे भी कुछ उचित-अनुचित करा सकती हैं। पश्चिममें ष्ट्रीयताके प्रकोपके कारण ही खूनकी नदियाँ बहती ही हैं। बुद्धने इन सब दृष्टियोंको दूर करनेके लिए रमात्म समताका प्रचार किया——मनुष्य सब समान , उनके भेद अज्ञानमूलक हैं। इस सिद्धान्तका प्रचार कया, पर हुआ कुछ नहीं। मानव-समाजमें युद्ध ौर रक्तपात होते ही रहे, सबल निर्बलोंको निगलते ी रहे। सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' और 'जिसकी लाठी उसकी ंस, के माननेवालोंका ही बोलबाला रहा। आधुनिक ुगमें पश्चिमकी साम्यवादी विचारधाराने मानव-माजके भेदोंको अर्थमूलक मान, व्यक्तिगत संपत्तिकी अवधि निश्चित कर,तथा कृषि एवं औद्योगिक साधनोंके राष्ट्रीयकरण द्वारा उन्हें दूर करना चाहा है। इसे अभी आंशिक सफलता मिली है। पता नहीं, भविष्यमें क्या होगा? पर इस विचार-धारामें एक अदम्य प्रेरणा है, इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता। अस्तु, कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य-समाजको बर्बाद करनेवाली इन विविध दृष्टियोंके मूलमें लोभकी वृत्ति ही काम करती है। लोभ की पूर्ति लिए ही मानवीय समाजके नेता जाति, धर्म, रंग, मजहब, राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता आदिके मायाजालमें मनुष्योंके भीतर विविध वर्ग उत्पन्नकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। लोभकी आन्तरिक प्रवृत्तिके साथ जब विभिन्न दृष्टियोंका संयोग हो जाता है, तब वह और भी भयानक हो उठती है, तथा लोभकी पूर्तिके लिए सब कुकर्म करके भी पछतावा नहीं होता। पछतावेकी बात तो दूर, कुकर्म करनेमें भी सौमनस्य (= हर्ष एवं सन्तोष) होता है। इतना होते हुए भी यदि लोभ प्रवृत्तिके लिए संस्कार अर्थात् प्रेरणा करनेवाली कोई शक्ति उठ खड़ी हुई तो जो अनर्थ न हो, वही कम समझना चाहिए। लोभ-प्रवृत्तिमें जो विघातक होगा, उसके प्रति द्वेष होगा। जहाँ द्वेष है, वहाँ दौर्मनस्य (=अप्रसन्नता और असन्तोष) तो रहेगा ही और इनसे अभिभूत मनुष्य कौन-सा अनर्थ नहीं करेगा, यह नहीं कह सकते। स्वभावतः भीरु पुरुष द्वेष और दौर्मनस्य होते हुए भी अनर्थ नहीं करता; पर उसे भी यदि संस्कार या प्रेरणा मिल जाँय, तो उग्र हो उठता है। फिर जो स्वभावतः ही उग्र हैं, वे प्रेरणा मिलनेसे कितने भयंकर हो उठेंगे, यह तो अनुमानसे परेकी बात है। संसारके सब अनर्थ इन्हीं लोभ और द्वेष वृत्तियोंके कारण होते हैं। मनमें एक तीसरी अशुभ वृत्ति भी रहती है जिसे मोह कहते हैं। जहाँ मोह (=अज्ञान) है, वहाँ विचिकित्सा (= संदेह) बनी रहती है। मनुष्य दुविधामें पड़ा रहता है। इससे कुछ करते-धरते नहीं बनता। मोह-ग्रस्त व्यक्तिमें औद्धत्य (=भ्रम) भी होता है। चित्तकी भ्रान्तिके कारण स्वपर हितका निर्णय नहीं कर पाता, एवं मूढ़ मनुष्य अकर्मण्य हो बेकार ही अपना जीवन बिताता है। लोभ, द्वेष, और मोहसे जिन लोगोंके चित्त प्रभावित होते हैं, वे संसारका कुछ भी कुशल (=हित, कल्याण) नहीं कर पाते, और इसीलिए इन तीनोंको अकुशल हेतु कहते हैं।

जवनावस्थाका चित्त जब कुशल हेतुओंसे प्रभावित होता है, तब उसमें अलोभ (=त्याग) अर्थात् पर-सेवा बुद्धिकी प्रधानता होती है। यह अलोभ वृत्ति हमें भारतीय संतोंमें पूरी मात्रामें दिखायी देती है। पुराने समयसे अब तक इन सन्तोंने ही लोकमें सदाचार की प्रतिष्ठा की है। बुद्धसे लेकर गांधी तकके सन्तोंका उद्देश्य परसेवा ही रहा है। बुद्धसे पहलेके श्रमणोंने भी परसेवा-बुद्धिका ही आदर्श रखा था। जहाँ पर परसेवा-बुद्धि होती है, वहां अद्वेष या मैत्री का भाव स्वभावतः ही आ जाता है। जहां परसेवा और मैत्री-भावना काम करती है, वह दूसरोंको हानि पहुँचा कर लाभ उठाने की वृत्तिका औचित्य माननेवाली मिथ्या दृष्टि हो ही नहीं सकती। इस मिथ्या दृष्टिके अभावको ही संतोंने अमोह या ज्ञान कहा है। परसेवा-बुद्धि, मैत्री और ज्ञानके कारण जो संत-मार्ग पर आरूढ़ होते हैं, उनके चित्तमें सौमनस्य, अर्थात् हर्ष एवं

संतोष विराजमान रहता है। यह सब वृत्तियाँ किसीमें सहज होती हैं और किसीमें इनका विकास संस्कार या प्रेरणासे होता है। मनुष्यमें लोभ आदि दुष्प्रवृत्तियाँ सहज ही प्रबल होती हैं, अलोभ आदि सत्प्रवृत्तियाँ प्रायः दबी-सी देखी जाती हैं। उन्हें सन्तोंने प्रेरणा देकर जगाना चाहा है। संतोंका संदेश है कि हम चित्तको सावधानीसे रखें और असत्प्रवृत्तियाँ न उत्पन्न होने दें। शान्तिदेवने बोधिचर्यावतारमें कहा है:——

यदा चलितुकामः स्याद
वक्तु कामोऽपि वा भवेद्।
स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्या-
द्धैर्येण युक्तिमत् ॥ ५।४७ ॥

जब मनुष्यको चलना या बोलना हो (अथवा कोई दूसरा काम करना हो), तब उसको चाहिए कि चित्तकी पहले जाँच-पड़ताल कर ले, फिर धैर्यके साथ युक्तिपूर्वक कार्य करे।

अनुनीतं प्रतिहतं यदापश्येत्स्वकं मनः।
न कर्तव्यं न वक्तव्यं स्थातव्यं काष्ठवत्सदा॥५।४८॥

जब मनुष्य देखे कि उसका चित्त राग या द्वेषसे युक्त है, तब उसे न तो कुछ काम करना चाहिए और न बोलना चाहिए। सिर्फ काठकी तरह (चुप) रहना चाहिए।

उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितं।
सोत्प्रासातिशयं वक्रं वंचकं च मनोभवेत्॥५।४९॥

(जब मनुष्य देखे कि उसका) चित्त उद्धत अर्थात् भ्रांत है, दूसरेका उपहास करना चाहता है, मान और मदसे युक्त है, दूसरोंको चिढ़ानेके लिए उतावला हो रहा है, शठता और वंचकतासे युक्त है (तब उसे काठकी तरह चुप रहना चाहिए)।

यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव च।
साधिक्षेपं ससंरंभं स्थातव्यं काष्ठवत् सदा॥५।५०॥

(जब मनुष्य देखे कि उसका) चित्त अपनी बड़ाई करनेकी सोच रहा है, दूसरेपर धूल उछालना चाहता है, दूसरेको फटकारना चाहता है, दूसरोंसे झगड़ना चाहता है, तब उसे काठकी तरह चुप रहना चाहिए।

लोभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा मनः।
उपस्थानार्थि वा चित्त तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत्॥५।५१

(जब मनुष्य देखे कि उसका) चित्त लाभ, सत्कार, कीर्तिको चाहता है, उसे परिवार अर्थात् नौकर-चाकर, दास-दासी आदिके बटोरनेकी इच्छा है, दूसरोंसे सेवा करानेकी अभिलाषा है, तब (उसे सोचना चाहिए कि) मैं काठकी तरह चुप रहूँगा।

परार्थरूक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव वा।
वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत्॥५।५२

(जब मनुष्य देखे कि उसका) चित्त परहित-साधनासे विमुख है, अपना मतलब गाँठना चाहता है, जमात बटोरनेकी इच्छा रखता है, बोलनेका अभिलाषी है, तब (उसे सोचना चाहिए कि) मैं काठकी तरह चुप रहूँगा।

अलहिष्णलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा।
स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत्॥५।५३

(जब मनुष्य देखे कि उसका चित्त) असहनशील अर्थात् क्षमा-भावसे रहित है, अलस है, भीत है, मुखर है, अपने पक्षके प्रति अर्थात् अपनी जाति, कुल, धर्म, मजहब, राष्ट्र, वर्ग आदिके प्रति पक्षपातसे युक्त है, तब (उसे सोचना चाहिए कि) मैं काठकी तरह चुप रहूँगा।

जवनावस्थामें मन जब कुशल हेतुओंसे प्रभावित होता है, तब उसमें सभी प्रकारकी साधु मनःप्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जब मन अकुशल हेतुओंसे प्रभावित होता है, तब उसमें सब प्रकारकी असाधु मनःप्रवृत्तियों का उदय होता है। कितनी ही मनःप्रवृत्तियाँ ऐसी भी हैं जिनका संबंध सभी प्रकारके चित्तोंसे होता है——चाहे चित्त जवनावस्थामें हो, चाहे भवांग और जवनके बीचकी अवस्थामें* इस प्रकार बाह्य या आभ्यन्तर विषय रूप आलंबनके कारण जिससे वह पहले-पहल क्षुब्ध हुआ है, इस योग्य बना डालता है कि विषय-रूप आलंबन चित्तका अंग हो सके। यह क्रिया ठीक उसी प्रकारकी है, जैसे पुरुष चबेनाको उदरस्थ होने योग्य बनानेके लिए उसको मुंहमें चबा चबाकर, मुंहकी लारसे पिघलाकर निगलने योग्य बना लेता है। जब इस प्रकार

* इन सब चित्तवृत्तियोंकी संख्या ५० है। वेदना और संज्ञा स्कन्धोंको जोड़ देनेसे यह संख्या ५२ हो जाती है।

विषय-रूपी आलंबनपर जवन चित्तका कार्य हो चुका, तब मनमें एक और परिवर्तन होता है । मन जवनावस्थाकी मनःस्थितिसे अपनेको रँग लेता है और फिर भवांगावस्था को पहुँच जाता है । इस परिवर्तनका संबंध भवांग चित्तको अपने स्वरूपसे परिच्युत करनेवाले आदिम आलंबनसे न होकर जवनावस्थाके मन द्वारा सर्वथा विलोड़ित आलंबनसे होता है। इसलिए इस मनःस्थिति को तदालंबन चित्त अर्थात् जवनालंबन-चित्त कहते हैं । जैसे मुंहमें अच्छी तरह चबाये, लारसे मिलकर गले हुए चबेनाको पुरुष निगल जाता है, उसी प्रकार जवनावस्थाकी मनःस्थितिको मन आत्मसात् कर लेता है और फिर अपनी सहज अवस्थामें आ जाता है जिसे भवांगपात कहते हैं ।

भवांग चित्त जिस विषयसे क्षुब्ध होता है, वह यदि पूर्णतया स्पष्ट होता है तो ऊपर वर्णित सभी मनःस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । विषयकी स्पष्टताके तारतम्यके कारण कितनी ही बार सब मनःस्थितियाँ न उत्पन्न होकर कभी जवनावस्था तथा कभी व्यवस्थापनावस्था तक पहुँचकर मन भवांगावस्थामें लौट जाता है। कभी तो आलंबनकी दुर्बलताके कारण भवांग चलनके बाद ही मन भवांगावस्थामें लीन हो जाता है । विषयकी स्पष्टताके तारतम्यसे बाह्य विषय रूपी आलंबनके चार दरजे हैं। अतिमहत् आलंबन वह है जिससे भवांग चलनके बाद सभी मनःस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । महत् आलंबन वह है जिससे भवांग चलनके बाद मन जवनास्था तक ही पहुँच पाता है । परित्त आलम्बन वह है जिससे भवांग चलनके बाद मन व्यवस्थापनावस्था तक पहुँचकर भवांगमें लीन हो जाता है । अतिपरित्त आलंबन वह है जिससे सिर्फ भवांग चलन होकर रह जाता है । मन जब आभ्यन्तर विषयसे क्षुब्ध होता है, तब उसका विषय यदि विभूत अर्थात् प्रकट होता है, तो सभी मनःस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । यदि आलंबन अविभूत अर्थात् ईषत् प्रकट हो तो मन जवनावस्था तक पहुँच कर रह जाता है ।

मनकी क्षणिकताके कारण, मनसे उत्पन्न, मनकी [illegible] हैं। 'सभी कुछ परिवर्तनशील है,' इस बौद्ध सिद्धान्तके अनुसार मनका बाह्य आलंबन भी, जो भौतिक तत्त्व होता है, क्षणिक ही है । पर व्यवहारकी दृष्टिसे इस क्षणिकतामें भी कुछ तारतम्य अवश्य है । मन जितना गतिशील और परिवर्तनशील होता है, उसकी अपेक्षा भौतिक तत्त्वकी गतिशीलता और परिवर्तनशीलतामें अन्तर है । पुराने लोगोंने इस अन्तरकी नाप-जोख करनी चाही है, वह सब व्यवहार चलानेके लिए । इस व्यवहारको समझनेके लिए भवांगावस्थासे परिच्युत होनेके बाद फिर भवांगपात तककी मनःस्थितियोंको जो आयु वतायी गयी है, उसपर दृष्टि डालनी होगी । यह आयु बरसों, महीनों, दिनों एवं घंटोंकी आयु नहीं है, प्रत्युत क्षणोंकी आयु है । एक क्षणमें पदार्थकी उत्पत्ति, स्थिति और भंग तीनों ही हो जाते हैं । फलतः क्षणका काल बहुत सूक्ष्म है । ऊपर जिन मनःस्थितियोंकी चर्चाकी गयी है, उनकी आयुके क्षण इस प्रकार हैं,——

भवांग चित्त	की	आयु	१ क्षण
भवांग चलन	,,	,,	२ क्षण
पंचद्वारावर्जन	,,	,,	१ क्षण
द्विपंचविज्ञान	,,	,,	१ क्षण
संप्रतीच्छन	,,	,,	१ क्षण
संतीर्ण	,,	,,	१ क्षण
व्यवस्थापन	,,	,,	१ क्षण
जवन	,,	,,	७ क्षण
तदालंबन	,,	,,	२ क्षण

चलन दो बार होता है । पहले चलन को भवांग चलन और दूसरे को भवांगोपच्छेद कहते हैं।

जवन क्रमशः सात बार होता है, अर्थात् उसकी आवृत्ति सात बार होनेसे उसकी आयु सात क्षण होती है। मनःपरिवर्तन दो बार होता है, इसलिए उसकी आयु दो क्षण मानी गयी है ।

उक्त सब चित्तोंकी आयु इस तरह १७ क्षण हुई । इन सत्तरह क्षणोंके बाद मनका भवांगपात होता है और वह अपनी सहजावस्थाको लौट जाता है । इन सत्तरह क्षणों तक मनका विषय बाह्यालंबन रहता है ।

फलतः बाह्यालंबनकी आयु सत्तरह चित्तक्षणके बराबर हुई । बाह्यालंबन भौतिक पदार्थ ही होते हैं, इसलिए भौतिक तत्त्वकी आयु मनस्तत्त्वकी अपेक्षा सत्तरहगुनी बड़ी हुई । जितने क्षणोंमें परंपरया सत्तरह चित्तोंका उत्पाद-स्थिति-भंग होता है, उतने क्षणोंमें सिर्फ एक भौतिक तत्त्वका उत्पाद-स्थिति-भंग होता है । अस्तु, यह सब व्यावहारिक तारतम्य कितना ही क्यों न हो, बौद्ध मान्यताके अनुसार भौतिक तत्त्व और मनस्तत्त्व दोनों ही क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील हैं । यह क्षण-क्षण परिवर्त्तनशीलता ही अनात्मवाद कहलाती है। जिसने प्रज्ञासे सब धर्मोंको अनात्म समझ लिया है, उसे इस दुःख (–मय संसार)से वैराग्य होता है । विशुद्धिका यही मार्ग है:——

> सब्बे धम्मा अनत्ताति
> यदा पञ्ञाय पस्सति ।
> अथ निबिन्दती दुःखे
> एस मग्गो विसुद्धिया ॥ धम्मपद, २७८॥

कश्मीरमें सांस्कृतिक चेतना

विष्णु प्रभाकर

धीरे-धीरे अतिथि-गृह का वह बड़ा कमरा आने-वालोंसे भरने लगा। उनमें वे युवक थे, उत्साह और उमंगने जिनके मुख की लाली को और भी गहरा कर दिया था। युवतियाँ लजाकर मुस्कराती नहीं थीं, वरन् उनकी आँखें एक तेजसे प्रज्वलित हो रही थीं और वे, जिनकी आयु उन्हें बरबस समझदार बना रही थी, अपनी सूझ और शक्ति दोनोंसे परिपूर्ण होकर सबसे अधिक उत्साही जान पड़ते थे। वृद्ध लोग अपेक्षाकृत शान्त थे, क्योंकि समयके बोझने उनकी गति पर अंकुश लगा दिया था, लेकिन इसलिए गति की क्षमता उनकी वाणी में समा गयी थी। और बालक जैसा कि सदा होता है, यह न जानकरभी कि क्या करना है, बहुत कुछ करने को आतुर थे।

नौकरने आकर अँगीठी की आग लहका दी, लपटें उठीं। रक्तवर्ण मुख और भी रिक्तम हो उठे। मैंने एक बार फिर उन व्यक्तियों को देखा जो गरम कपड़ोंसे सज्जित सोफों और कुरसियोंमें समाये हुए थे, कुछ स्टूलों पर बैठे थे और कुछ फर्शपर विखर गये थे। वे सब धीरे-धीरे बातें कर रहे थे और उनके सामूहिक स्वरसे कमरा गूँज रहा था। बाहिर दूर-दूर तक सन्नाटा था। कश्मीर की ठण्डी और काली रात पहाड़ियोंके पीछेसे घाटीमें उतर आयी थी। आसमान तारोंसे भर गया था जो झुककर हिमाद्रि-शिखरोंसे पूछ रहे थे—कहो साथियो! आज हमारे सैनिक कितना आगे बढ़े...।

इतने में हमारे स्वयंसिद्ध सभापति जो बीचोबीच फर्श पर विखरे पड़े थे, बोल उठे, अच्छा दोस्तो! अब आप तैयार हो जायें।

सहसा वे धीमे स्वर शान्त हो चले। दृष्टियाँ एक दूसरेसे मिलीं और फिर सभापति पर जा अटकीं। आगके पास जो श्रीमती बैठी थीं, उन्होंने एक बार दृष्टि उठायी और फिर शीघ्रतासे उनकी उँगलियाँ सलाइयों पर दौड़ने लगीं। वे अपने पतिके लिए जो सैनिक संगठनका संचालन करते थे, जुराब बुन रही थीं। सभापति बोले—आज सबसे पहिले रिप्रोर्टाज पढ़ा जायेगा और फिर कविताएं होंगी।

सभा ने स्वीकृति दी और सबकी निगाहें वक्ता की ओर उठ गयीं। लम्बे ओवरकोटमें और भी लम्बे लगते हुए परदेसी साब मुस्कराये। चश्मेके पीछे उनकी आँखें चमकीं। उन्होंने सिगरेट का कश खींचा और पढ़ना शुरू किया। उनका साफा उनके प्रशस्त ललाट को ढक रहा था और उनकी आँखें शब्दों पर झुक गयी थीं। उनकी वाणी धीमी पर दृढ़ थी और वे किसी विवाह का वर्णन कर रहे थे......

विवाह!—मैं अपने साथीके कानमें फुसफुसाया।

साथीने गम्भीरतासे कहा—जिन दिनों हमला हुआ, उन दिनों यहाँ पर विवाह हुआ करते हैं। तब पतझड़ आ जाता है और कामसे छुट्टी पाकर कश्मीरी लोग विवाह-शादी की चिन्ता करते हैं।

ठीक है—मैंने वक्ता की ओर कान लगाये, तब तक कमरेमें पूरी तरह शान्ति छायी थी। कुछ लोग ओवरकोटों की जेबोंमें हाथ डाले तन्मय थे। कुछ ऊँचा मुँह किये सिगरेटका कश खींच रहे थे जिनका धुआँ शून्यमें चक्कर बनाकर नष्ट हो जाता था। कुछ दोनों हाथों को बगलोंमें दबाये इधर-उधर लुढ़क गये थे। श्रीमती तेजीसे जुराब बुन रही थीं और शब्द उठ रहा था ......बधूके घर स्त्रियाँ स्वागत गीत गा रही थीं। सनोबरमें चाय का पानी उबल रहा था। शंकराचार्य की पहाड़ीके पीछेसे अष्टमी का चाँद झाँकने लगा था। लाल चिनार ऐसे लग रहे थे जैसे किसीने मेंहदी लगायी हो। फूलों की पत्तियाँ सड़क पर विखरी पड़ी थीं और मण्डपसे परे लोग राजनीति पर बातें कर रहे थे जो रह रह कर नमक, चीनी और पैट्रोल की कमी पर आकर ठहर जाती थी। या फिर कोई पाकिस्तान और हिन्दुस्तानके रक्त-युद्ध की लम्बी और दर्दभरी

दास्तान शुरू कर देता था.......। शेरे कश्मीर उन दिनों बार बार साम्प्रदायिक शान्तिके लिए अपील किया करते थे......। पीछेसे किसीने पूछा—क्या शेख़ साहब आ गये?

जैसे ग्रास चबाते-चबाते दांतोंके नीचे कंकड़ आ गया था, कई स्वर झल्ला उठे—बीचमें न बोलिए साहब।

कुछ भी हो प्रवाह पर ठेस लगी। वह क्षणभर रुका, वक्ताने सिगरेट का लम्बा कश खींचा और फिर पढ़ना शुरू किया। पढ़ता रहा और हम तन्मय होकर सुनते रहे......"फिर अगला दिन आया। पहाड़ियोंके पीछेसे सूरजने सिर उठाया। प्रकृति हँस पड़ी। बाजारों में भीड़ लगने लगी। गोश्तके बिना कश्मीरी हिन्दू और मुसलमान जिन्दा नहीं रह सकते; कसाई की दूकान पर आदमियों की भीड़ लग गयी कि सहसा कहीं हल-चल मची। जैसे पहाड़ियाँ हिल उठी हों, जैसे बूढ़े और पवित्र चिनार की नींव खिसकने लगी हो।

"क्या हुआ क्या"—लोगोंने एक दूसरे को ढकेल कर पूछा।

"उससे पूछो।"

"किससे।"

"वह वह मुजफ्फराबादसे आया है।"

"और वह कह रहा था—मुजफ्फराबाद पर हमला हुआ।"

"कैसे हुआ? किसने? कहाँ से किया?"

मैं तब घर में था, बाजारसे गोली की आवाज आयी, फिर "बचाओ" "बचाओ" का शोर मचा। मैं बाहर आया। दस्ती बम फटा। भगदड़ मच गयी। चीख-पुकारोंके बीच कोई पैदल भागा, कोई लारीमें। हम लोग पैदल भागे। एक लारी पाससे गुजरी। उसमें बुरी तरह आदमी भरे हुए थे। ड्राइवर मुसलमान था। हमने चिल्लाकर कहा—हमें भी जगह दो। ड्राइवर मुस्कराया—"नहीं लारी भर चुकी है।" जैसे हम खत्म हो गये। हमारे सामने मौत थी, चारो तरफ मौत थी कि लारी फिर रुकी। चिल्ला कर लारी ड्राइवरने पुकारा--जल्दी आओ। तुम भी याद करोगे किसी मुसलमानने तुम्हें बचाया था..।

"सुनने वालोंने टोक कर पूछा--पर हमला किसने किया है।"

"पाकिस्तानने।"

"और हमारी फौज कहां थी।"

"हमारी फौज मालिशमें लगी थी।"

"सुनकर श्रीनगर वाले हँस पड़े। मुजफ्फराबादके उस आदमीको बड़ा अचरज हुआ। वह अब भी घबरा रहा था। उसने लड़खड़ाते हुए कहा--मुजफ्फराबाद का पतन हुआ। सब लोग भाग गये, लुट गये, मारे गये, औरतोंकी बेइज्जती हुई। अब वे हमलावर इधर ही बढ़ रहे हैं....।

"सुनने वाले हँसे, बोले कोई डर नहीं। वे खुद भाग जायेंगे। यहाँ पर शेख है, महाराज हैं।.......

उस दिन दशहरे का जुलूस (२४-१०-१९४७) निकलने वाला था। वह निकला। दोपहर तक युवकों की भीड़ सड़कों पर घूमने लगी। वे नारे लगा रहे थे—"शेरे कश्मीर का क्या इरशाद?—हिन्दू-मुस्लिम-सिख इत्तिहाद!—जिन्दाबाद; जिन्दाबाद।......"

लोगोंने पुकार की—शेख कहाँ है—बख्शी कहाँ है?

"शेख साहबने इस जुलूसका दायाँ हाथ उठाकर खैरमुकद्दम किया और कहा--"एक हथियार हमारे पास है, वह इत्तिहादका है। इसीको लेकर हमें हिन्दुस्तान और एशियाको राह दिखानी है......।"

धीरे-धीरे यह रिपोर्ट समाप्त होने लगी। वक्ता ने अन्तिम सतरें पढ़ीं—यह कश्मीर पर हमलेका पहला दिन था। सब दुकानें खुली थीं, बाजारमें सदाकी तरह चहल-पहल थी। लोग दिल खोल कर मुलहके जुलूसोंका स्वागत करते थे। औरतें गाती थीं......।"

औरतें गाती थीं—मैं फुसफुसाया और मेरा ध्यान अतिथि-गृहसे हटकर दूर सौन्दर्यमयी प्रकृतिके आँगनमें जा पहुंचा। पर्वत शिखर पर वर्फ चमक उठी थी और घाटीमें दीर्घजीवी चिनार अपनी निष्पात भुजाएं फैलाये मुस्कराने लगा था। मैंने उसके नीचे फैले हुए लाल पत्तों को देखा और सोचा—बसन्तमें यह कितना सुन्दर लगता होगा। और केशरके खेतोंसे जो अब खाली पड़े हैं कितनी सुगन्ध उठती होगी। और शहतूत, बादाम, अखरोट और सेवके वृक्ष जब पत्र-पुष्पोंसे पूर्ण होंगे तो...। और सड़कके दोनों ओर

रोमन प्रहरीकी तरह, आकाशके चिर परिचित, ये सफेदेके लम्बे-लम्बे वृक्ष जो सम्भवतः पर्वतोंके उस ओर दुश्मनकी टोह लेते हैं, तब किस तरह मुस्कराते होंगे..लेकिन यह स्वर कैसा उठ रहा है..ओ! सड़कके दोनों ओर ये वृद्ध, अधेड़, युवा और बालक, सुन्दर और प्रसन्न कन्धों पर काली लोइयाँ डाले, हाथमें बन्दूकें, लाठियाँ और तलवारें लिए मस्तीसे अपनी भाषामें गा रहे हैं। मैं उसे ठीक ठीक नहीं समझ पाता, पर उसका प्रभाव मुझे जकड़े ले रहा है, क्योंकि उसमें आवेश है, उत्साह है और है मर मिटनेकी साध। मेरे शरीरमें स्फूर्ति उमड़ती है और भुजाएं तूफानी लहरोंसे उलझनेको आतुर हो उठती हैं कि स्वर बदलता है--मैं उस भाषाको समझता हूँ।

कोने कोने है पुकार, नेशनल फौज है तैयार।

अपना खून बहायेंगे, कश्मीरको हम बचायेंगे। और

दूर हटो दूर हटो, ऐ दुश्मन जालिम! यह कश्मीर हमारा है। और

कश्मीर बना है नया कश्मीर, नाजमे आला शेरे कश्मीर। और

वतनको चला है वतनका सिपाही, हाँ नैशनल सिपाही।

और गाँव पास आ रहा है, भीड़ बढ़ रही है, हमारी वैन को बार बार रुक कर स्वागत द्वारोंसे निकलना पड़ता है। वे द्वारपत्र पुष्पोंसे नहीं, बल्कि कश्मीरके सुन्दर वस्त्रोंसे सजे हैं। तभी ड्राइवरने कहा-लीजिए, हम आ गये। यहीं पर आज मीटिंग है। मैंने पूछा-पर यह स्वर कैसा है?

औरतें गाती हैं.....

आँख उठाकर देखा-सचमुच मनुष्यों की मचलती हुई भीड़से परे एक गलीके द्वार पर, बहुत सी स्वस्थ और सुन्दर कश्मीरी नारियाँ, युवतियाँ और बालाएं, लम्बी और ढीली किरन पहिने केशपाशों को एक कढ़ी हुई टोपी जैसे वस्त्रसे ढके मधुर स्वरमें गा रही हैं।

उनका स्वर रणभूमि की मादकतासे पूर्ण है और वह ऊँचा और ऊँचा उठकर आकाश को भेदना चाहता है। मैंने उन्हें देखते हुए पूछा-क्या वे नाच रही हैं। मेरे साथीने शीघ्रतासे जवाब दिया-जी नहीं, कश्मीर में औरतें नाचती नहीं हैं। उनकी वाणी में ऐसा कुछ था कि बरबस मैंने उन्हें देखा। वे शान्त मन आगे बढ़ गयें थे और वे नारियाँ एक दूसरेके गले में बाँह डाले झूमती हुई आगे बढ़ती और फिर पीछे हट जाती। फिर सामने की दूसरी टोली इसी तरह करती...। हठात् मैंने सोचा, नाचना और क्या होता है-पर वह अवसर तो ऐसी बहस का नहीं था, मैंने उन्ही साथी को घेर कर पूछा--पर ये क्या गा रही हैं।

वे बोले--यह एक ग्राम्य गीत की ट्यून है। इसकी टेक है--शेख साहब को इज्जत मिली है; मिर्जा साहब को मुबारिक हो।

मैंने अचरजसे उन मित्र को देखा। मैंने समझा, वे मजाक कर रहे हैं। तबतक हम एक बड़ी भीड़के साथ साथ गाँवके तंग और गन्दे रास्ते को पार करके एक पक्के मकानके पास आ गये थे। उसकी छतें नीची थीं, परन्तु लकड़ी पर सुन्दर बेल-बूटे अंकित थे और दीवारें आलोंसे पूर्ण थीं और मेरा साथी कह रहा था--सुनो, वे गा रही हैं--आज हमारे घर मेहमान आये हैं,

ये सब शेख साहबके साथी हैं।
ये हमारी मदद करने आये हैं,
हम इनका स्वागत करती हैं॥

मेरा मन एक हर्ष, एक आभारसे तरल हो उठा। मैंने कहा--क्या कश्मीरकी युवतियाँ प्रेमके गीत नहीं गातीं।

गाती तो हैं--मेरे साथीने बताया--वतनपरस्ती भी तो प्रेम ही है।

मैंने लज्जित होकर कहा--वतनपरस्ती सबसे लोकोत्तर प्रेम है, मेरे दोस्त।

वह मुस्कराने लगा। बाहर औरतें उसी तरह गाये जा रही थीं और मकानके पीछे मैदानसे पुरुषोंका स्वर उठ रहा था--

अब वक्त आ चुका है ताकत फिर संभालो,
अपनी बिगड़ीको फिर बना लो।
शीरी शक्कर बनो तुम, रूठोंको फिर मना लो,
मिलजुल कर नया कश्मीर, ऐ दोस्तो बना लो।

और मैं सोच रहा था, सैनिक विजयसे बढ़कर यह सांस्कृतिक जागृति कश्मीरकी रक्षा करने वाली है और......।

कि मैं चौंक पड़ा। मैं अतिथिगृहके उस बड़े कमरेमें बैठा था जहाँ कश्मीरके कवि, गायक, कथाकार और नाटककार एकत्रित होकर स्वतंत्रताके युद्धमें अपना योगदान देनेकी चर्चा किया करते थे। वे कन्धे पर बन्दूक डाले, ओठों पर मुस्कान लिये अपने स्वरमें अपनी रत्नगर्भा धरती, मनोमय आकाश, पवित्र और युगजीवी चिनार, सुगन्धित केशर तथा देवताओं और यक्षोंकी लीलाभूमि हिमाद्रिके शैल-शिखरोंकी गौरव गाथाका वर्णन करते हुए, स्वतंत्रताके पुनीत युद्धमें निरन्तर आगे बढ़ रहे थे। वे प्रेम और विरहके तराने भूल चुके थे। वे अब बलिदान और मृत्युके गीत गाते थे। मैं एक ऐसी ही गीतकी ट्यून सुनकर चौंक उठा था। गाने वाला हिन्दू युवक था, कश्मीरकी धरतीका सच्चा सपूत, स्वस्थ और रक्तवर्ण, बन्दूक उसने पैरोंके नीचे दबायी थी और हाथसे स्टूल पर गत देता हुआ नयन मूँदे वह गा रहा था। उसका वक्षस्थल उठता था, मानो उत्साह उमड़ता था-

आये चन्द लुटेरे, देखो आये चन्द लुटेरे।
जब धरतीने अपनी छातीसे सोना उधराया।
एक सुबह सबेरे आये चन्द लुटेरे, देखो, देखो आये चन्द लुटेरे।

गीत कोरस था। कई स्वर एक साथ उठ रहे थे, आग चटख रही थी और हमारे दिल उमड़ रहे थे कि गीत बदल गया।

उठ गरीब वे नवाज, क्या खाक है तेरी जिन्दगी।
सारे जहाँके मजलमों उठो कि वक्त आया,
यह जंगे आजादी कि इस पर है फैसला।

दूसरा गीत भी कश्मीरीमें था--कारवाँ ब्रों ब्रों पवाँदों पवाँदों। अर्थात् हमारा कारवाँ आगे आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया।

शेरे कश्मीरने जब सचाईका नारा लगाया,
तब राम काकने हमें कुचलना शुरू किया,
पर हमारा कारवाँ आगे और आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया।

सिखाशाही को जो भूल गया था,
अगर सौ वर्षकी डोंगराशाहीने कुछ कसर रखी थी,
तो वह उन्होंने पूरी कर दी।
हम खुद अपने हाथोंसे अपनी तामीर करेंगे।
हमारे दिलमें आजाद कौमकी तसवीर है।
शेरोंके शेर कश्मीर हमारी रहनुमाई करते रहे,
और हमारा कारवाँ आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया।

अमर शहीद शेरवानी आज कश्मीरके रोम रोममें समाया हुआ है। उसने अपनी आंखोंसे अपने माथे पर कीलोंको ठुकते देखा था, तब कश्मीरके कवि और नाटककार उसे साहित्यमें मूर्तिमान न करें तो किसे करें। कविके शब्दोंमें वह अमर शहीद कहता है--

मेरी कबरसे आवाज उठ रही है,
वतनको बचाना मेरा काम है,
इसके लिए मेरा दिल हाजिर है,
मेरे कश्मीरमें सोना हीराकी कानें हैं,
मेरा देश खूबसूरत है;
मेरे यहाँ हमेशा लटेरे आते हैं,
क्या वे कभी हमें प्यार कर सकते हैं,
मेरा काम वतनको बचाना है,
इसके लिए मेरा शरीर हाजिर है।

परदेसीके शब्दोंमें शेखसाहबने कहा था--एक हथियार हमारे पास है, वह इत्तिहाद का है। इसीको लेकर हम हिन्दुस्तान और एशिया को राह दिखायेंगे। कवि आरिफके शब्दों में शहीद भी वही आदेश देता है:--

कौम की किश्ती मझधार में फँसी है,
जुल्मोसितम का पानी सिर पर फिर गया है,
तू हिम्मत कर और इत्तिफाक की रस्सी उठा--
और नाव को मझधारसे निकाल,
जबसे मैं जुल्मकी गोलियाँ खाकर निकला हूँ,
और अगर्चे मैं स्वर्गमें हूँ तो भी मुझे तुम्हारा गम है।
जो पौधा मेरे गलेके खूनसे सींचा गया है,
तुझे मेरी कसम तू उसके फल खा।
खबरदार कोई तुझे धोका न दे,
तू इस वक्त पछता मत मजबूतीसे रह,
क्योंकि तुझे जाने जमशेद पीना है।

अंगीठी की आग मन्द पड़ने लगी थी, पर भावनाओं की गर्मी ने हम सबको एक अनिर्वचनीय उत्साहसे भर दिया था। वस्तुतः हम सब गीतमय हो उठे थे और तब हमें समस्त वातावरण गाता हुआ जान पड़ रहा

या कि स्टूलके पास बैठे हुए युवकने फिर अलाप ली।
वह अब झंडे का गीत गा रहा था--

कश्मीर का हल वाला झण्डा क्या खूबसूरत दिखायी
दे रहा है।

हमेशा यह झण्डा शानशौकतके साथ दुनियामें
उड़ता रहे--

क्योंकि इससे कश्मीर का गम दूर होगा और
शान दो बाला होगी;

यह झण्डा कश्मीर की गुरबत की दास्तान कश्वे
की तरह दुनिया को सुनाता है--

जब जुल्मकी कमानने बेअन्दाज तीर बरसाये और
कश्मीरियों की लाशें बेकफन पड़ी रहीं,
भूखके कारण कई बच्चे माँ की गोदमें मर गये और-
कश्मीरियों पर तकलीफोंके सैलाब आये;
तब यह झण्डा बुलन्द हुआ।
यह झण्डा शहीद का खून लेकर प्रकट हुआ है।
लँगड़े-लूले-मजूर इसीकी तरफ देखकर दिन गुजार
रहे हैं।
लेकिन सरमायादार उसे देखकर घबरा रहे हैं;
इसकी निगाह हमेशा ऊँचाई पर है,
इसने सचाईका लिबास पहिना है,
यह कश्मीरियोंकी दरबानकी तरह रक्षा करता है,
जो इस झण्डेको थामकर चलेगा उसे शान्ति मिलेगी।

ठण्ड बहुत बढ़ गयी। बैरा कई बार द्वार खटखटा
चुका है, लोग धीरे-धीरे उठने लगे, परन्तु मेरे सामने
एक व्यक्ति बैठा है। वह बूढ़ा है, उसका मस्तक प्रशस्त
है; उसके कान लम्बे हैं, परन्तु उसकी ढाढ़ी छोटी
है। उसके वस्त्र साधारण हैं, किरन, कश्मीरी टोपी
और ऊँची सिलवार और कीलोंसे जड़े हुए भारी भारी
जूते। वह एक साधारण मजदूर है। परन्तु उसकी
आँखोंमें स्नेह और तेज है। वह जेल-यात्रा कर चुका
है। सबसे बढ़कर वह कवि है, सिर पर बोझ उठा कर
वह भावनाके बोझको फेंक नहीं देता। जेलमें उसने
कश्वेको सम्बोधित करते हुए लिखा था--

ऐ कश्वे बता मेरा वतन आजाद हुआ कि नहीं।
दुश्मन अपना जहाज लेकर चला गया कि नहीं।
मेरे कानों पर जुल्मका भारी बोझ है,
तू बता कि फौलादका पंजा छूटा कि नहीं।
तू बता कि कि हमारा वतन पहिले जैसा ही है?

कश्वे ने बताया कि नहीं, कुछ पता नहीं, पर एक
दिन मनुष्यने परिस्थितियोंको विवश किया; जिन्दाके
दरवाजे खुल गये और मजदूरोंका कवि अपने कामके
साथ अपनी वाणीका घोष चारो ओर फैलाने लगा--

वक्त आ गया है कि ताजेशाही मजदूरोंके सिर
पर हो।

(२)

कश्मीर की सांस्कृतिक आत्मा इस तरह अतिथि-
गृहमें, युद्धभूमिमें, घर और बाजारमें, जेहलममें तैरते
हुए शिकारोंमें और हिमाद्रिके सिखरों पर, शालि और
केशरके खेतों में, चिनार की सघन छायामें, सफेदे की
ऊँची टहनी पर, स्त्री, पुरुष, बालक, युवा और बूढ़ोंमें,
और कलगी वाली प्यारी बुलबुलके स्वरमें अपनी जागृति
का प्रमाण दे रही है। भावना मात्र नहीं है, भावनाके
पीछे एक नियमित और सुलझी हुई विचारधारा है, एक
स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यह सांस्कृतिक
और साहित्यिक भावना उनके संग्राम का एक अविच्छेद्य
अंग है। उनकी राष्ट्रीय सेनामें जहाँ सैनिक अधिकारी
हैं, वहाँ राजनीतिक अधिकारी भी हैं। सैनिक अधिकारी
युद्ध का संचालन करता है, परन्तु जनतासे सेनाके
सम्बन्ध की व्यवस्था करने का अधिकार राजनीतिक
अधिकारी को है। वे मानते हैं, उनकी सेना जनता की
सेना है। उसकी जड़ें जनतामें है। जड़में जीवन है।
जीवनसे मुह मोड़ना आत्मघात करना है। मुख्य कमाण्डरने
बड़े गर्वसे बताया था--दुश्मन का सामना केवल युद्धभूमिमें
नहीं होता, घरमें भी होता है। घर का दुश्मन युद्ध-
भूमिके दुश्मनसे कहीं प्रबल होता है। जनता का
अज्ञान उनमें सबसे बड़ा दुश्मन है। इसलिए जनता
को शिक्षित करना, उसमें सामाजिक भाव जागृत करना
तथा उसे संस्कृत बनाना हमारी सेना का एक प्रमुख
काम है।

मैंने अचरजसे उस युवक को देखा। वह सचमुच
सेनापति था। यद्यपि वह हिन्दू था, परन्तु जैसा कि
हो सकता था, उसके सैनिक अधिकतर मुसलमान थे--
पूछने पर उसने इतना ही कहा--हम सब कश्मीरी
हैं केवल कश्मीरी।

और फिर अपनी पहिली बात को स्पष्ट करता
हुआ बोला--पुरानी सेना का उद्देश्य सदा जनतासे अलग
रहना था। इसीलिए वे नगरसे दूर बैरकों में रहते थे।
वे जनताके असन्तोष को नहीं पहिचानते थे, परन्तु हमारी
सेना जनता की सेवक है। वह उनकी समस्याओं को
हल नहीं करेगी तो कौन करेगा? पुरानी सेनामें
सूझबूझ को प्रोत्साहन नहीं देते थे, परन्तु हमारी सेना
सांस्कृतिक और सामाजिक विकासका आधार बनेगी।
पुरानी सेना मनुष्यको मशीन बनाती थी; हमारी
सेना मशीनको मनुष्य बनायेगी। हम अपने कर्त्तव्य और
उत्तरदायित्व पर नये दृष्टिकोणसे विचार करना चाहते
हैं और साथ ही जनतासे भी नये सम्बन्ध स्थापित
करनेका विचार रखते हैं। हमारी दृष्टिमें सैनिक
जय-पराजयसे अधिक राजनीतिक जय-पराजयका मूल्य
है, क्योंकि वह स्थायी है।

वे सच कह रहे थे। भारतके जय-पराजयकी
कहानी इस सत्यकी सबसे बड़ी साक्षी है, आज हम
स्वतंत्र हैं, हमारा देश हमारा है। परन्तु क्या हम सचमुच
विजयी हुए हैं। क्या रक्तसे लथपथ और खण्डित बसु-
न्धरा हमारी विजयको प्रमाणित करती है? क्या...
मैंने गरदनको झटका दिया। वे कह रहे थे--इसीलिए
हम चाहते हैं कि राजनीतिक अधिकारियों द्वारा हमारी
सेनामें शिक्षा और संस्कृतिका प्रचार होता रहे जिससे
सैनिक अपने "मनुष्य" को न भूले।

'मनुष्य' मेरा मन एक साथ हर्ष और विषादसे
भर आया। कश्मीरमें आज एक महान प्रयोग हो रहा।
है। उसकी सफलता पर भारतका भविष्य निर्भर करता
है। यद्यपि कभी कभी हम शंकाओंसे भर उठते हैं
क्योंकि हमने अपने हाथों अपने पड़ोसीका खून
उलीचा है। परन्तु फिर भी हमारा घायल मन
आशा भरी दृष्टिसे उसकी ओर निहार रहा है।
कश्मीर भारतका मुकुटमणि है। वह भारतका मस्तिष्क
है। मस्तिष्क ठीक है तो जीवन ठीक है, परन्तु मस्तिष्क
को ठीक रखनेके लिए हमारे कन्धों पर एक बहुत बड़ा
उत्तरदायित्व आ पड़ा है। देवासुर संग्रामके नीलकण्ठकी
तरह कश्मीरने उस जहरको, जिसने हमें झुलस दिया
है, अपने कण्ठसे नीचे नहीं उतरने दिया है, परन्तु यदि
हम इसी प्रकार आलोड़ित होते रहे तो बहुत सम्भव है
कण्ठका विष उदरमें पहुँच जावे। तब क्या होगा, यह
कल्पना अति सहज है। नीलकण्ठ शिव हैं, शिव हिमाचलमें
रहते हैं। वे हिमाद्रि शिखरसे अपने नेत्रोंमें आशा भरे
हमारी ओर देख रहे हैं--मैंने अनेक बार भारत
बसुन्धराकी प्राण-रक्षा की है। आज फिर उस पर
संकट आया है। उस संकटका शमन तुम्हारे अपने
हाथोंमें है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। तुम धर्म, मत,
वर्ग सबसे ऊपर उठ कर मनुष्य बनो, इसीमें कश्मीर,
और भारतका, एशिया और विश्वका कल्याण है।

क्या हम इस आशाको सफल होने देंगे? क्या
हम कश्मीरके महान प्रयोगको अपनायेंगे।

पारिभाषिक शब्दों का निर्माण

श्यामसुन्दर भंवर

राष्ट्रभाषा हिन्दी को देशमें सर्वत्र उच्च शिक्षाके माध्यम तथा उच्च न्यायालयों की भाषा का पद शीघ्र ही मिलनेवाला है। ऐसी राष्ट्रभाषा किसी प्रान्तविशेष की न होकर सारे राष्ट्र की होगी, इसलिए सारी संकीर्णताओं को छोड़कर उसे संचय, ग्रहण व सरलता की नीति अपनानी पड़ेगी।

उच्च शिक्षा का सफलतापूर्वक माध्यम बन सकने की दृष्टिसे हिन्दीमें सभी विद्याओं व ज्ञान-विज्ञानों की ऊँचीसे ऊँची किताबें लिखी जानी चाहिए। इस ओर कुछ विद्वान प्रयत्न भी कर रहे हैं। किन्तु उन सबकी एक बहुत बड़ी कठिनाई हिन्दीमें उचित पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। इस दृष्टिसे परिभाषा-शब्दों का निर्माण करना बहुत जरूरी और महत्वपूर्ण कार्य है। यह काम पूरी जिम्मेदारी तथा दूरदर्शितासे ही संपादित किया जाना चाहिए, क्योंकि आगे लिखा जाने वाला साहित्य इसका ही सहारा लेगा।

सन् १९०६ में नागरी प्रचारिणी सभाने कुछ पारिभाषिक शब्दों का निर्माण इन नियमोंके आधार पर किया:--

(१) सामान्य व प्रचलित हिन्दी शब्दों को चुनाव में सर्वप्रथम स्थान दिया जावे।

(२) उचित हिन्दी पर्यायके अभावमें--

(अ) कुछ प्रचलित देशी भाषाओं--जैसे मराठी, गुजराती, बंगाली और उर्दू--के उचित शब्दों का उपयोग हो।

(आ) इनके भी अभावमें--

(क) संस्कृतके विद्यमान शब्द लिये जांय।

(ख) अंग्रेजीके शब्द काममें लाये जावें।

(ग) नये शब्दों को संस्कृतसे बनाया जावे।

इसके बाद कुछ व्यक्तियों व संस्थाओंने इस ओर अपने-अपने प्रयत्न किये। किन्तु ये सभी प्रयत्न सुव्यवस्थित तथा केन्द्रीय न होकर प्रायः छिटफुट ही रहे।

कुछ वर्षोंसे डॉ० रघुवीर इस दिशामें खूब काम कर रहे हैं। किन्तु उनके प्रयत्नों को केन्द्रीय प्रयत्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका परिभाषा-शब्द निर्माण केवल उन्हींका कार्य रह गया है। दूसरे विद्वान तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी उनकी रीति-नीतिको मान्यता नहीं दे रहे हैं। कारण स्पष्ट हैं। उनकी सारी शब्दावलीका यह रूप है:--

(अ) सारी शब्दावली 'भारतीय' है, इसका आधार संस्कृत है। (आ) समासों, प्रत्ययों, उपसर्गका प्रयोग शब्दोंके कुल आदि बनानेके लिए खुलकर किया गया है। (इ) उनका निश्चित मत है कि अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाके प्रचलित शब्द हमारी भाषा या शब्दावलीको समृद्धि नहीं बना सकते हैं। कारण कि उन्हें उनके पूरे कुलके साथ नहीं लिया जा सकता है, उनके मतसे लेना भी नहीं चाहिए। अतः उन भाषाओंके छिटफुट शब्द जो, जैसा वे कहते हैं, हमारी लम्बी दासताके कारण हममें घर कर गये हैं, हमारी भाषाके लिए केवल मृतभार (dead weight) होंगे।'

इसलिए उनकी शब्दावली इतनी अधिक संस्कृतजन्य, संस्कृतनिष्ठ, संस्कृतगर्भित व संस्कृतमय हो गयी है कि आसान चलते शब्दोंको भी उन्होंने हटा दिया है और नये-नये शब्द चलानेका उपक्रम किया है। उदाहरणके लिए 'सेव' जिसे हम वर्षोंसे खाते रहे हैं और खाते रहेंगे, बकौल डॉ० रघुवीरके, अब 'उत्कोल' कहायगा। समास व प्रत्यय-उपसर्गका भी इतना भयंकर प्रयोग किया गया है कि गढ़े हुए कई शब्दोंमें न तो उच्चारणकी सुविधा है, न वे स्मरण योग्य ही हैं। उदाहरणके लिए "आहर्ता निर्देष्टव्यः" (Refer to

Drawer) व 'आहार्यमस्यास्तीति' (Drawee)। भारतमें हुंडीका काम वर्षोंसे चल रहा है और Drawer के लिए लेखीवाला (लिखनेवाला) तथा Drawee के लिए ऊपरवाला शब्द प्रचलित हैं। फिर इन नये शब्दोंकी क्या जरूरत? और इन शब्दोंको लेकर वाक्य बनानेकी बात सोचिए तो जरा!

और चूंकि डॉ० रघुबीर भाषाशास्त्री हैं, किन्तु विविध विषयोंके आचार्य नहीं, इसलिए उनके बनाये हुए कई शब्द भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे भले ठीक हों, विषयोंकी दृष्टिसे तो यथार्थ व उपयुक्त नहीं है। उदाहरणके लिए Insurance, Bank, Cash-Book तथा Engineering के उनके क्रमशः 'आगोप' 'अधिकोष' 'रोक पुस्त' तथा 'अभियन्त्रणा' अनुवादोंपर विचार कीजिए।

फिर, आजके जमानेमें बहिष्कारिता व पुरातनताके अन्ध-प्रेमसे प्रगति नहीं होने की। बढ़ती हुई साक्षरता और औद्योगीकरणके साथ-साथ विविध विषयोंमें आम लोगोंकी रुचि बढ़ेगी, और वे अपनी ही भाषामें सामान्य ज्ञान-विज्ञानको समझने-समझानेकी चेष्टा करेंगे और ऐसे समय किसी जन-प्रचलित शब्दको केवल इसलिए त्याज्य मानना कि वह अपभ्रंश है या विदेशी, भाषाके मूल उद्देश्य--जन-सुलभता और जन-सुगमताके विरुद्ध होगा। अतएव, कोई भी शब्द, चाहे वह अहिन्दी प्रान्तका हो या अन्य विदेशी भाषाका, यदि बहु-प्रचलित है और यथार्थ परिभाषा देता है तो उसे ग्रहण करना ही चाहिए।

अभी-अभी श्री राहुल सांकृत्यायनने हिन्दी साहित्य सम्मेलनके तत्वावधानमें परिभाषा-निर्माणकी ओर कुछ योजनापूर्वक कार्य शुरू किया है और उनके एक-दो कोश सामने भी आये हैं। परिभाषा-निर्माणमें उन्होंने जिस पद्धतिका अनुसरण किया है, वह संक्षेपमें इस प्रकार है:--

"किसी भी अंग्रेजी या अन्य पारिभाषिक शब्दका पर्यायवाची पहले प्रचलित देशज शब्दोंमें देखें। यदि वहां न मिले तो नया शब्द बनाया जाय, जिसमें शब्दको प्रयोगमें लानेवाले वर्ग या जनसाधारणका ध्यान रखा जावे। जहाँ केवल सैद्धान्तिक अथवा ज्ञान-विषयक शब्दावली हो (जैसे वनस्पति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान आदि) वहाँ संस्कृतसे सहायता लेना आवश्यक है। इसमें इन बातोंका भी ध्यान रखा जावे--

(क) समान व्युत्पत्तिवाले शब्दोंके ग्रहणमें एकताका ध्यान रखा जावे, परन्तु वह एकता यांत्रिक न होकर भाषाके विकासमें जैसी विकासकी स्वतंत्रता देखी जाती है, वैसी ही हो।

(ख) शब्दोंके निर्माणमें समास करते समय संस्कृत-असंस्कृतका कोई विचार न किया जावे, केवल यह ध्यान अवश्य रखा जावे कि वह जनसाधारणको खटकनेवाला न हो।

(ग) बड़े, सामासिक, उच्चारण-क्लिष्ट शब्दोंकी अपेक्षा व्यस्त, सरल शब्द अधिक उपयोगी होंगे।"

श्री राहुलजीके प्रयत्नमें संकीर्णता नहीं है, न किसी एक विशिष्ट भाषाका अन्ध-प्रेम। किन्तु श्री राहुलजीके प्रयत्न भी केन्द्रीय प्रयत्न नहीं कहा सकते, क्योंकि राष्ट्रीय परिभाषा-शब्दनिर्माणके लिए जिस विशाल कार्यक्रम, व्यापक सहयोग व सर्वग्राही उत्साहकी आवश्यकता है, वह अकेले व्यक्तिसे संभव नहीं। यह बहुत जरूरी है कि यह महत्वपूर्ण, जिम्मेदार व पुनीत कार्य चोटीके विद्वान मिलजुलकर व्यवस्थित रूपसे पूरा करें।

बड़े खेदकी बात है कि केन्द्रीय सरकारने इस ओर कोई कार्य नहीं किया, जब कि कई संस्थाओं व व्यक्तियों द्वारा ऐसा करनेकी प्रार्थनाकी जा चुकी है और स्वयं केन्द्रीय सरकारका अपना यह एक बड़ा कर्तव्य है।

यह निर्विवाद है कि राष्ट्र व जीवनको हम जिस प्रकार ढालना चाहते हैं, उसी प्रकारका साहित्य तथा उसीके अनुरूप पारिभाषिक शब्दोंका निर्माण करना चाहिए। जीवनमें हम सरलता व समन्वय चाहते हैं--व्यक्ति व राष्ट्र दोनोंके जीवनमें। फिर कोई वजह नहीं कि पारिभाषिक शब्दोंको बनाते समय हम इन गुणोंको भुला दें। क्या भाषामें, क्या वेश और रहन-सहनमें, हम जितने सादे, अकृत्रिम और आडम्बरसे दूर रहनेवाले बनेंगे, उतने ही जनताके जीवनके साथ ज्यादा एक रूप हो सकेंगे।

इसके साथ ही एक और बातका ध्यान रखना है कि हिन्दीके पारिभाषिक शब्दोंका उपयोग किसी एक

प्रान्तमें न होकर सारे देशमें होगा। इसलिए जो शब्द हिन्दीकी अधिकांश भाषाओंके निकट होंगे उन्हें ही ग्रहण करना होगा।

ये पारिभाषिक शब्द हमें कुछ तो हिन्दी तथा उसके निकटकी भाषाओंसे मिल सकते हैं, कुछ पुराने ग्रन्थोंकी सहायतासे प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु अधिकतर हमें नये शब्द ही बनाने होंगे। इन शब्दोंको बनाते समय हम अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओंके शब्दोंका अनुवाद करेंगे। अनुवाद ऐसा होना चाहिए जिसमें शब्दोंकी आत्माकी हत्या न हो। हमें शाब्दिक अनुवाद न कर भावानुवाद करना चाहिए और जिन शब्दोंके लिए हमारे यहाँ प्रचलित शब्द हों या पुराने शब्द आसानी से प्रचलित हो सकते हों, उन्हें हम अवश्य लें। उदाहरणके लिए "Tug of war" का अनुवाद 'गजग्राह' ठीक रहेगा, क्योंकि इससे भाव भली प्रकार प्रकट होता है। इसी प्रकार "Death Dance" का अनुवाद 'पतंग-नृत्य' होना चाहिए। 'Storekeeper' का अनुवाद 'भंडार पाल' की अपेक्षा 'भंडारी' अधिक अच्छा होगा। "Book keeping" का 'पुस्तपालन' अनुवाद उचित नहीं, क्योंकि पुस्तक कोई पालनेकी वस्तु नहीं और न पुस्तपालनसे हिसाब व बहीखाते रखनेका भाव ही निकलता है।

जो शब्द हमारे वाङ्मयमें नहीं हैं, वे हमारे जीवनसे प्राप्त हो सकते हैं। यदि किसी लुहारसे पूछा जाय तो वह लोहे और लोहेकी कई क्रियाओं और प्रक्रियाओंके नाम हमें बता देगा। ये नाम निस्सन्देह उसकी बोलीके होंगे और उनका संभवतः देशव्यापी प्रचलन न होगा, पर यदि देशके विभिन्न भागोंसे शब्दोंको एकत्र किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें सादृश्य बहुत है और उनको खोज निकालना बहुत कठिन नहीं होगा। इसी प्रकार कृषि आदि शास्त्रोंके शब्दोंको खोजें। नहीं तो अनुवादके आवेशमें कृषि-प्रधान देश होते हुए भी जब कृषि सम्बन्धी शब्दोंके लिए विदेशी शब्दोंका हिन्दी अनुवाद करनेकी बात सोची जाती है तो क्या कम आश्चर्य होता है!

शब्दोंका चयन करते समय अपभ्रंश, रूढ़िज या देशज शब्दोंका बहिष्कार न हो। शब्दोंके ऐतिहासिक विकासके साथ दुनियाकी और भाषाओंकी भाँति हमारी भाषामें भी भिन्न-भिन्न अर्थ आ गये हैं और भिन्न-भिन्न अर्थोंके लिए भिन्न-भिन्न शब्दोंके ढूंढनेकी तकलीफसे हम बच जाते हैं, जब हम उनके अपभ्रंश या रूढ़िज रूपोंको स्वीकार कर लेते हैं। किसी प्रचलित शब्दका केवल वही अर्थ लेना, जो उसकी मूल धातुसे निकलता या निकाला जा सकता है, दुराग्रह होगा जो भाषा व शब्दनिर्माण कार्यमें नहीं चलने देना चाहिए। भाषाशुद्धिका हठ रखनेवाला पण्डित भाषाको बढ़नेके बजाय उसे सीमित, कुन्द व जकड़ करके उसके ह्रासको ही न्योतेगा।

शब्दोंका निर्माण करनेमें एक यह विचार चल गया दिखता है कि एक कुलके तमाम शब्दोंको किसी एक ही शब्दसे बनाया जावे। डॉ० रघुवीरने Law के लिए 'विधि' शब्द लिया है और उसके कुलके तमाम शब्दोंको 'विधि'से बनाया है। ऐसा करना अनिवार्य नहीं मालूम होता। किसी कुलके तमाम शब्दोंमें कुछ शब्द एक मूलसे बनाये जा सकते हैं और शेष दूसरे आसान व प्रचलित शब्दसे। यहां अव्वल तो Law के लिए कानून सर्वप्रचलित शब्द है और उसके कुलके सारे शब्द 'कानून'के जरिए उसमें संस्कृत व असंस्कृतके प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगाकर बनाये जा सकते हैं। फिर जरूरी हो तो हम दो मूल शब्द लें और कुलके कुछ शब्द 'कानून' और अन्य 'विधि' से बना लें।

शब्दोंके निर्माणमें समास करते समय-प्रत्यय, उपसर्ग आदि लगाते समय या कृदन्त आदि बनाते समय संस्कृत-असंस्कृत का कोई विचार न किया जावे। केवल यह ध्यान रखा जावे कि वह जनसाधारण को खटकनेवाला न हो। उर्दू के भी सरल प्रत्ययों पर उपसर्गों आदि का, जैसे मन्द, दार, ना, बे, गैर आदि का यथास्थान उपयोग किया जावे। 'कानूनदा' या 'कानून' शब्द 'विधिज्ञाता'से अच्छा ही है।

जाहिर है कि नये पारिभाषिक शब्द केवल भारतीय भाषाओंमेंसे ही लिये जावेंगे, किसी भी अभारतीय भाषामेंसे नहीं। इस दृष्टिसे हमें अंग्रेजी शब्दों का मोह छोड़ना होगा। हाँ, अंगरेजीके बहुप्रचलित शब्द जरूर हमारी भाषामें रहेंगे। स्टेशन व स्कूलको बदलना उचित नहीं। किन्तु ऐसे शब्द अधिक नहीं होंगे। शेष नये पारिभाषिक शब्दोंके निर्माणके लिए तो सिर्फ एक ही स्रोत है जो सारी भारतीय भाषाओंके लिए समान है, और वह स्रोत संस्कृत है। शायद उर्दू को छोड़कर भारत की प्रायः सभी भाषाओंने पुराने जमाने में इस स्रोतसे छूटके साथ शब्द लेकर अपना शब्द-भंडार बढ़ाया है और आज भी वे ऐसा कर रही हैं। इसलिए इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब कभी किसी ऐसे विचार को जाहिर करनेके लिए नया शब्द गढ़ना पड़े, जिसके लिए किसी दूसरी भारतीय भाषामें कोई आमफहम शब्द न हो, तब वह संस्कृतके ही समृद्ध स्रोतसे लिया जाना चाहिए। इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इस प्रकार लिये गये शब्द बंगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती व दक्षिण की कुछ भाषाओं को बोलनेवालों को भी ग्राह्य होंगे, क्योंकि इन सब भाषाओं का आधार संस्कृत ही है और यही कारण है कि इस समय भी जो शब्द बंगला, हिन्दी, मराठी आदिमें प्रचलित हैं, उनमेंसे बहुतसे समान हैं। १९३९ में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसने "टेकनिकल शब्दों की एक सूची" नामक २०० पृष्ठोंकी एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें अंग्रेजी शब्दोंके उर्दू, मराठी व हिन्दी पर्याय दिये थे। कलकत्ता विश्वविद्यालयने कुछ पारिभाषिक शब्दोंके बंगला पर्याय प्रकाशित किये हैं। इन दोनोंको देखनेसे ऊपरके वक्तव्यकी पुष्टि होती है।

हाँ, एक बात जरूर है। नये शब्द गढ़नेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि पण्डिताईके दिखावेसे बचा जावे और जहाँ तक मुमकिन हो, गढ़े हुए शब्दोंका मेल बोली जानेवाली भाषाके साथ बैठे और अपने सादेपनके कारण वे सबको पसन्द आवें। यह कहना मुश्किल है कि यह कहाँ तक संभव होगा। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि हमारी कोशिश उसी तरफ होनी चाहिए।

इन सब बातोंपर विचार करनेपर पारिभाषिक शब्द-निर्माणके लिए नीचे दिये गये नियम उचित आधार माने जा सकते हैं:—

(१) हिन्दीमें प्रचलित उपयुक्त शब्दोंको सर्वप्रथम स्थान दिया जाय। अंग्रेजी, उर्दू या अन्य भाषाओंके जो शब्द हिन्दीमें समा गये हैं, वे हिन्दीके ही माने जावें। शब्दोंकी शुद्धिका हठ अनावश्यक है। अपभ्रंश, रूढ़िज, देशज तथा बोलियोंके उपयुक्त शब्दोंको अवश्य चुना जावे।

किसी कुलके तमाम शब्दोंको एक ही मूल शब्दसे बनाना अनिवार्य नहीं। दो शब्दोंको माना जा सकता है, जिसमें एक हिन्दीका हो सकता है और दूसरा किसी अन्य निकटकी भाषा का। हाँ, दोनों शब्द सरल, प्रचलित व उपयुक्त अवश्य हों।

(२) यथार्थ हिन्दी पर्यायके अभावमें उन भाषाओंसे जो हिन्दीके निकट हैं, जैसे मराठी, गुजराती, बंगाली, उर्दू से उचित प्रचलित शब्द लिये जावें। प्रान्तीय भाषाओंसे हिन्दीको बहुत कुछ लेना है, इसका ध्यान अवश्य रखा जावे।

(३) पुराने तथा नये ग्रन्थोंसे संस्कृतके विद्यमान उपयुक्त शब्द चुने जावें। उनको उच्चारणकी दृष्टिसे सरल बनाया जा सकता हो तो बनाया जावे।

(४) नये शब्द संस्कृतके स्रोतसे बनाये जावें:—

ऐसे शब्द बनाते समय शब्दको प्रयोगमें लानेवाले वर्ग या जनसाधारणका ध्यान रखा जावे। जहाँ केवल सैद्धान्तिक अथवा विज्ञान-विषयक शब्दावली हो (जैसे वनस्पति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान आदि) वहाँ संस्कृतसे सहायता लेना आवश्यक है ही। इसमें इन बातोंका ध्यान रखा जावे:—

(अ) समान शब्दोंके ग्रहणमें एकताका ध्यान अवश्य रखा जावे, परन्तु वह एकता न तो यांत्रिक हो, न अनिवार्य। भाषाके विकासमें जिस स्वतंत्रताकी अपेक्षा है उसका मार्ग अवरुद्ध न हो।

(आ) शब्दोंके निर्माणमें समास करने, प्रत्यय-उपसर्ग आदि लगाने या कृदन्त आदि बनानेमें संस्कृत-असंस्कृतका कोई विचार न किया जावे, केवल यह ध्यान रखा जावे कि वह जन-साधारणको खटकनेवाला न हो। उर्दू के भी सरल प्रत्यय व उपसर्गोंका, जैसे मन्द, बे, दार, ना, गैर आदिका यथावश्यक उपयोग किया जावे।

(५) बड़े, सामासिक, उच्चारण-क्लिष्ट शब्दोंकी अपेक्षा छोटे, व्यस्त, सरल शब्द अधिक उपयोगी होंगे। सरलता, स्मरणयोग्यता व प्रचलनकी सुविधाका हमेशा ध्यान रखा जावे।

———————

मध्ययुगके हिन्दी-साहित्यका अध्ययन

रामपूजन तिवारी

भारतवर्षमें मध्ययुगको लेकर कई एक मत प्रकट कये गये हैं। यूरोप के मध्यकाल का समय अब ायः निर्विवाद मान लिया गया है। यूरोपके इतिहासका ध्यकाल पश्चिमी रोम साम्राज्यके विनाशकालसे (सन् ७६ ई० से) आरंभ होकर तुर्कों द्वारा कुस्तुनतुनियांकी वजयके समय (सन् १४५३ ई०) समाप्त होता है। रन्तु भारतवर्षमें मध्ययुगके काल-निर्धारणको लेकर विद्वानोंमें पूरा मतभेद है। के०डी०बी० कार्डरिंगटनके नुसार प्राचीन युगकी समाप्ति गुप्तवंश तक हो जाती , लेकिन सी० वी० वैद्यने इस कालको सन् ६००ई० े सन् १२०० ई० तक माना है। डा० ईश्वरीप्रसादकी ायमें सन् ६४७ ई० अर्थात् महाराजा हर्षकी मृत्युसे ेकर मुगलोंके भारत-विजयके अवसर तक भारतीय तिहासका मध्ययुग माना जाना चाहिए।

इतिहासमें इस प्रकारका काल-निर्धारण एक प्रकारसे भ्रामक है। ऐसा भी होता है कि निर्दिष्ट कालमें जिन विशेष प्रवृत्तियोंको देखकर नामकरण किया जाता है, उनसे भिन्न प्रवृत्तियोंके भी दर्शन उस कालमें कभी-कभी हो जाते हैं। फिर भी प्रमुख रूपसे एक विशेष प्रवृत्तिका ही उस कालके भीतर आधिपत्य रहता है। कहीं कहीं पर नवीनता होनेके बावजूद भी मुख्य रूपसे उस कालकी प्रवृत्ति ही प्रबल रहती है।

मध्ययुगका मतलब उस कालसे होता है जब कि सब दिशाओंमें ह्रासके चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। पहलेके पंडितों और शास्त्रोंकी बातको प्रमाण मानकर उनपर निर्भर करनेकी प्रवृत्ति विचारकोंमें दीख पड़ती है। जो वस्तु प्राचीन पंडितों और बुद्धिजीवियोंके लिए परीक्षण और चिंतनका विषय होती है, वही इस कालमें प्रमाण स्वरूप हो जाती है, और उस कालके पंडितोंका काम टीकाओं तक ही सीमित रह जाता है। स्वतंत्र चिंतनका स्थान प्राचीनोंके मतका प्रतिपादन ले लेता है। जहाँ तक भारतीय इतिहासका संबंध है, हमें ह्रासके चिन्ह गुप्तकालके बादसे ही परिलक्षित होने लगते हैं। गुप्तवंशका शासन-काल (सन् ३२० ई० से ४५५ ई० तक) भारतीय इतिहासका गौरवमय युग रहा है। शासनकी सुदृढ़ता, कला-साहित्यका उत्कर्ष इस हद तक पहुँचा था कि इसे लोग भारतीय इतिहासका 'स्वर्ण युग' कहते हैं। महाराजा हर्षवर्धनका काल मानो गुप्तकालीन सभ्यताकी अन्तिम झलक सा प्रतीत होता है। इसके बादकी चार शताब्दियों तक किसी केन्द्रीय शक्तिके अभावमें चारो ओर विश्रृंखला और अराजकताका ही साम्राज्य रहा। मुसलमानोंके आक्रमणके अलावे छोटे-छोटे राजाओंका आपसका संघर्ष बना रहा। ईसाकी सातवीं शताब्दीके बाद बौद्ध धर्मका प्रभाव जो उसके पहले तक काफी प्रबल था, धीरे-धीरे कमजोर पड़ता गया। परन्तु बादके धर्ममत, साहित्य आदि पर इस धर्मने गहरा प्रभाव डाला है। महायानकी वज्रयान और सहजयान शाखाका प्रभाव लोकमत पर अत्यन्त ही व्यापक रहा है। उस समय मंत्र, तंत्र, जादू, टोनाके प्रभावसे शायद ही कोई मतवाद अछूता रहा हो। उस समयका सारा इतिहास अन्धकारमय रहा है। स्वतंत्र चिंतनसे उद्भूत साहित्यका स्थान उस समयमें टीका तथा निबंध-साहित्य ने ले लिया, धर्मके क्षेत्रमें बुद्धि और हृदयका स्थान बाह्याडम्बर और अन्धभक्तिने ले लिया, और राजनैतिक स्वतन्त्रताका स्थान दासताने ले लिया।

जहाँ तक हिंदी भाषाभाषी क्षेत्रका संबंध है, ह्रासके चिन्ह सातवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे ही दीख पड़ने लगते हैं, और कम या बेशी इसी प्रकारकी अवस्था उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्ध तक रही।

अध्ययनकी सुविधाके लिए इस कालको दो हिस्सोंमें बांट सकते ह। पहला काल सन् ६४७ ई० से सन् १५२६ तक और दूसरा सन् १५२६ ई० से १८५७ तक। सबसे पहले पूर्व मध्ययुगकी प्रकृतियोंकी जांच करें। स्वतंत्र चिंतनका अभाव इस कालमें अत्यन्त खटकता है। कलाके क्षेत्रमें नाग--वाकाटक--गुप्त युगमें जिस सजीवता और नये जीवनका परिचय मिलता है वह बादमें देखनेको नहीं मिलता। अजन्ताके भीति-चित्रोंमें भावाभिव्यञ्जनाके उत्कृष्ट उदाहरण पाये जाते हैं। अलंकरणकी जो प्रवृत्ति बादमें पायी जाती है वह इस युगके चित्रोंमें नहीं पायी जाती। भावाभिव्यञ्जनाकी कमी इस युगमें अलंकार-विधानके द्वारा पूरीकी गयी। उदयगिरिमें पायी गयी बाराह-मूर्ति अथवा भेलसामें पायी गयी गंगा मूर्तिकी तुलनामें बादकी मूर्तियों और चित्रोंमें न वह तेज है और न वह सौन्दर्य। मध्ययुगमें स्थापत्य और मूर्तिकलामें लालित्य और अलंकारप्रियता तो अवश्य पायी जाती है, लेकिन गुप्तकालीन सादगी, भावाभिव्यक्ति और ओजका उनमें नितान्त अभाव है। धर्मके क्षेत्रमें नाथपंथियों और तांत्रिकोंकी मनोवृत्तिमें बादमें चलकर जो परिवर्तन पाया जाता है वह अत्यन्त ही मनोरंजक है। ये सभी पंथ वेद-विरोधी थे। इन लोगोंने वेदको प्रमाण नहीं माना और न ब्राह्मण-धर्मकी श्रेष्ठता मानी। लोक-भाषामें ही अपने मतोंका प्रचार किया। लेकिन बादमें चलकर जब ब्राह्मणमत प्रबल होता गया और इस्लामका प्रभुत्व देशमें हुआ, तब प्रायः सभी सम्प्रदाय इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टामें लगे कि उनके सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत हैं। ग्यारहवीं शताब्दीके बाद तो यह प्रवृत्ति और बढ़ती गयी। इसी प्रकारसे संस्कृत साहित्यमें भी अवनतिके चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। लोक-जीवनसे उसका संबंध टूटता सा गया। कल्पनाकी उड़ान, अलंकारोंकी योजना, छन्दोंका वैचित्र्य उस कालके काव्य-ग्रन्थोंकी खास विशेषताएँ हैं।

मुसलमानोंके आक्रमणके बहुत पहलेसे ही लोक-भाषामें साहित्य की रचना शुरू हो गयी थी। आलोच्य कालमें इस साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। डिंगल कवियों की रचनाएँ वीर गाथाओंसे भरी पड़ी हैं। निर्गुणोपासक संतों की वाणियाँ तथा सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानके काव्य लोकभाषाके द्वारा ही जनता तक पहुँचे। भक्ति की लहर भी इसी कालमें दक्षिण भारतमें आयी जिसने सारे समाज को अनुप्राणित किया। इसका अत्यन्त ही गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। लोक-भाषा, विचार आदि की जो परंपरा चली आ रही थी उसको मुस्लिम विजयके रूपमें एक नयी शक्ति, एक नयी विचार-धारा का सामना करना पड़ा। मुसलमानोंके धर्म और विचारके साथ यहाँ की विचार-परंपराका धीरे-धीरे संपर्क बढ़ता गया। बहुतसे मुसलमान कवियोंने भी यहां की लोक भाषामें काव्य-रचना की। इस कालके हिन्दी साहित्यका अध्ययन मनोरंजक तो है ही, परन्तु खतरेसे भी खाली नहीं है। कबीर की रचनाओं को लेकर विद्वानोंने कई एक प्रकार के मत प्रकट किये हैं। किसीने उनमें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापन की चेष्टा पायी है तो किसीने उनकी बातों को 'मुसलमानी धर्म-प्रचार का हथकंडा' समझा है। किसीने कबीर की वाणियोंमें विदेशी इस्लाम धर्म का प्रभाव खोज निकाला है तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीके मतसे "यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तोंकी वाणियोंकी बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है, और बौद्धधर्मके अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियोंके पदादिसे उसका सीधा संबंध है।" इसी प्रकारसे जायसीके संबंधमें भी परस्पर-विरोधी बातें कही गयी हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि इस्लाम का प्रचार करनेके लिए ही कुतुबन, जायसी आदिने हिन्दुओंके यहां प्रचलित प्रेम-गाथाओं को चुना और प्रच्छन्न रूपसे इस्लाम-धर्म की खूबियों का बखान करते रहे। पंडित रामचन्द्र शुक्लके अनुसार "अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने (इन कवियोंने) प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीनव-दशाओंको सामने रखा जिनका मनुष्य मात्रके हृदय पर एक सा प्रभाव दिखायी पड़ता है। हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटानेवालोंमें इन्हींका नाम लेना पड़ेगा।" ए० जी० शिरेफ महोदयने इन्हें, एकताका पैगम्बर माना है। वे मानते हैं कि जायसीने हिन्दू और मुसलमानोंमें भेद नहीं माना।

सन् १५२६ ई० से सन् १८५७ ई० तकके कालमें मुगलों का भारतवर्ष पर अधिकार, उनका उत्कर्ष और

पतन तथा यूरोपीय शक्तियों का भारतवर्षमें प्रवेश और अंग्रेजों का प्रायः सारे भारत पर आधिपत्य हो जाता है। अंग्रेजों का भारतवर्षमें आगमन और शासन भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। जिस सामन्तशाही आर्थिक प्रणालीके आधार पर इतने लम्बे काल तक समाज का गठन हुआ था, उसका बंधन धीरे, धीरे कमजोर पड़ने लगा। उसके स्थान पर पूंजीवादी प्रणालीने अपना अधिकार जमाना आरंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप समाज के भीतर एक नयी चेतना आयी। राष्ट्रीयता की भावना इस कालके बाद उत्तरोत्तर व्यापक होती गयी। इसने सारे समाजको नयी दिशाकी ओर मोड़ दिया। एक राष्ट्रकी भावना जैसी उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे देखनेको मिलती है, वैसी भारतीय इतिहासमें पहले कभी देखनेको नहीं मिली। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सुधारोंकी ओर लोगोंका ध्यान प्रबल रूपसे आकृष्ट हुआ। हरिश्चन्द्र कालीन साहित्यमें इस नयी चेतनाके हमें दर्शन होते हैं। उन्नीसवीं सदीके पहले दो-तीन सौ वर्षोंका काल जिसे रीतिकालके नामसे पुकारा जाता है, उसका वातावरण ही भिन्न है। शृंगार परक कविताएं जो दरबारमें पढ़ी जा सकें और जो आश्रयदाताको प्रसन्न कर सकें, कवियोंका आदर्श बन गयीं। नायक-नायिकाके भेद, उनकी शृंगार-चेष्टाओं आदिकी ओर ही कविका आकर्षण था। पुराने संस्कृत ग्रन्थोंके आधार पर अनेक लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये। साधारण जन-समुदायके सुख-दुःख, आहार-विहार, आर्थिक-सामाजिक समस्याओंकी ओर देखनेकी जैसे इन कवियोंको फुरसतही नहीं थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीका काल जैसे इस मरुभूमिमें ओएसिसकी तरह लगता है। रामको नायक मानकर एक तरफ तुलसीदासने 'रामचरितमानस' की रचनाकी तो दूसरी ओर सूरदासने कृष्ण-लीलाका वर्णन किया। भक्तिरसकी जो सरस धारा इस कालमें बही, उसका प्रभाव आजतक समाजमें है। लगभग डेढ़ हजार वर्षोंका यह काल कुछ ऐसा रहा जिसमें सारे समाजकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकी। इस बीच भले ही बाह्याचार और अंधविश्वास पर कोट करनेवाली कबीरकी 'अटपटी बानियाँ' सुननेको मिलती हैं, अथवा तुलसी, सूरकी सरस, हृदयस्पर्श करनेवाली मधुर भक्तिकी धारा बहती दिख पड़ती है, फिर भी वह चेतना, वह जागरूकता जो एक राष्ट्रमें स्वाभिमान तथा सारे समाजमें मनुष्यताका भाव पैदा करती है, उसका नितान्त अभाव है।

इस कालका अध्ययन हमारे लिए कई दृष्टियोंसे महत्त्वका है। यह एक हजारसे अधिक समयका काल भारतीय इतिहासके गौरवपूर्ण कालसे वर्तमानको मिलाता है। इस ह्रासके युगमें न जाने कितने मतमतांतर पैदा हुए, विलुप्त हो गये। कितनी विचार-धाराओंका जन्म हुआ और वे नष्ट हो गयीं। फिर भी वे अपनी छाप छोड़ गयी हैं जिनका अच्छा या बुरा असर हमारे ऊपर है। अभी तक इतिहासके अध्ययनका ढंग कुछ इस प्रकारका रहा है जो सिर्फ राजाओं तथा सामंतोंकी लड़ाइयों, उनके आपसी बैर, उनके अन्तःपुरकी प्रेम-लीलाएं और षड्यन्त्रतक ही सीमित रहा है। यद्यपि राजा और सामन्त उस समयके समाजके केन्द्रमें थे, फिर भी अध्ययनके इस ढंगसे समाजके एक बहुत बड़े समुदायके जीवन, उसकी आशा-आकांक्षाओं, उसके रीति-रस्म आदिपर बिल्कुल प्रकाश नहीं पड़ता। बहुतसे मत-मतांतरोंका अध्ययन भी इसी प्रकारसे एकांगी रह जाता है। उसके दर्शन तथा उसकी संप्रदायगत विशेषताओं तक ही वह सीमित रह जाता है। साहित्यके अध्ययनसे भी इसी संकुचित रीतिको अपनाया जाता है। छंद, अलंकार और रसकी चर्चा कर ही अध्ययन समाप्त कर दिया जाता है।

अध्ययनकी उपर्युक्त प्रणाली अपने स्थानपर उचित और आवश्यक है, लेकिन उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अध्ययन ही अपने आपमें साध्य बन जाता है। उसका व्यापक अर्थ हमारे सामनेसे ओझल हो जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि प्राचीन इतिहास और साहित्यके अध्ययनका मुख्य उद्देश्य है मनुष्यको समझना, जिसमें कि वह अपनी सफलताओं-असफलताओं को ठीक ठीक समझे और उनसे भविष्यके लिए शिक्षा ग्रहण करे। साहित्य और इतिहासके अध्ययनको साध्य मानकर संतोष कर लेना हमारी दृष्टिको संकुचित कर देना है। समाज कैसा रहा है अथवा वर्तमानमें कैसा है, इससे बढ़कर आवश्यक है कि उसे कैसा होना

चाहिए। बहुत तरहकी भ्रान्त धारणाएं आज हमारे समाजमें प्रचलित हैं, जिन्हें हम सनातन समझकर अपने हृदयसे चिपकाये हुए हैं और जिनसे हमारी प्रगतिमें बाधा पड़ रही है। इतिहासके गलत अध्ययनसे उत्तर भारतके अधिकांश लोगोंमें आर्योंकी श्रेष्ठताको लेकर जो भ्रमपूर्ण दांभिकता थी, उसे मोहेनजोदड़ो और हड़प्पाकी खुदाईने चूर्ण-विचूर्णकर दिया है। मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा कालीन सभ्यता कितनी विकसित थी, इसका पता उस समयकी पायी शिवमूर्तियां, सिक्कोंपर अंकित साँड़ आदिसे चलता है। इस देशमें न जाने कितनी जातियां आयीं, कितने संघर्ष हुए और कितनी जातियाँ अपनी सभ्यता, अपने आचार-विचार, धर्म आदिके साथ यहाँ बस गयीं। आज जिसे हम भारतीय संस्कृतिकी संज्ञा देते हैं वह न जाने कितनी सभ्यताओं और संस्कृतियोंके समन्वयका फल है। तथाकथित पिछड़ी जातियोंमें अनेक ऐसी जातियाँ हैं जो पहले उच्च श्रेणीकी कही जानेवाली जातियोंके ही भाई-बन्धु थीं। बहुतसे ऐसे आचार समाजमें प्रचलित हैं जिन्हें हम सनातन समझते हैं, और जिन्हें बुरा समझने पर भी छोड़नेको तैयार नहीं होते, यद्यपि वे बहुत ही हालके हैं। अतएव हमारा अध्ययन मनुष्य और उसके भविष्य को ही लेकर होना चाहिए, अन्यथा अत्यधिक परिश्रम द्वारा किया हुआ अध्ययन भी निरर्थक और निष्फल ही साबित होगा। मुख्य बात यह है कि पांडित्य-प्रदर्शनके लिए अध्ययनको जटिल नहीं बना देना चाहिए, बल्कि मनुष्यके भविष्यको ध्यानमें रखते हुए उसे जितना सरल और सहल बनाया जा सकेगा, उतना ही वह वास्तविक और कल्याणकारी होगा।

अध्ययनके लिए जितनी भी सामग्रियां उपलब्ध हैं, उनके उपयोगमें पूरी सावधानी बरतनेकी आवश्यकता होगी, विशेषतया सांप्रदायिक साहित्यमें। उनमें कितना विश्वसनीय और कितना काम लायक है, इसपर पूरा ध्यान रखना होगा। अपने पंथोंकी श्रेष्ठता दिखलानेके लिए उन पंथोंके परवर्ती साहित्यमें इतनी मनगढ़ंत कहानियाँ गढ़ ली गयी हैं कि असली बात तक पहुँचना कठिन हो जाता है। परवर्ती कबीर पंथी साहित्यमें कबीरके साथ मुहम्मद, गोरखनाथ और नानकसे मुठभेड़का जिक्र आता है जिसमें कबीरके सामने सभी पराजित होते हैं। गोरखनाथका समय विद्वानोंने नवीं-दसवीं शताब्दी माना है जब कि कबीर चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। अतएव विभिन्न सम्प्रदायों और मतमतांरोंकी जो परंपरा उनके साहित्यमें मिलती है, उससे किसी प्रकारकी इतिहासकी सामग्री ढूंढ़ निकालना कम हिम्मत का काम नहीं है! फिर भी इस साहित्यकी छानबीनसे बहुत सी बातोंका पता लग जाता है। दूसरी दूसरी चीजें जिनका उपयोग इस अध्ययनके लिए हम कर सकते हैं, वे हैं:—उस कालकी अन्य भाषाओंकी साहित्यिक कृतियाँ, तत्कालीन शिलालेख और मूर्तियाँ आदि। विदेशी यात्रियोंका यात्रा-विवरण भी इसके लिए बड़े कामका साबित होगा। लोकगीत तथा लोकमें प्रचलित बहुतसे आचार-विचारोंको भी बाद नहीं दिया जा सकता।

...ता पहले ही प्राप्त कर ली थी। लेकिन मछलियों ...राज्य भी खतम हो गया।

यह विश्वास किया जाता है कि परदार जीवोंके ...तल्वमें आये लगभग २५ करोड़ वर्ष बीत गये। शायद ...कोटिके ऐसे पखेरू सामाजिक जीव जिनसे मानवने ...गत जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा पायी, भविष्यमें ...पर अपने राज्य आने की अभी प्रतीक्षामें हैं। ...चीटियाँ और मधुमक्खियाँ किसी दिन बौद्धिक ...के उस प्रकाश को भी प्राप्त कर लेतीं जिन्हें मनुष्य ...पने युगमें प्राप्त कर लिया है, और तब अगर इतिहास को उसकी यथार्थतामें वे अपने निजी दृष्टिकोणसे देख पातीं तो वे स्तनधारी प्राणियोंके प्रादुर्भाव और स्तनधारी मानवके पृथ्वी पर इस अल्पकालीन प्रभुत्व को देखतीं जो अप्रासंगिक दृश्योंसे भरा हुआ है--प्रचण्ड क्रोध और कोलाहलपूर्ण, तथा निरर्थक व महत्वहीन।

हमारी पीढ़ी को इस युग की यह चुनौती है कि हम इसपर ध्यान दें कि इतिहास की यह व्याख्या कहीं सत्य न हो जाय।

अनु०—केशव पाण्डेय

नयी रेखाएँ

महेन्द्र भटनागर

इन धुँधली-धुँधली रेखाओं
पर फिर से चित्र बनाओ ना!

दुनिया पहले से बदल गयी,
आभा फैली है नयी-नयी,
यह रूप पुराना नहीं-नहीं!

आँखों से ओझल है कलकी
संस्कृति की गंगा का पानी,
फीकी-फीकी सी लगती है
गत वैभव की कथा कहानी,

इनमें मन की झूठी कल्पित
बातों को सोच मिलाओ ना!
इन धुँधली-धुँधली रेखाओं
पर फिर से चित्र बनाओ ना!

नव अंकुर फूट रहे रज से
भर कर जीवन की हरियाली,
निश्चय है, फूटेगी नभ से
जन-युग के जीवन की लाली,

निस्सार, मिटा, जर्जर, खोया
फिर आज अतीत बुलाओ ना!
इन धुँधली-धुँधली रेखाओं
पर फिर से चित्र बनाओ ना!

उर्दू काव्य की एक नयी धारा

मोतीसिंह

देश की राजनैतिक परिस्थितिके कारण आज हमारे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र कटुता और सन्देहसे भर गया है। जिन क्षेत्रोंमें किसी प्रकार की सीमा और दीवालें नहीं थीं वहाँ भी ऊँची ऊँची अलंघ्य दीवालें बना दी गयीं है। साहित्य और कला प्रायः सभी क्षुद्र और संकीर्ण सीमाओंसे मुक्त रहती है। सीमित और बँधे हुए आकाशमें कलाके मुक्त विचरण न करनेसे पिंजर-बद्ध पक्षी की तरह हो जाती है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारी आज की स्थिति यही है। हिन्दी और उर्दू जो पहले एक दूसरेके इतनी निकट थीं, इनका निरन्तर पार्थक्य बढ़ता जा रहा है। हिन्दीके लेखक यह नहीं जानते कि उर्दूमें कौन-कौन प्रधान धाराएं प्रवाहित हो रही हैं और न उर्दूके लेखक हिन्दीके सम्बन्धमें कोई ज्ञान रखते हैं। यह परिस्थिति हमारी मानसिक जड़ता और राष्ट्रीय पंगुता का सूचक है।

चाहे आज राजनैतिक कारणोंसे हिन्दी और उर्दूके बीच की खाईं कितनी भी चौड़ी क्यों न हो जाय, किन्तु यह एक निर्विवाद बात है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा की दो विभिन्न शैलियाँ हैं। शायद हिन्दी और उर्दू का यह विरोध उठा ही नहीं होता यदि लिपि का भेद न रहा होता। चाहे जो हो, हिन्दी और उर्दू भले ही विभिन्न दिशाओंमें चलती रहें, किन्तु इनका सम्बन्ध स्थायी है और राजनीति तथा धर्म इनको एक दम पृथक नहीं कर सकते।

यदि यह मान भी लिया जाय कि हिन्दी और उर्दू का पृथक् अस्तित्व है और यह ठीक है, फिर भी हिन्दी और उर्दूके बीच विचार-विनिमय का कोई मार्ग चाहिए। इससे दोनों ही साहित्यके कार्यकर्त्ताओं को एक दूसरे की गतिविधि का पता रहेगा और वे उससे लाभ उठाने का यत्न करेंगे।

हिन्दीमें पहले 'हंस' के द्वारा विभिन्न भाषाओंके साथ हिन्दी का सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न किया गया था, किन्तु 'हंस' का यह कलेवर अधिक दिनों तक न बना रहा। बाद उसका कहिये कायाकल्प हुआ। उसने अपना प्राचीनता द्योतक परिधान उतार फेंका और शत प्रतिशत कामरेड हो गया। किन्तु हिन्दी साहित्य की वह आवश्यकता बराबर बनी रही और अब भी बनी है।

अभी कुछ दिन पूर्व श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की एक पुस्तक 'उर्दू काव्य की एक नयी धारा' हिन्दी एकेडेमीसे प्रकाशित हुई थी। इसमें दिये हुये कवियों की रचनाएं पढ़कर एकबार हिन्दी-पाठकों का दृष्टिकोण ही शायद नया हो जाय। उर्दूके कवि साहित्यके द्वारा उर्दू-जगतमें कितनी सहिष्णुता, प्रगतिशीलता और हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की उदात्त भावना का प्रचार कर रहे हैं, यह हम हिन्दी पाठकोंके लिए आदर्श की बात है। उर्दूके कवियोंने आशातीत सहानुभूतिके साथ भारतीय विषयोंका अत्यन्त मनोग्राही वर्णन किया है। हिन्दीमें मुसलिम जीवन को छूते हुये सहानुभूति पूर्ण कोई आधुनिक काव्य-रचना हुई हो, हमको नहीं मालूम। पता नहीं हमारा दृष्टिकोण क्यों इतना सीमित और बँधा रहा और अभी तक है?

गद्यमें प्रेमचन्द्र जी के उपन्यासोंमें मुसलिम जीवन की कुछ झाकियाँ मिलती हैं और श्री सुमित्रानन्दन पन्तने 'ज्योत्स्ना' नाटकमें एक ऐसे विश्व की कल्पना की है, जिसमें सभी जातियोंके आपसी बंधन और विकार मिट जायँगे, किन्तु पन्त का वर्णन और चित्रण तो एक दम कवि की कल्पना मात्र है!

उर्दूके आधुनिक कवि, इक़बालसे आज तक सभीके दृष्टिकोणमें सच्ची भारतीयता और सहिष्णुताके दर्शन होते हैं। हिन्दीके कवि अधिकतर या तो व्यक्तिवादी

है या राष्ट्रवादी हैं। उनमेंसे बहुत कमने समाजके माध्यमसे व्यक्ति या राष्ट्र पर विचार करने का प्रयत्न किया है। शायद उनको यह दृष्टिकोण संकुचित प्रतीत हुआ हो। किन्तु उर्दू कवियोंमें यह प्रयत्न प्रधान रूपसे लक्षित होता है। इक़बाल की निम्नांकित कविता देखिए। एक उदात्त राष्ट्र-धर्म की कैसी विशद और सच्ची कल्पना है और कवि अन्तर्तमसे आपसी भेद-भाव और संकीर्णता को मिटा देनेके लिए कितनी जोरदार अपील करता है:--

सच कहदूँ ऐ बिरहमन, गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमकदोंके बुत हो गये पुराने॥
अपनों से बैर करना तूने बुतों से सीखा।
जंगो-जदल सिखाया वाइज को भी खुदा ने॥
तंग आके मैंने आखिर दैरो हरम को छोड़ा।
वाइज़ का वाज़ छोड़ा, छोड़े तेरे फिसाने॥
पत्थर की मूरतों में समझा है तू खुदा है।
खाके वतन का मुझको हर जर्रा देवता है॥
आ गैरियत के पर्दे इक बार फिर उठा दें।
नक्शे दुई मिटा दें फस्ले बहार ला दें॥
सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती।
आ इक नया शिवाला इस देश में बना दें॥
दुनिया के तीरथों से ऊँचा हो अपना तीरथ।
दामाने आसमा से उसका कलश मिटा दें॥
हर सुबह उठ के गायें मन्तर वह मीठे-मीठे।
सारे पुजारियों को मय प्रीति का पिला दें॥
शक्ती भी, शान्ती भी, भक्तों के गीत में है।
धरती के वासियों की मुक्ती भी प्रीत में है॥

अपने दुर्गुणों की तरफ कितनी प्रेम भरी झिड़कन है:--

'अपनों से बैर करना तूने बुतों से सीखा॥'

और अन्तमें पारस्परिक प्रेमके लिए सच्ची अपील है, क्योंकि 'धरतीके वासियों की मुक्ती भी प्रीत में है।' भारत और उर्दू का यह महान दुर्भाग्य था कि 'सारे ज़हाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' का यह गायक अन्तमें साम्प्रदायिकता का अनुयायी हो गया। यदि हम इकबाल की इन राष्ट्रीय रचनाओं को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि कविके हृदयमें देशके लिए और हिन्दू-मुसलिम प्रेमके लिए जैसे एक तीव्र आग सुलग रही थी।

उर्दू के बहुतसे कवियोंने हमारे सामाजिक जीवन पर भी दृष्टिपात किया है और जिस दृश्य पक्षपर उनकी दृष्टि और कल्पना अटक गयी, उसका वर्णन अत्यन्त भावुक और हृदयग्राही हुआ है। उनको पढ़कर कौन कह सकता है कि उनके हृदयमें धार्मिक विद्वेष या कटुता और संकीर्णता है। सागर निज़ामी की 'पुजारन' शीर्षक कविता देखिए। कितना भाव-पूर्ण और रंगीन चित्रण है। यद्यपि कहीं कहीं पुजारिन का स्वरूप उसके युवा-भारसे ढँक सा गया है। किन्तु इसमें कवि का बुद्धि-दोष नहीं, किन्तु भाव-प्रवणता का दोष है:--

"सीधी साधी, भोली-भाली बात निराली गात निराली।
गर्दनमें तुलसी की माला, दिलमें इक खामोश शिवाला,
ओठों पर पैमाने[1] रक्सा[2], आँखों में मैखाने रक्सा।"

यौवन की आँखों की नवीन कल्पना देखिए:--
आँखों में जमुना की मौजें, बालों में गंगा की लहरें।
नूर तेरे रुख्सार हँसी[3] पर, रंगी टीका पाक जबीं[4] पर।
जैसे फलक पर सुब्ह का तारा रौशन-रौशन प्यारा-प्यारा।
शर्मीली मासूम निगाहें गोरी गोरी नाजुक बाहें।

यह स्वाभाविक है कवि ऐसी पुजारन पर मुग्ध हो जाय। वह प्रेमोच्छ्वास में निवेदन करता है:--

तुझको दिलके गीत सुनाऊँ, फिर चरनोंमें सीस नवाऊँ।
तीन लोक आकाश झुका दूँ, धरती की शक्ती लचका दूँ।

किन्तु यह प्रेमोच्छ्वास वैयक्तिक सीमा को लाँघ सारे विश्व को अपनेमें आलिंगित कर लेना चाहता है। वह सारे जगत को स्वर्गीय प्रेमके धागेसे बँधा देखना चाहता है--

एक पुजारन, प्रेम पुजारन, प्रीत की रीतें कर दे जारी।
देश में प्रीत औ प्यार को भर दें, प्रेमसे कुछ संसार को भर दें।
लोभ मोहके बुत को तोड़ें, पाप क्रोध का नाम न छोड़ें,
प्रेम का रस दौड़े रग-रगमें, हो इक प्रेम की पूजा जग में।
दोनों इस धुनमें मरजायें, तीरथ एक अजीब बनायें।

१--मदिरा का प्याला २--नृत्य करता हुआ।
३--सुन्दर कपोल ४--पवित्र मस्तक

इसके अतिरिक्त सागर निजामीने गाँधीजी पर भी अत्यन्त भक्ति तथा भाव-पूर्ण रचना की है:--

कैसा सन्त हमारा गांधी, कैसा सन्त हमारा।
भारतके आकाश पै है वह एक चमकता तारा।
सचमुच ज्ञानी सचमुच मोहन सचमुच प्यारा प्यारा॥

उसी तरह हफीज जालंधरी की रचनाओंमें नवीन उपमाएं और रूपक जिनसे उनकी उदार बुद्धि का परिचय मिलता है, मिलती हैं। कृष्णके अनेक रूपों और कार्योंके रूपक उन्हें विशेष प्रिय हैं। इसी तरह मुहम्मद दीन 'तासीर' की देवदासी कविता भी उनकी उदारता का स्वच्छ दर्पण है। देखिए देवदासीके स्वरूप और भाव-भंगी का चित्रण:--

बाल सँवारे माँग निकाले दुहरा तेहरा अंचल डाले।
नाक पै बिन्दी कान पै बाले, जगमग जगमग करने वाले।
माथे पै चन्दन का टीका, आँखमें अंजन फीका फीका।
शबगूँ काली काली आँखें, मदमाती मतवाली आँखें।
जोबन की रखवाली आँखें।
आँख झुकाये लट छिटकाये, जाने किसकी लगन लगाये।
बिरह उदासी दर्शन प्यासी, देवादासी नदी किनारे
प्रेम दुआरे तन मन हारे,
यों ही अपने आप खड़ी है, बुत बन कर चुपचाप खड़ी है।

यही नहीं कि अधिकांश उर्दू के आधुनिक कवियोंने केवल उन्हीं दृश्यों का वर्णन किया है जहाँ पर उनकी वृत्ति रमी है, वरन् उनकी कवितामें हमें यत्र तत्र प्राचीन भक्त कवियों की भी छाप दिखलायी पड़ती है। उनमें भक्ति की प्रेरणा भी मिलती है:--

पूरम पार भरी है गंगा
पूरम पार भरी है गंगा, खेवन हारे हौले हौले।
मेघ प्रेम का छाया मनमें प्रीतम बोल पपीहा बोले।
वर्षा रूत और रात अँधेरी नाव प्रेम की खाय झँकोले।
सँभल सँभल रे प्रेमके योगी, मन की गाँठन कोई खोले।
देख देख अनमोल समय है, अपने मन ही मन सेले।

'वकार' अम्बावली की रचना 'पिया बिनु नागिन काली रात' तो सूरदासके प्रसिद्ध पद का स्मरण दिला देती है।

प्रस्तुत छोटेसे लेखमें तो केवल उर्दू कवियों की उदार-वृत्ति की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है। उद्धरणोंसे यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि इन कवियों की भाषा भी कितनी सरल और सुबोध है। क्लिष्ट उर्दू शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम है और कहीं तो व्यावहारिक साहित्यिक हिन्दी की सीमा तक आ जाती है।

हम हिन्दीके पाठकोंके लिए उर्दू कवियों का यह प्रयास अनुकरणीय है। हिन्दी को अभी अनेक क्षेत्रोंमें अन्य भाषाओंके समकक्ष पहुँचना है। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दीके साहित्यिक अपने विचार और दृष्टि को प्रशस्त बनायें, और जीवन और जगतके प्रत्येक कोनेसे भाव और विचारों को ग्रहण कर उनसे अपने साहित्य को समृद्धिशाली बनावें।

युग-दर्शन

विजयकुमार सिनहा

दर्शनका अर्थ किसी वस्तुका साक्षात्कार है । ग्रेजीमें इसके लिए 'फिलासफी' शब्द व्यवहृत है। फिलासफी' शब्द ग्रीक भाषाका है जिसका अर्थ 'बुद्धिके ति प्रेम' (Love for wisdom) होता है । र्वप्रथम ग्रीक इतिहासज्ञ हेरोडोटसने इसका प्रयोग किया था । दर्शनकी परिभाषा करनेके पूर्व उसके उन वयवोंका ज्ञान आवश्यक है जिनके द्वारा इसकी ता नियमित होती है । इन अवयवोंका आपसी म्बन्ध दर्शनकी नींव है ।

जिसका साक्षात्कार प्राप्त होता है वह है दृश्य यवा दृश्यगत् सत्य (Objective Reality) और ो साक्षात्कार करता है वह है द्रष्टागत् सत्य Subjective Reality), द्रष्टा अथवा दार्शनिक। किसी दर्शनकी व्याख्याके लिए दृश्य-दार्शनिक-दर्शन म्बन्धकी व्याख्या आवश्यक होती है। दृश्यका अभिधेय न तमाम निरीक्ष्य सत्ताओंसे है जो दार्शनिक अथवा ष्टाके ऊपर अपना प्रभाव डालती हैं। दार्शनिक न प्रभावोंका समन्वय तथा विश्लेषण कर प्रभावक यवा प्रेरक वस्तुओं (दृश्यजगत) की सत्ताके कारणत्व या कार्यत्वका प्रतिपादन अपने दर्शनके रूपमें करता । इसीलिए दर्शनमें कारण-रूप दृश्यजगत्, तथा द्रष्टा यवा दार्शनिक प्रतिबिम्बत होते हैं ।

दर्शनकी दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य दार्शनिक होता है । नुष्य एक जिज्ञासु पशु है । पशुमें भी जिज्ञासा होती पर कम मात्रामें । इसी मात्रामें वृद्धि होनेसे एक ाल-बिंदुपर आकर पशु मनुष्य कहा जाने लगता है । हाँपर यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि पानी और बर्फ दोनोंमें ठंढक गुण रूपमें विद्यमान है । पर ोनोंकी मात्रामें भेद है और यही कारण है कि दोनों े गुण तथा नाममें भी भेद है । यही बात पशु और मनुष्यके साथ भी लागू होती है । मनुष्य अपनी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए जो भी प्रयत्न करता है उन प्रयत्नोंका संयोजित तथा समन्वित स्वरूप ही दर्शन है । ज्ञानकी इच्छा मनुष्य की जिज्ञासु प्रकृति से उत्पन्न होती है । मनुष्यकी जिज्ञासु प्रकृति ही ज्ञान की इच्छा का उत्पत्ति-केंद्र है । दर्शन वह प्रयत्न है जो इस इच्छा की पूर्तिके लिए किया जाता है । इसीलिए यह जीवन की एक आवश्यकता है। जिज्ञासा की उत्पत्ति का कारण दृश्यजगत् (वास्तविक जगत्) है। मनोविज्ञान की भाषामें दृश्यजगत् को 'उद्भावना' अथवा प्रेरक शक्ति (Stimulus) और जिज्ञासा को 'प्रेरित शक्ति' अथवा 'प्रतिक्रिया' (Response) कहा जाये तो कोई असंगत नहीं । प्रश्न यह उठ सकता है कि पशु पर भी दृश्यजगत् का प्रभाव पड़ता है, फिर उसमें मनुष्य की तरह जिज्ञासा की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? उत्तर स्पष्ट है कि अग्निके अंगारेको यदि मनुष्य स्पर्श करता है तो उसका हाथ जलने लगता है, पर उसी अंगारे को जब चकोर खा लेता है तो उसका मुँह तक नहीं जलता। इसका कारण है मनुष्य और चकोर की स्थिति (भौतिक रचना) में भेद । और यही स्थिति-भेद गुण-भेद का कारण है। अग्नि में ताप-रूप गुण मनुष्यके लिए सत्य है, पर इसी सत्य की सत्तामें चकोरके स्थिति-भेदके कारण परिवर्तनकी प्रतीति होने लगती है। मनुष्य और चकोरके गुणत्वमें भेद होनेके कारण दोनों को ताप की मात्रामें भेद की प्रतीति होती है। ठीक यही स्थिति-भेद मनुष्य और पशुमें है । इसीलिए दोनों की जिज्ञासामें भेद है ।

जिज्ञासा दृश्यजगत्की प्रतिक्रिया है, पर जब जिज्ञासा मनुष्य को प्रयत्नके लिए प्रेरित करती है तब वह स्वयं 'उद्भावना' अर्थात् प्रयत्न का कारण बन जाती है । यह प्रयत्न भी फिर दृश्यजगत् का अवयव बन कर उद्भावना बन जाता है । दार्शनिक भाषामें इसी को कारण-

कार्य सम्बन्ध कहते हैं । कारण की सत्ता किसी पूर्व कारण का कार्य है । यह कार्य फिर अगले कार्य का निश्चित कारण बन जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जो कार्य है वह कारण भी है, और जो कारण है वही कार्य भी। दोनोंका अस्तित्व एक दूसरेपर आश्रित है और इसी सम्बन्धको अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहते हैं । यह सम्बन्ध एक अविच्छिन्न प्रवाहके रूपमें है जिसका विच्छेद दोनोंके अस्तित्वका विनाशक है । मनोविज्ञानके क्षेत्रमें इसी सम्बन्धको दृश्य-द्रष्टा-दृश्य [Environment-Individual-environment] के रूपमें परिवर्तित कर दिया जाता है। इसी नियमित सम्बन्धका परिवर्तित रूप हम मनोविज्ञानके उद्भावना-द्रष्टा-प्रतिक्रिया [Stimulus-Individual organism-Response] तथा दृश्यजगत्-उद्भावना – द्रष्टा+दृश्यजगत्–प्रतिक्रिया – दृश्यजगत् [W-S-Ow-R-W] आदि सिद्धांतोंमें पाते हैं । सुतरां दर्शनका दृश्य-द्रष्टा-दर्शन, विज्ञानका कारण-कार्य, मनोविज्ञानके दृश्यजगत्-द्रष्टा-दृश्यजगत्, दृश्य-द्रष्टा, उदभावना-द्रष्टा-प्रतिक्रिया तथा दृश्यजगत्-उदभावना-द्रष्टा+दृश्यजगत्-प्रतिक्रिया-दृश्यजगत् सिद्धांत एक दूसरेके पर्यायवाची अथवा रूपान्तर कहे जा सकते हैं ।

दर्शन जीवनके सम्पूर्ण क्षेत्रोंको अपने चतुर्दिक विस्तारसे ढँक देता है । इसीलिए दर्शनका अध्ययन आध्यात्मिक ज्ञान (Metaphysics) प्रमाण-मीमांसा (Epistemology), तर्क-विज्ञान (Logic) आचार-विज्ञान (Ethics), सौन्दर्य-मीमांसा (Aesthetics) तथा समाज-विज्ञानके साथ साथ दूसरे सभी विज्ञानोंसे भी कुछ न कुछ संबन्धित है । मनोविज्ञान भी पहले दर्शनके ही क्षेत्रमें समाहित था, पर इसके विकसित स्वरूपने इसे एक स्वतन्त्र विज्ञानका क्षेत्र प्रदान किया। यह एक सर्व प्रचारित विचार है कि जिस विन्दुपर दर्शनकी समाप्ति होती है उसी विन्दुपर विज्ञानका आरम्भ होता है, और जिस विन्दुपर विज्ञानकी समाप्ति होती है उसी विन्दु पर दर्शन का आरम्भ। इस विचारके विश्लेषणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कार्य-कारण सिद्धांत का ही प्रतिबिंब इसमें निहित है। अर्थात् दोनों एक दूसरेके साध्य-साधन अथवा कारण-कार्य हैं ।

उपर्युक्त व्याख्यासे यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक सिद्धांत अपने उत्पत्ति-काल की तमाम परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है । यदि संसारमें वर्ग-भेद, व्यक्तिगत् सम्पत्ति और उनसे उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक और फलस्वरूप नैतिक बुराइयों का अस्तित्व न होता तो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की सत्ता भी न होती । इससे यह साबित होता है कि कोई भी ज्ञान दृश्यगत् सत्ताओं का प्रतिबिंब मात्र होता है । किसी ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता सिद्ध करना तर्कशास्त्र का विषय है ।

चूंकि मार्क्सी दर्शन अब तकके मानवीय ज्ञान का समुच्चय है, इसलिए ज्ञान क्या है इस बात की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है ।

ज्ञान भी दर्शन की तरह मस्तिष्क पर पड़े हुए वाह्य जगत्के प्रतिबिंबोंके संयोजित रूप को कहते हैं । श्री एम०एन० रायके शब्दोंमें "बुद्धि (ज्ञान भी) मस्तिष्क पर पड़े वातावरणके प्रभावों का समुच्चय है । यह प्रभाव मस्तिष्क पर ज्ञानेन्द्रियोंके माध्यम द्वारा प्राप्त होता है ।"

वास्तविक ज्ञानको प्रमा और इसकी प्राप्तिके साधनको प्रमाण कहते हैं । ज्ञानके कितने प्रमाण माने जांय इसपर दार्शनिकोंमें सदा मतभेद रहा है। भारतीय न्याय-दर्शन-पद्धतिके प्रतिष्ठाता गौतमने चार प्रमाणोंकी सत्ता स्वीकार की है । ये चार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द हैं । मस्तिष्कका दृश्यजगत्से सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्थापित होता है । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो छाप (प्रभाव) मस्तिष्क पर पड़ती है उसी छाप अथवा ज्ञानको 'संविद्' अथवा 'प्रत्यक्ष' (Perception) प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान कहते हैं । धुआं देखनेसे वहाँ पर अग्निकी सत्ता वर्तमान होनेका जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमान' (Inference) प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान कहते हैं । इसे ही मनोविज्ञानमें 'अनुबंध' (Association) कहते हैं । धुआँ और अग्निके अभिन्न सम्बंधका जो प्रभाव (Impression) मस्तिष्कमें विद्यमान रहता है वही ऐसे ज्ञानका कारण है । उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान वह है जो सामान्य

प्रभावोंके कारण प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ किसी ने कहा कि गायकी तरह बनगाय होती है। जंगलमें पहुँचने पर गायकी तरहका एक जानवर सामने आता है। उसके 'संविद्' से हमें उसके बनगाय होनेका बोध होता है। इस ज्ञानका कारण हमारे मस्तिष्कमें वर्तमान पूर्व संविद् है जो किसी व्यक्तिके कहनेसे प्राप्त हुआ था। गायका प्रत्यक्ष ज्ञान तो मुझे पहले प्राप्त हो चुका था। बादको एक व्यक्ति विशेषके द्वारा गाय और बनगायमें समता होनेका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ था। जंगलमें पशुके प्रत्यक्ष ज्ञान तथा पूर्व प्राप्त गायके संविद् में एक समताकी प्रतीति होती है। यही इस ज्ञानका कारण है। बनगायके अस्तित्व-ज्ञानका वास्तविक कारण तो संविद् ही है, पर हमारे मनीषियोंने इसे भी एक स्वतन्त्र साधन अथवा प्रमाण मान रक्खा है। 'शब्द' प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान वह है जिसका हमें स्वयं प्रत्यक्ष अथवा संविद् नहीं प्राप्त होता। जैसे पुस्तकमें लिखित सभी विषयों का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त होता, फिर भी लेखक को उन प्रत्यक्ष ज्ञानों का अधिकारी मानकर हम विश्वास करते हैं। उदाहरणार्थ-परमाणु को हम देखते नहीं, पर लेखकों द्वारा बतायी गयी बातों पर विश्वास करके हम परमाणुके अस्तित्व को सत्य मानते हैं। ऐसे ज्ञान को 'शब्द' प्रमाणद्वारा प्राप्त ज्ञान कहते हैं।

मीमांसा-पद्धतिके प्रतिष्ठाता मनीषी जैमिनिके बाद इसकी दो शाखाएं हो गयीं। एकके प्रतिपादक प्रभाकर थे। प्रभाकरके मतानुसार ज्ञान-प्राप्तिके पांच प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। उपर्युक्त चारके अलावा 'अर्थापत्ति' (postulate) भी प्रमाण माना जाता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्तिके जीवित होने का ज्ञान तो हमें प्राप्त है, पर उसे हम घर पर नहीं पाते। ऐसी हालतमें हम यह परिणाम निकालते हैं कि वह व्यक्ति कहीं बाहर गया होगा। उसके बाहर जाने का संविद् हमें प्राप्त नहीं है फिर भी उसके बाहर जाने का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञान को 'अर्थापत्ति' प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान कहते हैं। दूसरी शाखाके प्रतिपादक कुमारिल भट्ट एक छठें प्रमाण की सत्ता स्वीकार करते थे। वह है 'अनुपलब्धि' (Non-existence)। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति कमरेमें एक कलम लानेके लिए प्रवेश करता है। प्रवेशके पश्चात् उसे कलम वहाँ नहीं मिलती है। यहाँ पर कलमके अस्तित्वाभाव का बोध अथवा ज्ञान उसे होता है। ऐसे ही ज्ञान को 'अनुपलब्धि' (Non-cognition) प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान कहते हैं। स्पष्ट तौर पर देखा जाय तो व्यक्तिके मस्तिष्कमें जो कलम का पूर्व-संविद् वर्तमान था वही इस ज्ञान अर्थात् कलमके अस्तित्वाभावके ज्ञान का भी कारण है। चार्वाक-पद्धतिके अनुसार प्रत्यक्ष अथवा संविद् (perception) को ही प्रमाण माना जाता है। वैज्ञानिक तरीकेपर गवेषणा करनेपर हम संविद् को ही सिर्फ वास्तविक प्रमाण माननेको बाध्य होते हैं। शेष अनुमान (Inference), उपमान (Comparision) 'शब्द' (authority), 'अर्थापत्ति' और अनुपलब्धि प्रमाण नाम मात्रको माने गये हैं।

सामाजिक विकासके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सामाजिक विकास-क्रमके साथ ही साथ दार्शनिक विकास-क्रम भी सम्पन्न हुआ। प्रथम मानवको जब जगत्के प्राकृतिक सत्य स्वरूप समझनेके दूसरे साधन उपलब्ध न थे तो वह कल्पना से ही आवश्यक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करता था। यही कारण बहुदेवतावाद (polytheism) जैसे सिद्धान्तके प्रतिपादनमें दृष्टिगोचर होता है। जितनी भी प्राकृतिक शक्तियां थीं, जिनपर मानव विजयी न हो पाया, सबोंको जगतके नियामकका स्थान प्रदान किया। बादमें अद्वैतवाद जैसी विकसित पद्धतिका प्रतिपादन हुआ। इसके अनुसार एक निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान शक्तिको जगत्का नियामक माना गया। अंतिम कारण अथवा सत्यकी खोजमें मानव-प्रयास जिस दूरीतक पहुँच सका, सबको कार्यरूप ही प्रदान कर पाया और उसके आगे ज्ञानका प्रवेश न पाते देखकर अदृश्य तथा अज्ञानको ही सभी कार्योंका अंतिम कारण तथा सत्य मान बैठा। इसीलिए ईश्वरकी उत्पत्तिका केन्द्र अज्ञान है। इसका कल्पित अस्तित्व मानवीय पराजयका द्योतक है। प्रकृतिमें अनुस्यूत शक्तियोंके ज्ञानाभावके कारण मनुष्यने एक प्रबल कल्पित पूर्ण शक्तिको ईश्वरकी संज्ञा प्रदान किया। इस तरह ईश्वर जगत्का स्रष्टा नहीं, बल्कि ईश्वरका स्रष्टा तो स्वयं मानव-मस्तिष्क है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि श्रद्धाकी उत्पत्ति भयकी प्रवृत्ति से होती है। ईश्वर-पूजा और उसके प्रति श्रद्धाकी उत्पत्ति भी कल्पित प्रबल शक्तिके भय रूपी कारण का ही कार्य है।

दर्शन पहले आध्यात्मिक विचारों का समुच्चय था। विकास-क्रम की एक विशेष मंजिल पर जब मानव-प्रयास प्राकृतिक शक्तियों तथा बंधनों पर विजय प्राप्त कर रहा था, मानवीय जिज्ञासा की पूर्ति आध्यात्मिक दर्शनसे न होना अनिवार्य हो गया। इसी अतृप्तिने मनुष्यको सृष्टि का कारण सृष्टिमें ढूढ़ने को बाध्य किया, सृष्टिसे परे नहीं। यहींसे दार्शनिक पद्धति दो मुख्य धाराओंमें प्रवाहित हो चली। एक धारा द्रष्टागत् सत्य (Subjective Reality) को प्रथम मानकर आगे बढ़ी तो दूसरी दृश्यगत् सत्य (Objective Reality) को। यहाँ पर एक ऐसे प्रश्न का उद्भूत होना अनिवार्य सा है कि क्या दृश्यनिष्ठ दर्शन (Objective Philosophy) द्रष्टानिष्ठ (Subjectivy philosophy) का 'प्रतिघात' (Antithesis) है? यदि यह सत्य है तो क्या नव-निर्मित समाजके लिए एक 'संघातिक' (Synthetic) दर्शन की आवश्यकता है? ये ऐसे प्रश्न हैं जो इस युग की जिज्ञासा को आगे बढ़ने की चुनौती दे रहे हैं, प्रेरित कर रहे हैं। इस लेखके द्वारा हम मार्क्सवादियों का ध्यान इन प्रश्नों पर आकृष्ट करते हैं और आशा करते हैं कि इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढनेमें वे प्रयत्नशील होंगे। यहाँ इन प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करना विषयसे दूर जाना है और इसलिए असंगत है।

द्रष्टागत् सत्य प्रतिपादित करने वाला दर्शन किसी न किसी अंशमें प्रत्ययवादी अथवा आदर्शवादी (idealistic) है। दृश्यगत् सत्य का प्रतिपादन करनेवाला दर्शन किसी न किसी अंशमें भौतिकवादी अथवा विषय-निष्ठ (Materialistic) है। पहले पहल दार्शनिक पद्धति का विकास भारत और यूनानमें ही हुआ। कारण था इन देशों का और देशोंसे पहले आर्थिक क्षेत्रमें विकसित होना और फलतः सभ्य होना। इन देशोंमें अलग-अलग विकसित हुई दार्शनिक पद्धतिमें भी हम एक समानता, एक अनुरूपता पाते हैं। उदाहरणार्थ एक ऐसे निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) की सत्ता स्वीकार करना संभवतः प्रत्येक देशके प्राचीन दर्शनमें पाया जाता है जिसे हम ईश्वर भी कहते हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि हर देश एक विशेष सामान्य परिस्थितिसे गुजरा है जिसका अनिवार्य संस्कार अथवा प्रतिबिंब अब तक इन दर्शनोंमें लक्षित होता है। प्रारम्भिक कालमें दर्शन और धर्म का ऐसा समन्वय हुआ कि दोनोंने अपने स्वतंत्र अस्तित्व खो दिये।

आज दर्शन और विज्ञानमें अनुरूपता स्थापित हो गयी है। दर्शन और विज्ञान का सामञ्जस्य इस युग की सबसे बड़ी देन है। सबसे नूतन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन है जिसका प्रतिपादन मार्क्सने किया था। वैज्ञानिक अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद विषयनिष्ठ अथवा दृश्यगत सत्य को ही प्रथम मानकर प्रत्ययवादी दर्शन को चुनौती देता है, ठीक उसी तरह जिस तरह सर्वहारा वर्ग निरंतर परिवर्तित होते हुए शासक वर्गके नूतन स्वरूप पूंजीपति वर्ग को चुनौती दे रहा है। जिस तरह पूंजीपति अथवा शासक वर्ग का विनाश अनिवार्य है ठीक उसी तरह प्रत्ययवादी दर्शन का विनाश भी अ[illegible] अनिवार्य सा हो गया है। चूंकि द्रष्टानिष्ठ दर्शन चेत[illegible] की सत्ता को किसी न किसी रूपमें प्रथम मानते हैं, इस[illegible] लिए दृश्यनिष्ठ दर्शन ठीक इसके विपरीत भूतकी सत्ता[illegible] प्रथम मानता है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विषयनि[illegible] द्वंद्वात्मक भौतिकवाद 'चेतना' (Consciousness) को भूतमें अनुस्यूत गति की गुणात्मक परिवर्तित स[illegible] मानता है जो सृष्टिक्रमके कालांतरमें एक विशेष मंजि[illegible] पर उद्भूत हुई।

यों तो मार्क्सी दर्शनके कई मौलिक सिद्धांतों[illegible] प्रतिपादन हेगेलने ही कर दिया था, पर तबतक [illegible] सिद्धान्त विषयीनिष्ठ थे, विषयनिष्ठ नहीं। मार्क्स[illegible] दर्शनके मूलभूत सिद्धान्तोंमें द्वंद्वन्यायका सिद्धा[illegible] उसकी आधारशिला है। इसका निरूपण भी हेगेल[illegible] ही किया था। मार्क्सने उसे उलटकर दृश्यनि[illegible] कर दिया और इस तरह उसे वैज्ञानिक ढाँचेमें ढा[illegible] दिया। हेगेलके मतानुसार दृश्यजगत्में द्वंद्वकी प्रतीति इसलिए होती थी कि चेतना अथवा द्रष्टामें द्वं[illegible] निहित था। मार्क्सने ठीक इसके विपरीत यह म[illegible] प्रतिपादित किया कि चेतना अथवा द्रष्टामें द्वंद्व[illegible]

तलिए होती है चूंकि दृश्यजगत्में द्वंद्व अनु-
उसीका प्रतिबिम्ब चेतना अथवा विषयीको
जिस तरह गतिकी सत्ता भूतसे स्वतंत्र
सी तरह चेतनाकी सत्ता भी भूतसे स्वतंत्र
सकती ।

निक भौतिकवाद कोई पूर्ण दर्शन नहीं है ।
आविष्कारोंके साथ साथ इस दर्शनमें नये
न्तोंको मिला लेनेकी गुंजाइश है । जैसा
ने भी कहा है ।--"···with each
making discovery even in the
of natural science (not to speak
History of Mankind) it (Materia-
as to change its shape." भावार्थ--
-परिवर्तनकारी आविष्कारके साथ भौतिकवाद-
पने स्वरूपमें परिवर्तन करना पड़ेगा। भौतिक-
ी पूर्ण सत्यकी सत्ता नहीं स्वीकार करता।
इसका मूलभूत आधार ही द्वंद्वन्याय है,
यायके सिद्धान्तको स्वीकार करनेका अर्थ है
सिद्धान्तको स्वीकार करना । यों तो
सिद्धान्तका आविष्कार प्राचीनकालमें ही
था, परंतु परिवर्तन क्यों होता है इसकी
न्द्व न्यायके सिद्धान्तपर ही आश्रित है और
क्र्सने प्रतिपादित किया। भारतीय दार्शनिक
परिवर्तनके सिद्धान्तको स्वीकार किया है। यहां
इसी सिद्धांतके आधारपर स्यात्वाद (Some-
m) अथवा शून्यवादकी सृष्टि हुई । जगत
र जो विश्वके पर्यायवाची हैं, का अर्थ ही
ील होता है । इसीलिए पूर्ण सत्यकी सत्ता
करनेवाला दर्शन किसी न किसी अंशमें
मिथ्या, संविद्मात्र अथवा माया मानता है ।
निक भौतिकवाद वह दर्शन है जो भूतकी
प्राथमिक तथा सत्य मानता है । किसी भी
सत्ताको भूत कहते हैं । परन्तु इसका अर्थ
पि नहीं लगाना चाहिए कि वह हमारी
थवा निरीक्षण-शक्तिपर आश्रित है । भूतका
अनिवार्य है, पर उसकी सत्ताका ज्ञाता
ष्टापर आश्रित होना सर्वथा असत्य है ।
ी भौतिकवाद सत्य अथवा भूतको ज्ञेय इस-
लिए मानता है कि वह अज्ञेयवाद (Agnosticism) का सर्वथा विरोधी है । वह सत्यको अज्ञेय नहीं मानता । आइन्सटीननेभी इस सिद्धांतका समर्थन निम्न-लिखित शब्दोंमें किया है:--"If a thing or a process is essentially unobservable, it does not exist." अर्थात् "यदि कोई वस्तु या प्रक्रिया तत्वतः अज्ञेय अथवा अनिरीक्ष्य है तो इसकी सत्ता नहीं है ।"

चूंकि भूत सत्य है तथा सत्य ज्ञेय है, इसलिए भूतका दिग्निष्ठ होना अनिवार्य है । बिना दिक्के अस्तित्वके कोई ऐसी सत्ता नहीं जिसे प्राथमिक और सत्य माना जाय । भूतसे ही भौतिक जगत निर्मित है । भूतकी परिभाषा करते हुए लेनिनने लिखा है:--"Matter is that which acting upon our sense organs produces sensation··Matter, nature, being, the physical is primary and spirit, sensation, the psychical is secondary." अर्थात् भूत वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियोंपर प्रभाव डालते हुए संवेदन उत्पन्न करता है । भूत, प्रकृति, सत्ता अर्थात् भौतिक वस्तुएं प्राथमिक हैं तथा आत्मा, चेतना तथा संवेदन अर्थात् आधिभौतिक सत्ताएं गौण हैं ।" चूंकि भूतकी सत्ता प्राथमिक मानी जाती है इसलिए इस दर्शनको भौतिकवादी दर्शन कहते हैं । भूतके अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप परमाणुके लिए भी दिक्की सत्ता अवश्यम्भावी है । यहांतक कि परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म उसमें अनुस्यूत शक्तिके लिए भी दिक्का अस्तित्व अनिवार्य है । दिक्से स्वतंत्र कोई सत्ता सत्य नहीं मानी जा सकती । सत्यको दिक्से निरपेक्ष मानना वास्तविकतासे सर्वथा दूर काल्पनिकताकी ओर जाना है । भूतकी सत्ता चूंकि दिग्निष्ठ है, इसलिए यह दृश्यनिष्ठ है द्रष्टानिष्ठ नहीं, और चूंकि यह दृश्यनिष्ठ है इसलिए यह निरीक्ष्य है, अनिरीक्ष्य नहीं । इसलिए मार्क्सवादी भौतिकवादको दृश्यगत्दर्शन (Objective Philosophy) भी कहते हैं । भूतकी सत्ता विषयी (द्रष्टा, कर्त्ता) पर आश्रित नहीं है । इसलिए वैज्ञानिक भौतिकवादको विषयीनिष्ठ नहीं, किन्तु विषयनिष्ठ दर्शन कहेंगे । विषयीकी सत्ता विषयपर

आश्रित है यानी द्रष्टाकी सत्ता दृश्यजगतपर आश्रित है, इसलिए प्राथमिक सत्ता दृश्यजगत की है न कि विषयीकी । वैज्ञानिक भौतिकवाद दृश्यजगतकी सत्ताको सत्य मानकर सत्यका प्रतिपादन करता है, इसलिए यह एक सत्य विज्ञान प्रतिपादक है । लेनिनके शब्दोंमें "Materialism in general recognizes objectively real being (matter) as independent of consciousness, sensation, experience.. Conscionsness is only the Reflection of being, at least, an approximately true (adequate, ideally exact) Reflecton of it" अर्थात् "भौतिकवाद सामान्यतः दृश्यगत वास्तविक सत्ता (भूत) को चेतना, संवेदन तथा अनुभवसे स्वतंत्र मानता है । चेतना दृश्यगत सत्ता का एक प्रतिबिंब मात्र है । स्पष्टतः करीब करीब उसका सही प्रतिबिंब है ।"

ऊपर भूत की सत्ताके लिए दिक् की सत्ता की अनिवार्यता सिद्ध की गयी है । परंतु इसका अर्थ यह कदापि न लगाना चाहिए कि दिक् की सत्ताके लिए भूत की सत्ता अनिवार्य नहीं है । जिस तरह भूत की सत्ता दिक् की सत्तासे स्वतंत्र नहीं है उसी तरह दिक् की सत्ता भी भूत की सत्तासे स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष नहीं है । दोनों की सत्ता एक दूसरे द्वारा सिद्ध तथा नियमित होती है । दोनों अन्योन्याश्रित हैं । दिक् की सत्ताके विषयमें लिखते हुए जे० बी० एस० हेल्डेनने लिखा है:-"Space is real as the system of relationships between material objects or events. But it has no absolute existence apart from matter and a belief in its existence apart from Matter is a step away from materialism towards metaphysics. So with time...." अर्थात् "दिक् की सत्ता उसी तरह सत्य है जिस तरह भौतिक सत्ताओं की सम्बन्ध-व्यवस्था । किंतु दिक्की सत्ता भूतसे निरपेक्ष नहीं है, तथा दिक् की भूतसे निरपेक्ष सत्तामें विश्वास करना भौतिकवादसे परे अध्यात्मवाद की ओर एक कदम है । यही सिद्धांत कालके लिए भी लागू होता है ।" दृश्यजगत्में अनुस्यूत परिवर्तनके क्रम का ही नाम काल है । जिस तरह गति की सत्ता भूतसे निरपेक्ष नहीं है, उसी तरह दिक् और काल की सत्ता भी भूतसे निरपेक्ष नहीं हो सकती ।

ठीक इसके विपरीत द्रष्टागत् दर्शन द्रष्टा यानी चेतना की सत्ता प्राथमिक मानता है । इसके अनुसार भौतिक जगत् की सत्ता चेतना (विषयी) पर आश्रित है न कि चेतना की सत्ता भौतिक जगत् पर । इस पक्ष की सत्यता प्रमाणित करनेके निमित्त द्रष्टागत् दर्शन यह तर्क उपस्थित करता है कि यदि मैं (द्रष्टा) न होऊँ तो भौतिक जगत् की सत्ता का बोध किसे प्राप्त हो ? मैं यह महसूस करता हूँ कि यह कलम है तभी तो इस कलम की सत्ता है, जैसा कि फ्रेंच दार्शनिक देकार्तेने कहा था, "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ ।" इसके विपरीत दृश्यगत् दर्शन यह तर्क उपस्थित करता है कि कलम (विषय) की प्रतिच्छाया तुम्हारे (द्रष्टा, विषयी) मस्तिष्क पर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पड़ती है तभी तो तुम (विषयी) महसूस करते हो कि यह कलम है । यदि इस कलम की सत्ता का संविद् तुम को (विषयी) प्राप्त न हो तो इसकी सत्ता का ज्ञान ही कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसलिए कलम की सत्ताके बोध का कारण स्वयं कलम (विषय) की सत्ता प्राथमिक (Primary) है । तुम्हें तुम का (अस्मत् का) ज्ञान भी युष्मत् (विषय, दृश्यजगत्) के योगसे प्राप्त होता है । इसलिए अस्मत्के ज्ञान का कारण युष्मत् है, न कि स्वयं अस्मत् । अस्मत् की सृष्टि युस्मत् द्वारा होती है, इसलिए अस्मत् (चेतना, द्रष्टा) की सत्ता युष्मत् पर आश्रित है । अस्मत् की सत्ता न भी हो पर युष्मत् की सत्ता रहेगी । इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भौतिक जगत् की सत्ता प्राथमिक है ।

भूत की सत्ता प्राथमिक और सत्य स्वीकार करते हुए मार्क्सी भौतिकवाद यह मत प्रतिपादित करता है कि कोई भी भौतिक सत्ता दो विरोधी शक्तियों का समागम है । किसी सत्ताके लिए उसमें दो विरोधी शक्तियों का अनुस्यूत होना अनिवार्य है । यह विरोधाभास किसी तत्वके अति सूक्ष्म अंश परमाणुके विश्लेषण करने पर ऋण-विद्युत-शक्ति तथा धन-विद्युत-शक्तिके रूपमें पाया जाता है । ये दोनों परस्पर विरोधी शक्तियों की सत्ता एक दूसरे की सत्ता पर आश्रित है । यदि एलेक्ट्रन की सत्ता न हो तो प्रोटनकी सत्ता भी न हो, और

इसी तरह यदि प्रोटन की सत्ता न हो तो एलेक्ट्रन की सत्ता भी न हो। दोनों की सत्ता एक दूसरेके लिए अनिवार्य है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। दोनों एक दूसरेके कार्य-कारण हैं। चूंकि किसी वस्तु की सत्ता दो विरोधी शक्तियों का समागम है, इसलिए उसमें द्वंद्व का होना भी अनिवार्य है तथा यह अनिवार्य द्वंद्व वस्तु-सत्तामें अनिवार्य परिवर्तन का कारण है। यह अनिवार्य परिवर्तन सृष्टि का कारण है। चूंकि हर सत्तामें निरंतर द्वंद्व और उसके परिणाम-स्वरूप निरंतर परिवर्तन निहित है, इसलिए सृष्टि भी किसी निश्चित कालमें नहीं हुई थी, जैसा कि प्रत्ययवादी दार्शनिकों का मत है, वरन् सतत् हो रही है। सृष्टि की नियामक कोई अपरिवर्तनशील तथा निरपेक्ष (Absolute) सत्ता नहीं है, किन्तु स्वयं सापेक्ष तथा परिवर्तनशील सत्ता है। चूंकि भौतिक सत्ता अनित्य, आश्रित तथा सापेक्ष है तथा उसकी सत्ता सत्य है इसलिए सत्य भी अनित्य, आश्रित और सापेक्ष है। चूंकि भौतिक सत्ता प्राथमिक तथा अनित्य है इसलिए उससे उत्पन्न अन्य सत्ताओंका अनित्य होना भी अनिवार्य है। विचार, सिद्धांत, संस्कृति तथा सभ्यता आदि दृश्यजगत्के प्रतिबिम्ब हैं इसलिए ये भी अनित्य हैं। इस तरह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सृष्टिकी व्याख्या करते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि भूत प्राथमिक और सत्य है। यह दो विरोधी शक्तियोंका समन्वय है। यह विरोधाभास अनिवार्य अन्तर्द्वन्द्वका कारण है। यह अनिवार्य अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य परिवर्तन का कारण है तथा अनिवार्य परिवर्तन सृष्टिका कारण है। संक्षेपमें द्वंद न्यायपर ही सृष्टि आधारित है।

द्वंद्व न्यायके प्रतिष्ठाता हेगेल (१७७०–१८३१) के द्वंद्व न्याय सम्बन्धी मतकी आलोचना करते हुए एंगेल्सने लिखा है कि—"According to Hegel dialectics is the self-development of the concept, the absolute concept does not only exist (where is unknown) from eternity, it is the actual living soul of the whole existing world." अर्थात् "हेगेलके मतानुसार द्वंद्व विचारका स्वयंभू विकास है। निरपेक्ष विचारकी सत्ता अनादि ही नहीं है किन्तु सम्पूर्ण जगत्की सत्ताकी वास्तविक जीवात्मा है।" हेगेलके द्वंद्व न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तपर प्रत्ययवादकी स्पष्ट छाप झलकती है। उसके मस्तिष्कमें यह बात नहीं आयी कि विचारकी सत्ताका आधार क्या है। विचार अथवा अनुभूतिके अस्तित्वके अनिवार्य कारण भौतिक जगत्को छोड़कर वह वास्तविकतासे बहुत दूर प्रत्ययवादी खाईमें इतना नीचे गिरा कि उसके लिए फिर वास्तविक जगत्में कदम रखना सर्वथा असंभव सा हो गया। सुतरां दृश्यजगत् (Phenomenon) से परे एक अदृश्यजगत् (Noumenon) की कल्पना में उतरने लगा। सबसे विचित्र बात तो यह है कि एक ओर तो विचारको हेगेल निरपेक्ष मानता है और दूसरी ओर यह मत प्रतिपादित करता है कि हमारे विचारोंमें द्वंद्व अनुस्यूत है और इसीलिए दृश्यजगत्में द्वंद्वकी प्रतीति होती है, अर्थात् हमारे विचारोंका यह प्रतिबिम्ब मात्र है। इस प्रतिबिम्बका कारण हमारा विचार है, इसलिए यही सत्य है और शेष सब सत्ताएँ इसके प्रतिबिंब मात्र हैं। इसपर थोड़ा ऊहापोह करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहां द्वंद्व निहित है वहां उसका अनिवार्य परिणाम परिवर्तन भी समाविष्ट है। फिर जब विचारोंमें द्वंद्व निहित है तो यह अपरिवर्तनशील और निरपेक्ष कैसे हो सकता है। मार्क्सने इसी प्रत्ययवादी कीचड़में फँसे द्वंद्व न्यायको इस तरह परिष्कृत तथा सुसंस्कृत कर विश्वके तमाम तत्त्ववेत्ताओंके समक्ष उपस्थित किया कि आजतककी जिज्ञासाकी पूर्ति यह सिद्धान्त कर रहा है। मार्क्सने बताया कि "मेरा द्वंद्व न्याय हेगेलके द्वंद्व न्यायसे सिर्फ अलग ही नहीं है बल्कि ठीक उसके विपरीत है।" उसने घोषित किया कि जो द्वंद्व हेगेलके विचारमें दृष्टिगोचर होता था वह तो वास्तविक जगत्में अन्तर्निहित द्वंद्वका प्रतिबिम्ब मात्र है। वास्तविक द्वंद्व तो विश्वके कण-कणमें व्याप्त है। जब जगत्के कण-कणमें द्वंद्व तथा उसका अनिवार्य परिणाम परिवर्तन निहित है तो फिर वास्तविक जगत्की कोई ऐसी सत्ता नहीं जो नित्य तथा निरपेक्ष हो। स्वयं द्वंद्वकी सत्ता भी भूतमें निहित दो विरोधी शक्तियों की सत्ता पर आश्रित है। यदि दो विरोधी शक्तियों की सत्ता न हो तो द्वंद्व न्याय की सत्ता भी नहीं हो सकती। और ये दो विरोधी शक्तियां भी निरपेक्ष नहीं

हैं क्योंकि उनकी सत्ता भी द्वंद्वन्याय पर आश्रित है। इस तरह मार्क्सने अन्योन्याश्रित सम्बंध का सिद्धांत प्रतिपादित कर द्वंद्वन्याय को विषयनिष्ठ बनाया।

द्वंद्वन्याय का सिद्धांत तीन और मौलिक सिद्धांतों का योग है। स्पष्टतः ये तीनों सिद्धांत द्वंद्वन्यायसे ही उत्पन्न उसकी सत्ताके तीन आवश्यक अवयव हैं। ये हैं (१) मात्रा-भेदसे गुण-भेद तथा गुण-भेदसे मात्रा-भेद। (२) विरोधी सत्ताओं की अनुरूपता, समागम अथवा विपरीत समवाय तथा (३) निषेध का निषेध। इन तीनों सिद्धांतों का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम हेगेलने ही किया था। मार्क्सने भी इन्हें आवश्यक रूपसे प्रमाणित माना। इनके बिना द्वंद्वन्याय का सिद्धांत जीवित नहीं रह सकता। ये द्वंद्वन्यायके अनिवार्य परिणाम हैं, कार्य हैं।

द्वंद्वन्याय का परिवर्तित रूप मनोविज्ञानके क्षेत्रमें भी देखने को मिलता है। फ्रायडने प्रवृत्तियों का वर्गीकरण करते हुए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि मुख्यतः दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। एक है जीवन की प्रवृत्ति और दूसरी मृत्यु की। शुद्ध 'काम-तत्त्व' (Eros) की प्रवृत्तिका कार्य जीवाणुओंमें समन्वय स्थापित करना होता है। इस कार्य का अप्रत्यक्ष साध्य जीवन को बनाये रखना ही हो सकता है। मृत्यु की प्रवृत्ति का कार्य जीवाणुओं को अजीवित अवस्था प्राप्त करवाना होता है। इस क्रिया का अप्रत्यक्ष साध्य मृत्यु है। इस वर्गीकरण की प्रामाणिकता शरीर-विज्ञान द्वारा भी सिद्ध होती है। क्योंकि शरीर-विज्ञान भी यह बतलाता है कि हर जीवमें दो प्रकारके जीवाणुओंमें निरंतर द्वन्द्व होता रहता है। इस निरंतर संघर्षके बीच नवीन जीवाणुओं की रचना तथा कुछ जीवाणुओं का विनाश होता रहता है। यही भौतिक द्वंद्व तथा निर्माण-विनाश प्रक्रिया का प्रतिबिंब हमें दो तरह की प्रवृत्तियोंमें लक्षित होता है। इस विश्लेषणसे यह परिणाम निकलता है कि कोई भी जीव हर क्षण मरता और हर क्षण जीता है। इस उदाहरण पर मार्क्सके तमाम मौलिक सिद्धांतों को लगाया जा सकता है। फ्रायड के सिद्धांत की उपर्युक्त व्याख्यासे पहला परिणाम तो यह निकला कि जीवनमें भी दो परस्पर विरोधी शक्तियों का सतत द्वंद्व चलता रहता है। दूसरा परिणाम यह निकला कि दो परस्पर विरोधी शक्तियोंके निरंतर द्वंद्वके बावजूद भी जीवन-सत्ता कायम रहती है। अर्थात् दो विरोधी शक्तियों का समवाय ही जीवन है। डार्विन द्वारा प्रतिपादित "अस्तित्वके लिए द्वंद्व" (Struggle for existence) सिद्धांतमें भी हर सत्तामें समाहित विरोध का आभास हमें मिलता है। यह विरोधाभास तथा द्वंद्व जीवाणुओंमें कहाँसे आता है? स्पष्ट है कि भूतसे। क्योंकि भूतसे ही इन जीवाणुओं की सत्ता निर्मित है। इस तरह भूतसे ही विरोधी शक्तियोंके समवाय तथा दोनोंमें परस्पर सतत द्वंद्वके गुण जीवाणुमें चले आते हैं। यह सतत द्वंद्व चलते-चलते एक ऐसे परिवर्तन-विन्दु पर पहुँचता है जहाँ पर जीवन-सत्ता कायम रखनेवाली शक्ति दुर्बल तथा जीवन-विनाशक शक्ति प्रबल हो जाती है। इस विन्दुपर सत्तामें पूर्ण परिवर्तन होता है, जीव मृत्यु अथवा विनाशको प्राप्त हो जाता है। इसी पूर्ण परिवर्तनको हम क्रान्ति भी कहते हैं और इसीलिए मृत्युको एक परिवर्तन। इस व्याख्यासे निम्नलिखित परिणामोंका निरूपण किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि जीवन विनाशक शक्तिकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी स्थिति पर पहुँचती है जहाँपर उस सत्तामें गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। इसी नियम या प्रक्रियाको "गुण-भेदसे मात्रा-भेद तथा मात्रा-भेदसे गुण-भेद" (Quali-tative change into quantitative chang[e] and vice versa) कहते हैं। उपर्युक्त व्याख्या से दूसरा परिणाम यह निकलता है कि चेतना (Life, Consciousness) एक गुण है। जि[स] जीवकी जैसी भौतिक रचना होती है उसीके अनुकूल मात्रामें यह गुण (चेतना) उसमें विद्यमान रहता है। चेतना क्या है? प्रारम्भमें हम लोगोंने देखा कि भूतमें दो विपरीत शक्तियां और उनके परस्पर द्वंद्व अनिवार्य रूप से निहित हैं। यह द्वंद्व ही गति है। गति एक विशेष स्थितिमें एक विशेष मात्रामें होकर चेतनाके रूपमें परिवर्तित हो जाती है। दूसरे शब्दोंमें चेतना भूतमें अनुस्यूत गतिका गुणात्मक परिवर्तन है। इसके अर्थ समझनेमें कुछ भौतिकवादी भूल कर बैठते हैं और गतिको ही चेतना मान बैठते हैं। इस तरह दुनियाकी हर वस्तु-सत्ता गतिशील है,

पर चेतन नहीं। कारण स्वयंका कार्य नहीं, किन्तु दूसरे कारणका कार्य हो सकता है, उसी तरह कार्य स्वयं अपनी सत्ता का कारण या कार्य नहीं हो सकता। इसलिए चेतना का कारण गति है पर स्वयं गति चेतना (कार्य) नहीं हैं। चेतना गति का कार्य है इसलिए चेतना की सत्ता गति की सत्ता पर आश्रित है, पर गति की सत्ता चेतना पर आश्रित नहीं हैं, किन्तु उसकी सत्ता (कार्य) अपने कारण भूतमें अनुस्यूत विरोधाभास (Contradiction) की सत्ता पर आश्रित है।

उपर्युक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट हो गया कि द्वंद्व का अनिवार्य परिणाम परिवर्तन वस्तु-सत्तामें दो प्रकारसे घटित होता है। परिवर्तनका एक क्रम धीरे-धीरे सर्पकी चालका है और दूसरा क्रांति, गुणात्मक अथवा मेढक कुदानका है। प्रथम क्रम किसी वस्तु-सत्ताके अस्तित्वमें आनेसे लेकर उसके अस्तित्व-विनाश अथवा पूर्ण-परिवर्तन तक चलता है। दूसरा क्रम अर्थात् मेढक कुदानका क्रम पूर्ण परिवर्तन-कालका क्रम है। यह क्रम वस्तु-सत्ताके अस्तित्व-विनाश अथवा उसमें गुणात्मक परिवर्तनके समयका क्रम है। निरंतर द्वंद्व एक ऐसे काल-बिन्दुपर पहुँचता है जिसे हम पूर्ण परिवर्तन-बिन्दु (Nodal Point) कहते हैं। इस बिन्दुपर द्वंद्व एक कुदान (Leap) लेता है और वस्तु-सत्तामें पूर्ण परिवर्तन अथवा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। इसे ही क्रान्ति भी कहते हैं। इस क्रान्ति अथवा गुणात्मक परिवर्तनके पश्चात् पूर्व-सत्ताके गर्भसे उत्पन्न नवीन सत्ता पूर्व-सत्ताका निषेध (Negation) कहलाती है। इसी तरह पूर्व-सत्ताभी अपने पूर्व सत्ताका निषेध थी। सुतरां नव-रचित-सत्ता निषेधका निषेध हुई। यह एक सृष्टि-न्याय है जिसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद 'निषेध का निषेध न्याय' (The law of Negation of Negation) की संज्ञा प्रदान करता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन भी सर्वप्रथम हेगेलने ही किया था।

किसी वस्तु-सत्तामें ही उसके विनाश-बीज अर्न्तनिहित रहते हैं ये बीज वस्तु-सत्ता की रचनाके साथ ही साथ आते हैं और उस सत्ताके अंदर पलते हुए जिसे हम घात (Thesis) कहते हैं उस सत्ता का प्रतिघात (Antithesis) बन कर उस सत्ताके विनाश-निमित्त अपना द्वंद्व प्रारम्भ करते हैं। यह घात प्रतिघातका निरंतर संघर्ष एक काल-बिंदु पर पहुँचकर पूर्णरूपेण उस सत्ता में जो घात-प्रतिघात का योग है, परिवर्तन लाता है। परिवर्तनोपरांत नव रचित सत्ता को 'संघात' (Synthesis) कहते हैं। इस 'सांघातिक' (Synthetic) सत्तामें भी प्रातिघातिक शक्ति बीज रूपसे वर्तमान रहती है। 'सांघातिक' (Synthetic) सत्ता प्रतिघात (Antithesis) की सृष्टि करनेके पश्चात् स्वयं 'घात' (Thesis) का स्थान ग्रहण करती है। फलतः फिर घात प्रतिघात का द्वंद्व प्रारम्भ होता है और अंततोगत्वा इस सत्ता का विनाश होकर नवीन सत्ता की सृष्टि होती है। यह नियम मूर्त सत्तामें ही नहीं, अमूर्त सत्तामें भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, पूंजीवादी व्यवस्था 'घात' है जिसका प्रतिघात सर्वहारा वर्ग है। इस 'प्रतिघात' का स्रष्टा पूंजीवादी वर्ग ही है अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही यह वर्ग उत्पन्न हुआ है। पूंजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग दोनों परस्पर विरोधी वर्ग हैं। इन दो विपरीत शक्तियों का समवाय ही पूंजीवादी सत्ता है और इन दोनों सत्ताओं का विरोध ही पूंजीवादी सत्ता की असंगति (Contradiction) है। यह असंगति अनिवार्य द्वंद्व का कारण है और अनिवार्य द्वंद्व पूंजीवादी सत्तामें अनिवार्य पूर्ण परिवर्तन का कारण है। यह अन्तर्द्वंद्व चल रहा है और चलते-चलते एक काल-बिंदु पर पहुँच कर पूंजीवादी सत्तामें पूर्ण परिवर्तन का यह स्रष्टा बन जायगा। उस परिवर्तन-बिंदु पर पूंजीवादी सत्ता का विनाश होगा और एक नयी सामाजिक तथा आर्थिक सत्ता रचित हो जायगी। पूंजीवादी सत्ताके विनाश का अर्थ है 'घात' (पूंजीवादी वर्ग) तथा 'प्रतिघात' (सर्वहारा वर्ग) दोनों की सत्तामें परिवर्तन। नव रचित सत्तामें न तो कोई सर्वहारा रहेगा और न कोई पूंजीवादी। यह नव रचित सत्ता ही 'सांघातिक' (Synthetic) सत्ता होगी। और उसी तरह इसके गर्भसे 'प्रतिघात' उत्पन्न होकर फिर इस सत्तामें परिवर्तन लायेगा। यही द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का 'घात-प्रतिघात-संघात' (Thesis–Antithesis–Synthesis) का सिद्धांत है।

अंततोगत्वा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद जगत् और जीवन का दर्शन है। इसका सारतत्त्व यह है कि भूत की सत्ता सत्य तथा प्राथमिक है। इसका ज्ञान अध्यास नहीं, बल्कि 'प्रमा' है। हर वस्तु की सत्ता एक वह एका है जिसमें दो विपरीत शक्तियां अन्तर्निहित हैं। यह एका क्षणिक और आश्रित है। लेनिनके शब्दोंमें "Unity, Coin cidence, identity, interaction of opposites is con ditional temporary, transitory and relative. अर्थात् "दो विरोधी शक्तियों की एका (अनुरूपता, एकरूपता, अन्तरक्रिया) आश्रित, क्षणिक, अनित्य तथा सापेक्ष है।" चूंकि हर वस्तु-सत्ता दो विपरीत शक्तियों की अभिसंधि, आश्रित, क्षणिक, अनित्य तथा सापेक्ष है और वस्तु-सत्ता सत्य है इसलिए सत्य भी अश्रित है, क्षणिक, अनित्य तथा सापेक्ष है। निरपेक्ष, नित्य, अनाश्रित और सनातन सत्य मिथ्या और काल्पनिक है। चूंकि ईश्वर, ब्रम्ह, खुदा आदि की सत्ता निरपेक्ष, अनाश्रित, सनातन और नित्य मानी जाती है इसलिए ये सब असत्य और कल्पित हैं। संक्षेपमें परिवर्तन ही सत्य है। जो परिवर्तित नहीं होता, वह असत्य है। सत्यके ये दो स्वरूप दार्शनिक प्रक्रिया की देन हैं। क्या सत्यके तीसरे स्वरूप प्रतिपादित होने की संभावना है? यदि ऐसा हुआ भी तो द्वंद्वात्मक सत्य को ही समर्थन प्राप्त होगा। क्योंकि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अपने द्वारा प्रतिपादित सत्यमें भी परिवर्तन का समर्थन करता है।

ईश्वरकी निरपेक्ष काल्पनिक सत्तासे आज मानव-मस्तिष्क इस बुरी तरह शासित और शोषित हो रहा है कि मानवयुगीय बौद्धिक विकासकी धारा सर्वथा अवरुद्ध सी हो गयी है। जिस तरह आर्थिक-सामाजिक स्वतन्त्रता और उसके उन्मुक्त विकासके लिए व्यक्ति-विशेषके सामाजिक-आर्थिक जीवनपर एकाधिकार तथा उसमें उत्पन्न निरंकुशताका अन्त आजके युगमें अनिवार्य है, उसी तरह सामाजिक-बौद्धिक स्वतन्त्रता और उसके निर्बाध विकासके लिए ईश्वरकी असत्य काल्पनिक सत्ताका मानव-मस्तिष्कपर एकाधिकार तथा उससे उत्पन्न उसकी निरंकुशताका अन्त भी अनिवार्य है। मानवमात्रकी बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा मानसिक स्वतन्त्रता और उनके उन्मुक्त विकासके लिए हर वैज्ञानिक भौतिकवादीका कर्तव्य है कि इस ओर भी अपने प्रयासको सफल बनानेके लिए वह पिल जाय। ईश्वर एक मानसिक रोग है जिसकी दवा है मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक क्रांति। यद्यपि इस क्रांतिकी सफलता समाजमें आर्थिक क्रांतिकी सफलतापर बहुत कुछ आश्रित है, फिर भी इस क्रांतिकी सफलताके लिए अभीसे प्रयत्न करना आवश्यक है। ग्रीक दार्शनिक इपीक्यूरसने बहुत पहले कहा था--"I want to be free from the tyranny of gods, so that I would be virtuous, because it gives me pleasure to be virtuous." अर्थात् "मै देवताओंकी निरंकुशतासे स्वतंत्र होना चाहता हूँ, ताकि मैं कर्तव्यपरायण बन सकूं। क्योंकि कर्तव्यपरायणता मुझे आनन्द प्रदान करती है।" अब समय आ गया है जब कि ईश्वर जैसे मानसिक रोगसे मानवमात्र मुक्त होकर वास्तवमें कर्तव्यपरायण बन सकेगा। द्वंद्वात्मक भौतिकवादियोंका कर्तव्य है कि अपनी विशिष्ट दर्शन धारणाको लेकर इस क्रान्ति-पथपर अग्रसर हों और इसे सफल बनाकर एक नयी संस्कृतिकी रचना करें, उसे विधायक बनें। इसके लिए आवश्यक है कि सामाजिक परिस्थितिको अनुकूल बनानेकी जो शक्ति हममें निहित है उसका पूरा पूरा व्यवहार करें। बिना इस सफल प्रयासके अपने आदर्शोंको वास्तविकतामें परिणत करना तथा अपने स्वप्नोंको सृजनात्मक रूप देना सम्भव नहीं

ौर न आगे चलकर हो सकेंगे। अन्तरराष्ट्रीय
तन्त्रता और उन्नति के उद्योग में सहयोग
तो दूर रही, राष्ट्रमंडल में आज इतनी
नहीं कि वह अपने से सम्बन्धित राष्ट्रों के
झगडों को निपटा सके और संयुक्त राष्ट्र
की तू तू मैं मैं रोक सके। इन सब बातों से
है कि राष्ट्र मंडल की पूर्ण सदस्यता हिन्दुस्तान
अन्तरराष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति में कोई सहा-
पहुँचा सकती, लेकिन उसे सामरिक गुट-
झमेले में जरूर फंसा सकती है। यह ठीक है
मंडल की सदस्यता हिन्दुस्तान को ब्रिटेन के
में शामिल होने को मजबूर नहीं करती और
न के प्रधान मंत्री ने अटलांटिक पैक्टसे तट-
का भी एलान कर दिया है। फिर भी नार्थ
क गुटबन्दी में शामिल कुछ राष्ट्रों से इतना
सम्बन्ध रखने के बाद यह आशा रखना कि
त यूनियन को हिन्दुस्तानकी तटस्थता पर विश्वास
बिल्कुल बेकार सी बात है। राष्ट्रमंडल में
सम्बन्धित राष्ट्रों की सामूहिक रक्षा के प्रश्न
चार होना स्वाभाविक सी बात है। इस प्रश्न
चार से अपने को अलग रखना हिन्दुस्तान के
जबतक कि वह राष्ट्रमंडल का सदस्य है,
ल है। पर इस प्रश्न का एंग्लो-अमरीकन सहयोग
अतलांटिक गुटबन्दी से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है
राष्ट्रमंडलकी सामूहिक रक्षा की योजना में
ल होने के बाद अतलांटिक गुटबन्दी और
-अमरीकन सहयोगसे अपने को अलग रखना

असम्भव है। फिर अगर हिन्दुस्तान सामूहिक रक्षाके प्रश्न पर भी तटस्थ ही रहना चाहता है, तो प्रश्न उठता है कि फिर राष्ट्रमंडल की सदस्यता का क्या प्रयोजन है? इस सम्बन्धमें आयरलैंड की मिसाल अक्सर दी जाती है। पर ऐसा करते समय यह भुला दिया जाता है कि आयरिश फ्री स्टेट को मजबूरन ब्रिटिश राष्ट्रमंडलमें शामिल होना पड़ा था, और इसलिए डिवेलेरा, जो शुरूसे ही इस सम्बन्ध का विरोधी था, दूसरे विश्व-व्यापी युद्धमें अपने देश को तटस्थ रख सका। पर खुशी-खुशी राष्ट्रमंडलमें शामिल होनेके बाद, पं. जवाहरलाल नेहरूके लिए राष्ट्रमंडल की सामूहिक रक्षाके प्रश्न पर तटस्थ रहना नामुमकिन होगा। सदस्यता कबूल करलेनेके बाद 'मैत्री और सहयोग' की जिम्मेदारियां पूरी करनी ही होगी और मंडलके दूसरे राष्ट्रोंसे सहयोग का हिन्दुस्तान की अन्तराष्ट्रीय नीति पर असर अवश्य ही पड़ेगा। इन दोनों बातों को सरदार पटेल ने भी प्रेस प्रतिनिधियों से बातचीत में कबूल किया है। हिन्दुस्तान की मौजूदा परिस्थिति में भावी युद्ध में तटस्थता ही उसकी रक्षा का सबसे अच्छा उपाय है। सोवियत रूस उसका पड़ोसी है और हिन्दसागर में ब्रिटेन की जल-शक्ति का अब भी काफी जोर है। दोनों में से किसी से भी लड़ना हिन्दुस्तान के लिए मूर्खता ही होगी। किसी एक से गठबंधन करना दूसरे से घर बैठे दुश्मनी मोल लेना है और देश को युद्ध-क्षेत्र बन जाने के खतरे में डालना है। इनसब बातों को ध्यान में रखते हुए हिन्दुस्तान को राष्ट्मंडल में शामिल रखे जाने के निश्चय का समर्थन और स्वागत नहीं किया जा सकता।

——मुकुट बिहारीलाल

"संस्कृतनिष्ठ हिन्दी"—हिन्दी विघातक

जब हम कहते हैं कि श्रेणी विभक्त समाजमें संस्कृति, नैतिकता और धर्म शासक-श्रेणीका अनुगमन करते हैं तो कुछ लोग इस सत्यका विरोध करते हैं। किन्तु उनके विरोधके बावजूद उनके कर्मों से इस तथ्यका समर्थन ही होता है कि संस्कृति, नैतिकता और धर्म शासक-श्रेणीका अनुगमन करते हैं। अभी हमारे सामनेकी बात है कि हिन्दी को जनसाधारण की भाषा कहकर, जनसाधारण का नाम लेकर राष्ट्रभाषाके आसन पर बैठाने का आन्दोलन चला। यह आन्दोलन चल ही रहा था कि भारतवर्ष को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त हो गयी। राजनीतिक स्वाधीनता के साथ ही भारतवर्ष की चिर-प्राचीन शासक और शोषक श्रेणी सामने आ गयी। यह शासक और शोषक श्रेणी सामन्तों और ब्राह्मणों की है। आजके औद्योगिक विकास के युगमें इसके अन्दर उद्योगपतियोंका भी स्थान हो जाता है। भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताके बाद इसी श्रेणीके लोगोंने राष्ट्रभाषाके लिए दूसरा नारा दिया—"संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो।" इस आन्दोलन के जनक सामन्त और ब्राह्मण ही हैं। हिन्दू महासभा के मुख्य नेता श्री सावरकर के टेलीफोन का नाम हो गया "दूरयन्त्रध्वनि"! पूना विश्वविद्यालय ने (जिसकी स्थापना राजनीतिक स्वाधीनता के बाद हुई) अपने यहां से पाली, प्राकृत और अपभ्रंशको बहिष्कृत कर दिया। डॉ० कैलाशनाथ काटजूने चोटी का जोर लगा कर कहा——"संस्कृत राजभाषा हो।" डॉ० अमरनाथ झा ने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का मन्त्रोच्चार किया। देशी रजवाड़ों और पूजीपतियों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया। जमीन्दारों की फौज इस आन्दोलन के पीछे खड़ी हो गयी। इसी श्रेणी के पास प्रस और प्रचार के सभी साधन हैं। अपने साधनोंके बलपर यह श्रेणी ऊर्ध्व कंठ से संस्कृतनिष्ठ हिन्दीका ऐसा नारा लगा रही है कि उसके अन्दर दूसरी आवाज दब जाती है। यही कारण है कि डॉ० रघुबीर जैसे व्यक्तिको भारतीय विधान के मसविदे को हिन्दी रूप देनेका काम सरकारने दिया। और इस व्यतिने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के जोशमें विधान के मसविदेका ऐसा अनुवाद किया कि उसे शायद वही समझ सकता है। यदि किसी वास्तविक जनतन्त्रवादी देशमें विधान का मसविदा ऐसी भाषा में छपता, तो उस सरकार को जनता कटघरे में ला खड़ा करती और ऐसे व्यक्ति को कभी भी जनता का पैसा नहीं दिया जाता और उसे बर्खास्तभी कर दिया जाता। पर यहाँकी तो सरकार भी शासक-शोषक श्रेणी की है। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पीछे शासक-शोषक श्रेणी का स्वार्थ है। यह स्वार्थ इस प्रकार है जिससे पहले यह धारणा बनती है कि भारतवर्षकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक सम्पदा संस्कृत में ही है, भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति है और भारतीय संस्कृति के लिए वर्ण-व्यवस्था आवश्यक है। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पीछे यह भावधारा काम करती है कि संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा है, ब्राह्मणों द्वारा संरक्षित है और संस्कृतमें ही सांस्कृतिक सम्पदा है, इसलिए ब्राह्मणोंका प्राधान्य स्वीकार करो। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की भावधारा के प्रचार का ठोस नतीजा निकलता है, 'स्टेटस को'—जैसी की तैसी स्थिति कायम रखना। और इसी में है शासक और शोषक श्रेणीका हित।

अपने स्वार्थके लिए यह शासक और शोषक श्रेणी इतिहास को भी विकृत करती है। इस श्रेणीके प्रचारक कहते फिर रहे हैं कि प्राचीन भारतमें संस्कृत जनसाधारण की भाषा थी। पता नहीं, भारतीय संस्कृतिके ये 'संरक्षक' बुद्ध और महावीर को——बौद्ध और जैन धर्म को——किस संस्कृतिके अन्दर गिनते हैं? महावीरने कहा है कि श्रमणों को जनपद-विहारके समय देशी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। (वृहत् कल्पभाष्य) बुद्धने भी स्थानीय भाषामें उपदेश का विधान किया है। यदि संस्कृत जनसाधारण की भाषा होती अथवा संस्कृत को सभी लोग समझते होते, तो महावीर और बुद्ध ऐसा क्यों करते? यही नहीं, यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा होती, तो अशोकके शिलालेख——जो जनसाधारणके लिए ही थे——संस्कृतमें ही होते। पर ऐसा नहीं है। इससे इतना सिद्ध है कि मौर्यकाल तक संस्कृत राजभाषा भी नहीं थी। यही नहीं, आचरांग चूर्णि (पृ०२५५) समवायांग (पृ०५७) और विभंग अट्ठकथा (पृ०३८७)से सिद्ध है कि पाली, प्राकृत और अर्धमागधी प्राचीन भारत की जनभाषा थी; इन्हीं भाषाओं को सर्वसाधारण जन समझते थे। संस्कृत भाषामें सर्वप्रथम कथा-ग्रन्थ लिखने वाले महाकवि सिद्धर्षिने अपने उपमितिभव प्रपंचा नामक कथा-ग्रन्थके

उपोद्घातमें कहा है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओंमेंसे "दुर्विदग्ध" लोगोंके हृदयमें संस्कृतके लिए ही अधिक स्थान है। प्राकृत भाषा यद्यपि सर्वसाधारण की समझ में आती है और कर्णमधुर भी है; फिर भी "दुर्विदग्धों" को वह प्रिय नहीं है, (पर चूंकि "दुर्विदग्धों" का ही समाज पर प्राधान्य था), इसलिए उनके मनोरंजनके लिए उन्होंने संस्कृतमें ग्रन्थ रचे। आगे चलकर दुर्विदग्धोंने षड्यन्त्र और-हत्याके द्वारा प्रथम शताब्दक उत्तरार्धमें राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। इसलिए पुष्यमित्रके कालमें ही हम सर्वप्रथम संस्कृत को राजभाषाके रूपमें पाते हैं। फिर आगे चलकर (जिस सम्राटके हाथ भारतीय गणतन्त्रोंके खूनसे रंगे हैं, जिसने वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को ठोस रूप में जमाकर भारतीय समाज को पतनके कगार पर ला खड़ा किया, उस सम्राट समुद्रगुप्तन संस्कृत को राजभाषाके रूपमें अपनाया और उसके वंशजोंने उसकी (इस जनवाद-विरोधी) परम्परा को आगे बढ़ाया। और आज जबकि राजसत्ता भारतीयोंके हाथमें पुनः आ गयी, तो उन्हीं "दुर्विदग्धों" की परम्पराके लोगोंने जनभाषाके समर्थक महात्मा गान्धी की हत्या की और करायी, तथा उन्हीं "दुर्विदग्धों" की परम्पराके लोग (चाहे वह कांग्रेसके नेता ही क्यों न हों) आज गान्धीजी की सम्पूर्ण साधनाओंके विरुद्ध "संस्कृतनिष्ठ हिन्दी" का नारा लगा रहे हैं।

शोषक और शासक श्रेणीने संस्कृत को न केवल राजभाषाके आसन पर बैठाया, बल्कि इस श्रेणी ने पाली और प्राकृत के विरुद्ध प्रचार भी किया। जिस तरह अंग्रेजी राजने भारतवर्ष की राजभाषाके स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित कर आजकी जनभाषाओंका अपकार किया, उसी तरह भारतीय शासक-शोषक श्रेणीने (सामन्तवाद ने) संस्कृतको राजभाषाके आसन पर बैठाकर प्राचीन भारतकी जनभाषा पाली और प्राकृतके विरुद्ध वातावरण बना दिया। आगे चलकर धीरे-धीरे पाली और प्राकृत का अपभ्रंशके रूपमें रूपान्तर हो गया। किन्तु शासक-शोषक श्रेणीके प्रत्येक पक्षपातके बावजूद भी संस्कृत कभी जन-भाषा न हो सकी। इसका एक सबसे बड़ा प्रमाण है कि छठवीं शतीसे लेकर दसवीं शती तकके सभी सन्तों-चौरासी सिद्धों, नाथपंथ के प्रचारकों और स्वयम्भू आदि कवियोंने--अपभ्रंश में ही अपनी रचनाएं कीं। अपभ्रंश की एक सबसे बड़ी विशेषता थी कि उसमें प्रचलित किसी भी शब्दका बहिष्कार नहीं किया गया। इसका प्रमाण १२०० वीं शतीके हेमचन्द्र रचित देशी नाममाला के शब्द-संग्रह से मिलता है। इसको देखनेसे पता चलता है कि अपभ्रंश में ऐसे शब्द हैं, जो तद्भव भी नहीं हैं और तत्सम भी नहीं हैं। इसके अन्दर आर्यसमूह के बाहरके शब्द हैं, ऑस्ट्रिक शब्द हैं, चीनी शब्द हैं और ऐसे भी शब्द हैं जिनका सम्बन्ध द्रविड़ भाषा से है: इसी अपभ्रंश से हिन्दी, बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती का जन्म हुआ। अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दीके आन्दोलन में न ऐतिहासिक सत्य है और न वैज्ञानिक तथ्य है। 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के पीछे हिन्दी में प्रचलित विदेशी शब्दों को बहिष्कृत करने की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति और मुल्लापन भी है, जिसका प्रमाण डॉ० रघुबीर की देखरेख में अनूदित भारतीय विधानके मसविदेकी वर्तमान प्रति और डॉ० रघुबीर की शब्दावली है। अतः 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' से हिन्दी की प्रकृति नष्ट होती है, उसकी अपनी ध्वनि और स्वाभाविकता का खात्मा होता है।

इस तरह 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के सांस्कृतिक आन्दोलनके पीछे शासक और शोषक श्रेणी का स्वार्थ है, अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितिको कायम रखनेके लिए उसने यह आन्दोलन चलाया है। संस्कृत ने कभी भी जनभाषा अथवा राष्ट्रभाषा का स्थान नहीं लिया। वह सर्वव शासक और शोषक श्रेणी की भाषा रही है। संस्कृतके अलावा पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं में भी विपुल भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा है--बल्कि इन्हीं भाषाओं से जनताके मनकी बनावट का ठीक ठीक पता चलता है। इसलिए 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' का आन्दोलन ऐतिहासिक दृष्टि से भी गलत है। हिन्दी की प्रकृति संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है। इसलिए भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' का आन्दोलन हिन्दी विघातक है। अतः किसी भी दृष्टि से 'संस्कृत-निष्ठ हिन्दी' का आन्दोलन बुरा है, इसके अन्दर आदि से लेकर अन्त तक जहर भरा है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति को 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के आन्दोलन का सख्त से सख्त विरोध करना चाहिए।

--बैजनाथसिंह 'विनोद'

रही है। किस लिए ? इसीलिए न कि डालमियाँ-के मजदूर सरकारी युनियन को मानने को तैयार हैं; वे अपने मन की युनियन रखना चाहते हैं। …र दें क्यों अपने मन की युनियन न रखें और उसी कारखानेदार और सरकारसे क्यों न मनवायें ? …र सरकार को किसने यह हक दिया कि वह मज-…को इस तरह मजबूर करे और कुचलने की कोशिश ? क्या गान्धीवाद और अहिंसा यही सिखाती है ? सरकार यह तरीका अख्तियार कर अच्छा नहीं कर है। इस तरह वह जानबूझ कर घरमें आग लगाने ओर बढ़ रही है। सरकार जब घरमें आग लगाने पर तुल गयी है तो आग भभक ही उठेगी; उसे रोक रखना सम्भव नहीं मालूम होता। सोशलिस्ट पार्टी डालमियाँनगरमें संगीनोंके सहारे यह नंगा नाच नहीं बर्दाश्त कर सकती और मजदूरों पर यह जुल्म चलने नहीं दे सकती।

"जनता" के अन्दर प्रकाशित प्रस्ताव और डाल-मियाँनगरमें फैसिज्मकी कहानी आप कहती है। इस सम्बन्धमें हमें इतना ही कहना है कि आंखोंपर से भ्रमका परदा अब शीघ्र हट जाना चाहिए।

—बैजनाथ सिंह "विनोद"

ज न वा णी

अगस्त १९४९

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' एक प्रति का ।||)

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष ३ भाग ६] अगस्त १९४९ [अङ्क ८ पूर्णाङ्क ३२

दलितों की समस्या

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

गांधीजी की मृत्युके बाद १ फरवरी १९४८ के हरिजनमें जो उनका अन्तिम लेख प्रकाशित हुआ था उसमें गांधीजीने कहा है कि ट्रस्टी मंदिरोंके अधिकारी नहीं और उन्हें मंदिरोंकी धन-सम्पत्तिका भी अधिकार नहीं, क्योंकि मंदिर सार्वजनिक उपयोगके लिए बने हैं। अतएव हरिजनोंको स्वामी नारायण और जैन मंदिरोंमें जानेकी छूट मिलनी चाहिए।

लेकिन प्रश्न हो सकता है कि क्या मंदिर-प्रवेशसे हरिजनोंकी समस्या हल हो सकती है ?

उड़ीसाकी यात्रा करते समय गांधीजीने किसी हरिजन का जिक्र करते हुए लिखा है—"एक मैली लंगोटी पहने जमीनपरसे तिनका उठाकर उसने मुँह में ले लिया, मेरे सामने साष्टांग लेट गया, फिर उठकर प्रणाम किया। तिनका निकालकर बालोंमें रख लिया और जाने लगा। मैंने पूछा, "मुंहमें तिनका क्यों दबा लिया था ?" "आपका आदर करनेके लिए।" मैंने कहा-'कुछ दोगे ?' बेचारा पैसेके लिए कमर टटोलने लगा। मैंने कहा-"पैसा नहीं माँगता हूँ।" मैंने पूछ लिया था कि वह शराब पीता है, मुरदार माँस खाता है। मैंने कहा, "मैं माँगता हूँ—किसीके सामने तिनका मुँहमें न लोगे, शराब छोड़ दोगे, मांस त्याग दोगे।" (मंदिर-प्रवेश और अस्पृश्यता-निवारण, पृ० २८)

स्वामी श्रद्धानंदजी कहा करते थे कि यदि प्रत्येक हिंदू अपने घरमें एक-एक हरिजन रख ले तो अछूतोंकी समस्या हल हो सकती है। एक लेखकने लिखा है कि आज यदि देशके शहरोंमें पाखानेकी वर्तमान प्रथा उठा दी जाय और भंगियोंको शिल्प, साहित्य, कलाके काम सिखाये जांय और किसी भंगीकी आवश्यकता न रहे तो अछूतोंका उद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं।

लेकिन न हरिजनोंको घरमें रखनेसे उनकी समस्या हल हो सकती है, न पाखानेकी वर्तमान प्रथा उठा देनेसे, न शराब और मांसका त्यागकर देनेसे, न उन्हें 'ओं नमः शिवाय' का दीक्षा-मंत्र देनेसे और न उन्हें भगवान्‌की सन्तान होनेका दावा स्वीकृत करनेसे। उनकी समस्यातो उनकी आर्थिक और राजनीतिक मर्यादा ऊँची होनेसे ही हल हो सकती है। "पहले सालमें कसाई था, दूसरे साल शेख हुआ और यदि इस साल गल्लेका दाम चढ़ा तो मैं सैय्यद हो जाऊँगा।" इस उक्तिने इसका बहुत सुन्दर समर्थन किया गया है।

डॉक्टर महेन्द्रसिंहने अपनी "दलित जातियाँ"

(डिप्रैस्ड क्लासेज्) नामक पुस्तकमें बतलाया है कि बिहारके खेतोंमें काम करने वाले मजदूरोंको ५ पैसे रोजके हिसाबसे १४॥।=) सालाना आमदनी होती है। अगर एक घरमें काम करन वाले स्त्री और पुरुष दो आदमी हों तो एक कुटुम्बकी औसत आमदनी कुल २९॥।) होती है । यह आमदनी अधिकसे अधिक समझनी चाहिए। कामिया की कुल आमदनी तो २०) साल ही पड़ती है । ऐसी हालत में दलित जातियाँ केवल अपने श्रमके ऊपर निर्भर रहती हुई ढाई-तीन आने सेरका कोदो और जोन्हरी खाकर कैसे जिन्दा रह सकती हैं?

इसी तरह गाँवोंके धोबियोंको किसानोंसे १ साल में कुल ३० सेर फी हल अनाज मिलता है। भंगियोंको फसलके वक्त सिर्फ १०-१५ सेर अनाज मिल जाता है। जो लोग खेती नहीं करते उनके यहाँसे उन्हें फी घर एक रोटी मिलती है। कहीं रोटीके सिवाय २)साल और मिल जाते हैं। शहरोंमें भी इन लोगोंकी हालत अच्छी नहीं, इसीलिए इन्हें हड़ताल करनेके लिए बाध्य होना पड़ता है ।

बेगारकी तो कुछ पूछिये मत, पूर्वी हिमालय प्रदेश मे बेगार करने वालोंको १ आना प्रतिदिन दिया जाता है, जबकि मजदूरीका बाजार-भाव दो-ढ़ाई आने रहता है। बहुत सी जगह मजदूरों को १ साल में ४८ दिन बेगार करनी पड़ती है, तथा जमींदार को हर साल १। सेर घी और २-३ मन गेहूँ का भूसा (१६-पया मन) देना पड़ता है । पंजाब में तो बेगारी का मतलब ही चमार समझा जाता है और उसे जमींदार का बहुत-सा काम मुफ्त करना पड़ता है। इन लोगों के घर शामलात जमीन में बने होते हैं, इसलिए घरों पर उनका कोई अधिकार नहीं रहता, और जमींदार रिआया से चाहे जब बेगार करा सकता है।

कुछ रियासतों में सन् १९११ से लेकर अब तक काश्तकारों से रुपये में तीन आने दिल्ली दरबार के नाम से नजराना वसूल किया जाता है, बहुत-सी जगह लड़का पैदा होने पर और सगाई या विवाह के समय उन्हें जमींदारों को नजराना देना पड़ता है। कहीं तो यदि काश्तकार की औरत भाग जाय या अपना झगड़ा निबटाने के लिए उसे जमींदार के पास जाना पड़े तो जमींदार का टैक्स भरना पड़ता है।

सदियों पहले गुलामी की प्रथा कानूनन बन्द हो जाने पर भी हिन्दुस्तान में यह प्रथा अभी तक मौजूद है। विवाह आदि के प्रसंग पर जमींदार से साधारण कर्ज लेने के कारण दलित या आदि जातियों के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी तक जमींदार के गुलाम बन जाते हैं और वे अपने कष्टों के निवारण के लिए जमींदार के ऊपर अदालत में कोई दावा तक दायर नहीं कर सकते। बहुत-से स्थानों में तो ये गुलाम बेंचे-खरीदे जाते हैं और उनकी कीमत होती है उतना कर्ज जितना उन्होंने जमींदार से लिया था ।

मध्यप्रदेश में एक हरवाहा और उसकी औरत की कीमत होती है कुल ६०)से ८०) तक ! छोटा नागपुर में कृषि संबंधी गुलामी की प्रथा कानून से बन्द कर दी गयी है, लेकिन व्यवहार में उसका उपयोग नहीं होता । पौष संक्रान्ति के दिन जमींदार और खेतिहरों के मुँहजबानी वादे होते हैं और मजदूर जमींदारों की हाजिरी बनाते हुए हब्शी जाति के गुलामों जैसा जीवन बिताने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

ब्याज तो कौटिल्य के जमाने से ही दलित जातियां अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक देती आयी हैं। आश्चर्य नहीं कि कर्ज के भार से दबी ये दलित जातियाँ समाज में बराबरी का स्थान प्राप्त नहीं कर सकीं। संयुक्तप्रान्त और बिहार में दो पैसे रुपया माहवार यानी ३७½ फी सदी सालाना ब्याज लेने का आम दस्तूर है। कहीं तो महाजन लोग इकन्नी रुपया वसूल करते हैं। किश्तों में हर महीने १) के हिसाब से ८) के १२) देने पड़ते हैं। काबुली लोग हर महीने ३) के हिसाब से ९॥) की जगह १५) वसूल करते हैं, यद्यपि रुक्के में १०) रुपये लिखे जाते हैं और ॥) रुक्का लिखवाई के पहले ही काट लिया जाता है ।

इससे दलित वर्गके शोषण का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि एक बार अपना आर्थिक स्वातंत्र्य खो देने पर यह वर्ग किस प्रकार सामाजिक विषमता का शिकार बनता चला गया ।

दलित वर्गकी सामाजिक असमानता को दूर करने

के लिए समय-समय पर समाज-सुधारकोंने आवाज उठायी तथा कानून आदि पास करके उनके पदको ऊँचा उठाने की कोशिश की गयी, लेकिन किसी निश्चित योजनाके अभावमें कोई सफलता नहीं मिली।

उदाहरणके लिए, सन् १८५० में जाति-अयोग्यता निवारण कानून (कास्ट डिसएबिलिटीज् रिमूवल एक्ट) पास किया गया जिसके अनुसार धर्म या जाति-परिवर्तन करनेकी सुविधा दी गयी। १८७२ में विशेष विवाह कानून पास किया गया जिसके अनुसार कोई भी पुरुष अपनेसे भिन्न जाति या धर्मावलंबी स्त्रीके साथ विवाह कर सकता था, बशर्ते कि दोनों इस बात की घोषणा करें कि वे किसी भी जाति या धर्म को नहीं मानते। आगे चलकर सन् १९२३ में उक्त कानून में सुधार किये गये और अब धर्म या जाति परित्याग करने की जरूरत नहीं रह गयी।

पहले अछूत वर्गके लड़कों को सरकारी स्कूलोंमें भरती नहीं किया जाता था। सन् १८५८ में बम्बई सरकारने जाहिर किया कि स्कूलोंमें अछूतों को भरती न करने पर स्कूलों की सहायता बन्द कर दी जायेगी। लेकिन इससे कुछ न हुआ, अछूतोंके लड़कों को स्कूलके बरामदेमें बैठाकर पढ़ाया जाने लगा। इसपर १९२३ में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी। आखिर १९२५ में मद्रास धारासभामें एक बिल पास किया गया कि सार्व-जनिक दफ्तर, स्कूल आदिमें अछूत लोग प्रवेश कर सकते हैं और कुँए, तालाब आदिसे बिना किसी रोक-टोकके पानी भर सकते हैं।

लेकिन जन-गणना की रिपोर्टसे मालूम होता है कि अस्पृश्यता-निवारणके कानून पास होनेके ७० वर्ष बाद भी मद्रास सूबेके ८,१५७ स्कूलोंमें से कुल ६०९ स्कूलों में अछूत विद्यार्थियों को प्रवेश मिल सका !

महात्मा गांधीके हरिजनोंके उद्धारके लिए भगी-रथ प्रयत्न करने पर भी हरिजनों की समस्या हल न हो सकी।

१० दिसम्बर, १९४७ को शिमला पहाड़की किसी देशी रियासतसे अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए जो हरिजनोंने पत्र लिखा था वह "हरिजन-सेवक" में प्रकाशित हुआ था—

१. "जब किसी ऊँच जातिके किसी हिन्दू का कोई डंगर मर जाता है तो डंगर का मालिक खुद उसे छूनेमें छूत मानता है और हरिजनों को जबर्दस्ती उसे ले जाकर गाड़ना पड़ता है।

२. कोई ब्राह्मण किसी हरिजनके यहाँ सत्यनारायण की कथा कहने या कोई यज्ञ कराने नहीं आता।

३. किसी ऊँची जातिके लिए किसी हरिजन की लड़की या स्त्री को जबर्दस्ती ले जाना कोई जुर्म नहीं समझा जाता।

४. कोई हरिजन हिन्दू तरीकेसे कन्यादान करके अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता।

५. सरकारी अफसरोंके दौरेके वक्त दूध, लकड़ी, घास और हर तरह की बेगार हरिजनोंसे ली जाती है। ऊँची जाति वालोंसे ये चीजें नहीं ली जातीं। इन चीजों की कीमत अगर कोई अफसर देता भी है तो वह नम्बरदार वगैरह ले लेते हैं। हरिजनों को नहीं मिलती।

६. जमीन की मालगुजारी जो ऊँची जातिवालोंसे ली जाती है, उतनी ही जमीन की मालगुजारी हरि-जनोंसे उसकी दुगुनी और तिगुनी ली जाती है। इसपर भी हरिजनों को जमीन का मौरूसी हकदार नहीं माना जाता।

७. जो हरिजन इस तरहके अत्याचारों पर एतराज करते हैं उनपर झूठे मुकदमे चलाये जाते हैं।

८. रियासतोंके प्रजामंडलोंमें ऊँची जातिवाले लोग हरिजनों को प्रजामण्डलके मेम्बर नहीं बनने देते और अगर बनने भी देते हैं तो उन्हें चुनाव वगैरहमें बरा-बरीके हक नहीं देते।" (नया हिन्द, अप्रैल १९४८)

अभी कुछ वर्ष पहले की बात है कि इन्दौर रिया-सतके १५ गाँवोंके हिन्दुओंने वहाँके अस्पृश्योंको निम्न-लिखित आज्ञाओं का पालन करने को कहा था, अन्यथा गाँव छोड़कर चले जानेकी धमकी दी थी:—

१. कोई पुरुष सुनहरी किनारीकी पगड़ी न लगावे, रंगीन किनार की धोती न पहने।

२. किसी भी हिन्दूके मर जानेपर उसके रिश्तेदारों को खबर दे, भले ही वह दूर क्यों न रहता हो।

३. हिन्दुओंके शादी-विवाहमें बाजा बजावें।

४. अछूतों की औरतें सोना-चाँदीके गहने तथा फेन्सी लँहगा और जाकेट न पहनें।

५. हिन्दू औरतोंके बच्चा पैदा होनेके समय वे दाई काम करें।

६. अछूतों को चाहिए कि वे बिना वेतन हिन्दुओंके ाँ नौकरी करें, और जो उन्हें खुश होकर दे दिया य उसे स्वीकार कर लें। (डॉ० अम्बेडकर, 'एनि-ह्लेशन ऑफ कास्ट')

दक्षिणमें तो अस्पृश्योंके लिए बहुत कड़े नियम । कुछ जातियोंके ग्राम या नगरमें प्रवेश करने पर नूचा ग्राम अपवित्र हो जाता है। विलयूरमें गाँवके हर एक पत्थर लगा रहता है जिसके आगे नयडि ातिके लोग नहीं जा सकते। यह स्थान हिन्दुओंके रसे करीब ३ फर्लांग होता है। इसी प्रकार एरनादन ातिके आदमीको गाँवसे ४०० गजकी दूरीपर और उच्च-र्गके लोगोंसे १०० गजकी दूरी पर आनेकी मनाही है जे.एच.हटन, 'कास्ट इन इन्डिया' पृ० ७०) ओ' मैलेने पनी 'माडर्न इन्डिया एण्ड दि वेस्ट' नामक पुस्तकमें लेखा है कि मद्रास सूबेमें तिन्नेवेली स्थानकी कुछ स्पृश्य जातियाँ कभी दिनमें इसलिए बाहर नहीं आतीं के कभी ऊँच जाति वाले उनके दर्शनसे अपवित्र न हो ायं। १९३१ की जन-गणनाके समय जब उन लोगोंको बहुत समझा-बुझाकर घरके बाहर लाया गया तो वे डर के मारे थर थर कांप रहे थे! (पृ० ३७४, फुटनोट)

इस प्रकार ऐसे और बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं जब कि शूद्रोंको घोर असह्य अपमान सहन करना पड़ता है। पढ़कर आश्चर्य होता ह कि हिन्दु-स्तानमें ऐसी भी जगहें हैं। ब्राह्मणको देखकर शूद्र जाति के लोग डरके मारे कूदकर गड्ढेमें छिप जाते हैं, जहाँ स्कूलका अध्यापक दलित जातिके विद्यार्थियोंसे छू जाने के भयसे उसे छड़ीसे मारनेके बजाय मिट्टीके ढेलोंसे मारता है, और जहाँ ब्राह्मण डाक्टर शूद्र जातिके लोगोंकी नाड़ीकी परीक्षा करते समय उसपर रेशमी पट्टी बांध लेता है। मालूम होता है कि शूद्रोंके घरके देवी-देवता भी अछूत हो जाते हैं और इसीलिए ब्राह्मण लोग उन्हें नमस्कार नहीं करते। (जे. एन. भट्टाचार्य, 'हिन्दू कास्ट्स ऐण्ड सेक्ट्स' पृ० १९-२०) बंगालके अस्पृश्य शूद्रोंके स्नान करनेसे तो गंगाका जल ही अप-वित्र हो जाता है। अपने आपको सब ब्राह्मणोंमें अधिक पवित्र और आचारी मानने वाले दक्षिणके नम्बूद्री ब्राह्मणोंके विषयमें प्रसिद्ध है कि वे नायर स्त्रियोंके साथ संसार करते हैं, पर उनके हाथका स्पर्श किया हुआ अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। वे प्रातःकाल स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं और दिनमें उनको स्पर्श नहीं करते। नम्बूद्री ब्राह्मण जब किसी ऐयर या ऐयंगरके बरतनमें अपने बरतनसे जल आदि तरल पदार्थ डालता है तो छूतके भयसे धार बांधकर नहीं डालता, इसे कहा जाता है धार मुरिक्कुग।

ब्राह्मण आदि ऊँची जातियोंके आतंकसे स्पृश्या-स्पृश्यका विचार निम्नतर जातियोंमें भी दाखिल हो गया। उदाहरणके लिए, पुलयन जातिके किसी आदमी-को यदि कोई पारिया छू दे तो पुलयन पांच बार स्नान करके और अंगुलीसे रक्त निकाल देनेके बाद शुद्ध होता है। जैसे ब्राह्मणोंके लिए पारिया अस्पृश्य हैं उसी प्रकार पारियाके लिए ब्राह्मण अस्पृश्य हैं। यदि कोई ब्राह्मण उनके मुहल्लेसे गुजरता है तो उसे मार खानी पड़ती है तथा ब्राह्मणके वहांसे चले आनेके बाद पारिया लोग गोबरसे लीप पोत कर अपने मुँहको शुद्ध करते हैं।

अत्यन्त नीच माने जाने वाली होलेय जातिके घर यदि ब्राह्मण आ जाय तो उनका घर अपवित्र हो जाता है। इसी प्रकार उड़ीसाके कुंभी पटीया जातिके लोग सबका छुआ खा सकते हैं, लेकिन ब्राह्मण, राजा, नाई और धोबी उनके लिए अस्पृश्य हैं (क्षितिमोहन सेन, 'भारतवर्षमें जाति-भेद' पृ० ९९-१००) इसी तरह बहुत-सी जगह चमार, भंगी, डोम आदि जातियां धोबीको अस्पृश्य समझती हैं तथा धोबी उनके कपड़े नहीं धोता और वे उसका मैला नहीं उठाते। अनेक सैयद आदि मुसलमान हिन्दुओंका छुआ हुआ नहीं खाते।

कुछ लोगोंका कहना है कि धर्म-परिवर्तनसे अस्पृश्योंकी समस्या हल हो सकती है, अतएव यदि भारतके हरिजन सिख, इसलाम या ईसाई मजहब ग्रहण कर लें तो छूआछूतकी समस्या न रहे।

दक्षिण भारत, ट्रावनकोर कोचीन आदि स्थानोंमें तथा छोटा नागपुर आदिमें लन्दनकी मिशनरी सोसा-यटियोंने लाखों अछूतोंको ईसाई बनाया, लेकिन ध्यान देनेकी बात है कि इन सोसायटियोंको वहीं सफलता

मिली जहां कि अछूतोंको कुछ आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं। उदाहरणके लिए, छोटा नागपुर आदि स्थानोंमें वहांकी आदिवासी मुण्डा और ओराँव नामक जातियोंको ईसाई पादरियोंने सरकारी अफ-सरोंकी सहायतासे जमींदारोंके शोषणसे बचाया तथा अन्य स्थानोंमें उन्हें सरकारी नौकरियाँ आदि दिलानेकी व्यवस्था की।

रिजलीने अपनी 'पीपुल ऑफ इन्डिया' (पृ० २४०) में बताया है कि ईसाई धर्मग्रहण कर लेने पर मनुष्य-का सारा वायुमंडल बदल जाता था। ब्राह्मणकी तरह उसकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबंध किया जाता था, पढ़ा-लिखाकर उसे नौकरी आदि दिलायी जाती थी, मिश-नरीके बड़े-बड़े लोगोंसे उसका परिचय कराया जाता था, अन्य ईसाईयोंकी तरह गिरिजाघरमें उसे धार्मिक क्रियाएं आदि कर सकनेका अधिकार था तथा साफ-सुथरी पढ़ी-लिखी किसी मिशनकी लड़कीसे उसका विवाह कर दिया जाता था। मतलब यह कि समाजमें उसका हर तरहसे आदर होता था।

हिन्दुस्तानमें उद्योग-धंधोंकी वृद्धि होनेसे प्राचीन विभाजनकी व्यवस्थाको बहुत धक्का लगा और इससे छूआछूतकी भावना काफी कम हुई। उदाहरणके लिए, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कानपुर आदि नगरोंके कारखानेमें सभी जातियोंके मजदूर एक साथ काम करते हैं और सब एक साथ मिलकर यूनियनोंका काम चलाते हैं। रूई, चाँदी वगैरहके सट्टेबाजारोंमें भी सब लोग एक साथ उठते बैठते हैं।

होटलोंने भी जाँत-पात और छूआछूतको दूर करनेमें बहुत मदद की है क्योंकि यहाँ पर सभी जातिके लोग ऊँच-नीचकी भावना छोड़कर चाय आदिका पान करते हैं। अंग्रेजी दवाओंके प्रचारसे भी कट्टरता कम हुई। इसी तरह रेलगाड़ियाँ आदिने भी इस पुनीत कार्य में मदद पहुँचायी है। क्योंकि सभी प्रचारके लोग रेलों आदिमें बैठकर निस्संकोच यात्रा करते हैं। स्कूल, कालेजों, सिनेमा थियेटरों, सभा-सोसायटियों तथा राज-नीतिक पार्टियोंमें भी ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं रहता। इससे भी छूआ-छूतके दूर होनेमें काफी मदद मिली।

कहते हैं कि कश्मीरमें जब फुटबालका पहला खेल हुआ तो किसी खिलाड़ीके मुँह पर फुटबाल लग जानेसे उसने स्नान किया और उसके बाद फिर खेलना शुरू किया, लेकिन जैसे-जैसे फुटबॉलके खेलोंका प्रचार होता गया, छूआ-छूतकी भावना घटती गयी। इसी प्रकार १८३५ में जब कलकत्तेमें मेडिकल कॉलेज खुला तो बड़ा हो-हल्ला मचा। विद्यार्थियोंके संरक्षकोंने आपत्ति की कि उनके लड़के मृतक शरीरोंके स्पर्शसे अपवित्र हो जायेंगे। यहाँ तककि जब कॉलेजमें पहले दिन चीर-फाड़ हुई तो कॉलेज बन्द कर देना पड़ा, कारण कि कॉलेजके दरवाजे पर लोगोंकी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी।

विदेश-यात्राके विषयमें यही बात हुई। विदेश-यात्रासे लौटनेपर हिन्दुओंको पंचगव्य (दूध, दही, घी, गोमूत्र और गोबर) खिलाकर शुद्ध किया जाता था। लेकिन बादमें जब बहुत लोग विदेश-यात्राके लिए जाने लगे तो यह प्रथा बन्द कर देनी पड़ी।

ध्यान देनेकी बात है कि अछूतोंका अलग संगठन बनाकर एक गुट विशेषका आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन चलानेसे अछूतोंकी समस्या हल नहीं हो सकती। यह समस्या जनतंत्रके विकाससे ही हल होगी। जबकि जनवादी राष्ट्रीय आन्दोलन अछूतोंकी कठि-नाइयाँ दूर करनेके लिए अग्रसर होगा। उस समय उनकी मंदिर-प्रवेश, स्कूल-प्रवेश, सड़क पर चलना, कुंआसे पानी भरना आदि समस्याएं स्वयंमेव हल हो जायेंगी।

दलित जातियोंकी शिक्षाके संबंधमें डा० महेन्द्रसिंह ने अपनी 'डिप्रेस्ड क्लासेज' नामक पुस्तकमें निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किये हैं :—

"१९३१ की जन-गणनाके अवसरपर ब्रिटिश भारत में दलित जाति की तमाम जन-संख्या को लेते हुए १ मीलमें कुल १६ व्यक्ति पढ़े-लिखे थे। उच्च वर्णके हिन्दू अभी भी अपने बच्चोंको उनके साथ पढ़ाना पसंद नहीं करते। बहुत-से गाँवोंमें अछूत पाठशालाएं खोल दी गयी हैं जहाँ लोअर प्रायमरी क्लास तक शिक्षा दी जाती है। उच्च वर्णके लोगोंके पक्षपातके कारण ही ये पाठशालाएं खोली गयी हैं, अछूतों को फायदा पहुँचानेके लिए नहीं। दर-असल इन पाठशालाओं से जातीयताके बंधन जटिल ही होते हैं।... जहाँ

दलित जातियोंके लोगोंके लिए अलग स्कूल नहीं होते वहाँ उन्हें अपने बच्चों को उन्हीं स्कूलोंमें पढ़ाना पड़ता है जहाँ उच्च वर्णके बच्चे पढ़ते हों । लेकिन इन स्कूलोंमें पढ़ाने वाला अध्यापक अछूत बच्चोंके साथ अच्छा बरताव नहीं करता । वह उनसे प्रति विद्यार्थी एक रुपया माहवार अधिक फीस लेता है । इसके सिवाय उन्हें और भी बहुत सी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है । पहले तो उन्हें अच्छी तरह खाने को ही नहीं मिलता । उनके माता-पिता उनके लिए किताब, कापी वगैरह नहीं खरीद सकते । बच्चे को स्कूलमें भेजनेसे उनके कुटुम्ब की आमदनीमें कमी होती है । फिर जमींदारकी तकलीफभी कम नहीं । वह नहीं चाहता कि उसके हलवाहे का लड़का पढ़-लिख कर उसके चंगुलसे निकल जाय । इसके अलावा वह बखूबी समझता है कि पढ़-लिख कर वह अन्य मजदूरोंमें असन्तोषके बीज बोयेगा जिससे उसकी हलवाही और बेगार दोनों ही खतम हो जायगी और वह कहीं का भी न रहेगा । इसीलिए जमींदार दलित जातियों के बच्चों को नाना प्रलोभन देकर इस बात की कोशिश करता है कि उनके बच्चे स्कूल में न पढ़ सकें । जब वह और कुछ नहीं कर सकता तो वह अछूतों के बच्चों को स्कूल छोड़ने के लिए मजबूर कर देता है ।" (पृ० १४५-६)

अतएव यदि हमें अस्पृश्यों की दशा सुधारनी है तो जमींदारों और साहूकारों के खिलाफ हमें सख्त कानून बनाने होंगे जिससे वे उन्हें गुलाम बनाकर न रख सकें और न उनसे किसी प्रकार की बेगार ले सकें । यह शोषण-प्रणाली बन्द होने पर ही दलित जाति के लोगों की उन्नति हो सकती है, अन्यथा नहीं । हिन्दुस्तान में ऐसे बहुत-से गाँव हैं जहाँ हजारों की संख्या में हरिजन बसते हैं, उनके लिए यदि सरकार की ओर से सामूहिक खेती आदि की व्यवस्था कर दी जाय तो वे बहुत शीघ्र उन्नति कर सकते हैं । अपराधी (क्रिमिनल) समझी जाने वाली तथा हिन्दुस्तान की आदिम जातियोंकी समस्याएं भी उनकी गरीबी दूर होने से ही हल हो सकती हैं ।

भाषानुसार प्रांतनिर्माणमें महराष्ट्रकी भूमिका

प्रो० महादेव सीताराम करमरकर

भाषानुसार प्रांतनिर्माणके प्रश्नपर दर और पट्टाभि समितियोंके निर्णयसे बहुत कुछ नये प्रश्न खड़े हो जाते हैं । यह मानी हुई बात है कि लोकशासन या लोकशाही प्रधान शासनमें लोकभाषाके जरिये ही शिक्षा और शासनका होना आवश्यक है । तत्वकी दृष्टिसे इस बात पर किसीको आपत्ति नहीं थी । लेकिन इस तत्वके विवरणमें जब विचार करनेकी बारी आयी तब कुछ बातें ऐसी आ गयीं जिससे पूरे तत्वको ही छोड़ देनेका प्रयत्न किया गया । जनताके सामने जिस उद्घोषके साथ सत्य रखा गया था, उसे एकदम टाल देना भी असंभव था । इसलिए राजनीतिक कारणोंका हवाला देनेकी आवश्यकता हुई ।

साधारणतः कमीशनपर कमीशन नियुक्त करनेका अर्थ ब्रिटिशोंके जमानेसे ही हम समझ चुके हैं । जिस बातको करना पड़ता है, उसे अधिकार होने पर संपन्न किया जा सकता है । संस्थानोंके विलीनीकरणकी बातको हम यहां प्रत्यक्ष देख सकते हैं । क्या यह कहा जा सकता है कि बड़ौदाका विलीनीकरण जनताकी हार्दिक इच्छासे ही हुआ था ? या बंबई प्रांतमें उसे विलीन करनेमें बंबई प्रांतकी जनताकी इच्छाका विचार किया गया था ? जब यह तत्व स्वीकृत हुआ कि संस्थानों को विलीन करना राष्ट्रकी एकताके लिए आवश्यक है, अधिकार और सार्वत्रिक भावनाका हवाला देकर यह कार्य पूरा हो चला ।

फिर भाषावार प्रांतनिर्माणकी बातमें क्या अड़चन थी कि यह कार्य कठिन और जनताकी इच्छाके विरुद्ध बन गया ? वस्तुतः प्रांतनिर्माणकी मांग दक्षिणी हिंदुस्तानके प्रांतोंकी तीव्र रही है । इसीलिए इस कार्यका श्रीगणेश किया गया । फिर कुछ छोटे-मोटे कारणोंको विस्तृत करके उसको स्थगित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी । जो प्रांत भाषाके तत्त्व पर निर्माण किये जा सक[ते] उन्हें निर्माण किया जाता । संस्थानोंके विलीनीकर[ण] के बाद वे संस्थान भी विशिष्ट प्रांतोंमें मिलाये [जा] सकते जिनके साथ भाषिक आधारपर उनका मिला[ना] आवश्यक होता । 'बड़ौदा' संस्थान विलीन करके बड़ौ[दा] उसे बंबई प्रांतमें विलीन नहीं किया गया ? पूरे सौरा[ष्ट्र] और काठियावाड़की भी बात वही हो रही है । जि[स] महागुजरातकी स्थापनामें ही बड़ौदा संस्थानके विली[नी]करणको परिणत किया जाना चाहिए था उसके वि[रुद्ध] बंबईके प्रांतका ही प्रश्न जटिल बनाया गया । अब [यह] कहना कि एकभाषी प्रांत बहुत बड़े हो जायेंगे, कहाँ त[क] उचित है, जबकि बड़े बंबई प्रांतमें सौराष्ट्र, बड़ौ[दा] इत्यादि नये महागुजरातके सभी भाग यानी महागुजरा[त] ही मिलाया जा रहा है । और उसका व्यापक प्रति[निधित्व] निधित्व बंबई प्रांतकी पूरी महाराष्ट्रीय जनता पर ला[द] कर उस पर संख्या बलसे अधिकारकी बात सोची [जा] रही है ।

महाराष्ट्रके नेता कांग्रेसी होने पर भी इस बात[का] घोर विरोध कर रहे हैं, लेकिन अन्य प्रांतोंके मत[को] अपने समर्थनके लिए साथ लेकर उन नेताओंके विरो[ध] को कम दिखाया जा रहा है । महाराष्ट्र प्रांतिक कांग्रे[स] कमेटी भी जब इसके विरोधमें आंदोलन कर रही है तब क्या यह कहा जा सकता है कि उनका विरो[ध] नगण्य है ?

लेकिन राजनीतिक कार्रवाई यह चल रही है कि महाराष्ट्रको अराष्ट्रीय दिखाया जाय । दर-कमीशनकी रिपोर्ट पर यही आक्षेप महाराष्ट्रका है कि एक ओर मराठोंकी प्रशंसा करके 'पूना स्कूल आॅफ थाट' जैसी हीन मनोवृत्ति द्योतक शब्दावली उन्होंने निर्माण की और यह दिखाया गया कि पूनाकी जनता अराष्ट्रीय है

आज का नेपाली काव्य-साहित्य

दिल्लीरमण रेग्मी

(गतांक से आगे)

प्रगतिवाद का पूर्वरूप

वीनतम साहित्यिक कृतियोंको देख लेनेपर यह मालूम है कि हिन्दीकी समकालीन छायावाद रहस्यवाद -धाराका पूर्ण प्रभाव कुछ नवप्रसूत कवि तक ही त रहा है। इनमें सभी वर्तमान समयकी असंग- का नेपालमें आज मच रहे क्रन्दन और तत्प्रति नस्कता बरतने वाले कलाकारोंकी परस्पर धी मनोवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व हुआ है। लेकिन काव्य-जगतमें जिस तरह छायावादने उन्मुक्तिके भी लालसा दिखायी, हमारे साहित्यमें पनप रहे साहित्यिकोंने छायावादका ग्रहण जीवनसे मुँह कर किया और पलायनही उनका मूलमंत्र हो । वे अन्तमें अनन्त की ओर झुक गये। वे इतने हैं राजशाहीके अत्याचारसे कि उसकी कल्पनासे वे भागते हैं अव्यक्तको पाने की ओर।

परन्तु अन्य कलाकार जो शिक्षा-संस्कृतिसे भी प्रभावोंसे मुक्त रहे और जो साहित्यकी मूलधारा वर्तक रहे हैं निश्चित तौर पर समाजकी दी हुई बूरियों और विकासके रास्ते उपस्थित अनगिनत ाओंके प्रति निज हृदय में जमे प्रगतिवादकी घोषणा रहे हैं। मैंने इन साहित्यिकों के नाम इसके पहले लिया है जहाँ मैंने नेपाली साहित्यमें निर्दिष्ट न्तोषकी भावनाका संकेत कर दिया है। मैंने कहा के लेखनाथ और लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा को छोड़कर की सब साहित्यिक अपनी परिस्थितिसे सतर्क और के प्रति जागृत निज उत्तरदायित्वकी भावनासे पूर्णतया लोकित दिखते हैं। लेखनाथने संभवतः बार्धक्य के ही रण अव्यक्तकी प्राप्तिमें, उसकी आराधना-अर्चनामें सन्तुष्टि ढूढ़ ली है। लक्ष्मीप्रसादकी गतिविधि अवश्य कुछ आश्चर्यजनक हैं। लेकिन दोनोंमें एक बड़ा अन्तर है। लेखनाथने समाजकी विषम प्रवृत्ति को असन्तोषप्रद पाते हुए भी उससे छुटकारा पानेकी व्यग्रता न दिखायी, बल्कि नेपालकी वर्तमान स्थितिमें पौराणिक सत्ययुगको प्रतिष्ठित कर एक बहुत कमजोर प्रवृत्तिका परिचय दिया जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनको वैषम्यको सहर्ष स्वीकार कर भाग्यको कोसनाही ठीक जंचा है। वह बहुत हद तक रीतिकालीन कवियोंसे प्राप्त दास मनोवृत्तिसे मुक्त न हो सके। यदि कहीं परिवर्तन है तो वह प्रगतिवादके भयसे उत्पन्न परिस्थितिके कारण जागृत वापस मुड़नेकी प्रतिकियामें है। वह सामन्तोंको खुश रखनाही नहीं चाहते हैं, प्रत्युत देशकी विषम- ताओंका समाधान एक खास मार्गके अवलम्बनसे जो कि एक दम प्रतिक्रियावादी है, करना चाहते हैं। अज्ञेय और अनन्तकी पूजा लेखनाथकी कृतियोंमें नितान्त प्राचीन लीकपर हुई है। यदि इस दृष्टिसे उनकी कृतियोंकी समालोचना की जाय तो लेखनाथको केवल प्रकृति-कविके रूपमें ही मानना पड़ेगा। अथवा अंग्रेजी कवि ड्राइडन या पोपसे उनकी समता खींची जायगी। परन्तु लक्ष्मीप्रसादमें छायावाद-रहस्यवादके कतिपय लक्षण विकसित अवस्थामें मिलते हैं। लक्ष्मीप्रसादका कवि-हृदय अंग्रेजी दिमागी कविओंके भावना-गृहमें पला है। अन्य साहित्यकारोंकी अपेक्षा इनमें वर्डसवर्थ, कीट्स, शेली, बायरन तथा विक्टोरियन युगके ब्राउनिंग और टेनिसनकी काव्य-कला और आदर्शका गहरा असर पड़ा है। वह इसलिए एक नये ढंगसे समस्याका दिग्दर्शन करते हैं। यद्यपि उनमें भी आशावादिता और युयुत्साका अभाव है जो अंग्रेजी कवियोंमें मौजूद मिलता है। वह इस मानेमें यथार्थवादी सिद्ध हुए हैं, परन्तु उन्होंने

समाजके प्रतिकूल वातावरणका विरोध किया है। उनकी क्रिया समाजके वैषम्यके प्रति ठीक वैसी है जैसी वर्ड्सवर्थकी थी। जीवनसे भागकर एक ऐसी अवस्थामें पहुँचा जाये जहां वर्तमानकी उत्पादन कठिनाइयाँ न हों, जहाँ एक अखंड सरलताका ही राज हो। लक्ष्मीप्रसादकी एक कविता 'बाल्यकाल' में यह भाव शैशवावस्थाको भी पुकारनेसे नहीं हिचकता।

हे प्यारा शिशु फरी बन्न मसके बन्नेथिएं बालक,
केटा केटी भनून बुझकड़ बुढ़ा, सान्दिनके ही धक;
योमीठो रसिला खुलारहंसिलों यो मग्न मस्तीलिई,
छोड़िदिन्छूम मोलतोल जगको बालक पिताको बनी।

(ओ प्रिय शिशु, मैं पुनः तुम्हारी तरह हो पाता। मुझे परवाह नहीं, यदि बूढ़े बालक कहकर मेरी भर्त्सना करें। मैं जगके मोलतोलको छोड़नेको तैयार हूँ। मुझे तो यह सरस शैशवकी मस्ती चाहिए। मैं अपने पिताका फिर वही शिशु बनकर गोदमें खेलना चाहता हूँ।')

लक्ष्मीप्रसादकी 'किसान' शीर्षक कवितामें प्राकृं- तिक दृश्योंका उल्लासमय वर्णन है और उनमें कविके परिचित स्वर-संधानका संकेत भी हमें कविकी उस आन्तरिक प्रेरणाकी ओर ले जाते हैं जो जीवनके संघर्षोंसे सामना करनेका साहस छोड़ चुकी है। कविके नवीनतम महाकाव्य 'सुलोचना' में वही भाव प्रवाहित है। इस काव्यमें उन्होंने मनुष्यके अन्तरतम लोकमें हुए द्वन्द्वका, उसके दुखमय जीवनमें हुए संघर्षजनित कुठाराघातोंका, कुंठित अभिलाषाओंका, 'परिस्थितिसे' हारे हृदयकी उत्पीड़ाका जीभर भर कर रुदन किया है। परन्तु रोकर ही वह सुस्ताये और परिस्थितिकी विडम्बनाओंको, उसकी शक्तियोंके प्रकोपोंको, शान्ति- पूर्वक उन्होंने स्वीकार किया। सुलोचनाका जीवन प्रगाढ़ व्यथासे भरा है। वह जिससे प्रेम करती है, उससे पृथककी जाती है। समाजकी रुढ़ियाँ उसके रास्ते बाधा उपस्थित करती हैं। फिर भी बाधाएं ऐसी नहीं हैं कि जो तोड़ी न जायें। जिस परिवारमें उसका प्रेमी पैदा हुआ है वह ऊँचा है। केवल अन्तर है आर्थिक स्थितिका, परन्तु जातीयताका बंधन उससे कहीं अधिक क्रूर होता है और नेपालमें दो ऐसे परिवारके बीच बिवाह-सम्बन्ध आसाधारण- तया देखा गया है। कविने इस बाध्यताको अप्रतिबाध दिखाकर केवल अपनी दुर्बलताका ही प्रमाण दिया है। सुलोचना हलका विरोध करती है। परन्तु माता-पिताके एक न सुनने पर उनकी आज्ञापालन करती हुई यन्त्रके समान नियतिके हाथमें आत्मसमर्पण कर देती है। वह अदृष्ट शक्ति कल्पनामें मूर्तप्रेमको पकड़ना चाहती है। परन्तु वह स्वयं पागलसी, खोयीसी, शून्यसी--

गहभरी विचरी दुखिनीतिनी हृदय बंचित सौख्य नजिकमा।

हुई सुखी दिल देख रसाउछिन्नू सुख विषाद बरा- बर पाठ छिन्।

एक अखंड नैराश्यका अनुभव कर इस दुनियाँसे कूच करती है। उसके अवसानमें उसका प्रेमी कहींसे भटकता पहुंचता है, मगर उसे छू नहीं पाता। घटना- क्रमके साथ साथ नियतिका हाथ कार्य कर रहा है।

'सुलोचना' काव्यका कवि इन सब दुखद घटनाओं पर आंसू बहाकर ही रह जाता है। उसके शब्दोंमें 'अब हम पोछें अश्रुजल जीवन दुख समाप्त हुआ।' मदनके साथ सुलोचना उस पार गयी जहाँ सुख है।

लक्ष्मीप्रसादकी इन पंक्तिओंसे कोई भी व्यक्ति अनुमान कर सकता है कि इनमें कविकी पराजय वृत्ति ही लक्षित है। वह देखता है कि चारों ओर उसे कतिपय बंधन जकड़े हुए हैं, उनसे छुटकारा पानेके लिए वह जीवनसे मुक्त होना चाहता है और मुक्तिमें ही उसका सुख निहित है।

कठोर सामाजिक नियमोंको तोड़नेका साहस कर जिससे कि वह तादात्म्य भी स्थापित नहीं कर सकता, सुलोचनाका कवि जीवनको विषादमय पाता है। वह कहता है:–

आंसुदार नमभा सब रात पाउं दैन सुख यो नरजात
निष्फले हुनढ़ जीवन भन्नु बैसकोछ मृदु को- किल सुन्नु
ग्रीष्मताप जल हुन्छ पछाड़ी कर्नपात हिउं बैरिनबाढ़ी।
यो दुखी भव हो सबै विफल छन्द, कौंडा यहां खालीछ;

केही छैन जिन्दगी मानीलने यो आंसूको बालीछ।
मनुष्यके लिए कहीं सुख नहीं है, जीवन उसके लिए रोना है।

विश्वमा रुनुछ ज्यूनू विरक्त

वह देखता है कि उसकी असमर्थता भी भाग्यके थपेड़ोंके सामने निश्चित है, तब वह निश्चेष्ट हो सिर झुकाता है।

फुल फुल दिलहुन्छ तयारी।
बल्न बल्न रंग सुन्दर भारी
कर्मको निष्ठुर हाथ पटक
परिदिन्छ भुईं माथी लतारी।

हाय बंधन कड़ा दिन हाय, हाय कर्म अब हा निरुपाय;
हाय हाय सपना मधुदार क्या चुडिन्छ दिलटूक हजार।

भाग्यको नियामक मानकर स्वयम्को कविने जो यन्त्रवत् समझा है, वह इसलिए भी हो सकता है कि कवि किसी खास व्यक्तिगत विषय परिस्थितिका शिकार है और उसकी कविता एक प्रतिक्रिया मात्र है। परन्तु कविने जिस ऊंचाईमें जाकर अपने भाव व्यक्त किये हैं, उनसे तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि कविका तात्पर्य किसी विशेष जीवन-दर्शनसे है। वह अपना मत प्रकट करता है। इस भयानक अंधेरेमें वह एक विशेष दृष्टिकोणका प्रचार करता है।

छायावादी काव्यमें वर्तमान पलायन वृत्ति और विषमताओंको ईश्वरीय देन समझकर उसको स्वीकार करनेमें गौरव महसूस करनेकी चेष्टा लक्ष्मीप्रसाद आदि कवियोंमें प्रचुर मात्रामें विद्यमान है। जीवनके निर्दयी और कठोर बन जानेमें और उसके निराकरणके अभावमें कविने पराङ्मुख वृत्ति अपनायी। उसने जीवनकी विषमताओंसे लड़ना उचित न समझा। वह मर्माहत होकर अपनी अभिलाषाओंकी पूर्ति आध्यात्मिक साधन में ढूढ़ता है।

श्वास आफ नो बनायेर प्रभुको मन्दचामर, भावका
पुष्पले पूजथिन मूढ घंट बजाउदी

नसामा बीनका तार भदुफन्कारकागरी, नतवादल का आफ्रा हवाका वासना सरी पगालेर पखालेर प्रभुको पाउ सुन्दर।

निज श्वासको प्रभुके लिए चामरका रूप दिया। हृदयगतिसे घंटेका काम लिया गया और भाव पुष्प बन् गये। नस नससे वीणाके तारोंके झनकार हो उठते थे। अपनी अश्रुवर्षासे तब सुलोचनाने प्रभुके पाद्पदम धो डाले।

अन्तमें, लेखनाथसे भिन्न लक्ष्मीप्रसादमें विरोधकी मात्रा कुछ अधिक है। परन्तु जहां तक विद्रोहका अभाव है दोनों समान लीकपर चलतेसे नजर आते हैं। दोनोंने जीवनकी निस्सारता सम्बन्धी धारणाकी प्राचीन भारतीय वेदनाकी दर्शनके आलोकमें व्याख्याभी की है।

परन्तु सिद्धिचरण असन्तोषकी भावनाको ही व्यक्त-कर चुप न रहे। वह मर्माहत होकर भी उसके सामने धराशायी न हुए। अन्य छायावादी कविकी तरह उनमें जीवनके अभावके प्रति अगत्या उत्पन्न हुई आसक्ति नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि वह जीवनकी समस्याकी ओर सचेत हैं। उनकी कवितामें केवल मूक असन्तोषकी अभिव्यञ्जना ही नहीं, अपितु परिवर्तन की आकांक्षाओंका प्रतिबिम्ब भी है। जीवनसे मुंह मोड़कर एकान्त साधनोंसे रत होना वह नहीं चाहते। वह कहते हैं जीवनका अन्त इस तरह नहीं होता।

माथी हेरी सम्लफेरी जागरण ल्यौ नींद केरी
तीझरेका जोश टिपदे पान्थ जाऊ फेरी बढ दे पलटने
यो ठाऊँ होईन
जीवनी पांग्रा अडाउन प्रलय आंधी ब्रेक होईन
शान्ति बाधा हर्ष पीर मृत्युने पथ होईन, पान्थयो ने अन्तहोईन।

(ऊपर देखो और सम्हल जाओ। निद्रा, मोह तज कर जागरूक बनो। ओ पान्थ, हिम्मत बांधकर फिर आगे बढ़ो। यह लेटनेका विश्राम-स्थल नहीं है। प्रलय, आंधी जीवनको थामनेके ब्रेक नहीं हैं। शान्ति, बाधा, हर्ष, पीर तथा मृत्युसे भयभीत न हो।

कवि सिद्धिचरण छायावादी काव्यकी एक दूसरी धाराके प्रतिनिधि हैं। उनमें कलाके प्रति दृष्टिकोण पलायनको छोड़कर निर्माण की ओर झुका है। वह स्थिति-वैषम्यको स्वीकार नहीं कर पाते। उसे बदल देने की चाह प्रकट न कर पाते हुए भी उसके लिए अनुभूत तड़पन तथा व्यग्रताका संकेत देते हैं और यह चाह, यह व्यग्रता उनकी कलामें जिस रूपमें व्यक्त है उसे दिशान्तर ही कहना चाहिए जो कि साधारण साहित्यिक दृष्टिसे प्रगतिका ही सूचक है। टेकनिक और शैलीकी दृष्टिसे भले ही उनकी गणना शमशेर और देवकोटा आदि कवियोंकी श्रेणीमें न हो, भले ही उनमें अभि-व्यक्तिका स्पष्ट और परिष्कृत रूप न दिखता हो, फिर

भी जहाँ तक जीवनके प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करने का सवाल है, सिद्धिचरणने उस दिशामें निस्सन्देह ही एक स्वस्थता और अधिक वास्तविक प्रवृत्तिको ग्रहण किया है। उन्होंने लिखा है कम, परन्तु जितना लिखा असन्तोष और विरोधकी आगमें जलते साहित्यिकके हृदयसे। यह सही है कि कवि पद पदमें अपनी असमर्थताके बोझसे दबासा दिखता है। वह प्रतिरोध कर नहीं पाता, जीवनके वैषम्यको ग्रहण करनेके सिवाय उसके सामने दूसरा चारा भी नहीं। परन्तु यह नहीं कि वह अपने को न कोसता है। कविका मन उन्मुक्त है। केवल परिस्थिति ही उसे जकड़ रही है। सिद्धिचरणकी कविताका निष्कर्ष यही निकलता है।

पूर्णप्रसाद प्रारम्भमें नैराश्यका गीत गाते थे। इधरके हल्केसे परिवर्तनको जो सामाजिक चेतनामें दृष्टिगोचर हुआ है भारतीय स्वातन्त्र्यके कारण, मालूम होता है कि उनसे ही प्रभावित होकर उन्होंने ईश्वर प्रदत्त क्षुधा और पीड़ाका आवाहन करना व्यर्थ समझा। अब वह नवीन प्रेरणासे अनुप्राणित हो रहे हैं और उसकी अभिव्यक्ति हाल ही की कविताओंमें हुई है।

परन्तु कवि बालकृष्ण शमशेरमें जो प्रगतिशीलता दिखायी दे रही है, वह निश्चय ही आश्चर्यजनक है। छायावादके मोहपाशसे मुक्त होकर वह निस्सन्देह प्रगतिवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनकी नवीनतम कृतिमें गांधीवादके कर्मसिद्धान्तका यथेष्ट असर दिखता है। वह अब 'भागो नहीं बदलो' वाले मतको ग्रहण कर रहे हैं, अतएव आशान्वित और मधुर कल्पनाओंका उन्होंने सृजन किया है जो पूर्व कृतियोंकी तुलनामें एक न्यून दृष्टिकोण है, निश्च-यात्मक गत्यन्तर है। बालकृष्ण शमशेर इस अवस्थामें एक ही उफानसे नहीं पहुँचे हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनके भावोंमें हमेशासे परिवर्तन होता आया है और वर्तमान स्थिति प्राप्त करनेमें उन्हें अनेक दशाओंसे गुजरना पड़ा। 'मटको व्यथा' और 'ध्रुव' प्रारम्भ कालकी रचनाएँ है। इनमें कवि न तो प्रौढ़ विचार प्रस्तुत कर सका है, न उसने तदनुरूप शैली ही निर्मित की। लेकिन 'मुकुन्द इन्दिरा' और 'प्रहलाद' कविके पुष्ट हुए छायावादी भावोंके ही प्रतीक हैं।

यदि अल्हड़पनके कारण शुरूमें वह समाजकी मा ताओंके प्रति इतना दत्तचित्त नहीं होता तो उस परिभार्जन वह करता है। अब उनका समर्थन कर, नाटकोंमें सत्य और धर्मके नाम पर कविने रूढ़ियों निस्संकोच स्वीकार किया। अध्यात्मकी सार्थक और भौतिकवादकी निरर्थकता सिद्ध करनेकी चेष्टा और अन्तमें सामाजिक वास्तविकताको असत्य बताय यह निश्चय ही प्रतिगामी दृष्टिकोण था। फिर भी य कदा वर्तमान स्थिति-वैषम्यके प्रति विरोधात्मक उपस्थित कर कविने अपने अन्तरमें हो रहे कोलाहल द्वन्द्वका संकेत किया है। यह सन्देह अगले का जाकर कविके चित्तको अव्यवस्थित कर देता है उसकी पूर्व धारणाएं एक दम शिथिल पड़ जा हैं, इस कालका नाटक 'अन्धवेग' बेमतलब, निरुद्दे जीवन-क्रमका चित्र अंकित करता है। दुश्चरि भौजाईका देवरसे प्रेम करना देवरका उसके प्रेम केवल प्रगाढ़ भगिनी-स्नेह समझकर तदनुरूप स्निग्धता व्यवहार बरतना, इस पर पतिका ईर्ष्यासे जलना, बि बूझे-समझे पत्नी और भाईकी हत्या करना एकान्त पाकर और अन्तमें आत्महत्यासे जीवन-खेलको समा करना, ये सब घटनाएं जब चलचित्रकी भाँति मानस चक्षुके सामने गुजरती हैं तो एक बार पाठक प्रश्न क बैठता है, 'आखिर यह क्यों?' जो कुछ भी होता विवेकसे आस्था खोकर भ्रमवश, और साहित्यिकने अपन विक्षिप्त मनोवृत्तिसे ही उसकी अभिव्यञ्जना प्रस्तुत की परन्तु उसकी यह दशा क्षणभरके लिए ही भाव जगतमें रहती ह। तदनुसार उसके हृदयमें जीवन दायिनी नव आशाके पल्लव अंकुरित हुए और नव ज्योतिका प्रकाश जगमाया। 'मैं' नाटकमें एक नय निमार्णकी कहानी लिखी गयी है। उसमें जीवनकी विषमताओंके प्रति सचेत होनेका ही नहीं, उन्हें बदलकर अनुकूल परिस्थिति तैयार करनेका पाठ पढ़ाया गया है। "मैं" की नायिका पतिसे परित्यक्ता होकर सुलोचना-की तरह भगवद् भजनमें शरण लेने नहीं जाती। वह पतिको, कुपथगामी पतिको सचेत कर वापस मोड़ना चाहती है और तदर्थ उसने कर्मयोगका अनुसरण किया। "मैं" की नायिका 'प्रभा, मुकुन्द इन्दिरा' की पतिव्रता किन्तु निष्कर्म, असहाय, नियतिको सर्वशक्तिमान

तकर निश्चेष्ट बनने वाली नारी नहीं है। यद्यपि
रा छपवेशमें पातिव्रत धर्मनिष्ठ करनेको उद्दत पतिके
र अनजानमें वार कर उसे घायल कर एक नेपाली
ीके उच्च आदर्शका पालन करती हुई परीक्षामें
ग उतरती है, तथापि उसमें पथभ्रष्ट पतिको
ारनेका साहस नहीं है, वह पतिकी आज्ञाका अक्षरशः
लन करती है, उसे देवता तुल्य पूजती है और
को सर्वस्व समझकर बिना प्रतिवाद उसके हाथमें
नेको सौंपती है। किन्तु "मैं" की नारी विद्रोहिणी
। वह पतिको जीवन साथी समझती है और
नेको उसकी सहचरी, न कि दासी। वह कहती है,
यदि तुम मुझसे घृणा करते हो तो मैं भी तुससे
णा कर सकती हूँ। तुम मेरे प्रति असत्य बन
कते हो तो मैं भी तुम्हारे ऊपर असती बन सकती
।" साथ ही हम देखते हैं कि नारीके विद्रोही रूपमें
च्छृंखलताका जरासा भी आभास नहीं है। वह
र्तव्यपरायण हिन्दू नारी है। वह पुरुषको ठीक
ास्ते पर लानेके लिए प्रयत्नशील है, परन्तु मर्यादाका
ल्लंघनकर नहीं। फर्क इतना ही है कि वह समाजका
ारीके प्रति जो दृष्टिकोण है, उसे केवल विलासकी
ीड़ा और अभिलाषाओंकी पूर्तिका साधन समझनेकी जो
मनोवृत्ति है, उसको स्वीकार नहीं करती। "मैं" में नारी
अज्ञानताके अंधकारमेंसे निकल कर पूर्ण प्रकाशमें
पहुँची है। कमला, इन्दिरा, सागरीकी आँखें निद्रामें
बंद थीं। कभी खुलती थीं तो भी पूरी नहीं। परन्तु
"मैं" की प्रभा सचेत है, आँखोंमें खुमारी तक नहीं।
वह पुरुषसे पूछती है, 'यह दोष किसका है कि मैं
अभी तक अशिक्षिता मूर्खा रह गयी? क्यों तुमने
मुझे सभ्य और शिक्षित नहीं बनाया? पुरुषका कर्तव्य
क्या है? स्त्रीको शिक्षासे वंचित कर मूक असहाय
बनाना, उसके हाथ-पैर बांधकर पंगु बनाना अथवा
निष्कपटता बरतकर उसे योग्य बनाकर पुरुषके साथ
कंधेसे कंधा भिड़ाकर अखाड़ेमें खड़ा होनेके उपयुक्त
सम्पन्न बनाना?'

"मैं" का साहित्यिक संघर्षसे भागना नहीं चाहता। पीछे हटना उसे अधर्म प्रतीत होता है। उसकी दृष्टिमें समाजका विकास ही प्रकृतिके साथ हुए संघर्ष द्वारा संभव हो सका। वह मर्माहत होकर क्रन्दन करता है। परन्तु आगे बढ़नेके लिए, फिर जूझनेके लिए, उसको अपरिहार्य समझकर सिर झुकानेके लिए नहीं। वह लड़कर मरेगा क्योंकि इसमें जय न होने पर ही मृत्यु है। मनुष्यका धर्म है कर्म करना। अतएव स्वयम् मर कर भी संसारको बचायेगा। उसकी परिभाषामें मनुष्यका धर्म निष्काम, निष्पक्ष, निर्लेप रहकर संसारके कल्याणके लिए मनुष्योचित सेवा करना है।

यही आशा और कर्तव्य की वाणी हाल ही में छपी दो कविताओंमें 'स्वर्ग और देवता' तथा 'आकाश-वाणी'में गूंज रही है। कवि एक जगह कहता है, "स्वर्ग का जन्मोत्सव मनाया जायगा, वह दिन निकट है। पृथ्वी तुम घबराना नहीं। तुमने राम, कृष्ण, सुकरात, बुद्ध, ईशा, शेक्सपीयर, आइनस्टाइन जैसे पुत्रोंको जन्म दिया, आजकी विषमताएं दूर हो जायंगी, केवल इन्तजार करो।"

यह निस्संदेह साबित हुआ कि कवि बालकृष्ण शमशेर परम्पराकी शृंखलामें जकड़ी हुई साहित्यगत काव्य-शैली और भाव संकीर्णतासे मुक्त हो गये हैं। यह भी स्पष्ट दिखता है कि वह अनुकूल सामाजिक प्रवृत्तिकी खोजमें आशापूर्ण हृदय लिये आगे बढ़ रहे हैं। उपरोक्त कवितामें उनका परिचय स्थिति-वैषम्यसे भी दिखता है और जहाँ परिवर्तनकी मांग करते हैं वहाँ निर्माण की बात भी उन्होंने सोचा है। लेकिन इस नवनिर्माणकी रूपरेखाकी सजीव और पुष्ट कल्पना उनमें अभी तक नहीं मिलती। जीवनको विषादमय मानकर भी उसकी कार्य-कारण सम्बन्धी जाँच-पड़ताल भी उन्होंने नहीं की है। हो सकता है कि ऐसा करना उनके लिए राजनैतिक दबावके कारण सम्भव नहीं है। हो सकता है कि वह महसूस करके भी प्रकट कर नहीं पाते हों। उनकी कवितामें भावी समाज-व्यवस्थाके रूपरंगका कोई निरूपण नहीं हुआ है। "मैं" नाटककी भूमिकामें इन्होंने अपने समाज-सुधारकी ओर अग्रसर रहनेका दावा किया है। हो सकता है कि वह सुधारकी मरहम-पट्टी तक ही अपनी चेतना सीमित रखते हैं, परन्तु जिस आशापूर्ण गतिसे वह प्रस्थान करते हैं, जिस कर्तव्यकी महानिष्ठा ग्रहणकर वह कार्य करते हैं और सबल मानववादका उन्होंने जैसा प्रचार किया है उनसे यह झलकता है कि कवि बालकृष्ण शमशेर प्रगतिवादी

विचारधारासे अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। वह प्रगतिशील होकर प्रगतिवादकी ओर झुक रहे हैं।

टेकनिक और वाह्यरूपकी दृष्टिसे भी बालकृष्ण शमशेरकी रचना श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। मेरा निजी मत तो यह है कि वह नेपालके उन थोड़े प्रतिभाशाली साहित्यिकों में से हैं जिनको भारतके उच्च कोटिके साहित्यिकों के समकक्ष कहा जा सकता है। उनकी रचनाओंकी मौलिकता और सरलता तथा उनमें निहित भाव गांभीर्य, सरसता बिलकुल निश्चित है। ये गुण हमें अन्य कवियोंमें उपलब्ध नहीं होते। देवकोटा कोही लें। इनमें उस हद तक सरलता और कल्पनाकी सजीवता और मौलिकता नहीं है, जिस हदतक बालकृष्णकी कविताओंमें दृष्टिगोचर है। ऐसा मालूम होता है कि जिस कल्पनाको वह लिपिबद्ध करते हैं वह बहुतांश अनुभूत नहीं है। बालकृष्ण शमशेरने अपने चारों ओर व्याप्त प्राकृतिक छटाओं तक ही अपना काव्य-वर्णन सीमित रखा है। वह कभी बन-कन्दरा या शैलखण्डकी छाया उतारनेकी चेष्टा करते हैं तो भी शब्दाडम्बरसे कल्पनाके चित्रको नहीं ढांकते, जैसा कि देवकोटाने किया है। जहाँ तक कल्पनाकी अभिव्यक्तिको बोधगम्य बनानेका सवाल है, इसका भी निर्वाह बड़ी कुशलतासे उनकी कृतिमें हुआ है। देवकोटाकी अभिव्यंजना दुरूह हुई है और जगह-जगह एकतानताका अभाव भी मिलता है। कई निरर्थक शब्दोंका समावेश होनेसे केवल छन्दबद्धताको क़ायम करनेके ख्याल से लिखा-सा लगता है। विन्यासके नये-नये प्रयोग भी देवकोटाके काव्यों में कुछ कृत्रिम, अमनोहर तथा कर्णकटु जंचते हैं जब कि बालकृष्ण शमशेरकी कृतियोंमें एक जबर्दस्त संयम का अनुभव हमें होता है जो कि उनकी सर्वांगीण सफलताका कारण है।

वैसे देवकोटाकी काव्यशैली प्रारम्भकी रचनाशैली से सर्वथा भिन्न है। 'मुना मदन' गीतिकाव्य हर दृष्टिसे उच्च कोटिका माना जाता है। यह सरल, सुसम्बद्ध और करुण रससे आप्लावित है, अतएव लोकप्रिय भी है। परन्तु यह प्रसाद गुण अधिक मात्रामें आजकलकी कृतियोंमें उनमें नहीं मिलता। रचनाकी गरिमामें उसका सौष्ठव खोयासा लगता है। हैं तो देवकोटा भी प्रतिभावान्। उनकी विद्वत्ता, क्षमता और साहित्यिक कुशलताके सभी कायल हैं। नेपाली साहित्यके निर्माणके इतिहासमें देवकोटाको प्रथम पंक्तिमें बिठाया जायगा। रचनाओंमें भी जहां एक ओर हमने कुछ रूखापनका अनुभव किया ठीक उसी तरह अन्यत्र सजीव प्रवाहमयी शैलीका रसास्वादन हमको मिला है। पुनश्च देवकोटाका व्यक्तित्व केवल काव्यपर ही आश्रित नहीं है, वह सफल कहानीकार और निबन्धक भी हैं! सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि इन दिनों उनकी मानसिक स्थिति सन्तुलित न रहने पर भी वह बेरोक साहित्य-रचनामें आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी अवस्थामें मन चंचल रहता है। हो सकता है कि उनकी कृतियोंके असन्तुलित हो जानेका भी यही कारण है।

एक खास चीज जो देवकोटाकी कृतियोंमें शुरूसे विद्यमान है और जो नेपाली काव्य-शैलीके लिए उचित नहीं मालूम पड़ती है वह है अंग्रेजी विन्यासका सन्निवेश। उन्होंने यह नेपाल देशीय पद्धतिका बहिष्कार करके किया है। जगह-जगह वर्णन-शैली और अभिव्यक्तिके माध्यम अंग्रेजीसे लिये गये हैं। लेकिन उन्होंने छन्द और स्वरतो निजी ही रखा है। एक हद तक नये शब्दोंके निर्माण तथा वैचित्र्यकी सृष्टि अस्वाभाविक लगती है और शब्दालंकार भी कुछ प्रमादपूर्ण लगता है। देवकोटाकी साहित्यिक न्यूनता कवितामें नाटकीय व्यजंना के प्रस्तुत करनेमें भी दिखती है। भाषाकी दृष्टिसे अपेक्षाकृत देवकोटामें नेपालीका ही बाहुल्य है। यदि वे मनगढ़न्त शब्दोंका प्रयोग संयमसे करते तो अधिक सफल होते।

कवि लेखनाथकी परिपाटी पुरानी है। इधर वह मात्रिक छन्दोंमें पद्य-रचना करने लगे हैं। विषयका चुनाव भी शास्त्रीय पद्धतिको छोड़कर आधुनिक हुआ है। जैसा कि पूर्व अवस्थामें बालकृष्ण शमशेर और देवकोटा आदि कवियोंमें पाया जाता है, लेखनाथ टेकनिककी ओर अग्रसर हो रहे हैं। हालहीमें 'साहित्य स्त्रोत'में छपी रचनाओंको पढ़नेके बाद ऐसा ही अनुभव पाठकको मिलता है। परन्तु संस्कृत साहित्यकी परस्पराके अनुसार ही उनमें नवीन भाव सजग हुए। उन्होंने बालकृष्ण शमशेर या देवकोटा की तरह अपनी कल्पनाको गैरदेशीय ताना-बाना भी नहीं दिया।

आधुनिक नेपाली साहित्यमें लेखनाथका ठीक वही स्थान है जो प्रसाद या निराला का हिन्दीमें है। अन्तर इतना है कि लेखनाथ अंग्रेजी साहित्यसे अनभिज्ञ रहने

से और नेपालकी पिछड़ी अवस्थामें पले होनेके कारण बौद्धिक आन्दोलनसे कम प्रभावित हुए और परिणामतः उनकी कविता में भावुकता और संवेदनशीलता अधिकतर प्रकृति की उपासनामें या सन्तप्त आत्माके प्रति दया-दर्शनमें जग उठी।

कवि लेखनाथ पर्वतीय प्रदेशके निवासी हैं। उन्होंने प्रकृतिकी छटाओंका निकटसे निरीक्षण किया है। उनकी कविताओंमें प्रकृतिका बड़ाही सजीव और मार्मिक चित्रण मिलता है। उपमाके उपयोगमें भी उन्होंने प्रकृतिका बड़ा अद्भुत किन्तु वास्तविक चित्र खींचा है। लेखनाथकी प्रकृति जिस तरह स्निग्ध कोमल है, उसी तरह उनकी अभिव्यक्ति भी सरल और लालित्यपूर्ण हो गयी है जिसकी वजहसे उनकी कविताको काफी लोकप्रियता मिली है।

(इस आलोचनामें देवकोटाकी आधुनिकतम रचनाओं पर विचार नहीं किया गया है। एक अन्य लेखमें उनकी विवेचना प्रस्तुत करेंगे।)

कवि लेखनाथ नेपाली साहित्यके युगान्तरकारी कवि माने जाते हैं। मोतीराम भट्ट आदि रचयिताओंके साहित्यकी मन्दप्राय गतिको उन्होंने उछाल दी थी। नेपाली साहित्यमें उनकी पूर्व कृतियोंका, 'ऋतुसंहार' तथा "सत्य कलि सम्वाद" दो स्फुट काव्योंका जो स्थान है वह सर्वथा उनमें निहित विशिष्ट गुणोंके अनुरूप है। वह जैसे हिन्दी साहित्यके 'भारत भारती' का युग था। अपने युगके अधःपतनकी ओर उन्होंने बड़ी सजीवता और काव्योचित मार्मिकताके साथ हमारा ध्यान आकर्षित किया है। ऋतुसंहारमें उन्होंने रुमानी भावुकता और मधुरताकी छाप डाल दी है।

यह हुई पूर्व रचनाओंकी बात। मध्यकालमें आकर उनका प्रकृति-वर्णन यथार्थसे सम्मिश्रित होता है। अतएव कुछ स्पष्ट वेदनाकी झलक हमें मिलती है। इधर आकर उन्होंने रहस्यके प्रति जिज्ञासा प्रकट की है और अनन्तकी खोजमें तृप्तिकी लालसा। वह नेपाली साहित्यके छायावादी-रहस्यवादी दृष्टिकोणके प्रतिनिधि कवि हैं। साथ ही उनमें प्राचीन तथा आधुनिक अभिव्यंजना-शैलीका समावेश है।

उनकी टेकनिक पुरातन है। किन्तु भाषा और विन्यास आधुनिक भाव-विषयके अनुरूप हैं। इनके अलावा उनकी रचना अन्य स्पष्ट भाषा-साहित्यसे बिलकुल अप्रभावित है जो कि एक खास गुण है। उनकी शैली सरल और प्रवाहमयी है। भाषा अधिक-तया संस्कृत मिश्रित होनेपर भी सुगम। इनके कारण ही कवि लेखनाथ लोकप्रिय हो सके हैं।

एक और बात लेखनाथके सम्बन्धमें यह है कि उनकी कल्पनाएं अत्यन्त मधुर, सरल और मौलिक होती हैं। बालकृष्ण शमशेरकी कृतियोंमें वर्तमान गाम्भीर्य और दार्शनिकता लेखनाथमें ढूढ़नेपर कम ही पायी जाती है। वह पूर्वोक्त कविकी तरह मानव और उसकी परिस्थितिका अध्ययन तो करते हैं, परन्तु आध्यत्मिक दृष्टिसे। यों कुल मिलाकर लेखनाथका व्यक्तित्व नेपाली साहित्यमें अत्यन्त ऊंचा है।

कवि भीमनिधि तिवारी इधर १० वर्षसे लेख लिख रहे हैं और अपेक्षाकृत नयी पीढ़ीमें उनका शुमार होता है। वह मूलतः रोमाण्टिक शैलीमें प्रेमके गीत लिखते थे। इधर आकर अन्य विषयोंपर लिखने लगे हैं, परन्तु ज्यादे उनकी कवितामें मानव-जीवनके उत्पीड़न, वियोग-जन्य व्यथा तथा असफलताका चित्रण रहा है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है और अपेक्षाकृत अन्य साहित्योंका कम प्रभाव पाया जाता है। विन्यास और वर्णन-शैलीमें भी नेपाली भाषाका निजत्व विशेष रूपसे प्रकट होता है।

इनके कई नाटक भी प्रकाशित हुए हैं। नाटककी विषय-वस्तु सामाजिक है और सभी नान्दी, सूत्रधार, स्वगत, विष्कम्भक आदि शास्त्रीय नियमोंका बहिष्कार करके आधुनिक परिपाटीपर लिखे गये हैं। साथ ही ये रङ्गमंचके अनुकूल हैं। अतएव श्रव्यसे अधिक दृश्य। नाटकोंमें प्रयुक्त भाषा सरल और ठेठ नेपाली है और कथनोपथन गंभीर न होकर भी रोचक है।

नाटकोंमें सर्वत्र विषादकी छाया झलकती है। समाजकी विषमताओंका तथा तज्जन्य क्रूर और नृशंस अत्याचारपर दृष्टिक्षेप पूर्णरूपेण हुआ है। परन्तु मानव-जीवनका गहरा अध्ययन नाटककारने नहीं किया है। ऐसा उसकी नाटकीय अभिव्यक्तिसे प्रतीत होता है। नाटकके पात्र भी प्रौढ़ताकी अवस्थासे कुछ दूर ही हैं। एक प्रमुख दोष मनोवैज्ञानिक विश्लेषणसे पात्रोंकी सर्जना उपस्थित न करनेका है जिसका परिणाम यह हुआ है कि संवादोंमें और घटना-क्रममें एक हद तक अस्वाभा-विकता आयी है। नाटककारने पात्रकी स्थिति और मन का विश्लेषण नहीं किया है ऐसा मालूम पड़ता है।

यदि उसने ऐसा किया होता तो वह सम्वादोंमें पात्रकी मनोस्थितिके अनुरूप ही सम्वाद उपस्थित करता। निरे अपढ़ किसानके मुंहसे दार्शनिकता नहीं छंटवाता और उसके नाटकका अन्त असंगत द्रुतताके कारण अस्वाभाविक नहीं होता। गोपाल रिमालका नाटक 'मसान' कुछ और दोषोंके रहनेपर भी उपर्युक्त दृष्टिसे अधिक सफल है। भीमनिधिका एकांकी 'काशीवास' श्रवण के आदर्श पर रचित घटना प्रधान दृश्य नाटक है। पर यहभी तद्दिशामें निर्मित उसमें रचनाके विकास तक पहुंच नहीं पाया है। आशा है, आगामी कृतियाँ टेकनिक की दृष्टिसे भी अधिक अच्छी और स्वाभाविक साबित होंगी।

इस युगके सफल नाटककार अवश्यमेव बालकृष्ण शमशेर रहे हैं। उन्होंने नाटककी कलाको सचमुच प्रशंसनीय गति दिया है। उनके नाटक दृश्य ही नहीं, अभिनेय ही नहीं, पठनीय अधिक हैं। कुछ हद तक प्राचीन शैलीको उन्होंने जरूर अपनाया। फिर भी नवीन-तमका अभाव उनमें नहीं है। उनके पात्र सहृदय, विशाल और अपनेमें पूर्ण विकसित हैं। सम्वाद और घटनाकी गतिमें स्वाभाविकता रहनेसे एक जबर्दस्त सजीवता आयी है।

हमारी आलोचनाकी समाप्ति यहीं पर हो रही है। विषयकी सीमाके बाहर होनेसे गद्य-साहित्यका केवल उल्लेख ही प्रारम्भ में हो सका। एक अन्य लेखमें हम गद्य-साहित्यपर आलोचना-निबन्ध प्रस्तुत करेंगे। यों गद्य-साहित्यका विकास उस मात्रामें हुआ भी नहीं है कि इसकी तुलना काव्य-साहित्यसे की जावे। सम्भवतः देश की पिछड़ी आर्थिक व्यवस्थाके अनुरूप ही यह हुआ है।

काव्य-साहित्यकी चर्चा समाप्त करते हुए अन्तमें हमें इतना ही कह देना है कि साहित्यिकके रास्तेमें अनेक प्रतिबन्धोंकी उपस्थिति साहित्यको पनपने नहीं दे रही है। काव्य की गति सामन्ती व्यवस्थाके नियन्त्रण के बीच उस द्रुतता और प्रशस्ततासे नहीं आगे बढ़ पाती जो एक स्वतन्त्र वातावरणमें संभव होता है। कवि का भयभीत हृदय प्रसार और मुक्ति नहीं पाता। उसे भावोंको दबाना पड़ता है और उसपर प[...] अनुकूल रंग चढ़ाकर प्रकट करना पड़ता है[...] उचित दिशामें अभिव्यक्ति न हो सकी उ[...] बन्द कर दिये गये, भावोंने एक अन्य रास्ता [...] नैराश्यका, अंधकारका। कविकी कल्पना-शक्ति [...] हुई और उसने इहलोककी चिन्ता छोड़कर परलोक [...] सोचना सुगम समझा। जहां कविकी प्रतिभा प्र[...] होकर अनर्थके भाव-जालमें फँस गयी, वहां यह स्वा[...] ही है कि कवि मौलिक वृत्तिको संकुचित अनुभव [...] उसकी कवि-शक्तिने निजत्व खोकर तब किसी [...] अनुकरण किया। अपनी परिधिसे आँखें मूदकर [...] गीत गाये। यही बहुतांश नेपाली साहित्यिकोंका [...] क्रम हो गया है। उनके लेखन-कलापर ताला प[...] है। वे हृदयको भावोंसे भरा पाकर भी, उन्हें [...] की तीव्र लालसा रखकर भी कलमको एक [...] बन्धनमें जकड़ी हुई पा रहे हैं। यदि नेपाली सा[...] पलायनवादकी धारा सर्वप्रमुख है तो इसमें आश्च[...] नहीं। नेपालकी राणाशाही हमारे सांस्कृतिक [...] के रास्तेमें रोड़ा डाल रही है। नेपाली भाषामें [...] तक स्वच्छन्द गतिसे साहित्यिक अभिव्यक्ति न[...] सकी है।

लेकिन उन थोड़े साहित्यिकोंको जो प्रतिकूल परि[...] के बावजूद भी सच्चे साहित्यके निर्माणकी ओर अ[...] हैं और जिन्होंने नेपाली भाषाकी प्रथम सीढ़ीमें ही [...] जोरदार मौलिक रचनाका स्तंभ खड़ा कर दिया है [...] हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। इस अल्प[...] में नेपाली साहित्यकी जो शालीनता दिखती है वह इ[...] ही सर्वमुखी प्रतिभा और चेष्टाका फल है। इनसे देश[...] बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं। काश, ये अपने भावोंको निर्भी[...] के वातावरणमें व्यक्त कर पाते। आज जैसे ये [...] की दयनीय स्थितिसे अनभिज्ञ हैं। इनकी रचना[...] उसका कोई स्थान नहीं। एक बार इन्हें अ[...] बढ़नेकी आजादी मिलती, देशको समृद्ध, उज्[...] तथा गौरवान्वित करनेका अभिभार इनके ऊपर पड़ता [...] अब युग आया है जिसमें नेपाली साहित्यिक एक बड़ा प[...] अदा करेंगे।

सन्थाल

दिवाकर साहु 'समीर'

ल हमारे देशके अति प्राचीन लोगोंमेंसे हैं। उड़ीसा, बंगाल और आसामके विभिन्न स्थानोंमें २५ लाख सन्थाल बास करते हैं। भारतवर्ष डा, हो, खड़िया, गोंड, भील आदि जातियोंके न्थाल लोगों का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है।

इन लोगों का जातीय इतिहास सिरसे पाँव क्षाके अंधकारमें छिपा हुआ है, फिर भी कुछ ज्ञानिकों एवं नृवंश-विज्ञानवेत्ताओंने इस विषय य-समयपर कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। कुछ के मतानुसार मलाया, जावा, सुमात्रा तथा हिन्द-के और-और द्वीपोंकी आदिम जातियोंका आदि भारतवर्षमें ही था जिनकी भाषाओंसे हमारे मुण्डा, सन्थाल, हो, बिरहोड़ आदि लोगों की ओंका घनिष्ट सम्बन्ध है। डा० ग्रियर्सनने लिखा क 'कोल' शब्द भारतवर्षके हिन्दुओंके द्वारा , हो, सन्थाल, उराँव आदि जातियोंको दिया नाम है। हमारे प्राचीन साहित्यमें इन जातियोंके के लिए 'निषाद' शब्द आया है जो तीर-धनुषके के सम्बन्धमें उन्हें दिया गया नाम है। प्राचीन , भील और निषाद ही अनार्य कहे गये हैं, इस का सच्चा प्रमाण हमें अब तक नहीं मिला है। सन्थालोंके पूर्वज ही अनार्य कहे जाते थे, ऐसा -ठीक नहीं माना जा सकता। 'सन्थाल' शब्द तो हाल का है। सन्थालों की सबसे अधिक समानता डा' लोगोंसे है और यह निश्चय है कि ये दोनों तियाँ हाल ही में एक-दूसरेसे पृथक हुई हैं। सन्थालों एक प्राचीन नाम 'खेरवार' भी है। नृवंश-विज्ञान प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् राय बहादुर शरतचन्द्र राय इन जातियोंके बारेमें लिखा है कि 'ये लोग पहले ाबमें रहते थे। वहींसे काल-क्रमानुसार आजमगढ़, देलखंड, जयपुर, नागर, आगरा, पांचाल, कोशल, देह आदिका चक्कर काटते हुए वे मगध—दक्षिण हार—में प्रविष्ट हुए।' बिहार से उड़ीसा, बंगाल र आसाममें कुछ लोग जा बसे हैं।

हमारे महाकाव्योंमें भी इन लोगोंका उल्लेख यत्र-तत्र पाया जाता है। भगवान् रामको बनवाससे लौटानेके लिए जब भरतजी अयोध्यासे चित्रकूट पधारे थे, तब वहाँ के 'कोल, भील, किरात' आदि लोगोंने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया था। उनके आतिथ्यसे अयोध्यावासी गद्‌गद हो गये थे। आज भी सन्थालों का आतिथ्य सराहनीय बना हुआ है। कहा जाता है कि रामायणके 'निषादराज' भी इन्हीं लोगोंके पूर्वजोंमें से थे जिनका भक्ति-भाव देख महर्षि वशिष्ठने उन्हें सप्रेम गले लगाया था। रामने शबरीके बेर बड़े प्रेमसे खाये थे। शबरी 'शबर' जातिकी स्त्री थी। यह जाति आज भी उड़ीसामें मौजूद है। एकलव्य तो एक निषाद-पुत्र था ही, उसके ऐसा वीर धनुर्धर बिरला ही कोई हुआ हो। भगवान् कृष्णकी मृत्यु भी एक निषादके वाणसे ही हुई थी। इतना ही नहीं, किंवदन्ती है कि रामने इन्हीं लोगों को लेकर लंकापर चढ़ाई की थी। और, हम देखते हैं कि सन्थाल लोग आज भी धनुष-वाण चलानेमें बड़े कुशल होते हैं। फिर कौन कह सकता है कि इनके पूर्वजोंके साथ हमारी परम्पराओं का समाहार नहीं हुआ है?

आजके सभ्य संसारकी दृष्टिमें सन्थाल लोग अस-भ्य भले ही माने जाँय, फिर भी उनकी अपनी सभ्यता और संस्कृति है जिनमें उनके उज्वल आदर्श गुथे हैं। संथाल-संस्कृतिमें उनकी दंतकथाओंका बड़ा महत्व है। ये उनकी परम्परा की वस्तुएँ हैं। उनकी दंतकथाओंके अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति समुद्रसे हुई है। 'माराङ ठकुर' (भगवान्) ने सर्वप्रथम कपिला-गौ की सृष्टि की। समुद्रमें पानी पीते समय उस कपिलाके मुँहसे जो फेन निकला उसीसे कुछ पौधे उगे। फिर भगवान्ने 'हाँस-हाँसिल' (हंस-हंसिनी) नामक दो पक्षियों की रचना की जिन्होंने उक्त पौधोंमें अपना नीड़ बसाया। उन्हींसे प्रथम मानव-दम्पति का जन्म हुआ। उस प्रथम जन्म-स्थान का नाम 'हिहिड़ी-पिपिड़ी' कहा जाता है। वहाँसे जब धीरे-धीरे उनकी वंश-वृद्धि हुई, तब वे बाहर

'परिसों' (गोत्रों) में विभक्त हो गये—जैसे, किसकू, सोरेन, हेमरम, हाँसदाक्, मुर्मू, मरण्डी, बासके, बेसरा, टुडु, चोंड़ें, पौंड़िया और बेंदया। कहा जाता है कि किसी समय सन्थालोंके पूर्वज किसी 'चाय-चम्पा' नामक स्थानमें राज्य भी करते थे। किसकू गोत्रवाले राजा, सोरेन् गोत्रवाले सैनिक, मरण्डी लोग महाजन, हेमरम लोग व्यवसायी, टुडु लोग शिल्पी और मुर्मू लोग पुजारी थे। इसी प्रकार उनके समाज का काम बारह भागोंमें बँटा था। प्रत्येक गोत्रवालोंके अधिकारमें एक-एक गढ़ भी था जिनमें कुछके नाम चाय, चम्पा, बादोली, कोय-ण्डा, खायरा आदि हैं। 'चाय-चम्पा' के बारेमें कई विद्वानोंने अपनी-अपनी बातें लिखी हैं, पर अब तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है।

सन्थालोंके पूर्वज वीर, परिश्रमी, सच्चे, सरल और सब प्रकारसे स्वावलम्बी होते थे। यद्यपि आज उनकी बहुत-सी खूबियाँ नष्ट हो चुकी हैं, फिर भी उन्होंने पर्वों, उत्सवों, संस्कारों, लोककथाओं और गीतोंके रूप में अपनी जातीय संस्कृति को छिन्न-भिन्न होनेसे बचाये रखा है। उपेक्षा एवं अशिक्षाके घोर अंधकारमें भी उन्होंने अपनी पैतृक थातियों को नष्ट होने नहीं दिया, यह कम बड़ी बात नहीं।

कई विदेशी विद्वानोंने सन्थालों को प्रेतवादी, बेदीन आदि कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग अपने जीवनमें भूत-प्रेत को अधिक महत्व देते हैं, परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सन्थाल केवल प्रेतवादी नहीं हैं और न ये बेदीन ही हैं। 'माराङ ठकुर' या 'चान्दो बाबा'के नामसे वे महान् सृष्टिकर्त्ता का अस्ति-त्व मानते और उन्हें जानते हैं। यही बात मुण्डा, हो, उराँव, भील, बैगा आदि और-और आदिम जातियोंके बारेमें भी है। 'माराङ ठकुर' के सिवा 'माराङ बुरु (महान् देवता), 'मोंडेंको-तुरुइको' (पंचदेव), 'जाहेर-एरा' (जाहेरदेवी), 'गोसाँई एरा' (भगवती), 'ओड़ाक् बोंगा' (कुल-देवता), 'आतो बोंगा' (ग्राम-देवता) आदि सन्थालोंके प्रमुख देवी-देवताओंमें से हैं। सन्थालों का विश्वास है कि ईश्वर लोगों को कुछ संबल देकर पृथ्वी पर भेजते हैं और जब तक वह संबल खत्म नहीं हो जाता तब तक उनकी मृत्यु नहीं होती। देवी-देवताओंके बारेमें वे कहते हैं कि उन्हीं की कृपासे हम बीहड़ जंगलोंमें भी निरापद वास कर सकते हैं। 'माराङ बुरु', 'मोंड़ेंको-तुरुइको', 'जाहेर एरा' और 'गोसांई एरा' के लिए प्रत्येक सन्थाल-गांवमें एक स्थान संरक्षित रहता है जिसे 'जाहेर थान' कहते हैं। 'ओड़ाक्-बोंगा' घरमें वास करता है। 'चान्दो बोंगा' सर्व-व्यापक हैं।

सन्थाल पितरोंको भी मानते हैं। उनका विश्वास है कि परिवार का मंगल पितरों पर ही निर्भर करता है। प्रत्येक गांवके 'मांझी थान' में पितर संस्थापित रहते हैं। सिन्दूर देवी-देवताओं का प्रतीक है।

पितरों और देवी-देवताओंको प्रसन्न रखने के लिए समय-समयपर उनकी पूजा होती है। अक्सर मुर्गियोंकी बलि और 'हंड़िया' की भेंट उन्हें समर्पितकी जाती है। बीमारियों और दुर्घटनाओंके निराकरणके लिए भी देवताओंकी पूजा होती है। सन्थालोंमें नरबलिकी प्रथा कहीं नहीं है। हाँ, इनमें डाइनका विश्वास अवश्य है और कभी-कभी संभावित डाइनोंकी हत्याएं भी होती देखी गयी हैं। देवताओंकी पूजाके लिए प्रत्येक गाँवमें एक पुजारी रहता है जिसे 'नायके' कहा जाता है।

सन्थाल बड़े परम्परा-प्रिय होते हैं। अपने पुरखों पर इन्हें गर्व होता है और ये उनकी थातियोंको यत्नसे जुगाकर रखते हैं। पर्वो, उत्सवों, किंवदंतियों आदिको ये लोग अपनी अमूल्य पैतृक थाती समझते हैं। जब जब वर्षका नया अन्न प्राप्त होता है तब-तब पर्व मना कर सर्वप्रथम अपने पितरों और देवताओंको उसे अर्पण किया जाता है। पर्वोंमें 'एरोक्' 'हरियड़' 'दासाँय' 'सोहराय' 'बाहा' 'पाता' 'छाता' 'काराम' आदि प्रमुख हैं। 'एरोक्' धान बोनेके पहले और 'हरियड़' धान के पौधे कुछ बढ़ जाने पर होता है। 'दासाँय' सन्थालों का विजयोत्सव है। 'सोहराय' उनकी दिवाली है जिसमें गोपूजा एवं पितरोंकी अभ्यर्थनाका खास आयोजन होता है। यह सन्थालोंका सबसे बड़ा त्योहार है। मुण्डा लोगोंका 'बड़ाखनी' त्योहार ऐसा ही है। 'बाहा' उनका बसन्तोत्सव तथा दूसरा बड़ा पर्व है। सन्थाल इस पर्वको सबसे अधिक पवित्र समझते हैं। जब तक गांवमें 'बाहा' पर्व नहीं हो जाता तब तक बनों के नये फलों, फूलों और पत्रोंका व्यवहार वर्जित है। हमारे फागकी तरह इस त्योहारमें सन्थाल लोग आपसमें शुद्ध जलकी पिचकारी खेलते हैं जिससे

आपसके वैमनस्य, मनमुटाव और झगड़ोंको वर्ष भरके लिए धो डालनेका विश्वास किया जाता है। 'पाता' और 'छाता'में महादेवकी पूजा होती है। ये उनके पूर्ण सात्विक और बड़े महत्वके त्यौहार हैं। 'काराम'उनका वार्षिक श्राद्ध है, जब खासकर सृष्टि महात्म्यका प्रसंग छिड़ता है। 'पाता' 'छाता' और 'काराम'का आयोजन करने वाला बड़ा भाग्यशाली समझा जाता है। इनके प्रायः सभी त्यौहार सामूहिक होते हैं और अमीर-गरीब हर कोई समान रूपसे उनमें भाग लेता है। सन्थाल संस्कृतिमें गौओंका बड़ा महत्व है। उनके जीवन के किसी भी पहलूमें गौओं के प्रति किसी तरह की हिंसा-भावना नहीं पायी जाती। इस विषयमें उनके गीतोंमें हमारी वैदिक ऋचाओंसी सात्विकताएँ भरी पड़ी हैं। हनुमानको वे देवता मानते हैं।

जन्म से मृत्यु तक सन्थालों के कई जातीय संस्कार भी हैं जिनमें 'छटियार' 'सिका' 'बापला' 'मँड़ी डाहाव' और 'भान्डान' प्रमुख हैं। 'छटियार' छट्ठी को कहते हैं। किसी बच्चे के जन्म होने पर सारे का सारा गाँव अशुद्ध समझा जाता है और जब तक नवजात शिशु का 'छटियार' नहीं हो जाता तब तक सूतक वर्तमान रहता है। सूतक रहते गांव में किसी तरह के पर्व, विवाह आदि शुभ कार्य नहीं हो सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का सम्बन्ध सिर्फ अपने घर से ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण गाँव से है। 'छटियार' जन्म के पहले, तीसरे या पाँचवें दिन मनाया जाता है। 'छटियार' में ही नवजात शिशु का नामकरण होता है। पहला लड़का अपने दादा का नाम पाता है तो दूसरा अपने नाना का, तीसरा अपने बड़े चाचा का तो चौथा अपने मामा का। इसी क्रम से दोनों कुलों के पुरखों के नामों पर ही सभी लड़के-लड़कियों के नाम रखे जाते हैं और पिता का गोत्र ही उसकी सन्तान को मिलता है। इस प्रकार पुरखों के नाम और गोत्र सर्वदा सुरक्षित रहते आये हैं।

प्रायः दस-बारह वर्ष की उम्र में लड़के 'सिका' और लड़कियाँ 'खोदा' (गोदना)लेती हैं। ये उनके जातीय चिन्ह हैं। सन्थालों का विश्वास है कि 'सिका' अथवा 'खोदा' न लेने से परलोक में बड़े-बड़े कीड़े काटते हैं। इसलिए इसे लेना आवश्यक है। 'सिका'में हाथकी त्वचा को आग से पैसेभर जला-या जाता है। गोदना बाहों, हाथों, अंगुलियों, छाती और पीठ पर गोदवाया जाता है।

'बापला' (विवाह)सन्थालों का प्रमुख सामाजिक संस्कार है। समाज में अविवाहितों की गिनती बहुधा उद्दण्ड और अनुत्तरदायी व्यक्तियों में की जाती है। विवाह न होने तक युवक-युवतियों के हँसने-खेलने की स्वच्छन्दता क्षम्य हो सकती है, पर विवाहितों के लिए यह सुविधा नहीं है। विवाहित युवक और युवतियाँ पूर्ण सच्चरित्र और उत्तरदायित्वपूर्ण समझी जाती हैं। ऐसा इसलिए होता है कि सन्थालों में बाल-विवाह नहीं होते। विवाह वर-वधू की पसन्दके अनुसार ही होते हैं।

विवाह की सगाई करनेवाला 'रायबारिच्' कहलाता है। विवाह के पूर्व 'ओड़ाक्-दुआर जेल' (घर-द्वार देखना), 'होरोक्-चिखना' (उपहार देना) और 'टाका-चाल' (वधू-शुल्क देना) ये तीन रिवाज पूरे कर लिये जाते हैं। 'रायबारिच्' के नेतृत्व में पहले दोनों पक्षवाले दस-पाँच लोगों के साथ एक-दूसरे का घरद्वार, जमीन-जायदाद देख आते हैं। पसन्द हो जाने पर वर-पक्ष की ओर से कन्या को और कन्या-पक्ष की ओर से वर को अलंकार तथा नये वस्त्रादि भेंट-स्वरूप दिये जाते हैं। तत्पश्चात् दस-पाँच लोगों के बीच वधू-शुल्क का निर्णय होता है जो अधिक से अधिक बारह रुपयों का होता है। इसके बाद लगन-तिथि निश्चित की जाती है। सन्थालों के विवाह बहुधा माघ, फाल्गुन, चैत, बैसाख और जेठ में होते हैं। सोमवार, बुधवार और शुक्रवार के दिन विवाह के लिए शुभ माने जाते हैं। निश्चित तिथि को वर-पक्षवाले सजधज कर बाजे-गाजे के साथ कन्या के गाँव में बरात जाते हैं। कन्या-पक्षवाले लोटे में जल लेकर गाँव के छोर-पर बरात वालों का स्वागत करते हैं। इसे वे 'दारामदाक्' कहते हैं। तत्पश्चात् उन्हें डेरा दिया जाता है, जहां बरातियों के खाने-पीने का सारा खर्च वर के पिता को देना पड़ता है। फिर बारीबारी से गांव के प्रत्येक घर में वर का परिछन होता है। विवाह साँझ के समय होता है। दोनों

पक्षके लोग गलीमें जमा होते हैं। 'हंड़िया' (चावल की मदिरा) खूब पी जाती है। वर और कन्या को घर के दरवाजे पर लाया जाता है जहां सिन्दूर-दान के द्वारा उनका विवाह-कार्य सम्पन्न होता है। विवाह न होने तक वर और कन्या के माता-पिता उपवास किये रहते हैं। विवाह के वस्त्र पीले होते हैं। विवाह के बाद गली में दोनों पक्षवाले एक साथ नाचते हैं।

विवाह में सिन्दूर का व्यवहार किया जाता है। किसी स्त्री की माँग में सिन्दूर अथवा धूल डालना उससे विवाह करना है। अकारण किसी स्त्री की माँग में धूल या सिन्दूर डाल देने से समाज में इसकी सख्त पकड़ होती है और अपराधी को या तो जुर्माने भरने पड़ते हैं या उक्त स्त्री को अपनी पत्नीके रूप में ग्रहण करना पड़ता है। विवाह के पूर्व किसी युवक के साथ किसी युवती का सम्बन्ध समाज में प्रकट हो जाने से अथवा इस प्रकार के सम्बन्ध के कारण कोई सन्तान पैदा हो जाने से उस युवक को उसका भार वहन करना पड़ता है और यदि युवती उसके साथ विवाह करना न चाहे तो युवक को दण्ड भी देना पड़ता है। विवाह न हो जाने तक लड़की अपने पिता की सम्पत्ति समझी जाती है, उसका सारा भार पिता के सिर पर रहता है। परन्तु माँग में सिन्दूर पड़ते ही वह अपने पति की सम्पत्ति हो जाती है।

विवाह की कई विचित्र रस्में हैं। सिन्दूरदान के समय वर को कन्धोंपर उठाया जाता है, वधू को एक बड़ी-सी डलिया में बिठला कर उसे भी कन्धोंपर उठाया जाता है। वह लम्बी घूंघट डाले रहती है। फिर वर-वधू को मुंहामुंही किया जाता है। ढोल बजते रहते हैं। वर वधू की घूंघट हटाकर उसकी मांग में सिन्दूर डालता है और सभी लोग उच्च स्वर से 'हरिबोल' शब्द का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार 'सिन्दूरदान' की रस्म पूरी हो जाने पर वर-वधू का गठबन्धन किया जाता है। विवाह में वर का बहनोई पुरोहिताई करता है। बरात दूसरे दिन विदा होती है।

बरात लौटने पर गाँव के प्रत्येक घर पर बारी-बारी से वर-वधू का परिछन होता है। अन्तिम परिछन वर की माँ का होता है। इसके [illegible] वे घर पहुचते हैं। 'मँड़वा' में नाच-गान का जमा रहता है। लोग 'हँड़िया' (चावल की शराब) में छकें रहते हैं। स्त्रियाँ वर-वधू को लेकर नाचती मँड़वा की परिक्रमा करती हैं। दूसरे दिन 'चुमान' [illegible] है। गाँव भरके लोग वर-वधू को आशीर्वाद देने के लिए जुटते हैं। भेंट में एक छोटी-मोटी रकम मिल जाती [illegible] धान, अरवा चावल, दूब दिल और हल्दी के द्वारा बारी-बारी से लोग नव दम्पति का अभिषेक करते हैं [illegible] उनकी आरती उतारते हैं। तीसरे पहर वधू लोगों [के] पांव पखारती है, यहीं से छोटे-बड़े रिश्तों का परि[चय] और पालन शुरू हो जाता है। सास, ससुर और पति [के] अग्रज देवता तुल्य माने जाते हैं।

सन्थालों में सम गोत्रीय विवाह बिल[कुल] वर्जित है और अन्तरजातीय विवाह भी। स[माज] में दोनों घोर अपराध समझा जाता है और [इन्हें] घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। समगो[त्रीय] सदस्यों में अथवा किसी ऊपर जाति वालेके सा[थ] सम्बन्ध हो जाने पर सन्थाल ऐसे अपराधियों [को] 'बिटलाहा' (जाति-बहिष्कार) कर देते हैं। 'बिटला[हा' का] अर्थ सिर्फ जाति-बहिष्कार ही नहीं, वरन् अ[प]राधियों के प्रति समाज का सामूहिक घृणा-प्रदर्शन है। इसके लिए अपराधियोंके दरवाजों पर रेंड़[...] एक डंठलमें टूटी झाड़ू, टूटा सूप, जली लकड़ी [और] जूठे पत्ते लटका दिये जाते हैं। नग्न नृत्य और न[ग्न] श्रृंगारके गीत भी होते और गाये जाते देखे गये हैं [...] जहाँ तक चरित्र-भ्रष्टता की रोक का सवाल [है] सन्थाल-संस्कृतिमें इसकी पूर्ण व्यवस्था है।

सन्थालोंमें विधवा-विवाह भी होता है। विवाह बन्धनमें बँधकर भी यदि दो हृदय एक न हो सके तो उनका पृथक हो जाना ही अच्छा है। सन्थालोंमें इस सिद्धान्तका ठीक-ठीक प्रतिपादन होता है। आवश्यकता पड़नेपर पति-पत्नी का विवाह-विच्छेद भी किया जा सकता है। विधवाओं और परित्यक्ताओंके वधू-शुल्क नौ और सात रुपये हैं। तात्पर्य यह है कि क्वाँरियोंसे उनकी मर्यादा कम है। सन्थालोंका विश्वास है कि परलोकमें लोगों को प्रथम पति या प्रथम पत्नी की ही प्राप्ति होती है। दूसरे पति या दूसरी पत्नीका सम्बन्ध

ोक तक सीमित है । बहु-विवाह की प्रथा पुरुषोंमें
श्य, पर प्रयोगमें ऐसा कम ही देखने को मिलता
घारजावाँय'-विवाहमें पतिको ही पत्नीके पीहरमें
पड़ता है ।

न्म की तरह ही गाँवमें किसी की मृत्यु होनेपर
रा गाँव अशुद्ध समझा जाता है और जब तक
का 'भाण्डान' (श्राद्ध) नहीं कर दिया जाता तब
गाँवमें कोई भी शुभ कर्म नहीं हो सकता । यों तो
तौर पर अगहनमें ही, जब घरमें खर्च का अभाव
, किसी मृत व्यक्ति का श्राद्ध करने की प्रथा
लोंमें है; परन्तु अनिवार्यता आ पड़नेपर पहले
किसी समय किया जा सकता है । 'भाण्डान' मृत
त की आत्मा की शान्तिके लिए आवश्यक ही
अनिवार्य समझा जाता है । 'भान्डान' में गाँवके
ष्ट व्यक्तियों को भोज भी दिया जाता है । इसमें
व्यक्ति को बकरे की बलि समर्पित की जाती है
उसका तर्पण किया जाता है ।

सन्थालों का कहना है कि मृत्यु होने पर 'जिउ'
त्मा) शरीर को छोड़कर निकल जाती है । इसी-
प्राण टूटते समय घर के सभी दरवाजे खोल दिये
हैं, ताकि आत्माको निकल जानेमें रुकावट न हो ।
संस्कारमें गाँवके बड़े-बूढ़े भाग लेते हैं । श्मशान-
पर शव-दाह होता है । चिता उत्तर दक्षिण
यी जाती है । मृतक का सिर दक्षिण की ओर रखा
ता है । मृत् व्यक्ति का पुत्र या कोई निकट संबंधी
की मुखाग्नि-क्रिया करता है । तीसरे दिन मृत
क्त का "जाङ-बाहा" (अस्थि-पुष्प) चिता से
काला जाता है जो सुविधानुसार दामोदर नदी[1] में
ाहित किया जाता है । दामोदर नदी सन्थालों की
ा है । अस्थि-विसर्जनके बाद मृत् व्यक्ति का 'पुरुछुन'
न्त्येष्टि-संस्कार) समाप्त हो जाता है । 'भान्डान' के
रे में तो निवेदन कर ही आया हूँ । आजकल मुर्दा
ाने के बदले उसे गाड़ने का रिवाज बढ़ गया है ।
किसी भी प्रकार सूतक मिटाने के लिए सिर के
ल, दाढ़ी और नखकटवाना आवश्यक समझा जाता
। सन्थाल लोग सिर पर लम्बी चोटी रखते हैं जो

[1]. दामोदर नदी पूर्वी बिहार में बहती है ।

माता-पिता की मृत्यु होने पर कटवानी पड़ती है ।
सम्पन्न लोग अपने माता-पिता का 'काराम' (वार्षिक
श्राद्ध) भी करते हैं । सन्थाल लोग दाढ़ी नहीं रखते ।

सन्थालों की लोक-कथाओं, गीतों और नृत्यों की
अपनी विशेषताएँ हैं । ये उनकी परम्परा के सम्यक्
प्रतीक हैं । लोक-कथाओं में प्रकृति, सृष्टि और पशु-
पक्षियों का अधिक जिक्र आया है । कहीं-कहीं तिलस्मी
चमत्कारों और विविध विचित्रताओं का भी समावेश
हुआ है । पशु-पक्षियों से सम्बन्धित कथाएँ उपदेश और
उदाहरण लिये रहती हैं । उनके लोक-गीत उनकी
संस्कृति की बहुमूल्य थातियाँ हैं । इनके बारे में 'आज-
कल' के जनवरी-फरवरी के अंकों में एक अध्ययन
प्रस्तुत किया जा चुका है । सन्थालों के कुछ नृत्य
भारत में प्रसिद्ध हो चुके हैं । स्त्रियों के 'दोंङ' 'लागेड़ँ'
'सोहराय' और 'बाहा' तथा पुरुषों के 'दासाँय,' 'डान्टा'
और 'पैक' नृत्य खास आकर्षण रखते हैं । नृत्यों में
उनके जीवन का अद्भुत प्रतिबिम्ब सन्निहित है । जीवन
का सौन्दर्य और संगीत जैसे इन नृत्यों में साकार हो
उठता है । सन्थाल लोग जीवनकी क्रूर विभीषिकाओंसे
खिलबाड़ करते हुए जीना जानते हैं । दुःखोंका पहाड़ही सिर
पर क्यों न टूट पड़े, किसी उत्सवके आयोजन पर नृत्य
और संगीत को वे छोड़ नहीं सकते । 'हँड़िया' की मस्तीके
साथ उनके जीवनकी अलमस्ती मानों होड़-सी करती
रहती है ।

धनुष-वाण और बाँसुरीसे सन्थालोंको अटूट प्रेम
ह । विजन वन-प्रान्तरोंमें निर्भय विचरण करनेवाले
धनुष-वाण-वंशीधारी, श्यामवर्ण सन्थाल युवक और
कुछ नहीं तो इस कलियुगमें द्वापर और त्रेता के राम-
कृष्णकी याद अवश्य दिलाते रहते हैं । उनकी बाँसु-
रियोंमें अपने ढंगकी कलापूर्ण चित्रकारीकी रहती है
और उनके तीर खास तरीकेसे बने रहते हैं । स्त्रियाँ
घरकी दीवारोंको नाना प्रकारके चित्रों एवं मूर्तियोंसे
सजाती हैं । सादगी और सफाई तो सन्थालोंकी सराह-
नीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है । इन काले पुतलोंके
अन्दर जैसे उजले हृदय छिपे हैं वैसे इस सभ्य (!)
संसारमें भी दुर्लभ हो जाया करते हैं । यही कारण
है कि सन्थालोंमें अपराध कम होते हैं । चोर और
डाकू सन्थालोंमें कम ही मिलेंगे । वे किसी बातको

छिपाना नहीं जानते । मैंने हत्याओं तकको खुले आम
कह डालते देखा है । प्रेमपूर्ण और सच्चे व्यवहारोंसे
सन्थाल जितने बड़े मित्र बन सकते हैं, विश्वासघातसे
उतने ही बड़े शत्रु भी बन सकते हैं । इनमें हत्याएँ प्रायः
नहीं के बराबर होती हैं और जो भी होती हैं सिर्फ
अन्धविश्वासोंके कारण ही ।

भीख माँगना सन्थाल-संस्कृतिके बाहरकी वस्तु
है । मैंने अब तक शायद ही कोई सन्थाल भिखमंगा
देखा हो । उन्हें भूखकी ज्वालामें तड़प-तड़प कर
मरना कबूल है; सर्दी, गर्मी और बर्षाके साथ कटु
आँखमिचौनी करते हुए मजदूरी करना कबूल है;
कर्जके बोझसे दब जाना पसन्द है; परन्तु भीख माँग
कर जीविका चलाना कतई पसन्द नहीं । यह उनकी
पैतृक शानके खिलाफ है । यहाँ तक कि उनकी भाषामें
'भीख'का पर्यायवाचक कोई शब्द तक नहीं है । शिष्टा-
चारके लिए सन्थालोंके अपने मौलिक नियम हैं जिनका
पालन भलीभाँति होता है । भेंट होने पर नियमानु-
कूल अभिवादन करनेकी प्रथा है । बीमारियोंमें जंगली
जड़ी-बूटियाँ, जादू-टोना और मंत्र-तंत्र ही सन्थालोंके
खास सहायक होते हैं । उन्मुक्त प्रकृतिके साथ उनका
घना सम्बन्ध है । नगरोंके कोलाहलसे दूर जंगलोंके
बीच गाँव बनाकर रहना वे पसन्द करते हैं । प्रत्येक
सन्थाल-गाँव अपनी पंचायतके द्वारा शासित होता
है जिसका मुखिया 'मांझी' कहलाता है । 'माँझी' के
सिवा 'जोगमांझी' 'परानिक', 'गोडेत', 'नायके' आदि
अन्यान्य प्रमुख ओहदेदारोंमें से हैं । पंचायतको पर-
मेश्वर समझा जाता है । उनका विश्वास है कि पंचा-
यतमें सत्य और न्यायकी हत्या नहीं हो सकती है ।
सन्थालोंकी सामाजिक व्यवस्था बड़ी सुशृंखलाबद्ध
है जहाँ व्यक्ति और समाजका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध
है । वृद्धोंका विशेष रूपसे सम्मान किया जाता है ।
स्त्रियाँ गृह-स्वामिनी समझी जाती हैं । पुरुषोंकी अपेक्षा
वे अधिक विनयशील और नम्र होती हैं । अतिथि-
सत्कार, बच्चोंकी देखभाल और घरकी व्यवस्था करनेके
साथ-साथ गृहस्थीके अन्य धंधोंमें वे बराबर अपने
पति का साथ देती हैं । सन्थाल लोगों का प्रमुख पेशा
खेती करना है । जंगली फल-मूलोंसे भी अपनी क्षुधा

शान्त करनेमें उन्हें काफी मदद मिलती है ।

वर्षमें कम-से-कम एक बार दस-बीस गाँवोंके
सन्थाल मिलकर किसी वनमें शिकार भी करते हैं जिसे
'सेन्दरा' कहा जाता है । युवक लोग हाथोंमें बहुधा
चाँदीके कड़े पहनते हैं । स्त्रियोंके आभूषणोंमें पीतलके
'बाँक' और 'बटरी' (पाँवोंके लिए), चाँदीके 'साकोम'
'खागा' तथा चूड़ियाँ (हाथोंके लिए), चाँदी की
'सिकड़ी माला' (हार) और कानोंकी बालियाँ मुख्य
हैं । फूलोंके आभूषणोंकी तो बात ही दूसरी है, पुरुष
लोग कमरमें चार-पाँच हाथकी धोती या फेंटा कसे
रहते हैं और गलेमें तीन हाथकी एक तौलियाँ लपेटे
रहते हैं जो कभी कभी काम देती है । स्त्रियाँ तीन हाथ
का एक कपड़ा कमरमें पहनती हैं और दूसरेको पहलेमें
खोंसकर अपने वक्षस्थलको ढँकती हुई बायें कन्धेसे
पीठको ओर पार करके पुनः पहलेके साथ कमरमें
खोंसती हैं । शरीरसे सन्थाल स्त्री-पुरुष बड़े हृष्ट-पुष्ट
होते हैं ।

सन्थाल लोग उत्तर भारतके आदिम निवासियोंमें
सबसे अधिक प्रगतिशील हैं । वे सन्थाली-भाषा बोलते
हैं जो मुन्डारी, हो और खड़िया बोलियोंकी सहोदरा
है । सन्थाली भाषाकी कोई अपनी लिपि नहीं है । पहले
यह रोमन लिपिमें लिखी जाती थी, परन्तु अब
राष्ट्रलिपि देवनागरीमें लिखी जाने लगी है । सन्थालोंमें
शिक्षाका बड़ा अभाव है । जो लोग ईसाई बन गये
हैं वे कुछ शिक्षित अवश्य हैं । सन्थाली भाषाको
पहले-पहल विदेशी मिशनरियोंने ही लिपिबद्ध किया;
परन्तु नृवंश-विज्ञानके प्रसिद्ध विद्वान् डा० वेरियर
एल्विनके शब्दोंमें उन लोगोंने इनकी संस्कृतिके
अस्तित्व पर भीषण कुठाराघात किया है ।

एक छोटे-से लेखमें सन्थालोंके बारे में जो कुछ
लिखा जाय थोड़ा है; परन्तु प्राचीन भारतमें हमारी और
उनकी संस्कृतियों का जैसा अपूर्व समाहार हुआ है,
स्वतंत्र भारत में दोनोंका समुचित समन्वय होकर रहेगा,
ऐसा विश्वास है । फौज, पुलिसमें रहकर इन लोगोंने
अब तक सरकारका साथ दिया है, अब नवराष्ट्रके निर्माण
में सुयोग्य नागरिक बनकर हाथ बँटावेंगे । सन्थालोंकी
एकता प्रशंसनीय है ।

समय और उपयोग

डॉ० रामधर मिश्र

जीवनयापनके अनेक प्रभेद हैं। कुछ का जीवन यों ही बीतता है, साधारण क्रमसे बिना प्रयासके जीवन-मरणकी समस्याएं स्वतःहल होती चली जाती हैं, कब क्या हुआ पता भी नहीं चलता। कुछका समय आमोद-प्रमोदमें, मनोरंजनके सहज सुलभ उपायोंमें सम्भवतः क्रमबद्ध रूपमें कट जाता है; और इसमें व्याघात न हो यही चिरसाधना है, चरम उद्देश्य है, इसीमें जीवनकी सफलता निहित है। कोई कोई परिश्रम करके ज्ञानकी वृद्धिमें, बुद्धिकी प्रखरताके हेतु, आत्मोन्नति एवं आत्मसंतुष्टिके लिए, अथवा यश प्राप्त करनेकी लालसामें, अध्ययनका आश्रय लेकर अपना कुछ समय नियमित नीतिसे व्यतीत करते हैं। वे विद्वान कहे जाते हैं, लोग उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, श्रद्धानत होते हैं। उनसे जातिका, समाजका, देशका मानसिक स्तर ऊंचा होता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, मेरे अनुमानसे अधिकांशही ऐसे हैं, जो कुछ करना चाहते हैं, उनके मनमें लगन है, उत्साह है, हलचल है, प्रेरणा है कि वे कुछ करें, निर्माण-कार्यके लिए समयका उपयोग करें, उन्हें निठल्ले रहनेमें चैन नहीं, खाली हाथ बैठना उनके लिए मुमकिन नहीं।

निर्माण-कार्य! कोई अपना, अपने चरित्रका, अपने भविष्यका; कोई इहलोक अथवा परलोकका, कोई समाजका, देशका, सभ्यता एवं संस्कृतिका, निर्माण करनेमें अपने जीवनको सार्थक, सफल एवं भाग्यशाली मानते हैं। क्षेत्र बड़ा ह, समस्या गंभीर है, निर्माण-कार्य कैसे हो इसके उत्तर अनेक हैं। किन्तु विश्वविद्यालयके अध्ययन-कालमें, छात्र-जीवनमें समय कैसे बिताया जाय केवल इस सीमित प्रश्नका संप्रति उत्तर देनेका यह प्रयास है।

विश्वविद्यालयके जीवनके दो-चार वर्षोंमें नवयुवक विद्यार्थी पठन-पाठन, आमोद-प्रमोदके अतिरिक्त इधर-उधरकी परेशानियोंमें क्यों पड़, निर्माण-कार्यके पचड़ेमें अपना माथा-पच्ची क्यों करे, मजेकी जिन्दगीमें पुरलुत्फ बातोंको छोड़ सरदर्द क्यों मोल ले, इन प्रश्नोंका हल मेरे पास नहीं है। समाजका अंग होकर जो समाजके प्रति अपना उत्तरदायित्व न समझे, समाज-सेवा करनेकी जिसकी इच्छा न हो, जो स्वार्थरत हो, अपने सुखमें भूला रहे उसे निर्माण-कार्यकी ओर प्रेरित कर सकनेकी क्षमता किसमें है? इन लोगोंके मर्जकी एक ही दवा है, राजकीय नीतिसे विश्वविद्यालयोंके एक नवीन नियमके अन्तर्गत एकाध वर्ष समाज-निर्माणके लिए ले लिया जाय। रूस और स्वीडनमें यूनिवर्सिटी डिग्री मिलनेके पहिले प्रत्येक विद्यार्थीको एक-दो वर्ष सेनामें या फिर सुदूर प्रान्तोंके ग्रामोंमें शिक्षा-प्रसारके लिए व्यतीत करना अनिवार्य है। किन्तु यह कार्यक्रम समयके सदुपयोगकी परिभाषाके बाहर है, मैं इसकी चर्चा यहीं छोड़ता हूँ।

विद्यार्थी-जीवनमें पढ़ने-लिखने, खेलने-कूदनेके साथ-साथ काफी समय ऐसा बचता है जो गपशपमें, ताश व बैठकबाजीमें, प्रेमके स्वांगों में, जवानीके अल्हड़पनोंमें निकल जाता है। "सुबह होती है, शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है" की कहावत सच्ची उतरती है। इन लोगोंकी जीवन-धारा यदि निर्माण-कार्यकी ओर झुक जाय तो उनका भी कल्याण हो, समाजका भी उत्थान हो।

मनुष्य जीवित रहता है, इसलिए कि शरीरमें प्राण है। साधारण तथा प्राकृतिक प्रेरणाके वशीभूत वह निष्प्राण होना नहीं चाहता, अपने जीवनकी पूरी अवधिका उपभोग करनेकी प्रवृत्तिको, लालसाको, अपनी जिन्दगीके पूरे दिन काटनेकी ख्वाहिशको वह रोक नहीं पाता चाहे सुख हो अथवा दुःख, तकलीफ हो या आराम।

मनुष्य-जीवन कई प्रकारसे बीतता है। कोई अपनी और अपनोंकी चिन्तामें ही डूबे रहते हैं, शायद विवश हैं, उनके लिए दूसरा उपाय नहीं,

चारा नहीं। वे अपने दुःखसे उबर नहीं पाते, दूसरे की क्या सोचें, समय कहाँसे लावें। कुछ लोग अपने सुख एवं ऐश्वर्यमें, ऐशोइशरतमें इतने भूले रहते हैं कि उन्हें किसीकी चिन्ता नहीं व्यापती। कोई अपने सुख-दुःखमें ऐसे केन्द्रीभूत हैं, अपने चारों ओर ऐसा व्यूह रच लेते हैं कि किसी और का वहाँ प्रवेश नहीं। वे लोग अपने तर्कसे, अपनी फिलासफीसे अपने लिए एक गढ़ बना लेते हैं, दूसरेसे कोई सरोकार नहीं। कुछ इहलोक छोड़ परलोकके इच्छुक हैं। कोई कोई दूसरेके कष्टमें क्लेश पाते हैं, द्रवीभूत होते हैं, और अपनी शान्तिके लिए, अपने आत्मसंतोषके लोभमें परदुःख निवारणमें सहयोग देते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी बुद्धि-प्रेरणासे इसे अपना धर्म एवं कर्तव्य मानते हैं कि मनुष्य केवल अपने लिए ही न जिए, अन्य लोगोंके सुख-दुःखमें भी चिन्तारत एवं उद्योगशील हो।

और समय! वह एक असीम नदीका बहता पानी है। कहांसे निकल कर नदी कहाँ चली जाती है कौन जाने, उसका न ओर है न छोर। इस बहती नदीकी ओर ध्यान चाहे जाय या न जाय, उसके अनवरत प्रवाहसे मनको उत्साह एवं शान्ति मिले या न मिले, उसके प्रपातोंका उपयोग किया जाय या न किया जाय, निस्संदेह यह प्रवाह अविराम गतिसे अपने अज्ञेय ध्येयकी ओर अग्रसर है। उसे यह चिन्ता नहीं कि कोई उसका उपयोग करता है कि नहीं।

समय तो बीतेगा ही। यदि अभिरुचि हो, आन्तरिक प्रेरणा हो, अपने कर्तव्य एवं धर्म की भावना हो, किसी मित्र का आग्रह हो तो अवकाश का सदुपयोग करके समाजके निर्माण-कार्यमें सहज ही सहयोग दिया जा सकता है, अपने देश को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा सकता है और मनुष्य मात्र की सेवा का कठिन व्रत लिया जा सकता है।

काम की कमी नहीं। जिस देशमें ९० प्रतिशत निवासी निरक्षर भट्टाचार्य हों, अधिकांश को भरपेट भोजन न मिले, साधारणतया जनसमुदाय ५० वर्ष की आयुके पहि -पहिल महाप्रयाण कर लेता हो, उद्योग-धन्धों की कमी हो, जनसंख्यामें वृद्धि हो, अस्पृश्यता का अभिशाप हो, धर्म की धांधली हो, जाँत-पांत का मिथ्या अभिमान हो, नारी का, निरादर हो, अज्ञान का अंधकार हो, जो समाज ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट, मिथ्या व्यवहार से आक्रान्त हो, जहां मनुष्य मक्खी की मौत मरें उस देशमें निर्माण-कार्य की आवश्यकतामें किसको सन्देह, समस्या की गुरुतामें किसको मतभेद? अवकाश की अवधिके आश्रित अनेकानेक आयोजन अपनाये जा सकते हैं।

विद्यार्थी-जीवनमें निर्माण-कार्यके लिए समय पाँच प्रकारसे उपलब्ध हैः—

१. दिन के २४ घंटों का कोई भाग।

२. रविवार।

३. एक-दो दिनकी छुट्टी जो बीचमें पड़ जाती है।

४. दशहरा या क्रिस्मस की बड़ी छुट्टी।

५. ग्रीष्मावकाश—दो-ढाई मास की लम्बी छुट्टी।

विद्यार्थी समस्याओं का अध्ययन करें, अध्यापकोंसे आग्रह करें कि अन्य देशोंकी स्थिति-परिस्थिति पर वे प्रकाश डालें, किसने अपनी समस्याओंको हल करनेमें कब किन उपायोंका क्या सहारा लिया यह बतावें। अध्ययन-गोष्ठी बने। युवक-संघटन हो। यदि ६–७ विद्यार्थी मिल जायँ और सप्ताहमें एक दिन घंटे-डेढ़ घंटेका समय भी देनेको तैयार हों तो बड़ी आसानीसे वे एक रात्रि-पाठशाला चला सकते हैं। लोगोंसे समाचार तथा अन्य पत्र-पत्रिकाएँ मांग कर वाचनालय खोल सकते हैं। घूम-घूम कर मैजिक लैन्टर्न द्वारा शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी और मनोविनोदवाले चित्र दिखा सकते हैं। रविवारको गाँवोंमें जाकर ग्राम-निवासियोंसे सम्पर्क स्थापित करके विचार-विनिमय द्वारा वस्तु-स्थितिका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उनकी सेवाका श्रेय पा सकते हैं। एक मेडिकल कालेजके कुछ डाक्टर और विद्यार्थी १५ मील दूर एक गाँवमें हर इतवारको जाते हैं जहाँ ८००–९०० रोगी उनकी बाट जोहते हैं, उनके सेवा–भावकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं और 'जुग-जुग जियो' का असीस देते हैं। ग्रीष्मावकाशमें वे एक मेडिकल मिशन लेकर कश्मीर के पीड़ितोंकी प्राण-रक्षाके लिए पुंछ, रजावड़ी व गुरेजके इलाकोंमें अपनी जानें हथलीमें लिए दवाइयोंकी

टकाये घूम रहे हैं। गर्मीकी लम्बी छुट्टीमें प्रौढ़ शिक्षाके निमित्त स्कूल चलाये जायँ, क विषयों पर जनसाधारणके समझने योग्य दी जायँ, ग्रामवासियोंसे सम्बंधित आँकड़े एकत्रित जायँ, अपना गाँव साफ रखना है इस बातका न किया जाय, स्वतंत्र देशवासियोंके क्या कर्तव्य ो दूसरोंके इतिहाससे समझाया जाय। गाँवोंमें ौशलका प्रचार किया जाय। ग्रामवासियोंके समय है, उत्साह है, स्वास्थ्य है, अनुभव है, की इच्छा है। उनके पास बहुधा साधन नहीं, ोंका ज्ञान नहीं, किसी नवीन आविष्कारके प्रयोगका नहीं। विश्वविद्यालयके विद्यार्थी उन्हें मूर्ख न , निपट गंवार न जानें, वहाँ जाते ही उनके र-विचारोंसे टक्कर न लें। उनके पास जायँ ापूर्वक, उनके बीच रहें विनयपूर्वक, उनकी करें उत्साह पूर्वक। नागरिक तथा ग्रामीण जीवनकी न्तिने सहज सरल स्वरूप न लेकर वैमनस्य एवं धकी ज्वाला जगा दी है क्योंकि नागरिक जीवनने वासियोंको दिया कंघा-शीशा, बड़े बाल, पान, बीड़ी ाश और उनको इन सबसे चिढ़ थी। और अब रहा है बनावटी घी, झूठी गवाही, सिनेमाके अश्लील , भ्रष्टाचार और गन्दी पालिटिक्स। और साथ उनका यह प्रयत्न रहा है कि गाँवके ठोस जीवनको ाड़ फेंकें और शून्य रख दें। हमारे नवयुवकोंका यह स्य उत्साह हो कि गाँवोंमें जाकर देंगे दवा और ाज, सेवा-सुश्रूषा, अक्षर-ज्ञान और पंचायत, राजनीति र इतिहास, खेलकूद, विद्या-मन्दिर, सफाई, हरियाली र फुलवाड़ी। बच्चोंको आज्ञाकारी एवं सहकारी ाएं, उनमें यह उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करें कि भी किसी योग्य हो जायँ, देशको आगे ले चलें। श्वविद्यालयके विद्यार्थी उनमें जायँ, उनकी कहावतों गीतों का संकलन करें, उनका संगीत लावें, जड़ी- टियोंको पहिचानें, उनके नमूने लें, गुण-दोष नोट रें। साथ ही उन्हें प्रोत्साहन दें सेवादल व सेवा- मिति बनानेका, कुएं खोदनेका, पाठशाला बनाने व चलानेका, घूर हटाने व फुलवाड़ी लगानेका।

दशहरा व क्रिस्मसकी छोटी छुट्टियोंमें अपने-अपने गाँवोंमें जायँ, शराब व ताड़ीके विरुद्ध जनमत खड़ा करनेका प्रयत्न करें, मद्यपानसे क्या हानियाँ होती हैं इनके चित्र बनाकर ले जायँ, और दुकानोंके सामने जाकर पियक्कड़ोंसे अनुरोध करें कि अपने हितमें पीना छोड़ दें। यह काम अकेले के वशका नहीं, गाँवके विद्यार्थियोंको इस काममें जुटा दें। यह निर्माण-कार्य टीम-स्प्रिटसे ही हो सकेगा। यदि किसी में लगन हो तो टीम बनाना कठिन नहीं।

शहरोंमें रात्रि-पाठशालाएं खोलें, मजदूरोंमें जाकर उनका सुखदुःख सुनें और उसे जनताके सामने रक्खें। चोरबाजार व भ्रष्टाचार पकड़ कर अधिकारियों को सूचित करें और अध्यापकोंसे अनुरोध करें कि उन्हें सुझाव एवं आदेश दें।

अपने देश का परमावश्यक परम पुनीत निर्माण-कार्य यह होगा कि कोई जाति पददलित न गिनी जाय, ऊँच-नीच का भेदभाव उठ जाय, अस्पृश्यता का विष निकल जाय, धर्मके नाम पर कोई तिरस्कृत न हो, अपमानित न हो, ऐसी जाति पैदा हो कि हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र अपनी मानवता को पहिचानें, पशुके पक्षमें मनुष्य का बलिदान न हो, हम तुमसे अच्छे हैं इसका अभिमान न हो। विद्यार्थी समर्थ हैं और यदि वे सफल हों तभी विश्वविद्यालय सार्थक होंगे, स्वनामधन्य होंगे। विश्वविद्यालयके वातावरणमें शिक्षकों की देखरेखमें नवयुवक विद्यार्थी संग साथ में, साधन एवं सुविधाओं समेत जो कार्यक्रम चाहें ले उड़ें। उनको समय की कमी नहीं, उनपर चिन्ता की छाया नहीं, उनके उत्साहमें संशय नहीं, उनकी संख्यामें अल्पता नहीं।

समय बीतेगा ही। जिसका जी चाहे उसका सदुपयोग कर ले। समाज-सेवा का सुलभ सुअवसर सन्मुख है, जीवन सफल कर ले और राष्ट्र-निर्माणमें सहयोग दे ले।

—आल इन्डिया रेडियो लखनऊके सौजन्यसे।

तुर्गनेव के तीन गद्य-गीत

अनु. प्रो० हरीश राय

(१)

एक मूर्ख आदमी

एक समय एक मूर्ख आदमी रहता था। अपने जीवन के अधिकांश समय तक उसने सुखमय जीवन व्यतीत किया; लेकिन धीरे-धीरे उसके पास यह अफवाह फैलने लगी कि प्रत्येक व्यक्ति उसे मस्तिष्कहीन मूर्ख व्यक्ति समझता है।

यह सुनकर वह बहुत परेशान हो गया और रंजीदा होकर विचार करने लगा कि इन अप्रिय अफवाहों को कैसे बन्द किया जाय।

अचानक ही उसकी मंद बुद्धि में विचार विद्युत् की तरह चमका और बिना अपना कुछ समय नष्ट किये हुए उसने उस विचार को कार्य रूप में परिणित करना आरम्भ कर दिया।

उसी दिन सड़कपर उसे एक परिचित व्यक्ति मिला जो कि एक प्रसिद्ध चित्रकार की प्रशंसा करने लगा।

"मेरे भगवान!" उस मूर्ख ने विस्मयपूर्वक कहा, "वह चित्रकार तो अब समय से बहुत पीछे रह गया है ... .क्या तुम यह भी नहीं जानते ? मैंने तुमसे ऐसी कभी आशा नहीं की थी। तुम समय से बहुत पीछे हो।"

इस पर वह परिचित व्यक्ति सकपकाया और उस मूर्ख से सहमत होने का रास्ता ढूढ़ने लगा।

कुछ ही समय बाद एक दूसरे परिचित व्यक्ति ने उससे कहा, "मैं आज एक बहुत ही अद्भुत पुस्तक पढ़ रहा था।"

"ओह भगवान!" मूर्ख ने विस्मयपूर्वक सम्बोधन किया, "तुम्हें अपने ऊपर लज्जा आनी चाहिए। वह पुस्तक तो बिलकुल अच्छी नहीं है; उसे अब कोई भी नहीं पढ़ता। क्या तुम यह नहीं जानते? तुम समय से पीछे हो।"

अब वह परिचित व्यक्ति भी कुछ सकपकाया और फिर उस मूर्ख से सहमत हो गया।

"कितना अच्छा व्यक्ति मेरा मित्र— न. न. है" दूसरे परिचित व्यक्ति ने मूर्ख से कहा। उसे तुम वास्तव में बहुत ही भला व्यक्ति पाओगे।

"ओह भगवान्!" मूर्ख ने सम्बोधन किया, "न. न. बहुत ही बदनाम बदमाश है। उसने अपने कुटुम्ब को बरबाद कर डाला है। कोई व्यक्ति नहीं है जो यह न जानता हो। तुम समय से बहुत पीछे हो।"

तीसरा व्यक्ति भी यह सुनकर इतना अकुलाया कि वह भी मूर्खसे सहमत हो गया और उसने अपने मित्रको छोड़ दिया। जिस किसी भी व्यक्तिकी जिस किसी भी गुणके कारण मूर्खके सन्मुख प्रशंसा की जाती, मूर्ख सबका एक ही उत्तर देता।

कभी-कभी वह निन्दनीय शब्दोंमें कह उठता, "क्या तुम्हारा मतलब है कि तुम अब तक किसी विशेष 'अथारिटीमें' विश्वास करते हो ?"

"वह झक्की और गुस्सैल प्रकृतिका आदमी है" आदमी उसकी बाबत कहते, "परंतु कितना ऊँचा मस्तिष्क है।"

"और बाणी कितनी मधुर है" दूसरे जोड़ देते "ओह, वह वास्तवमें प्रतिभावान् व्यक्ति है।"

अन्तमें एक अखबारके सम्पादकने उस मूर्खको आलोचना सम्बन्धी भाग सम्पादन करनेको दे दिया।

और उस मूर्खने प्रत्येक व्यक्तिकी आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। उसने कभी भी अपनी शैली में या निन्दासूचक शब्दोंमें तनिक भी परिवर्तन नहीं दिखलाया।

अब वही जो सदैव विशेषज्ञों (authorities) के विरुद्ध आवाज उठाता रहा, स्वयं एक आथरिटी' बन गया। और कितने ही नवयुवक उसकी पूजा करने लगे। उसके सन्मुख भयसे कांपने लगे।

ये बेचारे नवयुवक और करते ही क्या? यद्यपि यह ठीक है कि किसीको भी किसीकी पूजा नहीं करनी चाहिए, लेकिन यदि कोई इस मामलेमें ऐसा न करे तो वह तुरन्त ही समयसे पीछे रह जाता है।

तात्पर्य यह है कि बेवकूफ अपनी जीविका कमजोर व्यक्तियोंसे चलाता है।

— अप्रैल १८७८

स्वाधीन भारतका साहित्य

स्वाधीन भारतके साहित्यका अर्थ है——१५ त १९४७ से लेकर अब तक के साहित्य में, ामयिक समाजकी गति, प्रवृत्ति और रुझानको के आवरणमें देखना। इसमें दो चीजें हैं—(१) ामयिक समाजकी गति, प्रवृत्ति और रुझान; तथा) उसको व्यक्त करनेकी कला। ये दोनों अलग- भी हैं और मिलीजुली भी।

स्वाधीन भारतके समाजकी गति, प्रवृत्ति और नको साहित्यके अन्दर देखनेका अर्थ है——इस दो की राजनीतिक, अर्थनीतिक और सामाजिक गति- यके अन्दरसे भारतीय मानव-समाजके पश्चाद्गामी अग्रगामी रुझानोंका मूल्यांकन करना। इसी तिसे इतिहासकार इतिहासके तत्व चुनता है। यही पद्धति है जिससे देखना ही सही देखना है। दृष्टिसे हम स्वाधीन भारतके—दो सालके— हित्यको देखेंगे।

भारतवर्षको स्वाधीनता क्रान्तिके द्वारा नहीं, मौतिके द्वारा प्राप्त हुई। साम्प्रदायिक उन्मादके , हिन्दुस्तानको दो हिस्सोंमें बाँटते हुए भारतवर्षको धीनता प्राप्त हुई। स्वाधीनता मिलनेके पहले भी ावरण साम्प्रदायिकताके विषसे भरपूर था और धीनताकी प्राप्तिके बाद वह बढ़ भी गया। साम्प्र- क उन्मादने मानव-समाजको पागल बना दिया। म बच्चे और स्त्रियोंको भी मौतके घाट उतारनेमें ोको कुछ संकोच न हुआ। हिन्दू और मुसलमान शैतान बन गये। पाकिस्तानसे हिन्दू मार कर ये गये और हिन्दुस्तान से मुसलमान मारकर ये गये। मीलों तक लम्बा हजारोंकी तादादमें ार्थियोंके काफले निकल पड़े। भारतीय ज्ञात- में जैसी दर्दनाक और शर्मनाक घटनाएं कभी टी थीं, वैसी ये घटनाएं थीं। किन्तु जहाँ ये नाक घटनाएं घट रही थीं, वहीं इन घटनाओंको नेका अदम्य प्रयास भी हो रहा था। महात्मा धीने नोआखालीकी यात्राकी, बिहारकी यात्राकी और लीमें मुसलमानोंके कत्लेआमको रोका। यहाँ तक

कि वह दिल्लीमें जम कर बैठ गये——साम्प्रदायिकताको रोकनेके लिए। महात्मा गान्धीके ये कार्य नेहरू सरकारके कुछ स्तम्भोंको भी न रुचे। हिन्दू सम्प्रदाय- वादने तो महात्मा गान्धीको अपना शत्रु और रावण तक कहना शुरू किया; और अन्तमें नाथूराम गोडसे नामक एक हिन्दूने महात्मा गान्धीकी हत्या भी कर डाली। अब हम देखें कि इस ऐतिहासिक घटनाके सम्बन्ध में पिछले दो सालका साहित्य हमें क्या बताता है।

हिन्दू सम्प्रदायवादको कुछ काँग्रेसी नेताओं तकने प्रोत्साहन दिया, मध्यप्रान्तके मिनिस्टर इस दिशामें शायद सबसे आगे थे। कांग्रेसी पत्रोंमें हिन्दू सम्प्रदाय- वादकी कसकर आलोचना नहीं होती थी। किन्तु फिर भी महात्मा गान्धीजीके कारण कांग्रेसी पत्र सम्प्रदायवादका स्पष्ट समर्थन नहीं कर सकते थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने हिन्दू साम्प्रदायिकता को खूब उभाड़ा। अनेक स्थानोंके मुसलमानोंके कत्लेआम में इस संस्थाका हाथ था। हिन्दू महासभाने भी साम्प्रदायिकता को उभारा। किन्तु हिन्दीके साहित्य- कारों पर इन दोनों संस्थाओं का प्रभाव नहीं के बराबर था। जहाँ कहीं कुछ प्रभाव था, वह व्यापक नहीं था। इसलिए किसी उल्लेखनीय साहित्यकारने स्पष्ट रूपमें हिन्दू साम्प्रदायिकता का पक्ष नहीं लिया। किन्तु किसी पुराने साहित्यकार——और शाश्वतवादी साहित्यकारने—— (एक श्री सियारामशरण गुप्तको छोड़कर) साम्प्र- दायिकताका कसकर विरोध भी अपने साहित्यके द्वारा नहीं किया। जिस समय हिन्दू और मुसलमान शैतान बन गये थे; सम्पूर्ण मानवीय आदर्श खाकमें मिल रहे थे; उस समय भी श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री भगवतीचरण वर्मा आदि या तो अन्तश्चेतना अथवा अन्तः घृणामें निमग्न थे। इन साहित्यिक महानुभावोंका यह काल-व्यतिक्रम इनके अध्यात्मका परिचायक कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि उस समय इस कालका सर्व श्रेष्ठ आध्यात्मिक पुरुष महात्मा गान्धी चार बांसोंके पुल पर पैदल चल कर मानवीय आदर्शोंकी रक्षा कर रहा था।

इस समय, हिन्दुओं मुसलमानोंकी इस साम्प्र- दायिकता, इस हैवानियत और इस खूंरेजीको चित्रित करते हुए, और इन खूनी प्रवृत्तियोंका विरोध करते हुए भी हिन्दीमें साहित्य प्रस्तुत हुआ। गद्य और पद्य दोनोंमें ऐसा साहित्य प्रस्तुत हुआ। चाहे कोई दम्भी पत्रकार और साहित्यिक प्रगतिशील साहित्यिकोंको कितना ही गाली दे; पर भावी इतिहासकारोंके लिए, इस कालकी साम्प्रदायिकताको समझनेके लिए, इन प्रगतिशीलोंका गद्य साहित्य एक खास साधन रहेगा। यह इसलिए कि उस समय अन्य साहित्यिक अन्तश्चेतना अथवा अन्तःघृणामें निमग्न थे। श्री अमृतरायका "कीचड़", "व्यथाका सरगम", "खाद और फूल" तथा "गोडसेके नाम खुली चिट्ठी' आदि कहानियाँ; श्रीविष्णुका "तांगेवाला" (कहानी) और "प्रतिशोध" (एकांकी) अज्ञेयका "शरणार्थी" (गद्य-पद्य संग्रह) और रहबर का "क्रूरताके बीज" आदि ऐसी रचनाएं हैं, जो साम्प्र- दायिक मनोवृत्ति और साम्प्रदायिक रुझान पर कस कर चोट करती हैं। यही नहीं किशनचन्दरका "हम वहशी हैं" (कहानी संग्रह, जिसमें बँटवारेके बाद पाकिस्तानमें और हिन्दुस्तानमें हुए दंगोंका चित्र है) तथा "और इंसान मर गया" (जिसमें पाकिस्तानके दंगेकी कहानी और वहांसे चलनेवाले शरणार्थियोंकी हालतका चित्र है) साहित्यके इतिहासकी अमर निधि हैं।

साम्प्रदायिकताके विरुद्ध हिन्दीमें अनेक कविताओंकी भी रचनाएं हुईं। किन्तु अधिकांश कविताओंमें साम्प्र- दायिकताका विरोध इसलिए किया गया है कि गान्धी जी साम्प्रदायिकताका विरोध कर रहे हैं। गान्धीजीकी नोआखाली यात्राके समय ऐसी कविताएं बहुत निकलीं। पर बिहार और दिल्लीमें मुसलमानोंकी हत्याके समय- जब हिन्दू साम्प्रदायिकताका विरोध करना था–यह स्वर मद्धिम पड़ गया। किन्तु प्रगतिशील कवियोंकी कविताओं में यह कमजोरी उतनी नहीं है। हत्यारे द्वारा गान्धीजी की हत्याके बाद जो कविताएं प्रकाशित हुईं, उन सबमें किसी न किसी रूपमें साम्प्रदायिकताका विरोध है। पर फिर भी उन कविताओंके अन्दर हिन्दू मनो- वृत्ति दिख ही जाती है। यहाँ तक कि "दिनकर" ने गान्धीजी की हत्याके बाद जो कविता लिखी, उसमें आधा दुख इस बात पर प्रकट किया गया कि हत्यारा हिन्दू था। हिन्दू ऐसा जघन्य कार्य कर सकता है, इस पर कविको भयंकर आश्चर्य है। शायद इतिहासके विद्यार्थी "दिनकर" जी को यह नहीं मालूम कि सम्राट हर्षवर्धन पर छुरेसे हमला करनेवाला भी हिन्दू ही था और ब्राह्मण था। सम्राट बृहद्रथके हत्यारे पुष्यमित्रने सुमति भार्गव नामक एक ब्राह्मणको अपने यहाँ रख कर मनुस्मृतिका ऐसा सम्पादन करवाया, जिससे ब्राह्मण सब कुकर्म करके भी पवित्र रह सके। एक नहीं दर्जनों ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दुनियाकी किसी भी पापी जातिसे कम पापी हिन्दू जाति नहीं है। किन्तु फिर भी "दिनकर" कहते हैं:——

"हिन्दू भी करने लगे अगर ऐसा अनर्थ
तो शेष रहा जर्जर भूका भवितव्य कौन ?"

"सुमन" में साम्प्रदायिक भावनाकी यह कमजोरी नहीं है। उन्होंने साम्प्रदायिकताके विरुद्ध 'मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझानेवाला' कविता लिखी। उसमें बहुत ही साफ शब्दोंमें कविने कहा है:——

जाति-धर्म-गृहहीन युगोंका नंगा भूखा प्यासा
आज सर्वहारा तू ही है एक हमारी आशा।
ये छल छन्द शोषकोंके हैं कुत्सित ओछे गन्दे
तेरा खून चूसने को ही ये दंगोंके फन्दे।
तेरा एका गुमराहों को राह दिखाने वाला
मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझाने वाला।

किन्तु फिरभी उनका मस्तिष्क साफ नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो वह "हत्यारेके प्रति क्षमाशील उन्मुक्त हृदय अभिनन्दन की" कामना न रखते। किन्तु फिर भी उनमें जो प्रगतिशील तत्व है वह उनसे कहलवा ले गया:——

"कालीदहके कालिया नाग को फिर नाथेंगे कुचलेंगे,
जहरीले दाँत उखाड़ सिन्धुकी लहरोंमें लयकर देंगे,
हम अनाचार-बर्बरता-हिंसासे कर देंगे मुक्त मही,
कहने सुननेको भी न मिलेंगे आस्तीनके साँप कहीं।"

इसके अलावा कुछ साहित्यकारोंने गान्धी जी की हत्याको ईश्वरादेश भी कहा है; जो निश्चय ही मरी हुई चिन्ताधारासे प्रसूत है तथा जिसके पीछे छिपी हुई है प्रतिक्रान्ति की शक्ति। कुछ लेखकोंने गांधीजीको स्वर्गमें दिखाकर चाहे अपने तईं कितना हू अच्छा किया हो; पर निश्चित रूपसे इस सामन्ती भावधाराके पीछे भी छल है। यदि ऐसे साहित्यकार साहित्यके आधुनिक रुझान को समझते होते, अथवा अति प्राचीन

स्वाधीन भारतका साहित्य

न भारतके साहित्यका अर्थ है—१५
९४७ से लेकर अब तक के साहित्य में,
क समाजकी गति, प्रवृत्ति और रुझानको
वरणमें देखना। इसमें दो चीजें हैं—(१)
क समाजकी गति, प्रवृत्ति और रुझान; तथा
को व्यक्त करनेकी कला। ये दोनों अलग-
हैं और मिलीजुली भी।

ीन भारतके समाजकी गति, प्रवृत्ति और
साहित्यके अन्दर देखनेका अर्थ है—इस दो
ाजनीतिक, अर्थनीतिक और सामाजिक गति-
न्दरसे भारतीय मानव-समाजके पश्चाद्गामी
ागामी रुझानोंका मूल्यांकन करना। इसी
ितिहासकार इतिहासके तत्व चुनता है। यहीं
ते हैं जिससे देखना ही सही देखना है।
टसे हम स्वाधीन भारतके—दो सालके—
ो देखेंगे।

तवर्षको स्वाधीनता क्रान्तिके द्वारा नहीं,
ु द्वारा प्राप्त हुई। साम्प्रदायिक उन्मादके
न्दुस्तानको दो हिस्सोंमें बाँटते हुए भारतवर्षको
ा प्राप्त हुई। स्वाधीनता मिलनेके पहले भी
ा साम्प्रदायिकताके विषसे भरपूर था और
ताकी प्राप्तिके बाद वह बढ़ भी गया। साम्प्र-
उन्मादने मानव-समाजको पागल बना दिया।
च्चे और स्त्रियोंको भी मौतके घाट उतारनेमें
कुछ संकोच न हुआ। हिन्दू और मुसलमान
ैतान बन गये। पाकिस्तानसे हिन्दू मार कर
गये और हिन्दुस्तान से मुसलमान मारकर
गये। मीलों तक लम्बा हजारोंकी तादादमें
थियोंके काफले निकल पड़े। भारतीय ज्ञात-
जैसी दर्दनाक और शर्मनाक घटनाएं कभी
थीं, वैसी ये घटनाएं थीं। किन्तु जहाँ ये
घटनाएं घट रही थीं, वहीं इन घटनाओंको
ा अदम्य प्रयास भी हो रहा था। महात्मा
नोआखालीकी यात्राको, बिहारकी यात्राको और
में मुसलमानोंके कत्लेआमको रोका। यहाँ तक

कि वह दिल्लीमें जम कर बैठ गये—साम्प्रदायिकताको
रोकनेके लिए। महात्मा गान्धीके ये कार्य नेहरू
सरकारके कुछ स्तम्भोंको भी न रुचे। हिन्दू सम्प्रदाय-
वादने तो महात्मा गान्धीको अपना शत्रु और रावण
तक कहना शुरू किया; और अन्तमें नाथूराम गोडसे
नामक एक हिन्दूने महात्मा गान्धीकी हत्या भी कर
डाली। अब हम देखें कि इस ऐतिहासिक घटनाके सम्बन्ध
में पिछले दो सालका साहित्य हमें क्या बताता है।

हिन्दू सम्प्रदायवादको कुछ कांग्रेसी नेताओं तकने
प्रोत्साहन दिया, मध्यप्रान्तके मिनिस्टर इस दिशामें
शायद सबसे आगे थे। कांग्रेसी पत्रोंमें हिन्दू सम्प्रदाय-
वादकी कसकर आलोचना नहीं होती थी। किन्तु
फिर भी महात्मा गान्धीजीके कारण कांग्रेसी पत्र
सम्प्रदायवादका स्पष्ट समर्थन नहीं कर सकते थे।
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघने हिन्दू साम्प्रदायिकता
को खूब उभाड़ा। अनेक स्थानोंके मुसलमानोंके
कत्लेआम में इस संस्थाका हाथ था। हिन्दू महासभाने
भी साम्प्रदायिकता को उभारा। किन्तु हिन्दीके साहित्य-
कारों पर इन दोनों संस्थाओं का प्रभाव नहीं के बराबर
था। जहाँ कहीं कुछ प्रभाव था, वह व्यापक नहीं था।
इसलिए किसी उल्लेखनीय साहित्यकारने स्पष्ट रूपमें
हिन्दू साम्प्रदायिकता का पक्ष नहीं लिया। किन्तु किसी
पुराने साहित्यकार—और शाश्वतवादी साहित्यकारने—
(एक श्री सियारामशरण गुप्तको छोड़कर) साम्प्र-
दायिकताका कसकर विरोध भी अपने साहित्यके
द्वारा नहीं किया। जिस समय हिन्दू और मुसलमान
शैतान बन गये थे; सम्पूर्ण मानवीय आदर्श खाकमें
मिल रहे थे; उस समय भी श्री सुमित्रानन्दन पन्त,
श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री भगवतीचरण वर्मा आदि या
तो अन्तश्चेतना अथवा अन्तः घृणामें निमग्न थे। इन
साहित्यिक महानुभावोंका यह काल-व्यतिक्रम इनके
अध्यात्मका परिचायक कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि
उस समय इस कालका सर्व श्रेष्ठ आध्यात्मिक पुरुष
महात्मा गान्धी चार बांसोंके पुल पर पैदल चल कर
मानवीय आदर्शोंकी रक्षा कर रहा था।

इस समय, हिन्दुओं मुसलमानोंकी इस साम्प्र-
दायिकता, इस हैवानियत और इस खूंरेजीको चित्रित
करते हुए, और इन खूनी प्रवृत्तियोंका विरोध करते हुए
भी हिन्दीमें साहित्य प्रस्तुत हुआ। गद्य और पद्य
दोनोंमें ऐसा साहित्य प्रस्तुत हुआ। चाहे कोई दम्भी
पत्रकार और साहित्यिक प्रगतिशील साहित्यिकोंको
कितना ही गाली दे; पर भावी इतिहासकारोंके लिए,
इस कालकी साम्प्रदायिकताको समझनेके लिए, इन
प्रगतिशीलोंका गद्य साहित्य एक खास साधन रहेगा।
यह इसलिए कि उस समय अन्य साहित्यिक अन्तश्चेतना
अथवा अन्तःघृणामें निमग्न थे। श्री अमृतरायका
"कीचड़", "व्यथाका सरगम", "खाद और फूल" तथा
"गोडसेके नाम खुली चिट्ठी" आदि कहानियाँ; श्रीविष्णुका
"तांगेवाला" (कहानी) और "प्रतिशोध" (एकांकी)
अज्ञेयका "शरणार्थी" (गद्य-पद्य संग्रह) और रहबर
का "क्रूरताके बीज" आदि ऐसी रचनाएं हैं, जो साम्प्र-
दायिक मनोवृत्ति और साम्प्रदायिक रुझान पर कस
कर चोट करती हैं। यही नहीं किशनचन्दरका "हम
वहशी हैं" (कहानी संग्रह, जिसमें बँटवारेके बाद
पाकिस्तानमें और हिन्दुस्तानमें हुए दंगोंका चित्र है) तथा
"और इंसान मर गया" (जिसमें पाकिस्तानके दंगेकी
कहानी और वहाँसे चलनेवाले शरणार्थियोंकी हालतका
चित्र है) साहित्यके इतिहासकी अमर निधि हैं।

साम्प्रदायिकताके विरुद्ध हिन्दीमें अनेक कविताओंकी
भी रचनाएं हुई। किन्तु अधिकांश कविताओंमें साम्प्र-
दायिकताका विरोध इसलिए किया गया है कि गान्धी
जो साम्प्रदायिकताका विरोध कर रहे हैं। गान्धीजीकी
नोआखाली यात्राके समय ऐसी कविताएं बहुत निकलीं।
पर बिहार और दिल्लीमें मुसलमानोंकी हत्याके समय-
जब हिन्दू साम्प्रदायिकताका विरोध करना था—यह स्वर
मद्धिम पड़ गया। किन्तु प्रगतिशील कवियोंकी कविताओं
में यह कमजोरी उतनी नहीं है। हत्यारे द्वारा गान्धीजी
की हत्याके बाद जो कविताएं प्रकाशित हुईं, उन
सबमें किसी न किसी रूपमें साम्प्रदायिकताका विरोध
है। पर फिर भी उन कविताओंके अन्दर हिन्दू मनो-
वृत्ति दिख ही जाती है। यहाँ तक कि "दिनकर" ने
गान्धीजी की हत्याके बाद जो कविता लिखी, उसमें
आधा दुख इस बात पर प्रकट किया गया कि हत्यारा
हिन्दू था। हिन्दू ऐसा जघन्य कार्य कर सकता है, इस
पर कविको भयंकर आश्चर्य है। शायद इतिहासके
विद्यार्थी "दिनकर" जी को यह नहीं मालूम कि सम्राट
हर्षवर्धन पर छुरेसे हमला करनेवाला भी हिन्दू ही था
और ब्राह्मण था। सम्राट बृहद्रथके हत्यारे पुष्यमित्रने
सुमति भार्गव नामक एक ब्राह्मणको अपने यहाँ रख
कर मनुस्मृतिका ऐसा सम्पादन करवाया, जिससे ब्राह्मण
सब कुकर्म करके भी पवित्र रह सके। एक नहीं दर्जनों
ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि
दुनियाकी किसी भी पापी जातिसे कम पापी हिन्दू
जाति नहीं है। किन्तु फिर भी "दिनकर" कहते हैं:—

"हिन्दू भी करने लगे अगर ऐसा अनर्थ
तो शेष रहा जर्जर भू का भवितव्य कौन?"

"सुमन" में साम्प्रदायिक भावनाकी यह कमजोरी
नहीं है। उन्होंने साम्प्रदायिकताके विरुद्ध 'मेरा देश
जल रहा कोई नहीं बुझानेवाला' कविता लिखी।
उसमें बहुत ही साफ शब्दोंमें कविने कहा है:—

जाति-धर्म-गृहहीन युगोंका नंगा भूखा प्यासा
आज सर्वहारा तू ही है एक हमारी आशा।
ये छल छन्द शोष कोंके हैं कुत्सित ओछे गन्दे
तेरा खून चूसने को ही ये दंगोंके फन्दे।
तेरा एका गुमराहों को राह दिखाने वाला
मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझाने वाला।

किन्तु फिरभी उनका मस्तिष्क साफ नहीं है।
यदि ऐसा न होता, तो वह "हत्यारेके प्रति क्षमाशील
उन्मुक्त हृदय अभिनन्दन की" कामना न रखते। किन्तु
फिर भी उनमें जो प्रगतिशील तत्व है वह उनसे
कहलवा ले गया:—

"कालीदहके कालिया नाग को फिर नाथेंगे कुचलेंगे,
जहरीले दाँत उखाड़ सिन्धुकी लहरोंमें लयकर देंगे,
हम अनाचार-बर्बरता-हिंसासे कर देंगे मुक्त मही,
कहने सुननेको भी न मिलेंगे आस्तीनके साँप कहीं।"

इसके अलावा कुछ साहित्यकारोंने गान्धी जी की
हत्याको ईश्वरादेश भी कहा है; जो निश्चय ही मरी
हुई चिन्ताधारासे प्रसूत है तथा जिसके पीछे छिपी हुई
है प्रतिक्रान्ति की शक्ति। कुछ लेखकोंने गांधीजीको
स्वर्गमें दिखाकर चाहे अपने तई कितना ही अच्छा
किया हो; पर निश्चित रूपसे इस सामन्ती भावधाराके
पीछे भी छल है। यदि ऐसे साहित्यकार साहित्यके
आधुनिक रुझान को समझते होते, अथवा अति प्राचीन

कालमें साहित्यमें प्रयुक्त स्वर्गके समाजशास्त्रीय विश्लेषणको समझते होते, तो शायद ऐसा न करते। ऊपर हालम गान्धीजीकी हत्याके बाद उन पर हुई कविताओंके जो संकलन निकले हैं, वे साहित्यके खोजी विद्यार्थियोंके काम के उतने नहीं हैं, क्योंकि सम्पादन-कर्ताओंने अनेक कविताओंमें ऐसी काट-छांट कर दी है, जिससे उनके जीवन्त तत्व नष्ट हो गये हैं।

इस दो सालमें साहित्यके अन्दर जो दूसरी प्रवृत्ति पैदा हुई है, उसे जनवादकी प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। कांग्रेसियोंने जनतासे जो वायदे किये थे, उसे जो आशाएँ दी थीं तथा जनता कांग्रेस सरकारसे जो आशा करती थी, वे सब एक एक करके नष्ट हो गये। यहां तक कि जनताने देखा कि कांग्रेसी खुद भ्रष्टाचारमें शरीक हैं। भूमिहीन किसानों और मजदूरोंने देखा कि इस हुकूमतसे उनका कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इसके अलावा जनताने देखा कि जिन्होंने देशके लिए कुछ भी कष्ट नहीं उठाया तथा जो पैसावाले हैं उन्हींको कांग्रेससे लाभ हो रहा है। जीवन-मान बढ़ता गया। उसी तरह कांग्रेसी मिनिस्टरोंकी शान-शौकत बढ़ती गयी। दूसरोंको त्यागका उपदेश देने वाले खुद भोगी होते गये। किन्तु इस सबके बावजूद कांग्रेसी नेताओंने महात्मा गांधीजीका नाम और 'रघुपति राघव राजाराम' नहीं छोड़ा। इस तरह भ्रष्टाचार और ढोंग दोनों बढ़ते गये। इस परिस्थितिमें साहित्यके अन्दर कई तरहकी प्रवृत्तियां पैदा हुई। कुछ साहित्यकारोंने तो उत्प्रेक्षा द्वारा शासकोंको सावधान करते हुए अपने भावोंको व्यक्त किया। ऐसे कवियोंमें "दिनकर" जीभी हैं। अपने "पंचतिक्त" नामक कवितामें "दिनकर" जीने कहा है:—

चीलोंका झुण्ड उचक्का है, लोभी, बेरहम, लुटेरा भी
रोटियां देख कमजोरों पर क्यों नहीं झपट्टे मारेगा?
तुम इनके झाड़ते रहो दम-ब-दम कड़ी फटकारोंसे,
आँखे तरेरते रहो और आवाजें अपनी तेज करो।
औ हो जायें जो ढीठ, न माने अदब-रोब फटकारोंका
तो कहीं रोटियोंके समीप नेजो की नोकें खड़ी करो।"

× × ×

जो घटा घुमड़ती फिरती है, क्या बिना बुलाये ही आयी?
आकाश! नहीं क्या चीख चीख तूने इसका आह्वान किया?

× × ×

"है वृथा यत्न, दम साध, पेटमें यह तूफान पचानेका,
मानेंगे बरसे बिना नहीं, न्योते पर ये आने वाले।"

कुछ कवियोंने लगातार अपनी रचनाओं द्वारा, कांग्रेसी हुकूमतको सावधान किया। ऐसी रचनाओंमें श्री छोटेलालजी भारद्वाजकी एक कविता है, जिससे कुछ उद्धरण हम यहाँ देते हैं; इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि साहित्यकार इस सरकारको किस नजरसे देख रहे हैं:—

'तथाकथित समताके प्रतिनिधि !
बोलो, आज हृदयसे बोलो,
अपने वर्तमानको साथी,
अपने ही अतीत से तोलो।
सह सकता था जो न कभी
मानव मानवमें क्षण भर अन्तर
आज विषमताका रथ चलता
उस युग-स्रष्टाके चिर पथ पर!

× × ×

शोषक - शोषितके संघर्षो
का यह नया प्रवाद नहीं है,
स्वप्न-चित्र है आजादी
जब तक रोटी आजाद नहीं है।
उधर सर्पको दूध पिलाते
इधर डंसेका मन बहलाते।
सखे अजीब सँपेरे बनकर
लोकतन्त्रकी बीन बजाते!

× × ×

रुक न सकेगा जन-प्रवाह
पिछली सेवाकी दीवारों से।
सधन सकेगा क्रान्ति-गान
वीणाके इन टूटे तारों से।
खेद कि पीले सिंहासन पर
रक्त पीत पड़ गया तुम्हारा।
तुम बसन्तमें भूल रहे हो
जन-जीवन पतझरका मारा।
उधर तुम्हारे तपस्सूर्य को
पदलिप्साका राहु ग्रस रहा।
इधर स्वार्थ-शोषित स्वतन्त्रता
अंधकारमें भटक रही है।

ओ महलोंकी नींव डालने वाले साथी,
मुड़कर देखो इधर, झोपड़ी उजड़ रही है।

गद्यमें भी कांग्रेसी राजके विरुद्ध जोरोंसे असन्तोष व्यक्त होने लगा है। "विष्णु" ने जनताके मनमें कांग्रेसके विरुद्ध व्याप्त घृणाको एक व्यंगपूर्ण एकांकी में व्यक्त किया है। इस एकांकीका नाम है—"कांग्रेस-मैन बनो" अमृतरायने "आजादीके पेड़में फल लगा है!" और "आजादीकी रेल उर्फ वार्निशके पीपे" लिखा। बंगालमें एक गहरा व्यंग चारों तरफ प्रचारित है—"एक टाका कापोड़ सात टाका दाम, रघुपति राघव राजाराम" और इसका प्रभाव हिन्दीके साहित्यकारों पर भी पड़ा। उन्होंने भी व्यंग किया—"रघुपति राघव राजाराम टाटा बिरला साधे काम"। ऐसे व्यंगों पर कुछ लोग बहुत बिगड़े भी हैं। पर यह उनकी समझका दोष है। दरअसल ये व्यंग अगली मंजिलके झाड़-झंखाड़ोंको उखाड़नेके लिए आवश्यक हैं। स्वामी दयानन्दजीके आर्यसमाज आन्दोलनके प्रभावसे भी हिन्दी साहित्यमें पुराण पंथियोंके विरुद्ध ऐसे तीखे व्यंगोंकी रचना हुई थी। और अब आज ढोंगी देशभक्तों, कांग्रेसमैनों तथा राष्ट्रवादियोंके विरुद्ध ऐसे ही व्यंगोंकी जरूरत है। और ऐसे व्यंगोंकी रचनाएं हो भी रही हैं:—

"अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी हैं।
जमीन्दार हैं, साहुकार हैं, बनिया हैं, व्योपारी हैं।
गाँव गाँवकी, शहर शहर की, जिले की, सूबों की—
कांग्रेसमें घुस आये जितने भी अत्याचारी हैं।
अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी हैं॥

× × ×

खादीने मखमलसे अपनी साठ-गाँठ कर डाली है।
बिड़ला-टाटा-डालमियाकी तीसों दिन दीवाली है।
जोर-जुलुमकी आंधी चलती बोल नहीं कुछ सकते हो—
समझ न पाता हूँ कि हुकूमत गोरी है या काली है।
खादीने मखमल से अपनी साठ-गाँठ कर डाली है।

× × ×

गान्धीजी की कसमें खा-खा कौन किसे ठग सकता है।
ठंढा चूल्हा, फूटी हाँडी; नहीं कहीं कुछ पकता है।
दिल्ली-लखनऊ-कलकत्ते से चिकनी-चुपड़ी बोली में—
रेडियोवाला शाम-सबेरे जाने क्या क्या बकता है।
गान्धीजी की कसमें खा-खा कौन किसे ठग सकता है।

(नागार्जुन)

"ठाठबाटसे रहें मिनिस्टर लाटोंके क्या कहने हैं
मुखसे झरती सत्त-अहिंसा, धोती कुर्ता पहने हैं
सच बतलाऊँ इन्हें देखकर धोखा होता है मुझको—
आजादीकी देवीके क्या ये सोनेके गहने हैं
ठाठबाटसे रहें मिनिस्टर, लाटोंके क्या कहने हैं

× × ×

पीते हैं नेता निचिन्त हो घोल घोल पहलेका जस
रैयतकी छाती पर बैठा जमींदार लेता है रस
आजादीकी गंग समाई अटली की उलझी लट में
बंजर, ऊसर, परती धरती पड़ी हुई है जसकी तस
पीते हैं नेता निचिन्त हो घोल घोल पहलेका जस

× × ×

आजादीकी कलियाँ फूटी पाँच सालमें होंगे फूल
पांच सालमें फल निकलेंगे, रहे पन्तजी झूला झूल
पाँच साल कम खाओ भैय्या, गम खाओ दस-पन्द्रह साल
अपनेही हाथोंसे झोंको यों अपनी आँखोंमें धूल
आजादीकी कलियाँ फूटी, पाँच सालमें होंगे फूल

(शंकरशैलेन्द्र)

इस दो सालके अन्दर मध्मम वर्ग टूटनेके क्रम[illegible] भी आ गया है। मध्यमवर्गके कुछ लोग शासक-शोषक वर्गमें मिलकर खूब कमाने खाने लग गये हैं। वह मध्यम वर्गसे आगे बढ़कर बूर्जुआ श्रेणीमें मिल गये हैं। बाकी अधिकतम पर महगाईकी गहरी मार पड़ने लग गयी है। वह धीरे-धीरे सर्वहाराकी ओर घिसटने लग गया है। अधिकतम साहित्यकार मध्यमवर्गमें से ही थे। साहित्यकारोंमें जो मशहूर थे वे आजादीके [illegible] दिनोंमें किसी न किसी लीडरका दामन पकड़कर, या तो सरकारमें या रेडियोमें या कांग्रेसी शासक-शोषक श्रेणीके निकट स्थान पाते गये अथवा पूँजीपतियोंने ज्यादा रुपया देकर इनको अपना चाकर बना लिया। आजादीकी घोषणाके बाद इनके अन्दरकी सारी प्रेरणा खतम हो गयी—जैसे ये जो चाहते थे वह मिल गया। अब इनके निकट साहित्य-स्टष्टिका नया क्षेत्र ही जैसे नहीं रह गया। इसीलिए इस कोटिके साहित्यकारोंने जनताकी नयी समस्याओंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। वर्ग-संघर्षके इस तीव्र दबावमें या तो ये साहित्यक

चर्यका राग अलापने लगे—अन्तश्चेतनामें होने लगे—अथवा साहित्यमें गतिरोधका अनु- रने लगे। सरकारी चाकरीमें निमग्न किसी ये प्रसिद्ध साहित्यकार अपने मन-प्राण की ता को साहित्यमें गतिरोध कहकर छिपाने इसी कालमें, इसी कोटिके (पर अपेक्षा- सफल) साहित्यकारोंके अन्दर कलमकी री भी कम हो गयी। इनमें से अधिकतर— त तथा अल्पप्रतिष्ठित—साहित्यकारोंने दो बना लिये। जनतामें प्रभाव कायम रखनेके नताका नाम लेना और सिद्धान्त रूपमें शासक— श्रेणीका साथ देना, दो चेहरेवाले साहित्यकारोंका गया। कलमकी ईमानदारी उनकी इतनी खो एक ही कलमसे वह सोशलिज्म और प्रभु दोनोंके गीत गा लेते हैं। इस तरह आजादीके लोंके अन्दर हिन्दीके अधिकतर प्रतिष्ठित साहित्य- का नैतिक पतन हो गया है।

स दो सालके अन्दर हिन्दी साहित्यमें पुराने यकारोंका जन-जीवनकी अनुभूतिसे साथ छूट वह समाज-जीवनकी गति-प्रवृत्ति और रुझानसे जा पड़े। वर्ग-संघर्ष तीव्र हो गया। इस वर्ग- में साधारण जन-जीवनका साथ देना और शासक-शोषक वर्गका विरोध करना दोनों एक और मिली-जुली बातें हैं। किन्तु कांग्रेसियोंकी पुरानी साधनाएं बीचमें आकर अन्ध-श्रद्धा पैदा कर देती हैं। इसीलिए इस समय कांग्रेसियोंके विरुद्ध साहित्यमें तीव्र व्यंगकी सृष्टि हो रही है। इसके साथ ही साथ जनताकी समस्याओंकी ओर भी साहित्यका रुझान हो चला है। आज, अब साहित्यकी यही दिशा है। आगे चल कर इसी पथ से जनता के साहित्यकी सृष्टि होगी। किन्तु इसके पहले अभी साहित्य के और साहि- त्यकारों के निकट विकट संघर्षका काल है। इस संघर्ष में शोषित और पीड़ित जनता का साथ देने वाले साहित्यकारोंको नौकरियों से हाथ धोना पड़ सकता है, फैसिस्ट सरकार का कोपभाजन होकर जेल की हवा भी खानी पड़ सकती है और महान साहित्यकार रोमाँ रोलाँ की तरह मौत का सामना भी करना पड़ सकता है। विपरीत इसके शासक- शोषक वर्ग की सरकारका साथ देने वालोंके निकट सभी ऐशो आराम मुहय्या होंगे। इसलिए इस संघर्ष-पथ में कितने साहित्यिक टिकेंगे और कितने घुटने टेकेंगे, यह आने वाला समय बतायेगा।

—बैजनाथसिंह 'विनोद'

(पृष्ठ १५५ का शेषांश)

पूंजीवादके ५० वर्ष, समाजवादका एक वर्ष

पूंजीवादने ५० वर्षोंमें जितनी प्रगति की है, वह समाजवादके लिए एक वर्षकी बात है। भारतीय पूंजीवाद बिल्कुल अनुपयोगी हो गया है, क्योंकि उससे न तो जनताकी गरीबी दूर हो सकती है और न उसमें कर्तृत्व-शक्ति ही आ सकती है। पूंजीवादका भविष्य अन्धकारमय है। दूसरा मार्ग समाजवादका है और जैसाकि कार्लमार्क्सने बार-बार कहा है, यह व्यष्टिका समष्टीकरण है, एक सहकारी प्रयास है। यह कोई ऐसी रामबाण औषधि नहीं जिसपर "लो या छोड़ो" का लेबुल लगा हो। इस दिशामें जितना ही प्रयत्न होगा, उसी अनुपातसे, तात्कालिक और दूरवर्ती, लाभ भी होगा। पूंजीवादमें सब कुछ कलके लिए होता है, समाजवादमें आजका त्याग न केवल कल, बल्कि हमेशाके लिए निश्चिन्तता प्रदान करता है।

उपर्युक्त तरीकेसे १० वर्षके अन्दर ही प्रत्यक्ष सफलता मिलने लगेगी और जनताके सुनियोजित सहयोग और श्रमसे एक दशाब्दीका यह त्याग इतनी सम्पन्नता ला देगा कि सभीकी भूख मिट जायगी।

—अंग्रेजी 'जनता' से

ज न वा णी

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) एक प्रति का ।।।)

'जनवाणी'

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष ३ भाग ६] सितम्बर १९४९ [अङ्क ९ पूर्णाङ्क ३३

जन-वंदना

नागार्जुन

हे कोटि शीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण !
युगकी लक्ष्मी, भवकी विभूति कर रही तुम्हारा स्वयं वरण !

तुम महिमामंडित परंपराओं के वाहन
तुम साधारण तुम निर्विशेष
निज जटाजालमें विद्युत्की गति-विधि समेट
तुम सर्वग्रासी हिरणकशिपुके फाड़ फाड़कर विकट पेट
विज्ञान-कला-संस्कृतिके शिशु प्रह्लादोंको दे रहे निरंतर अभयदान !
यूरोप एशिया अमरीका या अफ्रीका
सब जगह तुम्हारी अगवानी कर रही प्रकृति
धरती पुलकित, आरक्त गगन
अरुणोदयकी लोहित आभासे भास्वर सारे दिग्-दिगंत
शुभ-आशंसाका है न अंत
मिट्टी का कण कण प्राप्त कर रहा स्वाधिकार

है उतर रहा भूपर ही सुरपुर मुक्त-द्वार
अब रह न जायगा अग-जग में कोई अनाथ किंवा अशरण ।
हे कोटि शीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण !

सुख-सुविधा सबके हेतु सहज
सब सक्षम, सब होंगे प्रबुद्ध
आबालवृद्धवनिता—सारे कर्तव्यनिरत निर्माणशील
सब स्थितप्रज्ञ, सब कलाकार, सब स्निग्ध-शांत
सब एक सूत्र में गुंफित कुसुमावलि समान
सबमें दीपित आत्माभिमान
अमरत्व न चाहेगा कोई, सम होंगे जीवन और मरण।
हे कोटि शीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण !

हे महारुद्र, हे निर्मोही !
हे शाश्वत मलके महाकाल
तुम मानवता के दूषित-गलित अवयवोंपर
प्रलयांत वह्नि बन बरस रहे
हो रहा तुम्हारे लोहित-नील स्फुलिंगोंसे
त्रिभुवनभरका तमतोम हरण।
हे कोटि बाहु, हे कोटि शीर्ष, हे कोटि चरण!

हे महाप्राण !
आतंकित तुमसे दानवदल
वंचक मायावी कालनेमि धारण करते—
नानाप्रकारके छद्मवेश
फिर भी न पा रहे कहीं त्राण
छीजते जा रहे क्षीयमाण

प्रतिशोध तुम्हारा अति अद्भुत, विकराल तुम्हरा न्यायदंड
तुम चूर चूर कर रहे आज मांधाताओंका सारा घमंड
युगधर्म तुम्हारा देख देख त्रेता विस्मित, द्वापर विमुग्ध हे विश्वंभर !
यह चंद्र-सूर्य ग्रहगण-तारा
नक्षत्रखचित यह नील गगन
यह लता-गुल्म-तृण-तरु-वल्लीसे परिव्याप्त
बहुविध धन-धान्य-समेत सुफल कल्याणनिलय अतिशय ललाम...
अमिताभ सुसंभृत रत्नगर्भ यह धरा-धाम...
मैं मुग्ध मुदितमन देख रहा उज्ज्वल भविष्यका उपोद्घात
मैं निःसंशय, दुविधाविहीन
मैं निष्ठापूर्वक सोच रहा—
कल व्यक्ति-व्यक्ति के हेतु सुलभ होगा अवश्य मौक्तिकाऽऽभरण ।
हे कोटि शीर्ष, हे कोटि बाहु, हे कोटि चरण !
युगकी लक्ष्मी, भवकी विभूति कर रहीं तुम्हारा स्वयं वरण !!

यशपाल का 'मनुष्य के रूप'

गोपीकृष्ण प्रसाद

कलाकार यशपालने अपने इस ताजे उपन्यासको हौसले और मनसूबोंके साथ लिखा है। सामाजिक अन्यायकी बुनियादपर कायम मानव-समाजका रूप विकृत हो चुका है। यह विकृति बहुत गहरी और व्यापक है। समाजका कोई तबका इससे बचा नहीं; आजके मनुष्यकी हर प्रकारकी विकृतियोंका अनुमान शायद औसत व्यक्ति नहीं लगा सकता है, गो कि उसके इर्द-गिर्द विकृतियोंसे भरे हजारों लाखों लोग पड़े रहते हैं। हर कोई यह जरूर अनुभव करता है कि मनुष्यकी जिन्दगी ठीक तौर पर चल नहीं रही है, इसम घुन लग गया है और मनुष्य इससे सड़ता जा रहा है। ऐसी दशामें किसी बलात्कार द्वारा पूरी तटस्थताके साथ, सामाजिक इतिहासकारकी निर्वैयक्तिक दृष्टिके साथ मनुष्यके सभी रूपोंका तो नहीं, कमसे कम प्रमुख रूपों का बोध करा देना और वह भी उपन्यासके माध्यमसे महान सफलताकी बात होती। हिन्दी उपन्यास-जगतमें प्रेमचन्दके "गोदान" के बाद इसको दूसरा महान सफल प्रयास कह देनेमें हिचक नहीं होती। यशपालने जिस विषयको उठाया उसमें ऐसी संभावनाएं थीं, मगर कलाकार और उपन्यासकार यशपाल उन संभावनाओंको ढूँढ़नेमें असमर्थ रहा है। इसलिए "मनुष्यके रूप" जितने मनसूबोंके साथ शुरू होता है, जितनी आशाएं यह बंधाता है उतना कलाकार यशपाल पूरा नहीं कर सके हैं, उनकी दृष्टिका निखार उतना नहीं हो सका है। हमारे इस कथनका प्रमाण क्या है?

उपन्यासका आन्तरिक विधान

सोमा, धनसिंह, मनोरमा, बैरिस्टर जगदीश, भूषण, सुतलीवाला, बरकत, बनवारी—ये पात्र उपन्यासमें प्रदर्शित विकृतियोंके प्रमुख नमूने हैं। खुद किसी न किसी प्रकारकी विकृतिके प्रतीक होनेके साथ साथ इनसे जीवनसे जुड़ी बहुत सारी घटनाएं हैं, सामाजिक जगत है जो विकृतियोंके कुछ अन्य प्रकारोंका भी बोध कराते हैं। फिर भी इस प्रकार कुल मिलाकर मनुष्यके कुछ ही रूपोंका चित्रण उपन्यासमें हो पाता है। यद्यपि सारेके सारे पात्र एक विधानमें गूँथे हुए हैं, फिर भी उस विधानमें निहित विकृतियोंके विभिन्न ढांचों, मनुष्यके विभिन्न रूपों को स्पष्ट करनेके लिए हम एक एक पात्रपर अलग-अलग विचार करेंगे।

विकृतियोंका केन्द्रीय प्रकाशपुंज सोमा ही है। शहरसे दूर,बहुत दूर एक गाँव, जहाँके लोग बहुत पिछड़े हुए हैं, जहाँ अन्यायके तौर-तरीके अभी भी सामन्तवादी युगके हैं, वहांकी विधवा औरत सोमा तरहतरहके पारिवारिक और सामाजिक अन्यायका शिकार होती है। वहां उसका जो जीवन है उसे जीवन नहीं कह सकते। सोमाकी तरह हजारों लाखों नहीं, करोड़ों स्त्रियां अन्यायका शिकार होकर रोज दम तोड़ रही हैं, लेकिन भयानक रूपसे विकृत होकर। अन्यायके कारण सिर्फ सोमा ही विकृत नहीं, बल्कि उसपर अन्याय करने वाला उसका परिवार, उसके गांवका समाज भी विकृत है जो उसे कुछ चांदीके टुकड़ोंपर बेंचनेके लिए साजिश करता है। इसमें सोमाके श्वसुरका दोष नहीं, समाजके ढांचेका है जो इस तरहके विकृत मनुष्यको पैदा करता है, प्रश्रय देता है। सोमाके जीवनसे जुड़ी विकृतिका यह एक प्रकार हुआ। पहले अध्यायमें सोमा और धनसिंहकी बातचीतका एक टुकड़ा देखिए—

"हम तो प्यासके मारे पानी मांगने चले थे, तुम्हारा तो घड़ा ही औंधा है" परिचयके आधार पर धनसिंह बोला।

किस्मत ही औंधी है, घड़ा क्या!—उत्तर दे लड़की ने एक लम्बी सांस खींच ली।

मोटर ड्राइवरका रूखा व्यवहार सहानुभूतिमें बदल गया और उसका स्वर भींग गया—"भली

लोग, मुझे क्या मालूम था कि तुम यों सामने आ जाओगी?...

लड़की ने आँखें पोंछ आंचल चेहरेपरसे हटा लिया।........वशका बांध टूट जाने पर वह बोल उठी—"परदेसिया, तुझे ही मुझसे क्या बैर था। अच्छी भली चलती मोटर रोक दी............ झगड़ा मिट जाता रोज़ का।"

सोमाका यह आखिरी वाक्य मध्यवर्गीय दार्शनिकता का द्योतक नहीं, बल्कि शोषित गुलामों की आखिरी उत्कंठा है जो उसकी परिस्थितिसे जनित है। और यह सोमा का एक रूप है। मगर सोमा की मनोवृत्ति के पीछे जीवन की स्वाभाविक लालसा है और उसकी सहनशीलता की हद भी है। यही कारण है कि वह धनसिंहके साथ भागती है। उसके बाद उसका जगदीश बैरिस्टरके साथ संबंध, फिर बनवारीसे प्रेमका आग्रह, अन्तमें सुतली वालाके साथ विवाह प्रस्ताव,सोमा की यही छोटी सी कहानी है। परिस्थितिकी मार ने उसे सोमासे मिस 'पहाड़न' बनाया और अपनी कहानीके इस दौरानमें सोमा बराबर आश्रय और स्वाभाविक जीवनके लिए थोड़ा बहुत प्रयास करती रही है। लेकिन परिस्थिति ही उस पर हावी हुई है, उसका प्रयास बराबर व्यर्थ हुआ है। अन्तमें सुतली वालासे उसका विवाह-प्रस्ताव निराश, हारी और थकी सोमा का आवेशमूलक प्रयास मात्र ही है जिसमें उसे और बारसे भी ज्यादा असफलता मिलने वाली है, उपन्यास से यही ध्वनि मिलती है।

तो सोमा की यह कहानी सामाजिक अत्याचार की कहानी है, सोमाकी विभिन्न रूप-विकृति का एक पहलू है। उसकी कहानी दर्दीली तो है, मगर उसमें गहराई नहीं, व्यापकता नहीं। गहराई का अभाव इस अर्थमें कि सोमाके चरित्रमें विकृतियों की जितनी संभावनाएं थीं उन्हें कलाकार पकड़ नहीं पाया है, और व्यापकता का अभाव इस मानीमें कि सोमा के चरित्रमें विकास की कितनी गुंजाइश थी, रचनाकार उसकी थाह नहीं पा सका है। स्मरण रहे, सोमा का यह विश्लेषण चरित्र-चित्रण की दृष्टिसे मैं नहीं कर रहा हूँ, बल्कि यह मान कर कि सोमा कलाकार की दृष्टि का एक निखार है, प्रक्षेपण है। इसलिए मैं उपन्यासके अन्य, पात्रों की ओर भी जाता हूँ।

ईमानदार, बुनियादी तौर पर अच्छा इन्सान, मगर सामाजिक अन्याय और रूढ़िका शिकार मजदूर धनसिंह अपने जीवनको स्वाभाविक बनानेके प्रयासमें जेल जाता है, अपनी सोमाको पीटता है, दो व्यक्तिकी हत्या करता है, फौजी मुलाजिम बनता है, आजाद हिन्द सेनामें जाता है और अन्तमें फिर जेल जाता है। यही उसकी कहानी है जो सोमाकी कहानीसे अपेक्षाकृत बड़ी है। उसके जीवनकी घटनाएँ एक दूसरेके बाद घटित होती हैं और स्वाभाविक जीवन-सुखसे वंचित धनसिंह उसका खिलौना बनता है। धनसिंह सचमुच परिस्थितियोंका खिलौना है। और परिस्थितियोंकी पृष्ठभूमि व्यापक नहीं है, इसलिए धनसिंह प्रमुख पात्र होकर भी व्यापक अनुभूतियोंका केन्द्रस्थल नहीं।

धनसिंह दो-दो बार हत्या करता है। यह उसकी विकृति है, मगर क्यों? स्वाभाविक जीवनके प्रलोभनमें न कि खराब इन्सान होनेके कारण। सिर्फ स्वाभाविक जीवन बितानेका प्रलोभन उसे उद्धत और हत्यारा बनाता है। उसके चरित्रकी विकृतिका यह प्रकार मात्र है जिसका कारण धनसिंह नहीं, सामाजिक व्यवस्था है।

मैं यह बताना चाहता हूँ कि सोमा और धनसिंहके जीवनसे संबंधित घटनाओं पर ही ज्यादा जोर पड़ता है, पाठकका ध्यान ज्यादा उसी पर केन्द्रित होता है, उन दोनोंके चरित्रमें निहित 'मनुष्यके कुछ रूप' पर नहीं। इससे कलाकारकी दृष्टि कुछ धूमिल हुई है, गहरा और तीव्र बोध उसका नहीं हो सका है। कलाकारकी दृष्टिका तकाजा था कि घटनाओं पर जोर न डालकर पात्रोंकी विकृतियों और रूपों पर डाला जाता।

बैरिस्टर जगदीश, सुतली वाला, बरकत और बनवारी, ये भी मनुष्यके ही रूप हैं। ये स्टेज पर जाते हैं, अपना रूप दिखा जाते हैं और फिर चले जाते हैं। ये सबके सब भी अपनी अपनी परिस्थितियोंके शिकार हैं और किसी न किसी तरहसे विकृत ही हैं। मध्यवर्गीय सेक्स विफलताका नमूना बैरिस्टर जगदीश हैं और भ्रष्टताका प्रतीक है। बरकत बिल्कुल निम्न-

वर्गका है, जीवनकी सभी अभिलाषाओंसे वंचित है, वह बहुत ही विकृत है । लेखकने बड़ी सफाईसे इसके रूपोंको दर्शाया है और जोर इसकी जीवन-घटनाओं पर नहीं बल्कि इसके रूपों पर है ।

सहायक पात्रोंमें बनवारी बड़ा ही रोचक, दिलचस्प और जानदार है । सन् १९१९ ई० के स्वतंत्रता-संग्राम का सिपाही, फिर राजनीतिसे विमुख हो निम्न मध्यमवर्गीय परेशानियों का शिकार होकर बनवारी अच्छी और इच्छानुसार जिन्दगी निभानेके फेरमें पत्रकार बना, लेखक बना, लेकिन बराबर असफल । तब उसने राह बदली, न जाने कितने तरहके पापड़ बेले. अवसरवादिता और चालाकी का सहारा लेकर अन्तमें सिनेमा का एक्टर, डाइरेक्टर तक बन गया । मगर इन सारे तजुर्बोंने उसे बेइमान, मक्कार नहीं बनाया, उसने बुनियादी अच्छाई कायम रखी, मगर वह आस्थाविहीन व्यक्ति हो गया । बनवारी का अन्तिम रूप इस उदाहरणमें देखिए:––

बनवारीने अपने दुबले शरीर को एक बड़ी कुर्सीके आधेसे भी कम भागमें समेट कर पूछा––"खोयी सी कैसे बैठी हो ? हम आज पीयेंगे ।"

"भई, मैं अब तंग आ गयी हूँ ।"

"किससे ?"

"जिन्दगीसे, प्यार करनेवालों से ! कल शाम पाली भाईने सिर खाया, आज जामन साहब ने ।"

"बधाई है । निकलवाओ बोतल इसी बात पर, अभी तुम्हारा बाजार और चढ़ेगा ?"

"हम बाजार की चीज हैं !"—पहाड़नने उसकी आँखोंमें घूरकर पूछा—"तुम भी ऐसा कहते हो !"

"आज तुम बिगड़ी बैठी हो ?"

"मैं दुखी हूँ", पहाड़नने आंचलसे मुँह ढँक लिया ।"

"बात क्या है पहाड़न ?"

"तुम बताओ मैं क्या करूं ? तुम खुद ही कहते हो वह सब बहुत चलेगा, चार-पांच बरस चल जायेगा ।"

"सचमुच व्याह की बात सोच रही हो.........? तुम्हें किस पर भरोसा है ?"

इस पर पहाड़नने आंचलसे मुँह ढक लिया ।

"तुम रवन्ना खा रही हो"––बनवारी हँस दिया । तुमसे ऐक्ट्रेसी नहीं निभ रही हो तो किसी गहरे आसामीको पकड़ो, जिसकी बीती न हो, जिसकी उम्र काफी हो । और सुन लो, पहले अदालतमें व्याह कर, तब प्रेम !..... हम चलते हैं ।"––बनवारी उठ खड़ा हुआ ।

"ठहरो, मैं मँगवाती हूँ"––आँखें पोंछकर उसने कहा ।

"नहीं, अब नहीं पीयेंगे । हम अपनी खुशीके लिए आये थे । तुम हमें अपना गम सुना रही हो ।" वह चला गया ।

पहाड़न कटुतासे दाँत पिसकर रह गयी––यही तो आदमी है जिसे मैं भरोसे लायक समझती हूँ । वह ईमानदारीसे कह रहा है कि वह मुझसे खेलने आया था । आग लगे इसकी ईमानदारी में ।

सम्पन्न मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों का शिकार होकर भी मनोरमा एक जागरूक पात्र है । मध्यवर्गीय ढाँचेमें रहकर वह भ्रममें पड़ती है और अन्तमें भ्रमसे निवारण उसके कम्युनिस्ट हो जानेपर हो जाता है । इसी प्रकार भूषण एक कम्युनिस्ट है । उसकी वर्ग-अवस्था ने असर डालकर एक ओर उसके स्वाभाविक रूपको बदला,दूसरी ओर 'कम्युनिस्टवाद'की राजनीतिने उसमें खास किस्म की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कीं । बहरहाल वह भी मनुष्य का एक रूप है ।

अब सोभा, धर्नासिंह, मनोरमा, भूषण, जगदीश, बनवारी, सुतली वाला, बरकत इन सभी पात्रोंको कुल मिलाकर देखिए । उनकी मिलीजुली दुनिया भी देखिए तो मनुष्यके कुछ रूपों द्वारा तैयार एक ढाँचे का बोध होगा । यही ढाँचा उपन्यासकार की दृष्टि और अनुभूति का पर्याय है । इस ढाँचे को कुछ घटनाओं द्वारा बढ़ाया भी गया है, जैसे झाड़ीमें जिसके पास ही अर्जुन लाल और धर्नासिह छिपे हैं । एक ग्रामीण स्त्री का पुलिस द्वारा बलात्कार,मगर स्वार्थवश अर्जुनलाल और धर्नासिह की निष्क्रियता। इस घटना की सृष्टि कम्युनिस्ट यशपाल ने की है खास मतलब से, कुप्रचार, कुप्रभाव डालने की दृष्टिसे न कि उपन्यासके ढांचेकी श्रृंखला जोड़ने से । इस स्थल पर उपन्यासकार यशपाल अपनी तटस्थता खो बैठा है, कम्युनिस्ट यशपाल का विस्फोट हो गया है । तभी

कम्युनिस्ट यशपाल सन् ४२ के आन्दोलन को जापान को मदद पहुँचाने वाला आन्दोलन सिद्ध करने पर एक बार फिर कटिबद्ध हुआ है और इस प्रमाणमें उसने इतिहासके साथ बलात्कार किया है । एक कायर और भीरु सोशलिस्ट का चित्रण इसलिए किया गया है कि सोशलिस्टोंको इस तरहसे नीचा दिखाना है । ऐसे स्थलों पर कम्युनिस्ट विस्फोटने उपन्यास को मटियामेट कर दिया है, कलाकार यशपाल का गला घोंट दिया है । यह मैं नहीं कहता कि अर्जुनलाल का चरित्र असंभव है बल्कि बिल्कुल सम्भव है, मगर जब यशपाल सिद्धान्त की बुनियाद पर सोशलिस्टों को गलत साबित कर रहे हैं, तब ऐसी पृष्ठभूमिमें इस तरह का चरित्र-निर्माण यशपालके पूर्वाग्रहोंका ही परिचायक सिद्ध होता है ।

इस घटनाके अलावा कुन्दनसिंह आदि ड्राइवरों की झलक, पुलिस की विकृति, इस तरहके कुछ और रूपों का वर्णन कथानक के दौरानमें आ गया है ।

उपन्यासकार की दृष्टि

यह ढांचा उपन्यासकार की मूल अनुभूति और दृष्टि का पर्याय है । है तो मनुष्यके रूपों का ही, मगर यह व्यापक और गहरा नहीं । सोमा, धर्नासिंह, मनोरमा, भूषण, बनवारी, सुतली वाला, आदि की दुनिया का जो विवरण दिया गया है उससे साफ पता चलता है कि आज मनुष्यके विभिन्न रूपोंमेंसे बहुत थोड़े ही रूपोंको लेखकोंने चित्रित किया है । आजके समाज में मनुष्यके रूपोंकी विकृति वाले पहलू असंख्य हैं । उसकी व्यापकता और प्रसार ज्यादा है और साथ ही विकृतियोंने भयानक सूक्ष्म रूप धारणकर लिया है जिनकी पकड़ के लिए अद्भुत सामर्थ्य वाले कलाकार की जरूरत है । यशपालने उन्हीं रूपों को चित्रित किया है जो विकृति की गहराई तक नहीं पहुँचते बल्कि जो इसके आम स्वरूप हैं । सोभा, धर्नासिह वगैरह जिन रूपोंके प्रक्षेपण हैं, वे साफ तौर पर आम विकृति हैं, रोचक घटनाओंकी सृष्टि, उनका ठीक विधान, इन कारणोंसे उपन्यास में दिलचस्पी बनी रहती है ।

घटना-विधान

इस प्रकार "मनुष्यके रूप" का संसार 'गोदान' के संसार की व्यापकता और गहराईके मुकाबले बिलकुल ही नगण्य है गो कि इसमें इसकी संभाव थी, फिर भी यशपाल ने सीमित दायरे में ही, थो सी वस्तु लेकर ही एक रोचक रचना तैयार है । और इस रोचकताका मुख्य कारण है घटनाओं विधान । इसमें कोई शक नहीं कि घटनाओंके विधा उनके गुम्फन, उनके विकास में लेखक ने अपने रचना-कौशलका परिचय दिया है । इस उपन्यास घटनाओंका विधान लेखक ने उसी प्रकार किया जिस प्रकार एक आधुनिक इमारत बनानेकी कलामें व्यक्ति किसी इमारत बनानेके सिलसिलेमें करता है । तो खूबसूरती के लिए नकाशी है, रंगोंकी भरमार मीनाकारी, पच्चीकारीकी इन्तहा है और न व्यर्थ ऊपरी तड़क-भड़क है । सादगी और पर्दोंका सजाव, और सन्तुलन यही उपन्यासके कथा-विधानकी विशेषत हैं । घटनाएं साधारण हैं, मगर फिर भी रोचक हैं कि भावोत्तेजना मूलक नहीं हैं । घटनाओंके सजाव, और सन्तुलन पर लेखकने विशेष ध्यान रखा है, इ लिए कहानीका कोई भी हिस्सा धुंधला नहीं रहता है अलबत्ता एकाध घटना जरा असंभव सी लगती है, मनोरमाका घरसे ऊबकर यकायक सुतलीवाला विवाह कर बैठना । ऐसा लगता है कि सुतली वाला अपने विधान में लानेकी कोई दूसरी सूरत लेखक नहीं सूझी, साथ ही मनोरमाको गृहस्थीकी मरीचि दिखाकर कम्युनिस्ट बनानेकी दूसरी तरकीबकी कल्प लेखक नहीं कर सका । यहाँपर पाठक लेखककी कल्प शक्तिकी दरिद्रताका अनुभव करता है ।

तटस्थता का प्रभाव

घटनाओंके निर्वाहमें कई जगह उपन्यासकार य पाल पीछे रह गया है और कम्युनिस्ट यशपाल आगे गया है । फलस्वरूप वह और प्रचारके फेरमें पड़ गया और इतिहासके साथ बलात्कार किया है जो कम्युनिस्ट-सिद्धान्तोंका एक आधार ही है । आज हिन्द सेना और सन् ४२ के आन्दोलनको लेखकने जि रूपमें रखा है, उससे इतिहासके साथ बलात्का बिलकुल साफ हो जाता है और उस वक्तकी कम्युनि कार्रवाइयोंको जिस ढंगसे रखा गया है उसे भी

बार ही कहा जायगा। यशपालके इस दोषसे तो यही ता चलता है कि वे अपने निजी व्यक्तित्व को कला-स्तुकी अभिव्यक्तिके क्रममें बिल्कुल अलग नहीं रख कते हैं। कलाकार यशपालकी यह सबसे बड़ी कमजोरी । कम्युनिस्टोंका चरित्र-निर्माण करना, कम्युनिस्ट र्टीकी कार्रवाईका उपन्यासमें वर्णन करना एक बात और किसी कम्युनिस्टको बेवजह गौरवान्वित करना, म्युनिस्ट पार्टीका प्रचार करना दूसरी बात है। छला काम कलात्मक तटस्थताके अभावके साथ साथ लात्मक संकीर्णताका ही सूचक है। खैर !

अनुभूति और अनुभूति-विधानमें असामंजस्य

मैं उपन्यासमें घटना-विधानकी प्रधानता की बात कह रहा था, मैंने कहा है कि इस उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता है, इसकी रोचकताका मुख्य कारण भी यही है। अन्तिम प्रभाव सामाजिक वातावरण यानी मनुष्यके रूपका नहीं पड़ता बल्कि घटनाओंका। मतलब यह कि आखिरी जोर भी घटनाओंपर ही पड़ता है, सामाजिक वातावरणपर नहीं। सोमाके दर्द और बेबसी, धर्नासिहके प्रेमकी व्यर्थता, भूषण और मनोरमाके दुखान्त प्रेम नाटकका प्रभाव ही अन्तिम प्रभाव रूपमें बच जाता है, जोर इसीपर पड़ता है, सामाजिक वातावरण तो बिल्कुल धूमिल हो जाता है। यद्यपि आमतौरपर उपन्यासका अन्त तो पात्रोंके जीवनकी घटनाओंको लेकर ही होता है, फिर भी सवाल उठता है जोरका और प्रभावका। 'गोदान' के अन्तपर विचार कीजिए, बात साफ हो जायेगी। 'गोदान' में जोर होरी, धनियाकी जीवन-घटनापर नहीं बल्कि उनकी दुनिया पर है, जबकि 'मनुष्य के रूप' में जोर धर्नासिह, सोमा, भूषण, मनोरमा संबंधी घटनाओं पर है, उनकी दुनिया पर नहीं। इस प्रकार यह साफ हो जाता है कि 'मनुष्यके रूप' के विषयकी अभिव्यक्ति के लिए चुनी घटनाएं ही विषय पर हावी हो गयी हैं और उपन्यासमें घटनाएं ही खींचती हैं, पाठकको वे ही थामे रहती हैं जबकि उपन्यासका विषय ऐसा था कि घटनाओंका सर्वग्राही प्रभाव नहीं होना चाहिए था, सामाजिक वातावरणको ही पाठकके मस्तिष्क पर छाये रहना चाहिए था। लेकिन उपन्यासकार इस कार्यमें बिल्कुल असफल रहा है। इस दृष्टिसे उपन्यास असफल है।

अब सवाल उठता है, आखिर अनुभूति और अनुभूति-विधानके बीच ऐसा असाम्य क्यों ? उत्तर यह है कि उपन्यासकार को दृष्टिका बोध तो है, मगर दृष्टिका दायरा संकीर्ण रहा है। लेखककी कल्पना-शक्तिकी दरिद्रताने इसको विस्तृत भी नहीं होने दिया। जब कि सामाजिक वातावरणको उपन्यासका मूल विधान बनने पर अपनी सफलताके लिए दृष्टिका तीव्र बोध और साथ ही व्यापक पृष्ठभूमिमें बोध होना चाहिए। इस कमीके कारण लेखकने घटनाओंका सहारा लिया है, जिससे इतना लाभ हुआ कि उपन्यास रोचक बना, मगर विषयकी दृष्टिसे यह असफल रहा है। और यह गौर करनेकी बात है।

———

धान की खत्ती

मानिक बंद्योपाध्याय

धानकी 'खत्ती' को घेरकर मानों अन्धकार, चन्द्रास्त होने के बादके मध्यरात्रिका अन्धकार, कान खड़ा किये हुए है। बड़ी सावधानीसे कदम बढ़ाती हुई एक अर्धनग्न मूर्ति गाढ़ी छायामें छिप जाने की कोशिश कर रही है, सांस रोक कर दोनों आखोंसे अन्धकारको चीरकर वह पहरे वाले की गोपन उपस्थिति को मालूम करनेकी कोशिश कर रही है। अत्यन्त भय और उत्तेजनासे उसका अर्ध-उलंग शरीर कठिन हो गया है।

पहरा नहीं है क्या ? ऐसे दिनोंमें खत्ती, जीवनका गोदाम, पहरा-शून्य है ? पाँचू को यह पहेली जैसा लगता है। निश्चय वह पहरेदार अन्तरालमें आरामसे सो रहा है, नहीं तो अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा कर, मौज उड़ानेके लिए और कहीं गया है। मनुष्य जब धानके लिए पागल हो रहा है, आसन्न मृत्युको रोकनेके लिए बेपरवाह हो रहा है, उस समय शरत् हालदार भला अपनी धानसे भरी खत्ती को बिना हिफाजत छोड़ रख सकता है ?

कंधेसे झोला उतार कर पाँचू उसमेंसे चमकते हुए दावको निकालता है, तारोंकी रोशनीमें उसका धार झिलमिला उठता है। खत्तीके पीछे की ओर, दो-तीन हाथके फासले पर ही एक ईंट की दीवाल थी, वहाँ की काईमें स्तूपीकृत कतवारमें खड़ा होकर सीमेन्टकी भीतके आधा हाथ ऊपर मिट्टीसे लीपे हुए 'चाँच' की दीवारको उसने काटना शुरू किया। असीम धैर्यके साथ आवाज न करते हुए, धीरे धीरे संचित जीवनके भंडारमें वह सेंध मारने लगा। छोटा छेद ही काफी है, उसी छदसे अनाजके कण झुरझुर कर निकल आवेंगे, उसकी थैली भर जायगी। उपवासके ज्वरको शान्त कर वह और बूँची कल अन्न-पथ्य करेंगे।

दीवालमें छेद हो गया, पर अनाज नहीं निकला। पाँचू अपने दाहिने हाथ को पूरा उसके अन्दर ढकेल देता है, हाथका चमड़ा छिल जाता है। खत्तीके अन्दर हाथसे टटोल कर वह धान ढूढ़ता है। फर्श पर दो-चार दाने पड़े हैं। खत्तीमें धान नहीं है।

हाथ निकाल भौचक्का होकर पाँचू सोचता है, यह कैसी पहेली है, कैसा परिहास है ! कल ही तो खत्ती में धान था, वह धान कैसे और कहाँ अदृश्य हो गया ? वह पापी है, चोर है, क्या उसके छूनसे ही धान की खत्ती खाली हो गयी ?

मंडल, साँतरा, मोमिक आदि सुबहके पहले गाँव भरके लोगोंको जुटाकर शरत हालदारके धानकी 'खत्ती' पर चढ़ाई करेंगे, उसके संचित धानको खींच निकालेंगे और सबके सामने तौल कर, उचित दाम पर गांवके भूखे लोगोंको बेंच देंगे—पाँचूने चुपकेसे इस सलाहको सुन लिया था। वह इस फिक्रमें आया था कि भूखसे पागल लोगोंके इस पर चढ़ाई करनेसे पहले वह अपनी थली भर ले जायगा ! सब बेकार हो गया !

× × ×

पाँचू जोरसे अपने कपाल पर थप्पड़ मारने लगा। आँसूसे दोनों आँखें भर आती हैं। उसकी थैली नहीं भरी, खैर यह तो उसका अदृष्ट है, पर सौ-डेढ़ सौ मनुष्य जो कल कुछ धान पाने की आशा लिये बैठे हैं, वे किसे अभिशाप देंगे !

सोना मंडल अफसोसके साथ कहता है, रातोरात पाँच सौ मन धान खिसका दिया, किसीको मालूम भी नहीं हुआ ! खाली सलाह-मशविराही हुआ, किसीने नजर नहीं रखा? मैं तो कुटुम्बके वहाँ गया था लेकिन—.

ऋषि पांजा कहता है क्यों गये ? निश्चिन्त होकर तुम कुटुम्बके यहाँ जा सकते हो तो हम निश्चिन्त होकर सो नहीं सकते ?

'ऋषि, तुमको मैं—' कहते हुए सोना मंडल की आँखोंसे आग बरसने लगती है।

मेल नहीं खानेवाले साधनोंको व्यवहारमें लाकर
ो पाना तो दूर रहा हम उसे 'विकृत' कर
हैं । अतः असामाजिक कार्यप्रणाली, आतंक हत्या,
र्कहीन प्रवृत्तियों (Irr ationalsentiments)को
देनेसे समाजवादको स्थापना असंभव है । समाज-
आन्दोलनके लिए 'क्रांतिकारी' मार्गका अवलम्बन
दशामें आवश्यक हो सकता है, जबकि समाजकी
न-व्यवस्थाके सूत्रधार समाज परिवर्तनकी चेष्टाओं
ुचितापूर्ण मार्ग ग्रहण करनेका रंचमात्र भी अव-
नहीं देते हों । जहाँ नाना प्रकारकी पाबन्दियोंके
भी कुछ सुविधा मिलती है वहा गुप्त षड्यंत्र,
का प्रचार, अनुचित अनावश्यक उत्तेजनाका अनु-
न सामाजिक अपराध और अनैतिक कृत्य हैं ।

आदर्श समाज और उसके संचालक आदर्श व्यक्ति
निर्माणकी क्रिया साथ साथ चलती रहनी चाहिए ।
व्यक्ति और समाजकी समस्याओंमें कोई मौलिक
भेद न उठ खड़ा होगा । यदि एक ओर समाजकी अर्थ-
वस्थाको नया आधार दिया जाता है तो व्यक्तिके
चार-विचारकी शुचिता और नैतिकता पर भी
र देना चाहिए । अर्थात् नये सामाजिक पुरुषके
वितत्वका नवीन सांस्कृतिक आधार होगा । मध्य-
गीन समाजमें धर्म ने इस कार्यको पूरा करनेका
यास किया । आज आर्थिक जीवन की धाराका दिशा
रिवर्त्तन हो गया है, दुनिया बदल गयी है, किन्तु धर्म
नियम रूढ़ हैं, संकुचित और एकदेशीय हैं । उनसे
ाज हमारा काम नहीं चलने का । नये समाज और
नये आदमी की संस्कृति को धर्म निरपेक्ष रहना होगा
उसके कर्मोंकी अच्छाई-बुराई की कसौटी धर्म के नियम
नहीं होंगे ।

तब वह कसौटी आज कौन-सी होगी इस प्रश्न को
दार्शनिक अथवा महज सैद्धान्तिक रूपमें आगे बढ़ाने
पर वस्तुस्थिति का संग छूट जाने का भय है । इसे
सामाजिक हितों की पृष्ठभूमिमें ही निर्धारित करना
होगा । यदि किसी वर्ग विशेषका नहीं, बल्कि वर्गहीन
और सम्पूर्ण समाज का हित-साधन लक्ष्य है, तो व्यक्ति
की संस्कृति को ऊपरी तबकेके कुछ लोगों की दिमागी
विलासिता का साधन न बनकर साधारण जनके दैनिक
व्यापार का विश्वास बल बनना पड़ेगा । अगर वर्गहीन
शोषणहीन समाजमें तर्कहीन यन्त्रवत व्यक्ति नहीं
बल्कि पूर्ण प्रस्फुटित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति हमारा
अभिप्रेत है तो समाजवादी सिद्धान्तोंमें अनुकूल नीति-
शास्त्र (Social ethics) का निर्माण आवश्यक है,
उस नीतिशास्त्र का आधार समाजके उत्पादक श्रममें
व्यक्ति की पारस्परिक सहयोग-भावना होगी जो
अधिनायकोंके फर्मानके बल लादी नहीं जायगी । यह
भावना उत्पादक श्रमकी प्रक्रियाके बीच व्यक्ति व्यक्ति
के सुख-दुःख की परस्परिक अनुभूतिमें विकसित और
प्रकट होगी, इसकी प्रेरणाका श्रोत ऊर्ध्वगामी होगा ।
किन्तु यह चेतना स्वतः उत्पन्न हो जायगी ऐसा सोचना
भ्रमपूर्ण होगा । उसके लिए व्यापक प्रचारात्मक आन्दो-
लन चलाना होगा अन्यथा वर्तमान सामाजिक मनो-
विज्ञानकी छाया चिरकाल तक पीड़ा पहुँचाती रहेगी ।

किसान आन्दोलन और समाजवादी व्यवस्था

रामनन्दन मिश्र

आज सब लोग किसान-संगठनके महत्वका अधिकाधिक अनुभव कर रहे हैं । हम लोगोंमें अनेक स्वयं उस संगठनके कार्यको अपने हाथोंमें लेनेके लिए उत्साही भी हैं । यह उचित ही है । किन्तु जिनके बीचमें हमें कार्य करना है उनकी वर्तमान स्थिति और उनकी समस्याओंको हम यदि जानकर और समझकर चलेंगे तभी हमारा काम अधिक प्रभावशाली, सफल और टिकाऊ हो सकेगा ।

पहले तो किसान-संगठनका रूप और उसका तात्पर्य क्या है यही हम जरा स्पष्ट कर लें । किसान-संघर्ष वर्ग-संघर्ष है । जिन नियमों पर वर्ग-संगठन चलता है उन्हीं नियमों पर मजदूर-संगठनकी रूपरेखा, कार्यक्रम तथा उद्देश्य आदि निर्धारित हो चुके हैं, उस प्रकार किसान-संगठनमें अभी नहीं हो पा रहा है । कुछका कहना है कि किसानोंका कोई वर्ग नहीं, और चूंकि किसानोंका कोई वर्ग नहीं, अतः मजदूर-संगठनकी भांति उनका संगठन अस्वाभाविक ही नहीं असंभव भी है । पर उनका इस प्रकारका विश्वास बिलकुल निराधार है, अन्य वर्गोंकी तरह किसानोंका भी एक वर्ग है, अतः मजदूर-संगठनकी भांति इसका भी वर्ग-संगठन हो सकता है ।

हां, यह हम मानते हैं कि किसान तथा मजदूरमें अन्तर अवश्य है । मजदूरोंमें समानता, सजातीयता और वर्गचेतना किसानोंसे कुछ अधिक है । किसानोंमें हमें कई श्रेणियां मिलेंगी । जैसे धनी किसान, बीचकी श्रेणीके किसान, गरीब किसान, जमीनहीन किसान । इस प्रकार किसानोंमें इतनी विभिन्नता दिखायी पड़ती है कि कभी २ शंका उठने लगती है कि सभी किसान वर्ग में नहीं आ सकते । पर इस प्रकारकी विभिन्नता, छोटी-मोटी खाइयां तो मजदूर वर्ग में भी हैं । यूरोप तथा अमेरिका में यह खाई काफी चौड़ी होती जा रही है । वहाँ पर ह्वाइट कालर लेबर, धनी मजदूर तथा साधारण मजदूर दोनों को एक ही संगठनके अन्दर संभालना कठिन-सा हो रहा है । यही नहीं, बेल्जियम, फ्रान्स और अमेरिका में तो इन दोनों प्रकार के मजदूरोंका एक ही संगठनमें रखना असम्भव-सा हो चुका है । ह्वाइट कालर या बाबू क्लास लेबर साधारण मजदूरोंसे अलग रहना चाहते हैं । उसी तरह धनी किसान भी अपने से और धनी वर्गके साथ ही चलना चाहता है । पर इस प्रकार विभिन्नताके होते हुए भी किसानों में एक प्रकार की एकता है । इसके अलावा सम्पत्ति की यह विभिन्नता यों भी बहुत कम किसानोंके के अन्दर है । बिहार में १५ एकड़ से अधिक जमीन रखने वाले किसान ५ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं । ९५ प्रतिशत किसान ऐसे हैं जिनके पास १५ एकड़से कम जमीन है और जिनकी जीविका सीधी खेती पर ही निर्भर है । इन आँकड़ोंमें प्रांतोंके अनुसार कुछ कम ज्यादा हो सकता है । जैसे बम्बईमें २० एकड़से कम जमीन जोतने वाले किसान ८० प्रतिशत हैं । इस प्रकारसे हम देखते हैं कि जो अन्तर है वह बहुत कम किसानोंके बीचमें है । इसके अतिरिक्त मुख्य बातोंमें सभी किसानोंमें समानता है, चाहे वे धनी किसान हों अथवा गरीब । अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसानोंका एक वर्ग है और इसी आधार पर उनका वर्ग-संगठन होना चाहिए ।

१. किसान-संगठनके रूप पर तो मोटे तौर पर हमने विचार कर लिया । संगठनों एवम् आन्दोलनों का भवन मांगों की नींव पर खड़ा होता है । यदि मांगोंमें सत्य होगा तो संगठन को दृढ़ता एवम् स्थायित्व मिलेगा । मजदूर संगठन को उदाहरण के लिए लें । उनकी, उनके रोजीके जीवन सम्बन्धी अपनी चार बुनियादी मुख्य मांगें हैं जिन्हें एक मजदूर कार्यकर्ता मजदूरोंके बीच रखता है और जिनके बल पर उनका संगठन करता

तथा आन्दोलन चलता है । इसी प्रकार एक किसान कार्यकर्ता भी किसानों की चार उसी प्रकार की बुनियादी मांगें लेकर किसान संगठन करता है । किन्तु मजदूर की चार बुनियादी मांगें और किसानों की बुनियादी मांगोंमें थोड़ा भेद अवश्य है। मजदूर-संगठनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है काम करने का अधिकार । क्योंकि वही उनका एक मात्र जीविका का साधन है। यों भी आजकी इस विषमता तथा जटिलतासे भरे आर्थिक युगमें काम करने का महत्व बहुत ज्यादा है। सोवियत विधानमें तो प्रजाके मौलिक अधिकारोंमें ही काम करने का अधिकार भी निश्चित कर दिया गया है । अमेरिका,फ्रान्स आदि देशोंके विधान भी अच्छे माने गये हैं, किन्तु वहां मौलिक अधिकारोंमें काम करने का अधिकार नहीं है । संयुक्त राष्ट्र परिषदमें जब मौलिक अधिकारों का चार्ट बना तब रूसने इस प्रश्न को उठाया भी था, किन्तु प्रायः अन्य देशोंने इसका विरोध किया और इन्हींमें हमारा हिन्दुस्तान भी था । जहां इस अधिकार को नहीं माना जाता अथवा इस पर कुठाराघात होता है वहां इसीके लिए मजदूर-संगठनों को अनेक छोटी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं और पड़ी हैं ।

२. मजदूरों की दूसरी मांग है नौकरी की निश्चितता । यदि यह न हो तो मालिक जब चाहे तब मजदूर को निकाल सकता है । यों इसका प्रभाव न केवल मजदूर की जीविका पर ही पड़ता, वरन् काम पर भी पड़ता है, क्योंकि मालिक तो मुट्ठी भर ही हैं । सारी व्यवस्था की गाड़ी को चलानेवाले तो मजदूर ही हैं। पुलिस मजदूर है, रेलवे कर्मचारी मजदूर हैं। इनको उनको सभी को जबतक अपनी नौकरीके स्थायित्वमें भरोसा नहीं होगा तब तक न काममें उनका मन लगेगा और न काम ही सुचारू रूपसे हो सकेगा। संगठन की दृष्टिसे भी नौकरीके स्थायित्वके अधिकार का बड़ा महत्व है । संगठनमें भाग लेने वालों को यदि मिलमालिक, जैसे टाटा, डालमियां आदि करते ही हैं, जब चाहें तब निकाल दें तो संगठन ही असम्भव हो जायेगा । क्योंकि मजदूर गरीब हैं, उनके ऊपर परिवार का बोझ है । यदि संगठनमें भाग लेनेसे उनकी जीविका चली जाने का डर हो तो वे संगठनमें रहनेसे हिचकेंगे । इसी अधिकारके लिए अमेरिका, फ्रान्स आदिमें बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ मजदूरोंको लड़नी पड़ीं और उन्हींके परिणामस्वरूप मजदूरों की नौकरी आज वहां करीब-करीब सुरक्षित है । कई स्थानों पर यूनियनोंसे पूछकर ही मजदूरों को निकाला जाता है । इस नौकरी की निश्चितताके बिना मजदूर आन्दोलन चल नहीं सकता ।

३. तीसरा महत्व का विषय है कमसे कम निर्वाह योग्य मजदूरी जबतक न हो तबतक मजदूरों तथा उनके परिवारों का भरण-पोषण नहीं हो सकता । अतः कम मजदूरीसे काम नहीं चल सकता । इसीलिए मजदूरी को बढ़ानेके लिए भी मजदूर-संगठनों को बड़ी बड़ी हड़तालें करनी पड़ती हैं, लड़ाइयां लड़नी होती हैं ।

४. चौथी चीज है काम करने की हालत । मजदूर किन परिस्थितियोंमें काम करते हैं,उनके लिए दवा का प्रबन्ध है या नहीं, उनके रहनेके घर कैसे हैं ? आदि सभी बातें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं । अनुकूल परिस्थितियोंमें रह कर ही शारीरिक और मानसिक विकास हो सकता है । ये तो हुई मजदूर आन्दोलन की चार बातें ।

किसान आन्दोलनमें भी इसी प्रकार चार चीजें हैं । १. सबसे पहली चीज है जमीन। किसानों को खेती करने के लिए जमीन चाहिए । आज हिन्दुस्तान के सभी इलाकों के किसानों की यही मांग है। उनके परिवार बढ़े हैं और उनके अनुपातमें जमीन कम । अतः खेत पर बोझ अधिक पड़ता है ।

२. दूसरी मांग जमीन पर दखल की निश्चितता। जमीन मिलने के बाद जमीन पर दखल की निश्चितता भी आवश्यक है । क्योंकि यदि आये दिन जमीनके हाथसे निकल जाने का भय बना रहा तो जमीनको जोतने में किसानों का मन नहीं लगेगा । मन न लगने से पूरा परिश्रम नहीं कर सकेंगे और परिश्रम न करने से उपज नहीं बढ़ेगी । इस प्रकार जमीन पर अधिकार की सुरक्षाकी बिना बहुत ही मौजू है । सरकार अन्न अधिक उपजाओ तो बार-बार कहती है, पर यह नहीं सोचती कि उपज का बेदखलीसे कितना घनिष्ट सम्बन्ध है । फिर बेदखली बन्द किये बिना किसान आन्दोलन भी नहीं चल सकता । बिहार का

संघर्ष बेदखली का ही व्यक्त स्वरूप है । यों बेदखली विरोध का इतिहास तो बड़ा लम्बा है ।

३. तीसरी मांग है पैदावार बढ़ाओ... यह सब कुछ हो जानेपर भी किसानोंका तब तक कुछ भी भला नहीं हो सकता जबतक कि उनकी पैदावार नहीं बढ़ायी जाय । पैदावार बढ़ानेके लिए पानी, बीज, हल, बैल, खाद आदिका प्रबन्ध होना चाहिए । किसान किन कठिन परिस्थितियोंमें काम करता है, क्यों पैदावार नहीं बढ़ती, इन सब बातों पर हमें विचार करना होगा ।

४. चौथी चीज है भूमि-व्यवस्थामें सुधार... किसान अधिक अन्न उपजावे भी, परन्तु यदि सारा गल्ला खलिहानसे किसी और के हाथमें चले जाने की संभावना जहां है वहां किसानों को क्या लाभ है, फिर ऐसी हालतमें वह अधिक क्यों उपजावे । इसलिए भूमि-व्यवस्था अच्छी हो, किसानोंकी सहायक हो इसका आन्दोलन भी हमें करना है । कितना सरकार को और कितना जोतने वाले को, आदि सभी प्रश्न भूमि-व्यवस्थामें आते हैं ।

इन्हीं चार बातोंके लिए प्रधानतया किसान-संगठन होता है और उनका आन्दोलन चल सकता है । इस प्रकारसे हमारी पहली मांग है जमीन । यदि आज पैदावारमें कमी है तो इसका मतलब है आज का जमीनका बंटवारा विषम है । अतः जमीन का बंटवारा फिरसे होना चाहिए । किसान पंचायतने सबसे अधिक महत्व इसी नारे को दिया है । जबतक जमीनका उचित बंटवारा नहीं होता तबतक न प्रजातंत्र होगा न समाजवाद । इसी पर किसान आन्दोलन का भविष्य निर्भर है । पर अब प्रश्न उठता है कि जमीनका बंटवारा किस प्रकार हो ! हम जमीन को कैसे बांटें १ मोटे तौर पर एक किसानके पास कितनी जमीन हो ताकि उसके परिवार की परवरिश भलीभांति हो सके ? प्रश्न काफी विवादास्पद है । हमारे देशकी जमीन एक किस्म की नहीं है । कहीं अधिक उपजाऊ है तो कहीं कम। उसमें बहुत तरह की श्रेणियां हैं ।

मोटे तौर पर अर्थशास्त्रियोंने जमीनको तीन श्रेणियों में बांटा है:—

१. स्टैन्डर्ड होल्डिंग....उतनी जमीन को कहते हैं जिससे कम जमीन होने पर किसानके परिश्रम का पूरा उपयोग नहीं हो सकता । २ बीघे जमीन होनेसे किसान की शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता और १०० बीघा जमीन होनेसे उसे दूसरों को जोतनेके लिए देना पड़ता है । कितनी जमीन स्टैन्डर्ड होल्डिंग मानी जाय, इस बारेमें भी विभिन्न राय हैं । मोटे तौर पर १० से १५ एकड़ तक स्टैन्डर्ड होल्डिंग हो सकती है ।

२. एकोनोमिक होल्डिंग—स्टैन्डर्ड होल्डिंग और एकोनोमिक होल्डिंगमें बहुत ही कम अन्तर है । दोनों करीब-करीब एक ही हैं । एक जोड़ा बैलसे एक किसान परिवार जितनी जमीन आबाद कर सके उसे हम मोटे तौर पर आर्थिक होल्डिंग कह सकते हैं ।

३. औप्टिमम होल्डिंग—जितनी जमीन पर अच्छी मशीनों का प्रयोग करके भी एक निश्चित उपजसे अधिक पैदा न हो सके वहां उस निश्चित सीमा को तो औप्टिमम तथा उतनी जमीन को औप्टिमम होल्डिंग कहेंगे । हिन्दुस्तानमें २०० एकड़ तक जमीन औप्टिमम होल्डिंग मानी जा सकती है । अमेरिका तथा इंगलैंडमें १००० एकड़ तक जमीन औप्टिमम होल्डिंग मानी जा सकती है, किन्तु आज यहां इसका कोई महत्व नहीं । इसलिए हमें तो अभी स्टैन्डर्ड या एकोनौमिक होल्डिंग की आवश्यकता है ।

इस प्रकार यदि किसान परिवार को सुखी बनाना है तो १० से १५ एकड़ तक जमीन हमें उन्हे देना चाहिए । इससे कममें वह खुशहाल नहीं रह सकता । कमसे कम बारह एकड़ जमीन और अधिकसे अधिक ३० एकड़ की सीमाएं बांध दी जानी चाहिए । डॉ० राममनोहर लोहियाने जब २० बीघा और एक गायका नारा दिया,कांग्रेसी नेताओंने इसका मजाक उड़ाया है। पर इसके पीछे वास्तविकता छिपी है । हमें हर एक किसान परिवार को जिसमें कमसे कम पाँच व्यक्ति हों करीब साढ़े बारह एकड़के हिसाबसे जमीन बांटना है । हमारे विरोधियों का कहना है कि जमीन रबर की भांति फैलायी नहीं जाती । जब हमारे पास जमीनही नहीं है तो हम कैसे प्रत्येक परिवार को अधिक जमीन दें । इसलिए हमें यह प्रमाणित करना होगा जो २० बीघा और एक गाय का नारा हमने दिया है उसे हम व्यवहारमें परिणत कर सकते हैं । हिन्दुस्तान की जमीनके आंकड़े को लें । भारतवर्ष (पाकिस्तान को लेते

। क्षेत्रफल एक सौ करोड़ साठ लाख एकड़ है, लके हिसाबसे १८ लाख वर्गमील है । कुल को दो भागोंमें बांटा गया है ।

. खेती नहीं होने लायक ।

. खेती होने लायक ।

. भारतमें १० करोड़ क्षेत्रफलमें जंगल है और ; महत्व को देखते हुए उसे हमें कम भी नहीं हैं। फिर दूसरा क्षेत्रफल नदी, रास्ता, पहाड़, म आदि का है। यहां भी खेती नहीं हो सकती। के कथनानुसार ऐसी जमीन यहां पर ४६ करोड़ है। मेरी समझमें इस क्षेत्रफलमें २० करोड़ ही जमीन हो सकती है जिसमें खेती नहीं हो । है।

२. खेती लायक भूमिके तीन भाग किये गये हैं।

क—जिसमें हर साल खेती होती है। ऐसी जमीन करोड़ एकड़के लगभग ह।

ख. ऐसी जमीन जो हर साल किसी न किसी से बोयी नहीं जाती, जिसका क्षेत्रफल ५ करोड़ लाख एकड़ के लगभग रहता है।

ग. ऐसी जमीन जो खेतीके लायक है, परन्तु खेती हीं लायी जाती, ११ करोड़ एकड़के लगभग है।

मिलाकर ४५ करोड़ एकड़के लगभग खेतीके क जमीन है। ऐसा अंग्रेज अर्थशास्त्रियोंने माना परन्तु ऊपर नदी बंजर वाले ४६ करोड़ एकड़के से भी काफी जमीन खेती में लायी जा सकती है। दुस्तानकी आबादी ४० करोड़की है जिसमें १० से ७ आदमी खेत पर जीते हैं। इस हिसाबसे २८ रोड़ आदमी खेत पर निर्भर हैं। इतने अधिक क्तियोंका अपनी जीविकाके लिए मात्र धरतीके ऊपर निर्भर रहना, धरती पर बड़ा भारी बोझ है। इसे का किये बिना हमारा काम नहीं चल सकता। यों ी धरतीके ऊपर इतना बोझा शायद चीनको छोड़कर न्य किसी देश में नहीं है। हिन्दुस्तान में भी यह झा हमेशा नहीं था। आज ७२ प्रतिशत लोग खेत र अपनी जीविकाके लिए निर्भर रहते हैं। अतः इस बोझको हल्का करनेके लिए हमें दूसरा रोजगार खोलना पड़ेगा। उनमेंसे ऊपर हम कह चुके हैं कि २८ करोड़ व्यक्ति आज खेती पर निर्भर रहते हैं। इनमें ८ करोड़ को शीघ्र दूसरे कामों में लगाना है। इस प्रकार २० करोड़ खाटी किसान अर्थात् ४ करोड़ किसान परिवार हैं और इन्हींको हमें जमीनें बांटनी हैं। साढ़े बारह एकड़ जमीनके हिसाबसे ५० करोड़ एकड़ जमीन इन खाटी किसानोंके परिवारों में बांटनी है। आज तो केवल २८करोड़ एकड़ जमीन में खेती होती है। इसके अलावे अभी खेतीके लायक १४-१५ करोड़ एकड़ जमीन और हैं। इसका अर्थ होता है कि हम मोटे तौर पर प्रत्येक किसान परिवारको १० और १२ एकड़के बीच में जमीन आज दे सकते हैं। इसे खाद्यान्नोंकी पैदावार पर भी बहुत बड़ा असर पड़ेगा। नयी जमीनको खेती में लाने से ही अन्नकी समस्या हल हो सकती है। अभी सारे देश में खाद्यान्न ५½ करोड़ टनके लगभग होता है। अगर प्रतिदिन खानेके लिए आधा सेर प्रति व्यक्तिके हिसाबसे अन्न बांटा जाय तो भी साढ़े छः करोड़ टन गल्ला चाहिए। इस प्रकार लगभग १ करोड़ टन गल्ले की कमी है। इस कमीको हम जमीन उपजाऊ बनाकर तथा जमीनोंको खेती में लाकर पूरा कर सकते हैं। ऊपर खेतीके काम में लाने लायक जिस १४-१५ करोड़ एकड़ जमीनका हमने उल्लेख किया है उसको जोतने पर कमसे कम ढाई करोड़ टन गल्ला पैदा हो सकता है। किन्तु हमारा देश तो अभी अपने खेतोंसे पैदावार बढ़ाने के बजाय विदेशसे ही गल्ला मंगवा-मंगवा कर इस कमीको पूरा करता रहा है। अभी तक २०० करोड़ रु० का गल्ला प्रतिवर्ष विदेशसे आता रहा है। खाद्यान्नका यह संकट नयी जमीनको खेती में लाकर पैदावार बढ़ाकर दूर किया जा सकता है।

जमीनको उपजाऊ बनानेकी बात जब हम कहते हैं तो लोग पूछ सकते हैं कि जमीनको उपजाऊ कैसे किया जाय ? वह भी हमें बताना है। इस कामके लिए हिन्द किसान पंचायतके अध्यक्ष श्री राममनोहर लोहिया ने कमसे कम ३० लाख किसानोंकी किसान सेना बनाने की मांग सरकारके सामने रखी है। इसके अलावा हिन्द किसान पंचायतने पैदावार बढ़ानेके लिए "एक घंटा देश को" यह नारा दिया है। यदि आर्डिनेन्स बनाकर तत्काल बेदखलीको बन्द कर दिया जाय तो किसानों में एक नयी जिन्दगी, नया जोश और विश्वास पैदा हो जायगा।

हमारा दूसरा नारा खेतों पर अधिकारकी सुरक्षा है। आप चाहे दक्षिण के रैयतवारी इलाकों में, चाहे उत्तरके जमींदारी इलाकों में, अथवा देशके किसी भी कोने में जावें, जमीन पर अधिकार की सुरक्षा का प्रश्न आपको सभी जगह मिलेगा। यह वास्तव में एक देश-व्यापी प्रश्न है।

भूमि-व्यवस्थाके सुधारके प्रश्नको हम लेते हैं तो देखते हैं कि देश में अनेक किस्मकी प्रणालियां हैं और इन विभिन्नताओंका कोई भौगोलिक या प्राकृतिक परिस्थिति कारण नहीं है। इसके पीछे अंग्रेजी राजकी आवश्यकताओंका इतिहास है।

भूमि-व्यवस्था में चार वस्तुओं में सम्बन्ध कायम किया जाता है। पहली जमीन, दूसरा जोतने वाला, तीसरा मालिक और चौथी सरकार। इन्हीं चारोंका आपसी संबन्ध भूमि-व्यवस्था है। असल में तो जमीन और जोतने वाला ये दो ही मुख्य हैं। मालिक और सरकार तो सिर्फ बैठे बैठे हिस्सा लेते हैं।

हमारे सामने कई बड़े प्रश्न उठते हैं। जैसे—जोतने वालेका क्या अधिकार है ? भूमि-व्यवस्थाकी विभिन्नताओं में एक चीज समान रूप से सारे देशमें है जिसे मौरूसी या कायमी अधिकार कहते हैं। यह समान रूपसे सभी काश्तकारी कानूनके मध्य में पाया जाता है। बिहार, बंगाल और दक्षिण के रैयतवारी इलाकों में करीब ४० प्रतिशत किसानोंको कायमी अधिकार मिले हुए हैं। अन्तर केवल इतना है कि उत्तर में किसान जमींदारको तथा दक्षिण में सरकारको माल-गुजारी देता है। अतः अधिकारकी सुरक्षाका प्रश्न देश-व्यापी है। दूसरा प्रश्न है फसलका, कितना हिस्सा जोतने वाले को मिले ?

तीसरा प्रश्न पैदावारके बारेमें उठता है। हिन्दमें अन्नकी पैदावार सबसे कम है। हमें ५ वर्षोंके अंदर ही पैदाबारको बढाना है वरना बहुत बड़ा सङ्कट यहां पर आयेगा। कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँकी औसत पैदावार ३० रु० प्रति एकड़ है। किन्तु अन्य लोगोंके अनुसार औसत पैदावार ६० रु० प्रति एकड़ है। दूसरेका मत ही मुझे आजकी हालतमें ज्यादा सही जँचता है। इस हिसाबसे १० एकड़ जमीन में ६०० रु० की पैदावार हुई: यानी हर किसान परिवारको ५० रु० महीने मिले। यह तो बहुत ही कम आमदनी हुई। इस-लिए किसानकी पैदावार बढ़े तभी कुछ हद तक समस्या हल हो सकती है। १० एकड़ जमीन में कम से कम १०० रु० प्रति माह की पैदावार होनी चाहिए। साथ ही हमें दूसरे सहायक रोजगार खोलकर प्रति परिवार की ३०० रु० साल तक की आय बढ़ानी है। इस तरह एक किसान परिवार की कम से कम १५०० रु० प्रति वर्ष की आमदनी का प्रबन्ध अतिशीघ्र करना है। सहायक धंधों में हम दूध, अन्डे, फल आदि को गिन सकते हैं।

पैदावार बढ़ानेके बारेमें सोचते समय सिंचाईके प्रबन्धका प्रश्न हमारे सामने उठ खड़ा होता है। एक सेर गल्ला पैदा करने के लिए मोटे तौरपर ३०० से ५०० सेर के बीच पानी चाहिए। लेकिन आज तो केवल चौथाई जमीन अर्थात् कोई ७ करोड़ एकड़ को पानी मिलता है। बाकी जमीन जोतने वालों को आस-मान के भरोसे बैठे रहना पड़ता है। सिंचाई का पूरा प्रबन्ध हो जाने से ३० प्रतिशत, अच्छे बैल होने से १० प्रतिशत, अच्छे बीजों से ५ प्रतिशत तथा खेती करने की उन्नत प्रणालीसे २० प्रतिशत आमदनी बढ़ जायेगी। यह सभी काम ५ वर्षों के अन्दर सुचारु रूपसे हो सकता है। यदि सरकार को वास्तवमें खेती की पैदावार बढ़ानी है तो उसे ५ वर्षों के अन्दर ही इस कार्य को पूरा कर लेना चाहिए।

अब हम चौथे प्रश्नको लेंगे यानी खेतीकी परि-स्थिति। इस प्रसंगमें हमें कृषि-व्यवस्था, मार्केटिंग, पूंजी, दाम, शिक्षा और अस्पतालका प्रबन्ध, घर आदि पर विचार करना है। जिन परिस्थितियोंमें किसानको खेती करनी पड़ती है, वे यदि सुविधाजनक नहीं हुई तो खेतीका काम ठीक नहीं चल सकता।

जमीनकी अव्यवस्थाका तो जंजाल सारे देशमें फैला हुआ है। इतनी विभिन्नताका कोई युक्तिपूर्ण कारण नहीं है। ये विभिन्नताएं अंग्रेजी राज की आवश्यकताओंने पैदा की और अंग्रेजी राज के साथ इन विभिन्नताओं को भी मिटाना चाहिए। यों जमीन की व्यवस्थाओं में तीन प्रधान हैं, जमींदारी, रैयतवारी और किसान-मालिकी (Peasant proprietership) इनमें भी जमींदारी और रैयतवारी ही ज्यादा प्रचलित हैं। पैहला उत्तर में

और दूसरा दक्षिण में। जमीनकी इन व्यवस्थाओं का हमें अध्ययन करना चाहिए। श्री बेडेन पावेलने अपनी किताब Land Tenures of Indiaमें उनका विस्तृत विवरण दिया है।

इन सारी विभिन्नताओं के बीच में एक वस्तु सभी जगह समान है। वह है कायमी हक। दुर्भाग्यसे यह हक ज्यादातर असली जोतने वालों को नहीं है। किसानों का बड़ा हिस्सा Tenants at will यानी शिकमी या बटाई-दार है। यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। चाणक्य ने इसका उल्लेख किया है। राजा के कार्य को उस जमाने में सीता कहते थे, और इसके देखने-भालने वाले प्रधान अधिकारीको सीताध्यक्ष। जो जमीन दूसरे किसानों से जुताई जाती थी, उसपर ज्यादातर आधा-आधा का बंटवारा होता था। यह प्रथा अर्द्ध दासता की जननी रही है।

इस सिलसिले में दूसरा प्रश्न है सामान की खरीद-बिक्री का। किसानों का मुख्यतया तीन तरह से शोषण होता है।

१. जमीन्दारों और मालिकों से।

२. महाजन से।

३. व्यापारियों से।

इनमें तीसरा शोषण अप्रत्यक्ष परन्तु सबसे बड़ा है। गल्ले की कीमत का औसत रूपये में दस आना ही किसान के पास जाता है। बाकी मध्यवर्ती व्यापारी आड़तिया वर्ग ले लेते हैं। उसको रोकने का एक ही उपाय है सहयोग-समितियों के द्वारा पूरे व्यापार को अपने हाथ में ले लेना। पूरा न ले सकें, एक हिस्सा भी किसान अपने प्रबन्ध में ले लें तो बाकी हिस्से पर भी अंकुश रहेगा।

तीसरा बड़ा सवाल पूंजी का है। खेती को आगे बढ़ाने के लिए काफी पूंजी की आवश्यकता है। सरकार ही इसका प्रबन्ध कर सकती है। मरती हुई कृषिके प्रबंध में जीवन लाने के लिए अरबों रूपये लगाकर हमें किसानों को बैल, खाद, ट्रैक्टर आदि देना है।

चौथा है दाम का। यह प्रश्न काफी पेचीदा है। दाम गिर जाय तो सारी मिहनत कर भी किसान देखेगा उसकी आमदनी आधी होती है। कहा जाता है लड़ाई के कारण भाव बढ़े और किसानों को बहुत फायदा हुआ। यह भ्रम है। एक तो हमें याद रखना चाहिए कि खेतकी पूरा पैदावार बाजार में नहीं जाती। जिनके पास थोड़ी जमीन है, और ऐसे ही किसानोंकी संख्या ज्यादा है, उनके पास बेचनेको फाजिल रहता ही नहीं, फिर गल्लेका दाम कितना भी चढ़े उन्हें क्या लाभ? दूसरा खेतों के पैदा-वार का एक हिस्सा कारखानों के कच्चे माल के काम में आता है। जैसे कपास, गन्ना वगैरह। इनके खरीददार करोड़पति हैं और बेंचने वाले छोटे छोटे असंगठित किसान। नतीजा यह होता है तैयार माल के दाम के साथ कच्चे माल का दाम नहीं बढ़ता।

जैसे जूट को लें... (अगस्त ३९ को १०० मानकर)

	सन् ४१	४२	४४	४५
कच्चा माल	१००	११३	२०९	२०७
तैयार माल		१३२	२४९	२५२
कपास				
कच्चा		१२५	२२८	१८२
तैयार		११८	२९३	२७१

याद रहे बाजार में जाने वाले खाद्यान्न को पैदा करने वाले खेतों का अनुपात, पूरे आबाद खेतों का १७ प्रतिशतसे ज्यादा नहीं है। इन खाद्यान्नों का दाम भी सरकार ने फौजी आवश्यकता के लिए १९४२ तक बढ़ने नहीं दिया।

दाम न गिरे, यह हम नहीं चाहते, हमारा इतना ही कहना है कि गल्ले का भाव गिरे तो साथ साथ कपड़े, चीनी और किरासन तेल के भी गिरें। खेतिहर पैदावार और औद्योगिक माल के दामों में न्याय का सम्बन्ध रहना चाहिए। इन दोनों के दामों का सह सम्बन्ध (Correlation) दामों के चढ़ाव-उतराव के समय कायम रहना चाहिए। जैसे डा० राममनोहर लोहिया ने कहा कि गेहूंका दाम ५ आने सेर हो तो Standard कपड़े का ८ आने गज। जब कपड़े का दाम ४ आने गज हो जाय तो गेहूं का दाम भी आधा गिर जाय। इससे किसानों का कोई नुकसान नहीं होगा। परन्तु इसके विपरीत यानी कपड़े का दाम ८ आने गज बना रहे और गेहूं का दाम ३ आने सेर गिरा दिया जाये तो स्पष्ट है किसानों के साथ बड़ा अन्याय होगा। ऊपर एक सेर गेहूं और एक गज कपड़े का जो सम्बन्ध ५:८

का बताया गया है उसके बारे में मतभेद हो सकता है, लेकिन कोई न कोई न्याय सम्बन्ध कायम कर उसे हमें मजबूती से पकड़ कर रखना चाहिए।

समाजवादी व्यवस्था में खेत और मशीनों पर काम करने वाले श्रमजीवियोंका अन्तर मिट जाता है, परन्तु ऐसा होनेके लिए आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी विकास ी आवश्यकता है, यूरोप ने पूरी १९ वीं सदी यानी १०० वर्ष इस काम में लगाये। १९ वीं सदीका यूरोपका इतिहास एक दृष्टिसे किसानोंके बड़े समुदाय को कारखानेका मजदूर बनानेका है। १८४०ई०के करीब जब इंगलैंड में ९० प्रतिशत खेती में लगे थे, १९४० में इनकी संख्या घटकर १० प्रतिशत हो गयी; यानी पूरा चक्का पलट गया।

हिन्दुस्तान में ७२ प्रतिशत व्यक्तिका खेतों पर निर्भर रहनेका अर्थ है, धरती पर असह्य बोझ और उसका परिणाम है किसानोंका भयंकर शोषण। राष्ट्रके प्रत्येक व्यवसाय में काम करने वालोंका बंटवारा, व्यव-सायकी आवश्यकता और बोझ सहन करनेके उस व्यव-सायके सामर्थ्यके अनुसारही रहना चाहिए। फिर जमीनों को जोत कर छोटे २ टुकड़ों में बंटनेसे बचाना है, एक बार आर्थिक जोत (एकोनौमिक होल्डिंग) हम कायम भी कर लें तो परिवार की वृद्धिसे ३० या ४० वर्ष में ये जोत स्वयं छोटी छोटी टुकड़ियों में बदल जायेंगे।

इसलिए सामाजिक न्याय और पैदावार दोनों दृष्टि से सामूहिक खेती ही एक मात्र उपाय है। मिलकर रहें, मिलकर आगे बढ़ें, यह समाजवादी मनोवृत्ति भी उसी व्यवस्थामें पैदा हो सकती है। किसानोंकी प्रसिद्ध व्यक्ति-वादिताका इलाज और पूर्ण शोषणहीन ग्राम्य-व्यवस्था का उदय भी तभी संभव है। सच्चे अर्थ में आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातंत्रका विकास भी सामू-हिक आर्थिक व्यवस्था में ही संभव है।

परन्तु सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति निष्प्राण बन जाय, अपने पैरों पर खड़े होने की उसमें कोई शक्ति न रहे यह भी उपादेय नहीं। इसलिए घर और उससे लगी जमीनका एक छोटा टुकड़ा, प्रत्येक परिवारके पास गाय, मुर्गी आदिके साथ रहना ही चाहिए। स्टालिन व्य-वस्था ने भी इसे माना है, सामूहिक खेती और घर तथा छोटा सा तरकारी और फलका व्यक्तिगत खेत, यही समाजवादी ग्राम-व्यवस्थाका आदर्श चित्र है।

याद रहे सामूहिक अर्थ-व्यवस्था पर आश्रित सम-जवादी ग्राम-प्रजातंत्र राष्ट्रीय आवश्यकतासे ऊपर न[illegible] उठ सकते। उन्हें राष्ट्रीय समाजवादी आवश्यकता[illegible] स्वीकार कर चलना है।

परन्तु प्रश्न है कि पहले तो उपरोक्त आदर्श समा[illegible]-वादी ग्राम-प्रजातंत्रके निर्माणमें समय लगेगा, किन्तु आ[illegible] हम क्या करें? दूसरे इस आदर्श व्यवस्था पर पहुंचने[illegible] सही मार्ग क्या है? किसानोंकी व्यक्तिवादिता पग [illegible] पर बाधक बन कर खड़ी होगी, पूंजीपतियोंकी त[illegible] किसान मुट्ठी भर नहीं हैं, जिन्हें हम आसानीसे [illegible] सक, रूसके अनुभव हमें बताते हैं, एक ओर हमें मजबू[illegible] के साथ उस ओर बढ़ना हैं, दूसरी ओर आने वाले क[illegible] से भी किसानोंको बचाना है।

इसलिए हमें अपना कदम धीरे धीरे किसानों[illegible] राजी करते हुए आगे बढ़ाना है। यही कारण है [illegible] आज हमारा प्रोग्राम है कि नये खेत तुरत सामूहि[illegible] खेतीके आधार पर शुरू हों और पुरानी आबादी वा[illegible] स्थानों पर सहयोगी खेतीको प्रचलित किया जाय। सह-योगी खेतीको बाध्य रूप से धीरे धीरे सारे देश [illegible] फैलाना होगा, स्वेच्छा पर छोड़नेका कोई अर्थ नहीं।

परन्तु उपरोक्त कार्यक्रमकी सफलताके लिए ह[illegible] तात्कालिक दो क्रान्तिकारी सुधारोंको दृढ़ता से लेन[illegible] होगा।

पहला—जोतने वाले और राज्यके बीचके सभी मध्यवर्तियोंका विलय।

दूसरा—जमीनका पुनर्वितरण। समाजवादी बरा-बर से कहते आ रहे हैं कि मध्यवर्तियोंका विलय बिना हर्जानाके होना चाहिए। यही नहीं कि आज उसके बदलने का कोई कारण नहीं, बल्कि मध्यवर्तियों का छोटा टुकड़ा जमींदारी मिटाने में हर्जाना के चलते जिस उल-झन में कांग्रेस मंत्रिमंडल पड़ गये हैं, उसे देखते हुए हमें और ज्यादा मजबूती से बिला मुआविजा की बात कहनी चाहिए। दिल्ली सरकार के कानूनी सलाहकारों का कहना है कि विधान में मुआविजा की बात कही गयी है, उसका अर्थ है :—

१. समुचित मुआविजा।

२. नगद अदायगी।

१. एक किश्त अदायगी ।
४ एक दर अदायगी ।

मौजूदा प्लेन के अनुसार केवल जमींदार का वजा, युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल में ४०० से ऊपर जाता है। यदि फेडरल कोर्ट ने प्रस्तादर को कम बताया तो यह रकम और बढ़ेगी। ध्यवर्ती समुदाय को देना पड़े तो १०००० करोड़ ससे भी ज्यादा पड़े। इतनी रकम देना एक तरहसे भव ही होगा। इसलिए मुआविजा की बात छोड़ हमें सिर्फ निरुपायों के लिए पुनर्वास की मांग ी है।

नर्वितरणः——एक तो सहयोगी खेती के लिए जमीन र करनी है और दूसरे किसानों के धनी हिस्से के धकी कमर तोड़ देनी है। पुनर्वितरणकर यदि हम और ३० एकड़के बीचके जोत बना लेते हैं तो किसानों आपसी अन्तर बहुत कम हो जाता है, जिससे कि गी खेतों को प्रचलित करने में दिक्कत ज्यादा न ो। यहां प्रश्न उठता है आर्थिक जोत किसे कहते मोटे तौरसे दो बंटवारापर हम इसका निर्णय करें।

१. इतनी जमीन, जिससे एक परिवारका भरणण हो सके।

२. इतनी जमीन, जिसे ५ व्यक्तिका परिवार, एक ड़ी बैलसे आबाद कर सके।

इसलिए आर्थिक जोतका परिमाण क्षेत्र-क्षेत्रपर लता रहेगा। कहीं ८ एकड़ होगा तो कहीं २० ड़। मोटे तौरपर सारे देशके लिए १२ एकड़की मचलाऊ माप हम आर्थिक जोतके लिए मान ले ते हैं।

आर्थिक जोतके साथ साथ, आर्थिक जोत बनानेके ए भी हमें एक ऊपरकी हद बनानी होगी, जिससे यादा जमीन कोई न रख सके। आजकी हालतको खते हुए यह हद आर्थिक जोतके अढ़ाई गुनेसे ज्यादा हीं होनी चाहिए। यानी सभी जोत १२ और ३० कड़के बीचके परिमाणही हों। इसके लिए एकओर ो हमें ३० एकड़से ज्यादा जमीन वालोंसे जमीन लेनी ोगी। दूसरी ओर जिनके पास १२ एकड़से कम है उन्हें १२ एकड़ तक जमीन देनी होगी।

परन्तु क्या हम सभी किसान परिवारको आर्थिक जोत दे सकते हैं? हमने यह बतानेका प्रयत्न किया है कि यह बहुत दूर तक संभव है। फिर भी यह स्पष्ट है कि धरतीपर बोझ ज्यादा है और साल साल बढ़ता ही जाता है। इसलिए आबादीकी वृद्धिको रोकने के प्रयत्नके साथ साथ हमें धरतीका बोझा भी कम करना है। इसके लिए एक तो उद्योग-धंधोंमें जितना संभव हो आर्थिक आबादीको लगाना होगा। दूसरे गांवमें ही ऐसे उद्योग-धंधे खोलने होंगे कि जिसमें उन्हें रोजी मिले।

इस कामके लिए प्रत्येक गाँवमें दुग्धालय और एक छोटा कारखाना होना ही चाहिए। खेती व्यवसायके पूरक और सम्बन्धित छोटे छोटे कारखाने भी जगह जगह चलाये जा सकते हैं, जैसे--चर्मालय, बिनौला निकालनेके कारखाने, फल, मक्खन और मछली को टिनके डब्बोंमें पैक करनेके कारखाने आदि।

परन्तु इन कार्योंमें समय लगेगा। प्रश्न है हम तुरन्त अन्न-संकटको दूर करनेके लिए क्या करें। प्रधान तया तीन काम हमें तुरत करना चाहिए।

१. सरकार द्वारा भूमि-सेनाका निर्माण।

२. बेदखलीपर कानूनी रोक।

३. स्वयंसेवकोंके आधारपर नहर, बांध, कुआं, तालाब को तैयार करना।

बिना काफी जमीन खेतीमें आये अन्न-संकटका मुकाबिला करना संभव नहीं। कितनी जमीनकी जरूरतहोगी इसमें मतभेद हैं। मोटे तौर पर १० करोड़ एकड़ जमीन हम खेतीमें ला सकते हैं और लाकर ही स्थायी सुलझाव कर सकते हैं। इतनी जमीन भूमि-सेना द्वारा ही शीघ्रतासे खेतीमें लायी जा सकती है। ३० लाखकी भूमि-सेना संगठित हो तो मोटे तौरपर ३ वर्षमें हम १० करोड़ एकड़ जमीनको खेतीमें ले आ सकते हैं। इसके ऊपर २०० करोड़ रुपये भी ३ या ४ वर्ष तक साल साल लगें तो अन्न-संकट दूर करनेके अलावे, पैदावारकी शक्लमें हमारी लागत भी निकल आयगी और विदेशोंकी मुहताजगी बन्द हो जायगी।

नयी जमीनोंको खेतीमें लानेके साथ सथ हमें पुरानी जमीनोंपर भी पैदावार बढ़ानी है। परन्तु यह काम किसानोंमें विश्वास पैदा कर ही हो सकता है। बेदखलीकी नंगी तलवारें, नेताओंके सभी व्याख्यानोंको

बेकार कर देती है। देशव्यापी बेदखलीके प्लेगको जिस तरह हो रोकना ही होगा। सुझावके तौरपर नीचे कुछ बातें दी जा रही हैं।

१. बटैया, धनखप या हुन्डा लगाना, यानी एक रैयतका दूसरेसे जुतवाकर मालगुजारी या खजाना देना, गैरकानूनी करार देना चाहिए। विधवा, नाबालिग, अंगहीन अथवा रोगीको ही छट मिले।

२. सभीपर रैयतोंको कायमी अधिकार काननन दे दिया जाय।

३. बेदखलीको रोकनेके लिए ग्रामका पूरा खाता-खेसरा जहां नहीं हैं तैयार किया जाय।

४. गांवकी जमीन गांव वालोंके ही पास बन्दोबस्त हो।

५. उपरोक्त ३ और ४ के सम्बन्धमें जहाँ झगड़े हों, उनके निर्णयका अधिकार ग्राम-पञ्चायतको हो।

६. किसी भी कारणसे जोतनेवालोंसे जमीन वापस लेनेका अधिकार मालिकका न हो।

७ मध्यवर्तीके मिटनेमें जहाँ देरी हो, वहां हर रैयत, जमीन मालिकको खजानेका दूनेसे ज्यादा न दे।

बेदखली बन्दीके साथ कानून बनाकर सार्वजनिक जमीनकी मिलकियत भी ग्राम- पञ्चायतको देना चाहिए। इन दोनोंका भरोसा देकर हम किसानोंको आह्वान कर सकते हैं कि वे स्वयंसेवकोंके आधारपर, एक घंटा देशको देकर नहर, बांध, कुआं, तालाबको तैयार करें। इस तरह जब हम पूरी शक्ति लगाकर किसानोंमें विश्वास पैदाकर काममें जुटेंगे तभी अन्न-संकट हल होगा।

इन तात्कालिक प्रश्नोंको सुलझाते हुए स्थायी व्यवस्थाकी ओर भी हम धीरे-धीरे आगे बढ़ें। स्थायी प्रबन्धके लिए आदर्श कृषि-व्यवस्थाके निर्माणके साथ साथ हमें पूँजीके प्रश्नपर भी सोचना है। अंग्रेजोंने ज्यादातर किसानोंसे ही लिया है, इसका नतीजा यह हुआ है कि कृषिमें पूँजीका सतत अकाल रहा है। छोटे छोटे काम भी पूंजी बिना किसान नहीं कर सकते। उसके लिए बड़े पैमानेपर सहयोग-समितियोंके द्वारा किसानोंके पास पूँजी पहुँचानी होगी। यह पूँजी खेतीके सुधारके लिए ही दी जाये और ज्यादातर सामानके रूपमें। जैसे रुपया देनेके बदले सहयोग-समितियाँ खाद, बीज, बैल, अच्छे हल आदि दें। देनेके समय लेने वालेकी अदा करनेकी ताकतका न ख्याल किया जाय। डब जानेका खतरा उठाकर भी सरकार को यह करना चाहिए।

पूंजी देते समय पुराने कर्जपर भी ध्यान देना होगा। कर्जके बोझको कम करनेका कोई रास्ता न निकला तो खेती सुधारका लाभ महाजनोंके पास चला जायगा। इसलिए एक तो खेत-मजदूरोंके सभी कर्जोको तुरत मन्सूख करना होगा, दूसरे किसानोंके बहुत कर्जको बहुत ज्यादा घटाना होगा।

इसके बाद प्रश्न उठता है दामका। इसके दो हिस्से हैं, एक तो जो दाम है वह भी किसानोंके पास पहुंचता है या नहीं? दूसरे दाम उचित है या नहीं,। यह सब जानते हैं कि बीच वाले फसलकी कीमतका बड़ा हिस्सा अपने पास रख लेते हैं। मालिक, महाजनके साथ तीसरा बड़ा शोषणका आधार व्यापारी है, इस छेद को भरनेका एक ही उपाय है, बहुत सी सहयोग-समितियोंके द्वारा ग्रामके खरीद-फरोख्तके पूरे व्यापारको अपने हाथ में लेना। इसके अलावे और अनेक कामके लिए सहयोग-समितियोंकी आवश्यकता होगी।

परन्तु दामका असल प्रश्न तो खेतिहर दाम और औद्योगिक दामके सम्बन्धका है। इन दोनोंके बीच न्याय का सम्बन्ध रहना चाहिए। दाम गिरे तो दोनोंके गिरे, चढ़े तो दोनोंके। किसान जिन सामानोंको खरीदता है उसके दाम तो चढ़े रहें, और गल्लेके दाम गिरा दिये जायें तो स्पष्ट है किसानोंके साथ अन्याय होगा, यह एक प्रकार का शोषण है।

कृषि-प्रबन्ध में सुधारके साथ हमें पैदावार बढ़ाने का प्रबन्ध भी करना है। सरकारको नहरकी बड़ी योजनाएं बनाकर उन्हें काम में लाना है, स्थान स्थान पर ट्रैक्टर और आदर्श कृषि फार्म खोलना है। विज्ञान का उपयोग कृषिको आगे बढ़ानेके लिए करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है सरकारको किसानोंसे कितना और किस तरहसे प्राप्त हो। इसका न्यायकी दृष्टिसे एक ही उत्तर है जैसे और व्यवसायोंसे लिया जाता है, कृषि

व्यवसायसे भी लिया जाय, यानी एक निर्धारित रकमसे ऊपर वाली आय से आयकरके आधार पर बढ़ते हुए दरसे। आगे चलकर इसकी वसूलीका आधार हमें सामूहिक फार्मको बनाना होगा।

उपरोक्त सुधारोंके साथ हमें गावोंको नये सिरेसे बसानेका भी काम हाथमें लेना है, आज गांव जैसे बसे हैं, उनमें न आराम है न सौन्दर्य, मौजूदा घरोंको तोड़ कर एक योजनाके अनुसार फिरसे गांव बसाने होंगे, सब गांव एकसे बसे हों यह भी आवश्यक नहीं। कहीं तालाब होंगे, कहीं पहाड़। असल वस्तु है एक योजनाके अनुसार ढंगसे गांव बसाये जाँये। कोई घर एक निश्चित स्टैन्डर्ड से नीचेका न हो। कमसे कम आधा एकड़ जमीन तो रहने के स्थान पर प्रत्येक किसान परिवार के पास रहना ही चाहिए।

अन्त में हमें ग्राम-व्यवस्था का प्रश्न भी सोचना है। सारी शक्ति दिल्ली, पटना आदि राजधानियों में इकट्ठा हुई है। विदेश से आजादी की रोशनी आयी, परन्तु वह राजधानियों में अटक गयी है। इसे हिन्दुस्तान के सात लाख गावों में बिखेरना है। इसलिए हमारे विधान का सबसे मजबूत खम्भा पंचायत रहना चाहिए। तभी सरलता से प्रत्येक किसान को न्याय मिल सकेगा और प्रजातंत्र का विकास भी संभव होगा। सच्चा प्रजातंत्र तो गांवमें ही चल सकता है। जहां प्रतिनिधियों का व्यवधान हट जाता है और जनता का सीधा सम्बन्ध संचालकों से रहता है। ग्राम-पंचायतों के पास गांव के पूरे आंकड़े रहें और उसका एक विभाग ग्राम संस्कृति का विकास करे।

इस तरह हम देखते हैं सामूहिक फार्म, सहयोग-समिति और ग्राम-पंचायत, इन तीनों के इर्द-गिर्द गावों का आर्थिक और राजनीतिक संगठन इकट्ठा होता है और इन्हीं के बल पर नवीन ग्राम्य व्यवस्था आगे बढ़ती है।

भारतवर्षकी पशु-समस्या

प्रो० ओमप्रकाश वर्मा

कितने विषादकी बात है कि संसारके प्रायः प्रत्येक प्रमुख प्रदेशकी अपेक्षा भारत आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टिसे पिछड़ा हुआ है। परन्तु जनसंख्याकी दौड़ में इसका स्थान सबसे आगे है। यही नहीं वरन् सांख्यिक रूप से यहाँकी पशुसंख्या भी संसार में सर्वोच्च है। विश्वके सारे गाय-बैलोंकी सामूहिक संख्याका चतुर्थांश भारतके पल्ले पड़ा है और उसी प्रकार संसारकी दो-तिहाई भैंसोंका निवासस्थान भी भारत ही है।

भारत में प्रत्येक पांच वर्षों पर पशुगणना होती है, परन्तु उससे ठीक-ठीक संख्याका पता नहीं चल पाता। हमारी जनगणनाभी दोषोंसे मुक्त नहीं। येही दोष कुछ अन्य दोषोंको साथ लेकर पशुगणना में आ रहते हैं। जनगणनाकी न्यूनताको पूर्णतया हृदयंगम करनेके पश्चात् इनके अविश्वस्त चरित्र को सहज ही आँका जा सकता है। अतएव सन् १९४० में हुई पांचवीं भारतीय पशुगणना भी अपूर्ण एवं दोष-युक्त है। उस गणना में किन्हीं कारणों से संयुक्त प्रान्त एवं उड़ीसा प्रान्त भाग न ले सके थे। उस रिपोर्टके अनुसार सन् १९४० में विभिन्न पशुओंकी संख्याके आँकड़े इस प्रकार थे:—

गाय, बैल और भैंस-- १६ करोड़ २० लाख
भेंड़ ..... -- ४ करोड़ ७० लाख
भैंसे ...... -- ४ ,, ५० ,,
बकरी ...... -- ४ ,, ८० ,,
घोड़े तथा टट्टू... -- २ ,, २० ,,
खच्चर ...... -- -- ७० ,,
गधे .... -- — २० ,,
ऊँट .... -- — १० लाख
सुअर .... — — २० लाख
मुर्गी और बतख — — ६ करोड़ ६० लाख

ये पशु अविभाजित भारतके १५, ८१, ४१० वर्ग-मील क्षेत्रफल में पाये जाते हैं।

औसत घनत्व

हमारे देशकी पशुसंख्याका औसत घनत्व भी बहुत ऊँचा है। ये आँकड़े उनकी संख्या तथा वास्तविक (नेट) कृषि-भूमिके प्रत्येक १०० एकड़ खण्ड को दृष्टि में रखकर निकाले गये हैं, जिसकी अपेक्षा संसारके अन्य देशोंके आँकड़े फीके पड़ जाते हैं। इस सम्बन्ध में लीग ऑफ नेशन्सकी छत्रछाया में एक ग्रामीण जीवन सम्बन्धी यूरोपीय सभा हुई थी, जो काफी महत्वपूर्ण थी। उस सभा में एक प्रमाणित पत्र पेश किया गया था जिसके आँकड़े मननयोग्य हैं :—

देश	भारत	यूरोप (रूसको छोड़कर)	संसार
पशु	प्रत्येक १०० एकड़ पर	प्रत्येक १००० ट्रेक्टर पर	प्रत्येक १,००० ट्रेक्टर पर
बैल	२२.१		
गाय	१७.०		
भैंस	७.०	१९७	४८
सूअर	.९		
मुर्गी	२९.३	१४७	२०
भेंड़	----	----	----
		२५०	४९

इसके बाद अन्य समाजवादी विचारधाराओंपर, जैसे फेबियन सोशलिज्म, जर्मन सोशल डेमोक्रेसी, बर्नस्टीन और संशोधनवाद, फ्रांसीसी सिण्डीकेलिज्म और गिल्ड सोशलिज्म पर भी प्रकाश डाला गया है। चौथा भाग साम्यवादपर है जिसमें रूसकी बोलशेविक क्रान्ति तथा उसके बाद तृतीय अन्तरराष्ट्रीयका साम्यवाद और उसकी नीति, पंचवर्षीय योजना, सन् १९३६का विधान और कम्युनिस्ट पार्टीकी कार्यप्रणाली में जो समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं, उसका इतिहास दिया हुआ है।

आगे चलकर ग्रेट ब्रिटेनके मजदूर आन्दोलन की धीमी, किन्तु सतत प्रगति पर प्रकाश डाला गया है जिसके फलस्वरूप सन् १९२४ तथा पुनः सन् १९२९ में मजदूर सरकार की स्थापना हुई। रैमजे मेकडोनल्डका पार्टीसे पृथक् होना, चुनावमें हार, विरोधी पार्टीका स्थान ग्रहण करना तथा द्वितीय विश्व-युद्धके बाद लेबर पार्टीकी महान् विजय—इन सबका बहुत ही स्पष्टतासे वर्णन किया गया है।

तत्पश्चात् फ्रांसीसी समाजवादी आन्दोलनकी प्रगतिका उल्लेख किया गया है जिसमें लिओ ब्लुमके नेतृत्व में 'फ्रांट पोपुलेयर' के संगठनका बड़ा ही दिलचस्प विवरण दिया हुआ है। फिर क्रमशः बेल्जियम और हालैण्डमें और १९१४ के बाद जर्मनीमें समाजवादी आन्दोलन, आस्ट्रियाके समाजवादियों का उत्थान और पतन, तथा चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, स्वीट्जरलैण्ड, इटली, स्पेन और स्कैण्डिनैवियन राष्ट्रोंके आन्दोलनोंका सिंहावलोकन किया गया है। इसके बाद हम आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्डमें समाजवादी आन्दोलनकी शुरुआत, उसके विकास और वर्तमान स्थितिका तथा अन्तमें अमरीका, कनाडा और लैटिन अमरीकाके अन्य देशोंके आन्दोलनोंका अध्ययन करते हैं।

समाजवादी व्यवस्थामें मूल्य-निर्धारण, सामाजिक योजना और स्वतंत्रता, मैनेजरी राज, समाजवाद तथा आयकी विषमता, मध्यवर्ग और सामाजिक परिवर्तन, पूंजीवादी व्यवस्थाका अन्त करनेवाली आर्थिक शक्तियाँ और तृतीय विश्व-युद्धको टालनेके लिए समाजवादकी आवश्यकता आदि विषयोंपर एक पृथक भागमें विचार किया गया है जिसका शीर्षक है 'आधुनिक समाजवादी विचार-धारा'।

लेखकने सहकारी आन्दोलनकी विशेष प्रगति तथा भविष्यमें उसकी उपादेयता पर भी प्रकाश डाला है। विश्वके विभिन्न राष्ट्रोंमें सहकारी आन्दोलनकी प्रगतिका "उपभोक्ता सहकारिताके सामाजिक पक्ष" शीर्षकके अन्दर वर्णन किया गया है जिसमें उपभोक्ता सहकारिता बनाम व्यक्तिगत पूंजीवाद, सहकारिता और समाजवाद, ट्रेड यूनियन और सहकारी आन्दोलन, तथा सहकारी संगठन और राजनीति—ऐसे प्रश्नों की विवेचना की गयी है।

अन्तमें पुस्तकमें व्यक्त मुख्य विचारोंका सारांश दिया गया है। अधिक अध्ययन के लिए लगभग ५४ पृष्ठोंमें अनुमोदित पुस्तकोंकी एक सूची तथा एक विस्तृत और उपयोगी विषयानुक्रमणिका (Index) भी दी हुई है।

मैंने पुस्तककी बहुत सी बहुमूल्य सामग्रीको प्रकाशमें लानेकी कोशिश की है। आशा है—यह न केवल "जनवाणी"के पाठकों तथा अन्य समाजवादियोंके लिए ही उपादेय सिद्ध होगी, बल्कि किसी भी जिज्ञासु को इसके अध्ययनसे हमारी सभ्यताके पेंचीदे ढांचेको समझनेमें सहायता मिलेगी।

इतनी बड़ी पुस्तकमें त्रुटियोंका ढूंढ़ निकालना आसान है। संभव है कि उसमें कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर समुचित रूपसे प्रकाश न डाला गया हो, अथवा उनका बिलकुल उल्लेख ही न किया गया हो और यही उसकी एक बहुत बड़ी आलोचना हो जाती है। इनमें कमसे कम तीन बातें तो अभी मेरे सामने हैं जिनका उल्लेख यहाँ मैं आवश्यक समझता हूँ।

सबसे पहिली बाततो यह है कि उसमें एशिया तथा अफ्रीकाके समाजवादी आन्दोलनोंके विकासपर शायद ही कुछ प्रकाश डाला गया है। इस भूलके लिए आजसे बीस वर्ष पूर्व डॉ० लैडलरको किसी भांति क्षमा प्रदान किया जा सकता था जब कि इन महाद्वीपोंका अधिकांश भाग जिसमें विश्वके करीब दो-तिहाई लोग रहते हैं, पाश्चात्य देशोंके अधीन था। किन्तु आज इस प्रकारकी भूल अक्षम्य है। उदाहरणार्थ, हिन्दुस्तान और चीनमें इस समय जो कुछ हो रहा है उसका विश्वके अन्य भागों पर भी व्यापक प्रभाव पड़ सकता है। आशा है कि अगले संस्करणमें इस त्रुटिका परिमार्जन हो जायगा।

दूसरी बात यह कि डॉ० लैडलरके समान पंडित तथा उदार विद्वानको ऐसे ग्रन्थमें समाजवादी दृष्टिकोणसे साम्राज्यवादके सिद्धान्त और उसकी कार्य-प्रणालीका अवश्य विश्लेषण करना चाहिए था। साथ ही उसमें इस बातका भी उल्लेख होना चाहिए कि साम्राज्यवादी नीतिने उन राष्ट्रोंको जो अभी हालमें स्वतंत्रता प्राप्त किये हैं, अथवा अब भी स्वतंत्रता-प्राप्तिके लिए संघर्ष कर रहे हैं, किस प्रकार बर्बाद किया है। हमारे पाश्चात्य विचारक मित्रोंको स्मरण रखना चाहिए कि यहाँके लोगोंकी दृष्टिमें पाश्चात्य दिखाऊ प्रजातंत्र का वास्तविक रूप भी अधिनायकशाही ही है और ऐसी परिस्थिति में अगर वे तृतीय गुटके निर्माणकी जोरदार माँग करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दो सौ वर्षोंसे जो उनका निर्मम शोषण हुआ है, वह "जो हुआ सो हुआ" कह देने मात्रसे भुलाया नहीं जा सकता। इसमें कुछ समय लगेगा। अगर दुनिया पूर्वी राष्ट्रोंमें जो उथलपुथल हो रही है अथवा शीघ्र ही होनेवाली है, उसको ठीकसे समझना चाहती है तो साम्राज्यवादका यह विश्लेषण बहुत ही आवश्यक है।

पुस्तकका मूल्य बहुत अधिक है। यद्यपि वह काफी बड़ी है और काफी दिलचस्प ढंगसे लिखी गयी है, किन्तु अंग्रेजी संस्करणका ३५ शिलिंग मूल्य काफी अधिक है। अच्छा होता कि यह 'पेंग्विन सिरीज' या 'पाकेटबुक' की ओरसे चार भागोंमें प्रकाशित की जाती। 'पेलिकन बुक्स'में एली हेलवीकी "हिस्ट्री ऑफ इंगलैण्ड' नामक पुस्तक अनेक भागोंमें प्रकाशित हुई थी और उस समय प्रत्येक भागका मूल्य ९ पेंस था। अगर उसके दुगुने मूल्यमें भी यह पुस्तक इस समय प्रकाशित हो जाय तो समाजवादके इस विश्व-कोषका वह संस्करण अतीव सुन्दर होगा।

'सोशल-एकनामिक मूवमेंट्स' का महत्व और उसकी आवश्यकता बहुत दिनों तक रहेगी। इतनी सुन्दरताके साथ एकही जिल्दमें इस गुरुतर कार्यको सम्पादित करनेके लिए हम सभी ग्रन्थकर्ताके प्रति आभारी हैं। आज समाजवाद असंख्य लोगोंको जीवन-दान दे रहा है और उनकी विचारधाराको एक नयी दिशा प्रदान कर रहा है। ऐसे समयमें इस ग्रंथका प्रकाशन सर्वथा उपयुक्त है। चाहे इसे समझें या न समझें, असंख्य दूसरे लोगोंके लिए भी वर्तमान संकटसे पार पाने का यही एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है।

यूसुफ मेहरअली—

× × ×

"हम वहशी हैं" (कहानी संग्रह) ले० श्री कृशन चन्दर, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, मूल्य २)

श्री कृशन चन्दर मूलतः उर्दूके लेखक हैं, उसी तरह जैसे प्रेमचन्द जी; और उसी तरह अब हिन्दीके हो रहे हैं। प्रस्तुत संग्रहमें सात कहानियाँ हैं—पेशावर एक्सप्रेस, अन्धे, एक तवायफका खत, जैक्सन, लालबाग, अमृतसर और दूसरी मौत। सभी कहानियोंका सम्बन्ध हिन्दुस्तान-पाकिस्तानको आजादी मिलनेके समयकी खूंरेजी (जिसे दंगा कहते हैं) से है। "पेशावर एक्सप्रेस" पेशावरसे लेकर बम्बई तक रास्ते में होनेवाली भयंकर खूंरेजी और मनुष्योंकी शैतानियत की कहानी कहती है। इस कहानीमें हिन्दुओं और मुसलमानों दोनोंकी शैतानियतका वह दिलदहला देने वाला वर्णन है जिसे पढ़कर दोनों जातियों और दोनोंके मजहबोंसे नफरत हो जाती है। "अन्धे"में लाहौरके मुस्लिम गुण्डोंका ऐसा वर्णन है जिसे पढ़कर गुण्डा भी एकबार अपनी गुण्डागिरीपर सोचेगा। "एक तवायफका खत"में कल्पनाकी उड़ान है, पर वह निराधार नहीं है; तवायफने अपने खतमें जिन्ना और नेहरूसे जो सवाल किया है, वह सवाल कभी इनकी रूहोंसे इतिहास भी करेगा। "जैकसन"में भी कल्पनाकी उड़ान है, पर यदि लेखकने यह कहानी न लिखी होती, तो दंगोंका असली रहस्य ही नहीं खुलता। इसमें जैकसन हिन्दुओं और मुसलमानोंको छिपकर आधुनिकतम शस्त्रास्त्र देता है, जिससे दोनों कौमें आपसमें लड़ मरें। दंगोंके दिनोंमें अंग्रेजों ने यही किया, पर उसे जानबूझकर नेहरूकी सरकारने सप्रमाण प्रकाशित नहीं किया। इस ऐतिहासिक तथ्य का साहित्य में आना जरूरी था जिसे लेखकने ला दिया। किन्तु इस कहानीका अन्त अस्वाभाविक है।

रोज़ीका जो चित्र लेखकने यहाँ उपस्थित किया है वह कोरी कल्पना तो है ही, कहानीके रस-परिपाकमें भी बाधक है। ऐसा लगता है कि लेखक इस कहानीको निभा ही नहीं सका। "लालबाग" में दंगेका वातावरण, कमलाकर दादाका गुण्डा चरित्र तथा दंगोंका वर्णन स्वाभाविक और खूब है। इस कहानीकी की इन तीन लाइनोंमें दंगोंसे पूंजीपतियोंका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—"कमलाकरने जेबसे पचास रुपये निकालकर उसे दे दिये। सेठ अगले हफ्तेमें पचासके पचीस करनेवाले हैं, क्योंकि सेठ बोलते थे—'अब मुसलमानोंको मारनेवाले बहुतेरे आदमी मिल रहे हैं।'" इस संग्रह की कहानियोंमें सबसे ज्यादा अनुभूतिकी गहराई है "अमृतसर"में। इस कहानीमें सर्वत्र गहरी वेदना और दिलको मरोड़ देनेवाला दर्द व्याप्त है। इसके दो अंग हैं 'आजादीसे पहले' और 'आजादीके बाद'। आजादीके पहलेमें लेखकने वर्णन किया है कि किस तरह अमृतसरमें हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखोंका एका था, किस तरह सभीका खून एक साथ और एकमें मिलकर बहा था और जिसका ऐतिहासिक उदाहरण है जलियाँवाला बाग। इसके बाद आजादीके बादका वर्णन है जिसमें सिख एक हिन्दूकी गाय यह समझकर बाँध लेता है कि यह मुसलमानकी गाय होगी और एक कांग्रेसी हिन्दू नेताजी एक लुटे हुए मुसलमानकी दूकानके सामने खड़ी हिन्दूकी मोटर अपनी मोटरके पीछे यह समझकर बाँध लेते हैं कि यह मोटर मुसलमान की होगी। प्यासे मुसलमान बच्चे से एक गिलास पानीकी कीमत ५०) माँगी जाती है। मुसलमानोंपर हिन्दुओंके जुल्मका वर्णन तो ऐसा स्पष्ट और सजीव है कि जिसे पढ़कर चंगेज खां और तैमूर भी शरमा जायेंगे। एक जले हुए खण्डहरसे मृतप्राय एक वृद्धाका उद्धार लेखक करता है। वह वृद्धा कहती है—"तू जानता है, मैं कौन हूँ? मैं जैनबकी माँ हूँ। तू जानता है जैनब कौन थी? ज़ैनब वह लड़की थी जिसने जलियाँवाले रोज इस गलीमें गोरोंके आगे सिर नहीं झुकाया, जो अपने मुल्क और कौमके लिए सिर ऊँचा किये इस गलीसे गुजर गयी। यही वह जगह है जहाँ जैनब शहीद हुई थी।" और इस जैनबकी माँ, भारतीय राष्ट्रीयताकी माँ के साथ क्या हुआ, उसीके शब्दोंमें सुनिये—"पहले उन्होंने हमारे मर्दोंको मारा, फिर हमारे घर लूटे, फिर हमें घसीटकर गलीमें लाये और इस गलीमें, इस फर्शपर, इस पवित्र गुरुद्वारेके सामने जिसे मैं हर रोज सिर झुकाया करती थी, उन्होंने हमारी अस्मतदरी की और फिर हमें गोलीसे मार दिया। मैं तो उनकी दादियोंकी उम्र की थी। उन्होंने मुझे भी माफ नहीं किया।" और इसके बाद वह हिन्दू संस्कृतिके दम्भियोंके खूनी चेहरेपर खून उगलती हुई वहाँ चली गयी जहाँ खूनी भेड़िये नहीं रहते। "दूसरी मौतमें" भी पूंजीपतियों और दंगेके सम्बन्धका चित्र है।

"हम बहशी हैं" की सातों कहानियोंमें दंगोंके सभी संबंधोंका चित्र भी है, खुलासा भी है और उन संबंधोंके जालको छिन्न-भिन्न करनेकी प्रेरणा भी है। जबतक हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमें पूंजीवादी सरकारें हैं, जबतक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, एंग्लो-अमरीकन गुटके साथ नेहरू सरकारका गठबंधन और कश्मीरकी समस्या है, तबतक कब क्या हो जाय, नहीं कहा जा सकता, —जबकि तीसरा महायुद्ध मड़रा रहा है और अमरीका हथियार भाँज रहा है। और जब भी जो कुछ होगा, उसमें हम बहशी हो जायेंगे। अतः यदि वहशीपनसे ऊपर उठना है तो श्री कृशनचन्दरकी इन कहानियों का प्रचारभी जरूरी है।

*

"तिरंगे कफन" (कहानी-संग्रह) ले० श्री अमृतराय, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद; मूल्य २॥)

प्रस्तुत कहानी-संग्रहमें १२ कहानियाँ हैं। "गोडसेके नाम खुली चिट्ठी" और 'कीचड़' व्यंगकी लपेटके साथ और 'व्यथाका सरगम" कोमल भावनाओं —करुणाकी भावनाओं—को उभाड़ती हुई स्पष्ट ही साम्प्रदायिक मनोवृत्तिके विरुद्ध जाती है। "बाबू मोहनगोपाल" में महंगी, 'बेचारा" में मकान और "खाद और फूल" में गरीबी, महंगी और शरणार्थी-समस्याका संस्पर्श और चित्र है। "कस्बेका एक दिन" में देहातोंके मध्यमवर्गकी टूटती हुई हालत और देहातों के नैतिक पतनकी तस्वीर है। "फिर सुबह हुई" में उन नारी-हृदयोंकी तड़पन है, जिनकी शादी किसी कारण नहीं हुई, पर जिनके मनमें मातृत्वकी अभिलाषा फूटकर निकलना चाहती है। "कोपलें"में किसी सामाजिक स्थितिका संकेत है। "अन्धकार के खम्भे" में पुरानी मनोवृत्तिकी सास द्वारा नवीन विचारोंकी बहू पर होने वाले दबाव और ज्यादतीका चित्रण किया गया है जो बड़ा सजीव और अनुभूतिकी गहराई लिये हुए है। हमारा मत है कि प्रत्येक नये विचारोंके दम्पत्तिको इस कहानीके प्रति स्वाभाविक आकर्षण होगा। पर मेरा यह भी अन्दाज है कि बनारस, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, जौनपुर, आजमगढ़ और मिर्जापुर आदिमें सास द्वारा बहूपर जितना प्रतिबन्ध रखा जाता है, उतना अन्यत्र शायद नहीं। इस कहानीमें नवदम्पत्तिने अपनी मुक्तिका जो उपाय निकाला है—अर्थात् मातृदेवसे अलग रहना, इस समस्याका आज वही एकमात्र समाधान भी है।

कहानियाँ सभी ऐसी हैं, जिन्हें एक बार उठाकर बिना खतम किये जी नहीं मानता। सभी कहानियों में स्वाभाविकता और सरलता स्पष्ट है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि कहानीकार किसी समस्याकी ओर पाठकोंको ले जाना चाहता है, किन्तु एक भी कहानी निरुद्देश्य नहीं है। कहानियोंमें जिन समस्याओंकी ओर इशारा किया गया है, उन समस्याओंके अन्दर काल बोलता है—युगका प्रतिनिधित्व उनमें है। किन्तु कलाका सामञ्जस्य उनमें ऐसा है, जिससे कहानियोंमें कहानीपन अपने आप आता गया है। अन्तिम कहानी "तिरंगे कफन" पढ़कर एकाएक मनमें प्रश्न उठता है कि क्या यह हमारा वही तिरंगा झंडा है जिसके पीछे कुर्बानियोंका लंबा इतिहास है और अब जिसकी छायामें पलते हैं मोटे तुन्दिल सेठ, जमींदार, राजे (राजप्रमुख) और वे सब जो एक दिन इसको मिटाना चाहते थे—और इस तिरं[गे ...] रहते हुए भूखे हैं, नंगे हैं, और जीवनकी सभी जरू[रतों] के लिए तरसते हैं वे कि जिन्होंने अपने कलेज[े के] रक्तसे एक दिन इस तिरंगेको सींचा था। अ[...] यह हमारा वही तिरंगा है अथवा उसका—[...] अपना रक्त देनेवालोंकी उम्मीदोंका—कफन?

*

"स्वाधीनताकी चुनौती" लेखक प्रो० शान्तिप्रस[ाद] वर्मा, नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर; मूल्य ७)।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय भारतीय राजनीति[क] विश्लेषण है। इसकी सीमा १५ अगस्तसे कुछ पहले [से] महात्मा गाँधीकी हत्याके कुछ बाद तकका काल है। अपनी सीमाकी भारतीय राजनीतिक स्थिति[का] लेखकने बहुत परिश्रमसे विश्लेषण किया है। लेखकका कथन है कि "किसी राजनैतिक दलसे संबंध न होने[के] कारण उनके संबंधमें निष्पक्षताके साथ सोचनेका भ[ी] मुझे अवसर मिला है।" और व्यक्तिगत रूप[से] यह बात सच है, वर्ना बहुत सी बातोंको लेख[क] उस रूपमें न लिखता, जिस रूपमें उसने लिखा है। लेकिन इसके बावजूद लेखक मध्यमवर्गका है। उसके मनकी बनावटभी मध्यमवर्गकी है और उसने जो कुछ भी लिखा है, उसमें मध्यमवर्गका वर्ग-मानस स्पष्ट बोल रहा है। एक जगह लेखक लिखता है, "संसारके इतिहासमें इस प्रकारका कोई दूसरा उदाहरण नहीं है जब किसी साम्राज्यवादी देशने एक अधीन देश पर से अपनी मर्जीसे अपनी सत्ता समेट ली हो। अंग्रेजी शासनका इस प्रकारसे अन्त हो जाना जहाँ एक ओर भारतीय राजनीतिक नेताओंकी व्यवहार-कुशलता और बुद्धिमानीका परिचायक था, वहाँ हम अंग्रेजी शासकोंकी दूरदर्शिताकी प्रशंसा किये बिना भी नहीं रह सकते।" (पृ० ३) और दूसरी जगह लेखक कहता है, "२३ फरवरीको सरदार वल्लभ भाई पटेलकी मध्यस्थताके फलस्वरूप इस विद्रोहकी

प्ति हुई, पर यह बात अब बिलकुल स्पष्ट हो थी—यदि अब भी किसीको इसमें सन्देह था—भारतीय समाजका कोई वर्ग ऐसा नहीं रह गया जो अंग्रेजी राज्यका साथ देनेके लिए तैयार हो।" ...."अंग्रेजी कैबिनेट मिशनके आनेके पहले दुस्तान, बहुतसे लोगोंकी रायमें, एक क्रान्तिके ारे था। कैबिनेट मिशन योजना ने इस क्रान्तिको गित करनेकी दिशामें बहुत बड़ा काम किया।" ० ४९) ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। जगह लेखकने लिखा है कि "हमारी भौगोलिक र ऐतिहासिक परिस्थितिने इतिहासके वर्तमान युगमें शयाके नेतृत्वकी जिम्मेदारीभी हमारे ऊपर डाल दी ।" (पृ० २४) और दूसरी ओर लेखक लिखता है, समें सन्देह नहीं कि एशियाकी सभी राष्ट्रीय सर-रोंका झुकाव वामपक्षकी ओर उतना नहीं है, तना दक्षिण पक्षकी ओर। हिन्दुस्तानकी सरकार न-ब-दिन पूंजीपतियोंके शिकंजेमें जकड़ती जा रही और इसी कारण प्रतिक्रियावादी तत्त्वोंको दबानेकी सकी शक्तिभी क्षीण होती जा रही है। हिन्दू हासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर गाँधीजीकी याके बाद जो भी नियंत्रण लगाये गये थे वे ढीले ड़ते गये? (और अब उठ भी गये—आ०) इसके तिकूल कम्युनिस्टोंके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की ती है और समय समय पर समाजवादियोंकी रफ्तारीकी खबरें भी आती हैं। प्रेसके नियंत्रण े नहीं हैं और उनका उद्देश्य फासिस्ट प्रवृत्तियोंको ोकना उतना नहीं है, जितना वामपक्षीय प्रवृत्तियों ो। राज्यसत्ताके सूत्र पूंजीपतियोंके हाथमें जा रहे और सरकार द्वारा अर्थनीतिके क्षेत्रमें उठाये जाने ाले प्रत्येक कदम का प्रभाव उनकी शक्ति बढ़ाये ानेकी दिशामें पड़ रहा है। अंग्रेजी पूंजीवाद, जसके प्रश्रयमें और कुछ विरोधमें, भारतीय पूंजीवाद विकसित हुआ, आज भारतीय पूंजीवादके पीछे पीछे चल रहा है, पर दोनोंका गठबन्धन दृढ़तर होता जा रहा है और अमरीकी पूँजीवादसे भी हमारे निकटके संबंध स्थापित हो रहे हैं।" (पृ० ३२७)। तो क्या हिन्दुस्तान एशिया का नेतृत्व वैसा ही करने जा रहा है जैसा चियांगके चीनने किया था? इस तरह एक नहीं, बीसों ऐसी परस्पर विरोधी बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लेखकका एक निश्चित सिद्धान्त नहीं है, अथवा वह मध्यम वर्गी धारणाओंमें घसीटता हुआ कभी कुछ कह जाता है और कभी कुछ; अथवा तथ्यसे सत्यकी ओर न जाकर वह तथ्यसे परे किसी सत्यकी कल्पना करता है।

किन्तु फिर भी ग्रन्थ पठनीय है। बहुतसे महत्वपूर्ण तथ्योंका संग्रह इस ग्रंथमें एक जगह मिल जाता है। लेखकके अन्दर किसी प्रकारका दम्भभी नहीं है और न वह उन आध्यात्मिक दम्भियोंमें मालूम होता है जो अपनेको दुनियाका ठेकेदार समझते हैं।

*

"भारतकी स्वाधीनताका अधिकार-पत्र" प्र० यूनाइटेड प्रेस, ओल्ड सेक्रेटरियट, दिल्ली; मूल्य ।)।

यह "भारतकी संविधान सभा द्वारा अबतक स्वीकृत संविधानके कुछ महत्वपूर्ण नियमोंका विवरण है। (जुलाई ४९)" इतिहासका अर्थनीतिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन यह बताता है कि जगतका कोई भी संविधान अथवा कानून श्रेणी निरपेक्ष नहीं है। इसी दृष्टिसे हम इस पुस्तिकाको देखेंगे। पुस्तिकामें लिखा है "........यह अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलियाके संविधानोंसे मिलता है।" (पृ० १४) सभी जानते हैं कि इन देशोंमें पूंजीवाद है और इन देशोंका संविधान पूंजीवादको कायम रखने वाला है। अतः सिद्ध है कि भारतीय संविधानने

पूंजीवाद सुरक्षित है। "संविधानमें जो आर्थिक अधिकार तथा सामाजिक सुरक्षाके सिद्धान्त बताये गये हैं और जिनके लिए राष्ट्रको यह हिदायत है कि वह उन्हें करोड़ों जनताके लिए प्राप्त करे, वे ये हैं—"१. जीविका का उपाय" पर किस तरह यह नहीं बताया गया। "२. धनका उचित विभाजन" किस सिद्धान्त पर?—करोड़पतिको करोड़ "उचित" और गरीबको सूखी रोटी वाले सिद्धान्तपर? "६. शिक्षा प्राप्त करना जिसमें १४ साल तक सब बालक तथा बालिकाओंके लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करना है।" अधिकतम बालकोंको को ऐसे स्कूलमें जिसकी छत आसमान अथवा दरख्त हो और ऐसे अध्यापकोंसे जिन्हें आधा पेट भी खाना मयस्सर नहीं होता है? इसके अलावा स्कूलकी अव्यवस्थित किताबोंकी कीमत ऊपरसे? "८. इतनी मजदूरीका अधिकार जिससे कि जीविका चल सके" क्या कहने हैं नेहरूके सोशलिज्मको! वह गुलामको इतना खाना देते हैं जिससे गुलाम जी सके! "अधिकारोंकी सनद"में "समानताके अधिकार" सबको हैं—पर गरीबको गरीबीके साथ और अमीरोंको को अमीरीके साथ। "विधानमें पिछड़े हुए तथा आदिम निवासियोंके इलाकों और दलित तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गको "उपयुक्त संरक्षण दिये जायेंगे।" हाँ, सिर्फ इतना देख लिया जायगा कि ताता, बिड़ला और अमरीकी पाहुनोंके लाभमें किसी किस्मकी कमी न हो। संविधानमें कहा गया है कि "किसी भी व्यक्तिको कानूनसे स्थापित पद्धतिका अनुकरण किये बगैर जीवन या वैयक्तिक स्वतंत्रतासे वंचित नहीं किया जायगा, और किसी भी व्यक्तिको कानूनके समक्ष बराबरीके अधिकारसे और न देशमें प्रचलित कानूनोंके संरक्षणसे ही वंचित किया जायगा।" सिर्फ इसमें इतनी शर्त छिपी हुई है (जो इस आर्डिनेंसी राज के व्यवहार द्वारा स्पष्ट भी है) कि वह व्यक्ति इस पूंजीवादी संविधानको साष्टांग दंडवत् करनेवाला हो, उसके पास पैसा हो (अथवा वह मिनिस्ट्रोंका रिश्तेदार हो) और नेहरू सरकारका राजनीतिक विरोधी न हो। और ऐसे पूंजीवादी संविधानके संबंध में यह दम्भ किया गया कि "यदि नये संविधान के होते हुए भी परिस्थिति बिगड़े तो इसका कारण यह न होगा कि हमारा संविधान खराब था। इस हालतमें हमें तो यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य हीन था (पृ० १९) और हमारी रायमें जो सरकार अपने संविधानमें (जिसके लिए संविधान बनाया गया हो, उस पर) जनता पर अविश्वास प्रकट करे, उस जनता-जनार्दनको हीन कहे, उस सरकार और उसके संविधान पर थू!

*

"वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ"—सम्पादक—श्री जे० सी० माथुर और श्री योगेन्द्र मिश्र; प्रकाशक—वैशाली संघ, पो० वैशाली, जिला मुजफ्फरपुर; मूल्य १२)

प्रस्तुत ग्रन्थमें अंग्रेजीमें २१ लेख, हिन्दीमें ११ लेख, २ नाटक और १ कविता है। सभी लेखोंमें प्रामाणिकता है। डॉ० ए० एस० अल्तेकर, डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का अंग्रेजीमें और श्री राहुल सांकृत्यायनका हिंदीमें ऐसे लेख हैं, जिनसे कुछ नयी बातें सामने आती हैं, वर्ना यह विषयतो पिटा हुआ है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संगृहीत लेख अनुपयुक्त हैं। सभी प्राप्त सामग्रियोंका एक स्थान पर संग्रह भी कम महत्व नहीं रखता। डॉ० राजेन्द्र-प्रसादजीकी भूमिकामें एक महत्वपूर्ण स्वीकारोक्ति है जिसे हम यहाँ पर दे रहे हैं—"अपने विधानके निर्माणमें हम बहुत करके पश्चिमीय देशों—विशेषकर इंगलैंड तौर यूरोपके दूसरे देशों तथा अमरीका के विधानोंसे —ही बहुत कुछ लेना चाहते हैं। उसका एकमात्र कारण उन देशोंके इतिहास और विधानोंसे अधिक परिचय है।" और इस "परिचय" का यह सामाजिक पहलू है कि विधान बनानेवाले वकीलोंका समूह उच्च मध्यम वर्गीय है, जिस वर्गको अंग्रेजी साम्राज्यवादने ही पैदा किया है, और जो वर्ग अब शासक बनकर शोषकोंके साथ—पूंजीपतियोंके साथ—मिल गया है। और इसीलिए वह ऐसा विधान बना रहा है, जिससे शासक-शोषकोंके स्वार्थ सुरक्षित रहें। स्थापित स्वार्थ अपने समर्थनमें कैसा द्रविड़ प्राणायाम करता है, इसका भी एक उदाहरण इस

ग्रन्थमें है। बुद्धके "सत्त अपरिहाणि धम्म" के सातों उपदेशोंका उल्लेख करके बिहारके प्रीमियर श्रीकृष्ण सिनहा फरमाते हैं—"भगवान् बुद्धने प्राचीन वैशालीके जिन आदर्शोंको बतलाया है, उनके अनुसार चलनेकी जरूरत अभी भी हमें है। ये आदर्श वस्तुतः सब कालके लिए अनुकरणीय हैं। इनका पालन करके ही कोई राष्ट्र सच्चे अर्थमें प्रजातन्त्रका विकास कर सकता है।" (पृ० ११०) प्रीमियर महोदयको यह ज्ञान रखना चाहिए कि वैशालीका गणतंत्र रक्त-संबंध पर आधारित था; एक रक्तके माने जाने वाले लोगों तक ही मताधिकार सीमित था; सभीको—रक्त विशेषसे बाहरके लोगोंको—मताधिकार नहीं था। खेतोंमें गुलाम काम करते थे। और ऐसी सामाजिक स्थितिमें ही वे सातों उपदेश व्यवहार्य थे। अब प्रीमियर महोदय बतावें कि उसी सामाजिक स्थितिमें वह हिन्दुस्तानको देखना चाहते हैं? यदि हाँ, तो वह किसी स्वर्गमें रहते हैं।

—बैजनाथ सिंह "विनोद"

सम्पादकीय—

कांग्रेसी सरकारें और जनतान्त्रिक समाजवाद

जनताको भुलावेमें डालनेके लिए बहुतसे कांग्रेसी नेताओं और मिनिस्टरोंने यह कहना शुरू कर दिया है कि वे भी जनतान्त्रिक समाजवादको मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि वे गांधीवादी हैं और इसलिए गांधीवादी समाजवादके समर्थक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी विकेन्द्रित जनतांत्रिक व्यवस्था और अहिंसात्मक समाजवादके समर्थक थे। पर क्या कांग्रेसी सरकारें जनतांत्रिक समाजवाद के पोषक होनेका दावा कर सकती हैं? कांग्रेस एक मध्यमवर्गीय जनतांत्रिक दल है जो धीरे धीरे अपने पुराने वायदों और सिद्धान्तोंको छोड़ता हुआ प्रतिगामिताकी ओर चल रहा है। उसका समाजवादसे केवल इतना संबंध है कि उसके कुछ नेता और कार्यकर्ता किसी समय समाजवादी थे और उसके कुछ प्रस्तावों और रिपोर्टों पर समाजवादी छाप या छाया है। पर पिछले दो वर्षोंमें कांग्रेसी सरकारें कोई भी ऐसी बड़ी योजना अमलमें नहीं लायीं जो समाजवादी कही जा सके।

युक्तप्रान्तके प्रधानमंत्री पं० गोविन्दवल्लभजी पन्त रियासतोंके एकत्रीकरणको एक बड़ी भारी समाजवादी व्यवस्था बताते हैं और इसके आधार पर कांग्रेसके समाजवादी होनेका दावा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद नृपतन्त्रका विरोधी है और समाजवादी सरकार रियासतोंका एकत्रीकरण शीघ्रसे शीघ्र करती। पर इसके आधार पर कांग्रेसको समाजवादी नहीं कहा जा सकता। जनतांत्रिक राष्ट्रीयता भी नृपतन्त्रकी विरोधी है और रियासतोंका एकत्रीकरण तो एक साधारण राष्ट्रीय सरकारका भी कर्तव्य है। जिस तरहसे रियासतोंका एकत्रीकरण और प्रबन्ध किया जा रहा है उसे देखकर तो कांग्रेस को नृपतन्त्र विरोधी जनतांत्रिक संस्था भी कहना कठिन है। बहुतसे राजाओंको यूनियनोंका राजप्रमुख और उपराजप्रमुख बना दिया गया है, सभी नरेशोंको सरकारी खजाने और तोशेखानेसे अपना घर भरनेका पूरा मौका दिया गया है, उन्हें बड़ी बड़ी पेंशनें दी गयी हैं। जागीरदारी प्रथा और अर्धदासता पहलेकी तरह कायम है और बहुत सी रियासतों और यूनियनोंमें अभीतक कोई व्यवस्थापिका या प्रतिनिधि सभा भी कायम नहीं हुई है। बहुत सी रियासतों और यूनियनों की सरकारें तो वहाँकी जनता के बजाय केन्द्रीय सरकारकी स्टेट मिनिस्टरीके प्रति ही उत्तरदायी हैं। नामको वे कांग्रेसी सरकारें हैं, पर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटीका भी उनपर कोई नियंत्रण नहीं है। इनमेंसे अधिकांश रियासतों और यूनियनोंका प्रबंध तो पहिले से भी अधिक खराब है। भ्रष्टाचार और पक्षपातका बाजार पहलेसे कहीं अधिक गर्म है।

जमींदारी प्रथाका उन्मूलन एक दूसरी समाजवादी योजना बतायी जाती है। पर जमींदारी प्रथाका उन्मूलन तो क्रान्तिकारी पूंजीवादका भी कार्यक्रम है। यूरोपमें बहुत सी पूंजीवादी राष्ट्रीय सरकारों ने मुआवजा देकर जमींदारी प्रथाका उन्मूलन किया है। फिर कांग्रेस सरकार तो इस काममें भी आनाकानी कर रही है। पिछले दो वर्षों में किसी प्रान्त या रियासतमें जमींदारी प्रथा खत्म नहीं की गयी है। बिहार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाने लगभग एक वर्ष हुआ एक जमींदारी उन्मूलन बिल पास कर दिया था, पर आठ महीने तक वह बिल गवर्नर जनरल साहिब के पास पड़ा रहा और फिर उन्होंने कुछ तरमीमोंकी सिफारिश कर उसे वापिस कर दिया। बिहार प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाको वे तरमीमें मंजूर करनी पड़ीं और बिहार सरकारको वायदा करना पड़ा कि वह केन्द्रीय सरकारकी नीतिका अनुसरण करेगी। केन्द्रीय सरकारने अपने एक वक्तव्य में यह साफ कह दिया कि जमींदारी प्रथाको खत्म करनेके लिए जमींदारोंको पूरा पूरा मुआवजा देना होगा, इस मुआवजेकी रकमको अदा करनेके लिए केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारोंको कोई आर्थिक सहायता नहीं देगी, प्रान्तीय सरकार इस कामके

कांग्रेसी सरकारें जनतांत्रिक समाजवाद या गांधीवादी अहिंसात्मक समाजवादकी समर्थक या पोषक हैं। उन्हें तो प्रगतिशील जनतंत्रकी समर्थक भी नहीं कहा जा सकता। वे तो अधिकसे अधिक प्रतिगामी जनतंत्रकी पोषक कहीं जा सकती हैं। जनतामें नये जनतांत्रिक या समाजवादी समाजको स्थापित करनेके लिए उत्साह और साहस पैदा करनेके बजाय उन्हें अव्यवस्थाका भय दिखाकर आर्डिनेंसों और दमनके जरिये देश पर अपना अधिकार जमाये रखना ही कांग्रेसी सरकारोंका उद्देश्य है। कांग्रेसी मिनिस्टर कभी यह कहते हैं कि हिन्दुस्तानको विरोधी दलकी जरूरत नहीं और विरोधी दलका संगठन भारतीय मर्यादा तथा परम्पराके प्रतिकूल है; और कभी यह कहते हैं कि देशमें कांग्रेसदलको छोड़कर कोई दूसरा दल नहीं जो हुकूमतका बोझ उठा सके। और देशमें इतनी व्यवस्था भी कायम रख सके कि जितनी कांग्रेसी सरकारें रखे हुए हैं। कांग्रेसी सरकारोंकी इस तरहकी दोतरफी बातें एक जिम्मेदार पार्टीको शोभा नहीं देतीं। कांग्रेसी सरकारोंका तो यह कर्तव्य है कि वे जनतांत्रिक दलोंको शान्तिपूर्वक जनतांत्रिक ढंगसे अपने विचार और योजना जनताके सामने रखनेकी जनतांत्रिक सुविधा प्रदान करें और स्वयं जनताको इनके आक्षेपोंका उत्तर दें। कांग्रेसी सरकारोंका यह कर्तव्य है कि वे यह सिद्ध करें कि उनके शासनपर भ्रष्टाचार, पक्षपात, अकर्मण्यता और कुप्रबन्धका दोष लगाना गलत है। उनका यह भी कर्तव्य है कि वह जनताके सामने एक ऐसा कार्यक्रम रखे कि जिसके द्वारा उनके विचारमें देशका आर्थिक संकट दूर हो सकता है और जन-साधारण सुखसे अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है। अव्यवस्थाका भय दिखाकर जनताको बहुत दिनों तक चुप नहीं रखा जा सकता। इस तरह देशमें शान्ति और व्यवस्था भी कायम नहीं रखी जा सकती। भ्रष्टाचार, पक्षपात अकर्मण्यता और कुप्रबंध किसी संकटका मुकाबला नहीं कर सकते। आर्थिक संकटको दूर किये बिना देशमें शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती। जनताके कष्टोंको दूर कर और राष्ट्रका पुनर्निर्माण कर ही देशमें सुव्यवस्था और शान्तिको कायम रखा जा सकता है। चीनकी क्वोमितांग पार्टीने इस सिद्धान्तको भुला दिया था, जिसके कारण आज चीनका यह हाल है। अगर क्वोमितांग पार्टी अपने पुराने कारनामों और अपनी फौजी ताकतपर भरोसा करनेके बजाय ईमानदारीसे देशका प्रबन्ध करती, जनताके कष्टोंका निवारण करती, रचनात्मक तरीकोंसे नये चीनका मुनासिब निर्माण करती और देशमें जनतांत्रिक परम्परा स्थापित करनेकी कोशिश करती; तो आज क्वोमितांग पार्टी और चीनकी यह दशा कभी नहीं होती। हिन्दुस्तानको चीन जैसी दुर्व्यवस्थासे बचानेके लिए भी पुरानी सेवाओंकी दुहाई, अव्यवस्थाका भय और दमनचक्रके बजाय जनतांत्रिक परम्परा, रचनात्मक कार्यक्रम और ईमानदार हुकूमतकी जरूरत है। जनतांत्रिक समाजवादी कार्यक्रम ही देशमें जनतांत्रिक परम्परा और मर्यादा कायम कर सकता है, औद्योगिक जनतंत्रके आधार पर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता है, देशमें बेकारी और भुखमरीको दूर कर सकता है; उत्पादक जनतामें नयी उमंग और उत्साहका संचार कर सकता है और नवयुवकोंको नये समाजके निर्माणके लिए प्रोत्साहित कर सकता है। इसलिए जरूरी है कि सोशलिस्ट पार्टीका समर्थन किया जाय। जनतांत्रिक समाजवादी समाज और संसारको स्थापित करना इस पार्टीका ध्येय है। इसीके द्वारा नये जीवनका निर्माण हो सकता है और उत्पादक जनतामें नयी उमंग और उत्साहका संचार हो सकता है और वे सुख और शान्तिकी जिन्दगी बसर कर सकते हैं और अपने जीवनके विकासका पूरा पूरा अवसर प्राप्त कर सकते हैं।

—मुकुटबिहारी लाल

साहित्यकारों का संकट

भारतवर्षकी राजनीतिक स्वाधीनताकी घोषणाके दो साल पूरे होते न होते भारतीय साहित्यकारोंके सामने कुछ प्रश्न स्पष्ट होने लग गये हैं। वे प्रश्न कुछ इस प्रकार हैं—यदि जीवन-सत्यको सुन्दर करके रागात्मक रूपमें व्यक्त करना हमारा काम है, तो आजका जीवन सत्य–क्या है? और क्या दो वर्ष पूर्व हमारे देशके बड़े बड़े राष्ट्रीय नेता जिसे समाजका, देशका, और राष्ट्रका आदर्श मानते थे, आज उन आदर्शोंके मूल्यका परिवर्तन हो गया? दो साल पहले जो राष्ट्रनायक नागरिक स्वाधीनताको जिन्दगीकी एक बहुत बड़ी नियामत समझते थे, वही आज नागरिक स्वाधीनताकी हत्या करनेवाला विधान बना रहे हैं। तो क्या हम यह मान लें कि कि नागरिक स्वाधीनताका मानवीय सभ्यताके लिए कोई मूल्य नहीं है? एक ओर तो हम देखते हैं कि यूनाइटेड नेशन आर्गेनाइजेशनमें विश्व भरके राष्ट्र-प्रतिनिधि (जिसमें भारतके भी प्रतिनिधि हैं) एकत्र होकर मानवीय अधिकारोंकी रक्षाके लिए प्रयास कर रहे हैं, उसी समय दूसरी ओर 'नवीन राष्ट्र' भारतवर्षके अतुलनीय विधान विधायकगण व्यक्ति-स्वतंत्रताकी निर्लज्ज हत्या कर रहे हैं। और आज जो संस्था व्यक्ति-स्वतंत्रताकी आवाज लगाती है, उससे सहयोग करनेमें कांग्रेस नायकोंको शर्म आ रही है!!! और इसीलिए दुर्भाग्यवश ऐसे राष्ट्रनायकोंके असली स्वरूपको साहित्य में प्रकट करना देशद्रोह कहला रहा है, किन्तु उनके असली रूपको प्रकट न करना स्पष्ट ही सत्य-द्रोह अथवा जीवन-सत्यकी उपेक्षा है। इस स्थान पर साहित्यकार क्या करे?

यदि साहित्यकार गंभीरतासे विचार करे और महाभारतके इस नतीजेपर पहुँचे कि :—

> सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत।
> यद् भूतहितमत्यन्तम् एतत्सत्यं मतं मम॥
> (महा० शा० ३२९–१७)

और वह लोक-कल्याणको देखे तथा लोकके अधिकतम लोगोंके सुख और हित पर ध्यान रखे तो भी उसके सामने प्रश्न है कि वह भूमिहीन किसानोंका पक्ष ले अथवा उन लोग का जिनके हाथमें राष्ट्रकी सत्ता है तथा जो भूमिहीन किसानोंको जमीन नहीं देना चाहते—जमीनका नया बंटवारा नहीं करना चाहते? वह मिलोंमें पशुवत् जीवन बितानेवाले और अपने हितोंके लिए जुझारू संघर्ष करने वाले मजदूरोंका पक्ष ले, उनकी माँगों और हड़तालोंका समर्थन करे अथवा व्यक्तिगत लाभके लिए मिलोंको बन्द करनेवाले पूंजीपतियोंका और ऐसोंके ही हितोंका—"जहाँ तक दृष्टि जाय वहाँ तक"—समर्थन करनेवाली और कामनवेल्थकी दुममें बंधकर देशको महंगी के खड्डुमें गिरानेवाली सरकारका साथ दे? साहित्यकार अधिकतम लोगोंका हित देखे अथवा आजके 'राष्ट्र-नायकों"की पुरानी तपस्या? साहित्यकारके सामने आज एक भारत राष्ट्रमें दो राष्ट्र और एक भारतीय हितमें दो परस्पर विरोधी हित दिखायी पड़ने लग गये हैं। —एक धनिक अथवा शासक–शोषक वर्गका राष्ट्र और दूसरा मजदूर-किसान सर्वहारावर्गका राष्ट्र; एक धनिक अथवा शासक-शोषक वर्गका हित (जो मजदूरों और किसानोंके शोषण पर आधारित है) और दूसरा मजदूर-किसानोंको जिन्दा रहने, स्वस्थ रहने, शिक्षित और सभ्य रहने तथा परिवेशका हित। दोनोंका हित एक दूसरेका विरोधी है—पूंजीपतियोंका व्यक्तिगत लाभ या हित मजदूरोंके जीवन-मानके घटने पर ही निर्भर है और मजदूरों के मानवीय जीवनका अर्थ पूंजीपतियोंके व्यक्तिगत लाभका अन्त है। ऐसी हालतमें साहित्यकार किसका साथ दे? उसकी सहानुभूति किस पक्षमें जाय?—अल्पतम पूंजीपतियों और शासन-शोषक वर्गके पक्षमें अथवा अधिकतम सर्वहाराके पक्षमें?

साहित्यका बिरवा मुक्त आकाशके नीचे विकसित होता है। मुक्त वातावरण और स्वाधीन चिन्तनमें ही साहित्यका विकास होता है। पर आज शासक-शोषक वर्गके हितोंकी रक्षाके लिए विधानके अन्दर राष्ट्रपतिके हाथोंमें नागरिकोंके मौलिक अधिकारोंको स्थगित तक कर देनेकी शक्ति दे दी गयी है। अब यह सरकार चाहे जिसको बिना कारण बताये नजरबन्द रख सकती है। वह उसकी नजरबन्दीका सिर्फ कारण तीन महीनेपर बता देगी। पर नजरबन्द को अपनी सफाई देनेका मौका भी वह नहीं देगी। इसीलिए पं० ठाकुरदास भार्गवने विधान-परिषदमें ही कहा है कि "थोड़े ही दिनों पहले हम लोगोंने एक धारा पास की है, जिसमें कहा गया है कि कोई भी

सिविल सर्वेंट अगर किसी पदसे नीचे किया जाय, हटाया जाय अथवा बरखास्त किया जाय तो उसे अपनी सफाई देनेका मौका अवश्य दिया जायगा। पर क्या जिस नागरिककी स्वाधीनता छीनी जाती है उसे भी अपनी सफाई पेश करनेका मौका मिलनेका अधिकार नहीं है ?" इस सरकारकी ऐसी ही कार्य-नीति और कार्यपद्धतिको देखते हुए संयमशील राजनीतिज्ञ लोग भी इस सरकारमें 'टोटलिटेरियन' प्रवृत्ति मानने लग गये हैं। श्री महावीर त्यागी जैसे कांग्रेसी तकने विधान परिषदके अन्दर इस सरकार की इस नीतिको 'टोटलिटेरियन' प्रवृत्ति कहा हैं। और 'टोटलिटेरियन' शब्दकी परिभाषा १९३९में प्रकाशित "ए० बी० सी० ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स" के पृष्ठ २५६ पर यह दी गयी है—"यह एक दलीय अधिनायकतंत्री शासन-व्यवस्थाको सूचित करता है। यह राजके 'टोटलिटी' अर्थात् सर्वव्यापकत्व पर आधारित है और यह राजकी उस उदार धारणाके विरुद्ध है, जिसके अनुसार राजका जीवनके कुछ अंशोंपर ही अधिकार दिया जाता है और अन्य अंशों (और वे यथासंभव अधिकसे अधिक हों) को व्यक्तिके स्वतंत्र निर्णय पर छोड़ देता है। 'टोटल स्टेट' अर्थात् सर्वव्यापक राज अपने सरकारी प्रभावको सम्पूर्ण सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनपर फैलाता है तथा राजके प्रति पूर्ण आनुगत्यको जबरन प्राप्त करता है। नेशनल सोशलिस्ट जर्मनी और फासिस्ट इटली टोटलिटेरियन स्टेटके नमूने हैं।" प्रेसकी स्वाधीनता, भाषणकी स्वाधीनता और संगठनकी स्वाधीनतापर लगाये गये सरकारी प्रतिबंधोंको देखते हुए कौन कह सकता है कि भारतीय राज स्पष्ट ही टोटलिटेरियन राज नहीं है ? ऐसी हालतमें साहित्यकारके सामने यह भी प्रश्न है कि वह 'टोटलिटेरियन' पथसे फैसिज्मकी ओर बढ़ते हुए आजके राष्ट्र-नायकोंका विरोध करे अथवा उनके जनतंत्र विरोधी कार्योंका अपने मौनसे समर्थन करे ?—वह महान साहित्यकार रोमा रोलाँ और रवीन्द्रनाथकी परम्परामें चलकर जनतंत्रके लिए अपनी आवाज ऊँची करे, जनतंत्र विरोधी प्रवृत्तियोंका तीव्र कंठसे विरोध करे अथवा नोगूचीकी परम्परामें चलकर अपने देशका सर्वनाश करे ?

एक और आवश्यक बात है कि हम साहित्यिक इन प्रश्नोंको राजनीतिक समझकर इनसे दूर रहते हुए साहित्यकी साधना कर सकते हैं ? यदि जीवन-सत्यको प्रतिबिम्बित करना साहित्यका लक्ष्य हो तो हमें आज यह भी स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिए कि जीवन-सत्यके साथ वर्तमान जगतमें राजनीतिका अनिवार्य संपर्क है अथवा नहीं ? अगर हम बिलकुल अन्धे नहीं हो गये हैं तो हमको अपने जीवन पर राजनीतिकी स्पष्ट छाया दिखायी पड़ेगी। हमारा सारा सामाजिक और नैतिक जीवन राजनीतिक भँवर में पड़कर किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है, इसे आज गरीबसे गरीब और अनपढ़ भी समझ रहा है। केवल उच्च वर्गीय विलास-व्यसन मग्न शासक-शोषक गण और उनके आश्रित भृत्य बुद्धिजीवी लोग असलियतको छिपानेके लिए, मिथ्या पर आधारित शोषण-व्यवस्थाको कायम रखनेके लिए, निरपेक्षताके बहाने साहित्यको जीवन-सत्यसे भ्रष्ट करना चाहते हैं ; और शोषित जन-गणसे जीवन-सत्यको छिपाकर गरीबोंके बन्धनकी अवधिको बढ़ा रहे हैं। इसलिए:—

प्रश्न बहुत साफ है—आज साहित्यकार सत्यका पक्ष ले अथवा सरकारका ? आज साहित्यकार जनतंत्रका पक्ष ले अथवा सरकारका ? और आज साहित्यकार जनताका पक्ष ले अथवा सरकारका ? नैतिकताकी माला जपनेका युग अब चला गया। अब तो युगकी माँग है नैतिक चरित्रकी। और नैतिकताका सारतत्व है बहुजन समाजका सुख तथा हित। जिसमें यह सारतत्व नहीं है—जो बहुजन समाजके लिए अपनी बलि नहीं दे सकता; वह निश्चय ही अनैतिक है। जिस साहित्यकारके जीवनमें और उसकी रचनामें यह नैतिक सुर नहीं है, वह जीतेजी मरा हुआ है—ऐसे मुर्दा साहित्यकारोंसे हमारा कोई भी प्रश्न नहीं है। हमारा प्रश्न उन साहित्यकारोंसे है जिनके कानोंमें नवयुगका शंखनाद पहुँच चुका है ; हमारा प्रश्न उन साहित्यकारों से है, जिनके कानोंमें सोशलिज्मके लिए लड़ती हुई मानवताका [illegible] पहुँच चुका है। हमारा प्रश्न उन साहित्यकारोंसे है जो मुक्त मानवताके लिए जीते हैं और उसके लिए मर भी सकते हैं।

बैजनाथसिंह "विनोद"

ज न वा णी

आचार्य नरेन्द्र देव

रघुकुल तिलक　　गंगाशरण सिंह

मुकुटबिहारीलाल　　राजाराम शास्त्री

बैजनाथ सिंह "विनोद"

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८)　　'जनवाणी'　　एक प्रति का ॥।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

वर्ष ३ भाग ६]　　अक्टूबर १९४९　　[अङ्क १० पूर्णाङ्क ३४

हमारी राह में अंगार हैं अब भी

छोटेलाल भारद्वाज

(१)

कि माना, रह गया पीछे
विकट तूफ़ान का गर्जन,
कि माना, रह गये पीछे
भयंकर शैल, भीषण वन;
मगर आकाशसे उठते
नये तूफ़ान को देखो,
मनुजके मनुज बननेके
नये अरमान को देखो,
जिसे आजाद कहते तुम
जिसे आबाद कहते तुम
खँडहरोंमें पड़े लाचार
हिन्दुस्तान को देखो,
जहाँ पर भूख औ दासत्व
का अधिकार है अब भी
नयनमें जहाँ खूनी
आँसुओं की धार है अब भी;
क्षणिक विश्राम को मंजिल
समझ कर ठहरने वालों,
रुकें इसपार कैसे हम ?
हमारी मंजिलें उस पार हैं अब भी।
हमारी राहमें अंगार हैं अब भी।

(२)

गगन की फूंकसे केवल
धरा पर धूलि उड़ती है,
कि भूखी आंख तो हर
शब्द को बस 'अन्न' पढ़ती है,
जरा उतरो कि थोथे स्वप्न
के आकाशको छोड़ो,

कहो इस दलित धरतीसे
'उठो, इतिहास को मोड़ो।'
दिया जो आज तक वह
खून था, पानी नहीं माली;
तुम्हीं बोलो गयी आखिर कहाँ
उस खून की लाली ?
कि पीले पात ही हर डाल
पर अब भी लटकते हैं,
हवाएँ चल रहीं सन सन
भ्रमर सूने भटकते हैं,
भले इन सर्द आहों को
मलय की वायु तुम कह लो
कहें मधुमास हम कैसे ?
हमारी डालपर पतझार हैं अब भी।
हमारी राहमें अंगार हैं अब भी।

(३)

रखो विश्वास हम संसार
का नेतृत्व कर लेंगे,
रखो विश्वास मानव-मात्र
का विषमत्व हर लेंगे,
न भूलो पर अभी तो
देश ही निष्प्राण, भूखा है,
नहीं भूलो कि जन जन
के हृदय का गान सूखा है,
तुम्हारी शान पर लानत
तुम्हारी आन पर लानत
कि हिन्दुस्तान का यदि एक
भी इन्सान भूखा है !
उधर देखो हिमालय का
अभी तक सिर न उठ पाया,
विषमता का घना कुहरा
कि ज्यों का त्यों अभी छाया,
कसा हर कौर रोटी का
गुलामी के शिकंजे में,
करोड़ों गर्दनें जकड़ी
कि धनके लौह पंजे में;
किसे आजाद कहते तुम,
किसे आबाद कहते तुम,
जरा पलकें उठा देखो
कि हिन्दुस्तान कारागार है अब भी !
हमारी राहमें अंगार हैं अब भी।

नया सांस्कृतिक आन्दोलन

प्रो० मुकुटबिहारी लाल

स्वतन्त्रता में सामाजिक अधिकार और कर्तव्य दोनों का समावेश होता है। इससे हम अपने भाग्य-विधाता बन जाते हैं, किन्तु इसके साथ ही उसका समुचित तरीके से निर्माण करने का दायित्व भी हमारे ऊपर आ जाता है। दासता की अवस्था में मनुष्य भाग्यवादी, अनुकरणशील और यन्त्रवत् हो जाता है; वर्तमान निराशामय और भविष्य अन्धकारमय होने के कारण वह अतीताश्रयी होता है। किन्तु एक स्वतन्त्र मनुष्य गतिशील होता है, उसके अन्दर सर्जन और रचनाकी शक्ति होती है और एक अधिक उत्तम तथा सुखी समाज का निर्माण करने के लिए दृढ़ निश्चय होता है। इसके लिए सर्वतोमुखी कार्यक्रम और विकास की आवश्यकता होती है। जैसा कि जस्टिस रानाडेने कहा है, "यद्यपि राजनीतिक अधिकारों के अनुसार ही समाज-व्यवस्था भी होती है, किन्तु उनका पूर्ण उपयोग करने के लिए बुद्धि और न्याय पर आधृत समाज का होना नितान्त आवश्यक है और इसी पर उत्तम अर्थ-व्यवस्था भी निर्भर करती है।" इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता मात्रसे देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसके लिए हमें अपनी अन्तरात्मा को बाहरी दबावोंसे और बुद्धि को आप्तवचन, परम्परा-पूजा, निराशावाद, पक्षपात और उन तमाम अन्धविश्वासों से जो इतने दिनों तक हमारे ऊपर हावी रहे हैं, मुक्त करना होगा और स्वार्थसाधक और संकीर्ण मनोवृत्तियों का परित्याग करना पड़ेगा। एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होगा जो शोषण और एकाधिपत्य से मुक्त हो तथा ऐसा समाज बनाना होगा जो जातीयता, साम्प्रदायिकता तथा सब प्रकार से ऊँच-नीच के भेद-भाव से रहित हो। इस आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का आधार लोकतन्त्र और सहकारिता होगी। हमारा हृदय सर्वथा न्याय-भावसे, और हमारे विचार तथा कार्य मानवता के प्रति अगाध प्रेम से अनप्राणित होंगे; हमें अपना दृष्टिकोण व्यापक बनाना होगा औ अपने उद्यमसेही ऐसी शक्ति प्राप्त करनी होगी जिस मार्गमें आने वाले समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त क जा सके।

यह अत्यन्त खेदकी बात है कि इस स्वतंत्रता अभी तक हमारे अन्दर युग-चेतना उत्पन्न नहीं हो सकी है और हम अब भी जातीयता, सांप्रदायिकता और परम्पराके बन्धनमें पड़े हुए हैं। वास्तव आज साम्प्रदायिकता ही हमारी राष्ट्रीयता बन गयी है और राष्ट्रकी आत्मा और उसकी संस्कृतिके प्रति श्रद्धाका अर्थ परम्परा-पूजन है। बहुतसे लोग यह भूल जाते हैं कि जातीयता और साम्प्रदायिकता हिन्दुस्तानके लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। उनसे हमा जीवन और व्यक्तित्वका विकास अवरुद्ध हो गया है हमारी दृष्टि अत्यन्त संकुचित हो गयी है, हमारे अन्द संकीर्णता, पृथक्कत्व और कटुताकी वृद्धि हुई है तथा हमारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विषाक्त हो गया है। उनसे न केवल हमारी शक्तिका दुरुपयोग हुआ है, बल्कि अन्तर्विरोधों और फैसिस्ट मनोवृत्तियोंको प्रश्रय मिला है। अगर हमारे अन्दर लोकतान्त्रिक भावनाएं और मानवीय दृष्टिकोण प्रबल नहीं हुए तो हिन्दुस्तानका विनाश अवश्यम्भावी है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि परम्परा-पूजाके फल-स्वरूप हमारी प्रगति रुक जायगी। जीव प्रकृत्या विकासोन्मुख है। जस्टिस रानाडेके शब्दोंमें, "चाहे व्यक्ति हो अथवा समाज, विकासकी किसी भी अवस्था में उसकी जड़तासे क्रमशः ह्रास या पतन निश्चित है।" वर्तमान एक जीवित सत्य है, कोई भी व्यक्ति बिल्कुल अतीताश्रयी नहीं हो सकता। इस परिवर्तनशील जगत में कोई राष्ट्र स्थिर नहीं रह सकता। हम अतीतसे प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं, विचारों और जीवन-विधिको उस विरासतके स्वस्थ और जीवनदायक तत्वोंके साथ सम्ब-

न्वित कर अपना नैरन्तर्य कायम रख सकते हैं, किन्तु हमें समयानुसार कदम बढ़ाना होगा, हमारा जीवन-क्रम युगकी आवश्यकताओंके अनुकूल होगा । यह सत्य है कि हमारी संस्कृतिकी जड़ इसी धरतीमें होगी, किन्तु इसके साथ ही वह समस्त मानव-जातिके संचित ज्ञान और अनुभवोंके व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित होगी ।

हम लोगोंने हिन्दुस्तानमें असाम्प्रदायिक लोकतन्त्र की स्थापना करनेका निश्चय किया है, अतएव हमारा यह कर्तव्य है कि हम उसके अनुकूल जीवनचर्या बनायें । असाम्प्रदायिक लोकतन्त्रके अन्तर्गत हमारे जीवन के मूलाधार होंगे स्वतन्त्रता, आर्थिक न्याय और सामाजिक समानता । इनकी जड़ होगी मनुष्यता और भाईचारा, और वे विश्वबांधुत्व पर आधृत होंगी जो कि हमारी संस्कृतिकी आधारशिला है ।

इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए यह आवश्यक है कि लोकतन्त्रके सभी समर्थक एक सांस्कृतिक आन्दोलन करें । किन्तु ठोस तरीकेसे सफलता प्राप्त करनेके लिए उसे दलगत राजनीतिसे मुक्त रखना होगा; किसी प्रकारके राजनीतिक प्रदर्शनसे बचना होगा; अपने अन्दर उन सभी लोगोंको शामिल करना होगा जो लोकतन्त्र त । शान्तिमय लोकतन्त्रात्मक तरीकोंको मानते हैं, और सांस्कृतिक तरीकेसे ही लोकतन्त्रात्मक आदर्शों और जीवन-विधिको विकसित करना चाहते हैं ।

इस आन्दोलनका उद्देश्य होगा:--(१) स्वतन्त्रता, मानवता, आर्थिक न्याय और सामाजिक समानताके आधार पर भारतीय संस्कृति और जीवनके मूल्योंका सर्जनात्मक समन्वय तैयार करना; (२) मानवीय सहानुभूति तथा अन्य भावोंको व्यापक रूपसे सुसंस्कृत कर तथा संकीर्णता, प्रभुत्व और शोषणकी मनोवृत्तिका उन्मूलन कर व्यक्तित्वको भली-भाँति विकसित करना; (३) भारतीय समाजके विभिन्न समुदायोंमें सांस्कृतिक एकता और भाईचारेका भाव उत्पन्न करना; (४) जनताकी सांस्कृतिक प्रगति और उसमें लोकतान्त्रिक जीवनचर्याका विकास; (५) ललित कलाके माध्यमसे सौन्दर्यानुभूतिका परिष्कार; (६) विश्वकी विभिन्न संस्कृतियोंका अध्ययन कर तथा उन्हें समझकर अन्तरराष्ट्रीय भ्रातृत्वको बढ़ाना ।

इस प्रकारका सांस्कृतिक आन्दोलन कदापि एक जनान्दोलन नहीं हो सकता । इसके नेता और संघटनकर्ता होंगे कलाकार तथा बुद्धिजीवी, किन्तु इसमें जीवन और उत्साह होना चाहिए और वह जनताको अपनी ओर आकृष्ट करे । हिन्दुस्तानके सांस्कृतिक आन्दोलनमें जीवन होना चाहिए और यहाँके छात्र आसानीसे उसे यह शक्ति प्रदान कर सकते हैं । अगर वे ईमानदारीसे इस काममें लग जायं तो फिर यह आन्दोलन केवल कलाकारों और साहित्यकारोंके अध्ययन-कक्ष तक ही सीमित नहीं रह सकता । तब वह देशव्यापी होगा और अपने आदर्शोंको जनजीवनमें प्रतिष्ठित कर सकेगा । छात्रोंके लिए यह आन्दोलन सबसे महत्वपूर्ण है । आधुनिक युगके अनुकूल एक नवीन लोकतान्त्रिक संस्कृतिके निर्माणमें योगदान उनके लिए गौरवकी बात है । हो सकता है कि पुराने विचारोंके लोग इस नये मार्गके प्रति उदासीन हों अथवा उसका विरोध करें । पुराने समाजमें जन्म लेने तथा उसमें ही पालित-पोषित होनेके कारण प्रौढ़ावस्थामें नयी जीवनचर्या अपनाना उनके लिए कठिन होता है और नवीन आदर्शोंके प्रति उनमें कोई उत्साह नहीं होगा । किन्तु नवयुवक युगकी पुकारको अनसुनी नहीं कर सकते । उन्हें अपने पूर्वजोंकी सफलता पर गर्व होना चाहिए, अपनी उत्तम विरासतसे प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए और उसके स्वस्थ और प्रगतिशील तत्वोंकी रक्षा करनी चाहिए, किन्तु उनके अन्दर जड़ता या शिथिलता कदापि नहीं आनी चाहिए। अगर वे ऐसा करेंगे तो भावी पीढ़ी उन्हें क्षमा नहीं करेगी । नवयुवकोंको विश्वके संचित ज्ञान और अनुभवोंसे लाभ उठाना है, किन्तु इसके साथ ही आवश्यक और अनावश्यक, प्रगतिशील और प्रतिगामीका भेद भी करना है और मानव-समाजकी विभिन्न संस्कृतियों और अनुभवोंके आधारभूत तथा प्रगतिशील तत्वोंमें समन्वय स्थापित कर नये विचारों और तरीकों को अपनाना होगा । अगर मानव-समाजको प्रगति करनी है तो इसके लिए युवकोंको गतिशील, सर्जनशील और रचनात्मक अवश्य बनना पड़ेगा । आशा है कि हिन्दु-

स्तानके नवयुवक इस युगकी पुकार पर ध्यान देंगे और ऐसे सांस्कृतिक आदर्शोंको विकसित एवं प्रतिष्ठित करेंगे जिनसे अपनी इच्छाके अनुकूल नये हिन्दुस्तानका निर्माण करनेका उनका एतिहासिक ध्येय पूरा हो सके ।

हम यह भी आशा करते हैं कि प्रगतिशील, लोकतान्त्रिक विचारों के कलाकार और बुद्धिजीवी इस नवीन सांस्कृतिक आन्दोलनको आगे बढ़ानेका काम अपने हाथमें लेंगे और देश के नवयुवकों की शक्ति को संस्कृति-निर्माण के काम में लगायेंगे । मुझे विश्वास है कि इस प्रकार वे आसानी से एक ऐसा समन्वय तैयार कर सकते हैं जिसमें हमारी संस्कृति के न केवल आधारभूत तत्व, बल्कि अनेक रीति-रिवाज भी सुरक्षित रह जायेंगे । इससे हमारी संस्कृति का आधार सुदृढ़ होगा । किन्तु कलाकारों और साहित्यकारों को मुट्ठी भर सुविधाप्राप्त लोगों की अपेक्षा जनसाधारण को अधिक महत्व देना पड़ेगा ौर उनके कला तथा साहित्य में जनसाधारण के ही दुःख-सुख और आकांक्षाओं का चित्रण और व्याख्या होनी चाहिए । तभी वह जन- संस्कृति होगी और उसपर चन्द लोगों का एकाधिकार नहीं रह सकेगा ।

भारतीय संस्कृतिके उपासक इस प्रस्तावित आन्दोलन से भयभीत हो सकते हैं; परम्परा-पूजक जो हमेशा तनिक अतिक्रमण पर भी चिल्लाने लगते हैं, इससे दुखी हो सकते हैं । किन्तु जो लोग यह मानते हैं कि इस परिवर्तनशील विश्व में कोई समाज स्थिर नहीं रह सकता, वे इस प्रस्तावका स्वागत करेंगे । निस्संदेह कई भारतीय विचारक पृथकता को पसन्द करते थे और हमारी संस्कृतिमें विशुद्धता, पृथक्कत्व और परम्परा पर अधिक जोर देते थे, किन्तु हमारी संस्कृतिके अनेक नेताओं का दृष्टिकोण निश्चित रूपसे विश्वव्यापी था । वे मानव-जातिकी एकता और मानव-जीवन की श्रेष्ठतामें विश्वास रखते थे, प्रकृति और मानवतासे प्रेम करते थे, मानवीय भावों और नैतिक मूल्योंके संस्कारपर अधिक जोर देते थे और व्यक्तित्वके इस विकासको मुक्ति के लिए आवश्यक मानते थे । वे न तो विचारों और अनुभवोंके आदान-प्रदान से भागते थे, न विभिन्न सांस्कृतिक प्रवृत्तियोंके समन्वयके विरोधी थे । ऐसे ही महापुरुषोंने हमारी संस्कृति का निर्माण किया, हमें मनुष्य बनाया, देश-देशान्तर में हमारा सन्देश पहुँचाया, और मातृभूमि का गौरव बढ़ाया । अपनी उस प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए हमें उन परम्पराओं की रक्षा करनी होगी और विश्वबंधुत्व का भाव उत्पन्न करना पड़ेगा जिससे वे अनुप्राणित होते थे और जो संस्कृतिकी आधारशिला थी । अतएव हिन्दुस्तान और इसकी गरिमाके पुजारियों को इस नये आन्दोलन का स्वागत करना चाहिए जिसका उद्देश्य उपर्युक्त आदर्शों का विकास करना है ।

गया; १९४७ में यह १२.२ प्रतिशत तक पहुँच गया और अभी बढ़ता ही जा रहा है। इस मुनाफेकी मात्रा १९४८ के प्रथम त्रयमासमें २४·७ अरब डालर थी जो तृतीय त्रयमासमें ३५·६ अरब डालर हो गयी। १९२९ में मन्दीसे पहले सर्वाधिक औद्योगिक तेजीके वर्षमें, कारपोरेशनोंको जितना मुनाफा हुआ था, अब उसका दुगुना हुआ है।

ऐसी स्थितिमें यह आश्चर्य नहीं कि जनताका ऋण-बोझ बढ़ गया है। फेडरल रिजर्व बोर्डके अनुसार द्वितीय महायुद्धके बादके तीन वर्षोंमें अमरीकाकी जनता जितना ऋणी हो गयी है उतना इतिहासमें कभी नहीं हुई थी।" बोर्डका अनुमान है कि अमरीकाके करोड़ परिवारोंने घरेलू आवश्यकताओं तथा उपभोगकी वस्तुओंकी पूर्तिके लिए ५० अरब डालर ऋण लिया है। १९४८ के अन्तमें कुल निजी ऋण १९० अरब डालर हो गया था।

एकाधिकारी दवा

ऐसी परिस्थितिमें इतने अधिक मालके लिए अमरीकामें बाजार मिलना असम्भव है। इसलिए अमरीकी पूँजीपति यूरोपके अपने पूर्वजोंकी तरह जो इनके मुकाबिले में नाचीज हैं, विदेशोंमें माल बेंचने, पूँजी लगाने और खूब मुनाफा कमानेके लिए क्षेत्र ढूढ़ते हैं। जिन चीजोंसे अमरीकी जनताका जीवन-निर्वाह दूभर हो गया है, उन्हींको लेकर वे बाहर निकलते हैं। जब अमरीकामें मालकी खपत नहीं हो रही है तो विदेशमें बेंचना ही होगा और मुनाफेके साथ। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि जब देशमें पूँजी लगानेके लिए गुंजाइश नहीं है तो उसे बाहर लगाना ही पड़ेगा और ऐसी दर पर जिससे उत्पादन और बिक्रीकी कमी पूरी हो सके।

जितना ही एकाधिकार बढ़ेगा, उतना ही इसका परोपजीवन और उतना ही अधिक मुनाफा होना चाहिए जो केवल पिछड़े, अविकसित देशोंमें ही बटोरा जा सकता है। और अमरीकी महा-एकाधिकारी तभी सन्तुष्ट होंगे जब सारा विश्व उनकी स्वदेशी पूँजीके लिए उपनिवेश बन जायगा।

Ancient Aryan culture = Indian culture

बुद्धकालमें तापस जीवन

सुमन वात्स्यायन

"आर्योंका धर्म-कर्म आरम्भमें बहुत सरल और सीधा था। उनके सभी देवता श्रोता और उपासकको वर देने वाले, असीस देने वाले, स्तुति, प्रार्थना और आहुतिसे तृप्त और प्रसन्न होने वाले थे।"[१] सही मानेमें प्राचीन भारतका धर्म एक उलझनरहित प्राकृतिक धर्म था। लोग देवताओंके कोपसे बचनेके लिए यज्ञ करते और बलि चढ़ाते थ। लेकिन जिस सामर्थ-वानके कोपसे बचनेकी जरूरत थी वह प्रसन्न होने पर कुछ भी दे सकता था। इस तरह कालान्तरमें यज्ञ और बलिकर्म देवताओंसे मोल-भावके साधन हो गये—देहि मे ददामिते।

यज्ञ और बलिकर्म जब मनुष्य और देवताओंके बीच लेनदेनका साधन हो गया तब यह भावना उत्पन्न होना कि इन्हीं साधनों द्वारा देवताओंको मनुष्यकी इच्छा-पूर्तिके लिए विवश भी किया जा सकता है—बिलकुल स्वाभाविक था। प्रोफेसर सिलवन लेवीके मतानुसार इस प्रथामें कोई नैतिकता नहीं है। बलि, जो मनुष्य और देवताके सम्बन्धको नियमित करता है, एक मैकेनिकल काम है। यह स्वेच्छानुसार काम करता है और पुरोहितोंकी जादूगरीको सामने लाता है।

धीरे-धीरे यज्ञ और बलिकर्म भारतीय समाजमें बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त कर लेता है। आज बीसवीं सदीमें भी वर्षा न होने पर हम इन्द्रको यज्ञ द्वारा ही वर्षाके लिए विवश करते हैं। इस तरह यज्ञ और बलि-कर्म कराने वाले पुरोहित भारतीय समाज पर हावी हो जाते हैं। फिर तो—

देवाधीनम् जगत् सर्वम् मंत्राधीनम् तु देवतम्।
तन्मन्त्र ब्राह्मणाधीन ब्राह्मणा मम देवता।।

हो जाता है। अर्थात् सारा विश्व देवताओंके अधीन है और देवता (बलि) मंत्रके वशमें हैं। लेकिन वे मंत्र ब्राह्मणोंके अधीन हैं। इसलिए ब्राह्मण हमारे देवता हैं।

बलिकर्मकी महत्ता इतनी ज्यादा बढ़ गयी कि मनुष्य तक को बलि दी जाने लगी। नरबलि सबमें श्रेष्ठ मानी गयी। ऋग्वेद-कालके बहुत बाद तक नर-बलि आम बात थी और अब भी अखबारोंमें चोरी-छिपे की गयी नरबलिकी खबर छपती ही रहती है। पर था यह बहुत ही मंहगा सौदा। साधारणतया बलिके लिए एक मनुष्य खरीदनेमें एक हजार पशु तक देने पड़ते थे। श्रद्धा और विश्वासकी अधिकता तथा आर्थिक विवशताके कारण नरबलिकी अपेक्षा आत्म-बलि देना श्रेष्ठ माना जाने लगा। कठोरतम तपस्या, कायक्लेश और आत्मबलि द्वारा देवताओंको विवश करके मनचाही शक्ति प्राप्त करनेकी कथाओंसे पुराण तथा अन्य प्राचीन साहित्य भरे पड़े हैं। आत्मबलि और कठिन तपस्या द्वारा ही रावण अभेद्य हो सका। नहुष तीनों लोकका राज्य पा सका और क्षत्रिय कुलमें पैदा होकर भी विश्वामित्र ब्रह्मर्षिका उच्च पद प्राप्त कर सके। ब्राह्मणका श्रेष्ठ पद प्राप्त करने के लिए चांडाल मातंगने इतनी कठिन तपस्या की कि इन्द्रका आसन गर्म हो गया।

जैन और बौद्धधर्म के उत्थान-कालमें तपस्या का प्रभाव अपनी चरम सीमापर पहुँच चुका था। तप धार्मिकताका चिन्ह माना जाने लगा। प्रो. जैकोबीने लिखा है, "जैन लोग अपने ब्राह्मण प्रतिद्वन्द्वीसे कठिन तप करनेमें गौरव अनुभव करते थे।" भगवान महावीर "महीना, आध महीना पानी तक नहीं पीते।....अपनी साधनामें वे इतने निमग्न रहते थे कि उन्होंने कभी अपनी आंख तक नहीं मसली और न शरीर तकको खुजलाया। उस कड़कती सर्दीमें वस्त्रसे शरीरको न ढँकने का उनका संकल्प दृढ़ था।"[१] जैन साधुओंके

१ "भारतीय इतिहासकी रूपरेखा" ले० जयचन्द्र विद्यालंकार

१, आचारांग सूत्र

आदर्श जीवनके लिए आचारांग सूत्र बताता है—"जल जीव ही है; इस कारण उसका उपयोग हिंसा है। बिना वस्त्रके सर्दी–गर्मी आदि अनेक दुख सहने वाला वह भिक्षु उपाधिसे मुक्त हो जाता है और उसका तप बढ़ता है।"

यह एक आश्चर्य की बात है कि जो जैन धर्म छोटे से छोटे जीवकी रक्षापर इतना जोर दिया है वही आत्महत्या की प्रशंसा करता है। आचारांग सूत्रके अनुसार "यदि भिक्षुको ऐसा जान पड़े कि मैं संयम-पालन के लिए इस शरीर को धारण करनेमें असमर्थ हूँ तो वह आहार कम करता रहे, घास लेकर एकांत में जहाँ जीवजन्तु, पानी, गीली मिट्टी, काई, जाले न हों ऐसी जगह पर बिछावे और उसपर बैठकर 'त्वरित-मरण' स्वीकार करे। उसी सूत्र के अनुसार कायक्लेश द्वारा आत्महत्याकी तीन विधियाँ हैं और यह (इस तरह की मृत्यु) अनेक मुक्तों द्वारा अपनायी जा चुकी है।

सिद्धार्थ गौतमने भी वुद्ध होनेके पूर्व इस तरहके कठोर तापस जीवन को बिताया था। उस समयकी प्रथाके अनुसार उन्होंने भी अपना घर- परिवार छोड़-कर जंगल का रास्ता लिया था। आलारकालाम और उद्दकरामपुत्र जैसे प्रसिद्ध तपस्वियोंके पास रहकर योगाभ्यास किया। उन्होंने भी बलि दे, भूखा और नंगा रह तपके नाम पर अनेक यंत्रणाएँ सह अपने को परि-शुद्ध करनेका प्रयत्न किया था। वुद्धने स्वयम् अपनी कठोर तपस्या का वर्णन किया है—"सारिपुत्र! मैं नग्न रहता था, हाथमें ही खाता था, बुलाकर दी गयी भिक्षा का त्यागी था,...साप्ताहिक आहार करता था,... अर्द्ध-मासिक भोजन करता था, घास, गोबर खाता था। श्मशानमें पड़े हुए कपड़े पहनता था, छाल पहनता था, केश, दाढ़ी नोचनेवाला था, उकड़ू बैठता था, काँटेदार खाटपर सोता था, शाम को सर्दीमें जलशयन करता था—ऐसे अनेक प्रकारसे कायाके आतापन-संतापनके व्यापारमें लग्न हो विहरता था। पपड़ी पड़े अनेक वर्षके मैलको शरीरमें संचित किये रहता था। सारिपुत्र! यह मेरी तपश्चर्या थी।"[1]

वुद्ध ने अपने पूर्व उपवास-व्रतका वर्णन करते हुए कहा है, "मेरा शरीर अत्यन्त दुबला हो गया, अस्सी वर्ष के बूढ़े जैसा मैं लगता था, ऊँटके पाँव जैस कुल्हे और रस्सी की ऐंठन जैसी पीठ हो गयी। जब मैं पेट के चमड़े को पकड़ता तो पीठ के काँटे को ही पकड़ लेता था।"[2] लेकिन सिद्धार्थ बुद्ध-मार्ग का पथिक था। उसकी बुद्धि जड़ नहीं थी। उसे अनुभव हुआ, "यह दुष्कर तपस्या वुद्धत्व प्राप्ति का मार्ग नहीं है।"[3] "इस आचार से, इस कठिन तप से दिव्य शक्ति या उत्तम ज्ञान को नहीं पा सका।"[4]

सिद्धार्थ गौतम ने बुद्ध होने पर तापस जीवन की घोर निन्दा की। एक बार नग्न काश्यप के यह पूछने पर कि श्रमणों और ब्राह्मणों की ये तपस्याएँ उनके श्रमणपन और ब्राह्मणपन की द्योतक हैं या नहीं, बुद्ध ने उत्तर दिया, "काश्यप ! जो नंगा रहता है.... (शरीर को अनेक प्रकार से तपाता है) वह शील-सम्पत्ति, चित्तसम्पत्ति और प्रज्ञासम्पत्ति की भावना नहीं कर पाता और वह श्रमणपन तथा ब्राह्मणपन से बिल्कुल दूर है।"

बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र) में कहा, "द्वे मे भिक्खवे अंता पब्बजितेनन सेवितब्बा-योचायं कायेसु कामसुखल्लिकानुयोगो, हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ संहितो यो चायं अत्थकिल मयानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो।" अर्थात् भिक्षुओ ! दो अतियाँ हैं जिन्हें तुम्हें नहीं सेवन करना चाहिए। उनमें एक तो काम-सुख—काम वास-नाओं में लिप्त रहना और दूसरा आत्मपीड़ा में लगना। दोनों ही हीन कर्म हैं, देहाती हैं, निम्न कोटि के हैं, अनार्यसेवित और अनर्थयुक्त हैं। इसलिए भगवान बुद्धने दोनोंके बीचका रास्ता—मज्झिम पटि-पदा ग्रहण किया।

एक बार देवदत्तने, जो तापस जीवन से काफी प्रभावित था, आग्रह किया कि बुद्ध अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए निम्न पाँच बातें स्वीकार कर लें—(१) सभी भिक्षु जीवन भर वन में रहें (२) घर में न रह वृक्षों के नीचे रहें, (३) दुरुस्त कपड़ा न पहन फटा

१. महासीहनाद सुत्र।

२. वही। ३. जातक। ४. महासीहनाद सुत्र।

चियड़ा पहने, (४) भिक्षा में प्राप्त अन्न ही खायें और (५) मांस-मछरी न खा शाकाहारी रहें। कहते हैं, बुद्ध ने ये बातें स्वीकार नहीं की और इसके कारण भिक्षुसंघ में फूट पड़ गयी। इस तरह हम देखते हैं कि बुद्ध तापस जीवन की कठोरता के सख्त विरोधी थे।

तपमय जीवन व्यतीत करना इतना श्रेष्ठ माना जाता था कि लोग जवानी में 'अत्यन्त काले केशोंवाला सुन्दर यौवन से युक्त, जवानी में प्रवेश करते समय ही अनिच्छुक माता-पिता को अश्रुमुख रोते छोड़ दाढ़ी-मूँछ मुड़ा प्रव्रजित' हो जाते थे। इनका जीवन अत्य-न्त कठोर होता था। जाड़ेमें तालाब या नदीमें मचान बनाकर नंगे शरीर रह रात उसी पर गुजारते थे। भयंकर तपती हुई लू में पंचाग्नि तापते थे। विस्तर की जगह काँटे बिछाकर सोते थे। आज भी कुंभ के के समय प्रयाग और हरिद्वार में ऐसे अमानुषिक जीवन व्यतीत करने वालों की कमी नहीं।

तापसों के जमात-प्रमुख (गणाचार्य) के नाम पर ही उनके दल का नाम होता था। इनकी रहन-सहन का कोई निश्चित नियम नहीं था। काय-क्लेश सहने में इनका एक दूसरे से होड़ रहता था। जनता भी अधिक तकलीफ सहन करने वालों का अधिक आदर-सत्कार करती थी। कोई निश्चित नियम न होने के कारण जिसके मनमें जैसा आता था वैसा करता था। यह तापस इक्के-दुक्के भी रहते थे और झुण्ड बनाकर भी। कभी कभी किसी किसी जमात में १००० तक भी तपस्वी होते थे। कितने सिर-दाढ़ी मुड़ाने वाले भी थे और कितने ही खूब लम्बी जटा रखते थे जिसमें सलाई डालकर जूड़ा बांधते थे। कोई कोई 'मुर्दों की हड्डियों को सिरहाना बनाकर श्मशान में सोते थे। चरवाहे पास आकर बदन पर थूकते थे, पेशाब भी करते थे, धूल भी फेंकते थे, कान के छेदों में सींक भी करते थे।' वे तपस्वी ऐसे थे कि इतना होने पर भी 'अपने मन में उनके प्रति बरा भाव उत्पन्न नहीं होने देते थे।'

वर्ण-भेद की दृष्टि से उन तपस्वियों में ब्राह्मण-क्षत्रियों की संख्या ही अधिक होती थी। वैसे औरों के लिए भी कोई रुकावट नहीं थी, पर जनता उच्च जाति के तपस्वियों का ही आदर करती थी। किसी वर्ण विशेष का एकाधिकार न रहने पर भी चांडाल, भंगी आदि नीच समझी जाने वाली जाति के लोग तप-स्वियों में स्थान नहीं पाते थे। आर्थिक दृष्टि से राजा से लेकर साधारण गृहस्थ भी 'कठोर तपमय जीवनसे आत्मशुद्धि की भावना' से प्रभावित थे। सभी श्रेणी के लोग इसमें शामिल होते थे। कभी कभी राजा या धनी गृहस्थ इन तपस्वियों की करामातों से इतने आकर्षित हो जाते थे कि वे अपने राजपाट, धन-दौलत सब लुटाकर इनके चेले हो जाते थे।

भगवान् वुद्ध के समय तक न तो ईश्वर आजके इतना शक्तिशाली था और न भक्ति मार्ग का ही आवि-ष्कार हुआ था। उनका विश्वास था कि शरीर, वचन और मन की शुद्धि से ही निर्वाण प्राप्त होता है। इसलिए इन तीनों का संयम तापस जीवन का मुख्य लक्ष्य था। इसके अतिरिक्त एक और आकर्षण था जिसकी शुरुआत वैदिक काल में ही हुई थी और वह थी ऋद्धियों की प्राप्ति। रूपान्तर से इसमें हम मरण, मोहन, उच्चाटन आदि सब शामिल कर सकते हैं। "ओं वौषट, श्रौषट आदि शब्द ऐसे ही हैं जिनका प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता है[1]।"

भगवान् बुद्धके समयमें ऋद्धियोंका बड़ा महत्व था। तापस जीवनके मूलमें ऋद्धियोंकी प्राप्ति सबसे प्रमुख थी। ऋद्धियोंको प्राप्त करने वाला "एक होकर बहुत होता है, और बहुत होकर एक होता है, प्रकट होता है, अन्तर्धान होता है, दीवारके आर-पार, प्राकारके आर-पार और पर्वतके आर-पार बिना टकराये चला जाता है। पृथ्वीमें जलमें जैसा गोता लगाता है, जलके तल पर भी पृथ्वीके तल पर जैसा चलता है। आकाशमें भी पलथी मारे हुए उड़ता है, महा तेजस्वी सूर्य और चन्द्रमाको भी हाथसे छूता और मलता है; ब्रह्मलोक तक अपने वशमें किये रहता है।[2] लेकिन बुद्धके प्रमुख शिष्य सारिपुत्रने बुद्धको सम्बोधन करते हुए उपर्युक्त प्रकारकी ऋद्धि-योंको "आशव-युक्त और उपाधियुक्त"[3] कह निंदा की है। नालन्दाके एक गृहस्थने एक बार बुद्धसे ऋद्धि

१. राहुल सांकृत्यायन २—सामञ्जफल-सुत ३. सम्पसादनियसुत

प्रदर्शन करानेका आग्रह किया। बुद्धने कहा, "नहीं ! मैं भिक्षुओंसे ऐसा नहीं कह सकता कि तुम लोग उजले कपड़े पहिनने वाले गृहस्थोंको अपनी ऋद्धि दिखलाओ।" [१] तप द्वारा ऋद्धि-बलकी प्राप्ति पर आज अधिकांश भारतीय जनता विश्वास करती है, तो फिर पुराने जमानेकी तो बात ही क्या। इस तरहका विश्वास सिर्फ हमारे समाजमें ही नहीं है, बल्कि यह तो सार्वदेशिक है। प्राचीन कालमें सबसे सभ्य और उन्नत देश बेबीलोन, मिस्र, चीन आदिमें भी इसी तरह का विश्वास रहा है। स्पर्श मात्रसे ईसा कठिनसे कठिन रोगोंको कैसे दूर कर देते थे। आखिर ईश्वर-विश्वास भी तो इसी श्रेणीमें आता है।

भगवान् बुद्धके समय प्रचलित सम्प्रदाय और उनका धार्मिक विश्वास एक अलग पुस्तकका विषय है। यहाँ हमें सिर्फ तापस जीवनसे सम्बन्धित बातों पर ही विचार करना है। प्राचीन कालसे लेकर आज तक तापस जीवन भारतीय जिन्दगी पर असर डालता आया है। अनेक क्रांतिकारी सुधारोंके बावजूद भी किसी न किसी अंशमें आज भी यह जीवित है और समाजमें इसे आदरका स्थान प्राप्त है। ऊपर लिखा गया है कि ऋद्धियोंकी साधना तापस जीवनका प्रमुख लक्ष्य था। यह साधना भोगके द्वारा संभव नहीं थी। इसीलिए साधक घरबार छोड़कर करीब वाले पहाड़ या जंगलमें चला जाता था। वहाँ घास-फूसकी कुटी बनाकर रहता था। अक्सर कुटी में एक चंक्रमण भूमि (टहलते हुए योगाभ्यास करने की जगह) होती थी जो डेढ़ हाथ चौड़ी, दोनों ओर एक-एक हाथ बगली छोड़ी हुई, साठ हाथ लम्बी और समतल होती था। कुटीके पास-पड़ोसमें नदी, तालाब या जलाशयका होना आवश्यक था। आश्रम 'बाघ आदि हिंसक पशु तथा भयानक पक्षियोंसे शून्य' होता था। 'पर्णकुटीके अन्दर जटा मंडल, बल्कल-चीर, त्रिदंड, कुंडी आदि तापसोंके सामान, मण्डपमें पानीका वर्तन, पानी भरा शंख, पानी पीनेके कसोरे, अग्निशालामें अंगीठी तथा जलावन आदि' ही तापसोंके सामान होते थे।

पर जो और कठिन जीवन व्यतीत करना चाहते थे वे 'आठ दोषोंसे युक्त पर्णकुटीको छोड़ दस गुणों वाली वृक्षोंकी छाया' का आश्रय लेते थे। ये मनुष्यके आने-जाने की जगहसे पृथक रहना ही पसंद करते थे। जंगलमें भी ऐसी जगह रहते थे जहाँ 'गोपालक, पशुपालक घसियारे, लकड़हारे या वनकर्मिक (बनमें कामकरनेवाले) की पहुँच न हो।'

कुछको छोड़ अधिकांश तपस्वियों का भोजन भिक्षासे ही प्राप्त होता था। इसलिए इनका आश्रम गाँव या शहरसे 'नातिदूरे' (बहुत दूर नहीं) होता था।

सवेरे दस और बारह बजेके बीच तपस्वी भिक्षाके लिए वस्तीमें जाता था जहाँ लोग उत्साह और श्रद्धापूर्वक पकापकाया भोजन देते थे। इसलिए 'आहार चिकना-चुपड़ा और अभिमान तथा पौरुषके मदोंको बढ़ाने वाला होता था।'

परन्तु इनमेंसे कितने ही तपस्वी ऐसे ही होते थे जो 'इस प्रकारके आहारसे उत्पन्न दुखका अन्त नहीं समझते थे और इसलिए 'बो-जोतकर तैयार किये अनाजोंका बिलकुल त्याग कर देते थे।' ऐसे तपस्वी 'अनेक गुणोंसे युक्त वृक्षोंके फलोंको ही ग्रहण करते थे।'

इन तपस्वियोंमें भोजन करनेका विचित्र रिवाज था। वर्तनमें भोजन करना अच्छा नहीं समझा जाता था। ज्यादातर तापस लोग हाथमें ही खाते थे। कुछ लोग मछली-मांस खाते थे और शराब भी पीते थे। "एक दिन नगरमें शराब पीने का उत्सव था। प्रव्रजितोंको शराब दुर्लभ होता है, सोच राजाने उन तपस्वियोंको अत्युत्तम शराब दिलवायी। तपस्वी शराब पी, बागमें जाकर शराबसे बदमस्त हो उठकर नाचने गाने लगे।" [१] यहाँ यह याद रखनेकी बात है कि उन दिनों मांस-मछली भारतीय भोजनका प्रमुख अंग था। जैनधर्मने मांसाहारका बहुत विरोध किया और उसके प्रचारके साथ साथ ही शाकाहारका भी प्रचार हुआ। पर बुद्धने 'त्रिकोटि दोष-परिशुद्ध' मांसाहारकी स्वीकृति दी। यहाँ भी बुद्धने बीचका ही मार्ग अपनाया। शराब पीना भी आम बात थी। उत्सव और त्योहारोंके समय तो स्त्री, पुरुष, बच्चे सब शराब पीते थे। हमारे तपस्वियोंमें भी शराब

१. केवट्ट सुत

१. जातक

पीने वालोंकी कमी नहीं थी। संभव है कि यह शराब ह्विस्की की तरह हल्की नशा करनेवाली हो। पर शराबका सेवन अच्छा नहीं माना जाता था। साधारण नियम यही था कि जो कुछ भिक्षामें मिल जाय वह सब ग्राह्य है।

कोई कोई तपस्वी सप्ताहमें एक ही बार भोजन करते थे तो कोई मासमें एक बार। कितने ऐसे थे कि 'फसल कटे खेतमें प्राप्त अन्न' पर ही गुजारा करते थे। कितने ऐसे भी थे जो उपरोक्त प्रकारके आहारको निंद्य मान गोबर (गोमय भक्खो वा होमि) ही खाते थे। ये संभवतः नवजात बछड़ोंका गोबर खाना ज्यादा परिशुद्ध समझते थे[१]। भोजनकी शुद्धताके बारेमें इन तापसोंके जितने गणाचार्य थे उतने ही भिन्न मत थे। कोई मूँग, कोई तिल, कोई चावल-कण ही खाते थे तो कोई चावलके पानीको ही श्रेष्ठ आहार मानते थे। आज भी भोजनके विषयमें अघोरी साधु काफी उदार देखे जाते हैं। मनुष्यका मल भी उनके लिए अखाद्य नहीं होता।

जिस तरह तापसोंके रहन-सहन और भोजनमें भिन्नता थी उसी तरह उनके वस्त्रमें भी। यूँ तो इनमें ज्यादातर अचेलक (नंगा) ही रहते थे। यदि वस्त्र पहनते भी थे तो सन, मूँजका या श्मशानमें पड़े फटे चियड़े ही। बल्कल, छाल और मृगचर्म आम पोशाक थी। मृगचर्म पहनने और बिछाने, दोनों ही कामोंमें आता था।

पहुँचे हुए तपस्वी 'साधारण कपड़ोंमें ९ दोष देख उसे त्याज्य' मानते थे। कपड़ोंमें वे निम्न नौ दोष मानते थे—(१) अति मूल्यवान् होना, (२) दूसरे पर निर्भर रहकर मिलना, (३) पहनने पर जल्दीसे मलिन होना और फिर उसे रंगना और धोना, (४) पहननेसे फट जाना और फिर पेवंद लगाना, (५) ढूँढ़ने पर कठिनाईसे मिलना, (६) साधु जीवन से मेल न खाना, (७) चोरोंके लिए चोरी करने योग्य होना, (८) उपयोग करनेसे सजावटका कारण होना और (९) लेकर चलते समय कंधेके लिए भार और दूसरेके लिए लोभ होना।

ऊपर बताता गया है कि भगवान् बुद्धने भोगमें अत्यधिक लिप्त रहकर या शरीरको अत्यधिक तपा कर चित्तको शुद्धिकर ऋद्धि या निर्वाणकी प्राप्तिकी भावनाका घोर विरोध किया। उन्होंने इन दोनोंके बीचका मार्ग ग्रहण किया और इसी मध्यम मार्गको "आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला, शांतिके लिए, अभिज्ञाके लिए, परिपूर्ण ज्ञानके लिए और निर्वाणके लिए" [१] बताया। बौद्ध धर्मके उत्थानने तापस जीवनकी निस्सारताको स्पष्ट कर दिया। भारतीय समाजपरसे इसका प्रभाव क्रमशः उठता गया।

१. तानि वच्छकानं तरुणकानं धेनुपकानं गोमयानि तानि सुदं आहारेमि।

१. धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र।

Buddha against the self repressive method of 'Tapasya' & abstinence to the point of absurdity — A balanced view of life — middle path — मध्यम [illegible]

इतनी जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिए थी। हमारा र्तव्य था कि हम पाकिस्तान, लंका और बर्मासे रामर्श कर कोई निर्णय करते और अगर सम्भव होता ी एक रुपया-गुट बनाने की कोशिश करते। हो सकता है कि पाकिस्तानके कारण यह मुमकिन नहीं होता, किन्तु हम उसके निर्णय की प्रतीक्षा कर सकते थे जिससे हम उसके परिणामों पर भलीभाँति विचार कर लेते। भारत-सरकारको मूल्य-ह्रासके अलावे कोई तरीका ढूढ़ना चाहिए था। ऐसे दो तरीके थे विचारणीय। एक तो हिन्दुस्तान दो विनियम-दर कायम कर सकता था, एक डालरके साथ और दूसरा पौण्डके साथ। सोवियत यूनियन में इस प्रकार की व्यवस्था काफी सफल सिद्ध हुई है। यह सच है कि उपर्युक्त व्यवस्था में निर्बाध आयात-निर्यात अथवा व्यवसाय नहीं हो सकता और उसके राष्ट्रीकरण या कम से कम सरकार द्वारा पर्याप्त और प्रभावकर ढंगसे नियन्त्रण की आवश्यकता होती। किन्तु मूल्य-ह्रासमें भी विदेशी व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण करने की आवश्यकता पड़ रही है, फिर दो विनियम-दर वाली व्यवस्था पर ही यह आपत्ति कैसे की जा सकती थी कि यह मुक्त व्यवसाय के विरुद्ध है। दूसरा तरीका पौण्ड-क्षेत्रके निर्यात को अधिक सुविधा प्रदान करने का था। पौण्ड-क्षेत्रमें भेजे जानेवाले मालपर निर्यात-कर घटाकर पौण्डके मुकाबिले अपनी मुद्रा की मूल्य-वृद्धिका प्रभाव काफी हदतक खतम किया जा सकता था। इस प्रकार हमारे निर्यात-व्यापार को क्षति नहीं पहुँचती। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरीके से सरकारकी आमदनी कुछ कम हो जाती, किन्तु हमारी अर्थनीति को यह जोरदार धक्का नहीं पहुँचता। आवश्यकता पड़ने पर मूल्य-ह्रास वाले देशों में कुछ विशेष वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए सरकारी सहायता भी दी जा सकती थी।

—मुकुटबिहारी लाल

प्रेमचन्द सर्वहारा के साहित्यकार थे

"जो यह ईश्वर और मोक्षका चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकारकी पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवताको नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है। और जीवनको सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है। ज्ञानी कहता है होठों पर मुस्कराहट न आवे, आँखोंमें आँसू न आए। मैं कहता हूं अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मनुष्यको पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।" "गोदान"के इस मूल सुरमें समाज और साहित्यके लिए नये पथका स्पष्ट संकेत है। "जीवनको सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है" कहकर प्रेमचन्दजीने स्पष्ट ही समाजवादी दृष्टिको स्वीकार कर लिया है। किन्तु फिर भी "गोदान" तक हम यह नहीं मान सकते कि प्रेमचन्दकी दृष्टिमें समाजवादी समाज बस गया था। इसका प्रधान कारण यह है कि "गोदान" तक भारतीय समाजमें यद्यपि पुरातन और जीर्ण-शीर्ण समाजके विरुद्ध एक आक्रोश व्याप्त था, पर उसमें समाजवादकी बलवती प्रेरणा नहीं थी। इस सामाजिक विकासका ही प्रतिफलन "गोदान" में हुआ, जिसमें अन्ततक विद्रोह नहीं है। किन्तु "गोदान" के बाद "मंगल सूत्र" में प्रेमचन्दजी अगली मंजिल पर आ जाते हैं। यहाँ उनकी वाणीमें क्रान्ति का नाद होने लगता है। वह कहते हैं—"अगर सारा विश्व एकात्म है, तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ीसे बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलोंकी सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म। बुद्धि जवाब देती है—यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभीको अपनी शक्ति और साधनके हिसाबसे उन्नति करनेका अवसर है। मगर शंका पूछती है—सबको समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है; जो चाहे वहाँसे अपनी इच्छाकी चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सबका बराबरका अधिकार कैसे माना जाय?" और प्रेमचन्दजीका यह प्रश्न समाजवादका वह मौलिक प्रश्न है, जहाँसे समाजवादका उठान शुरू होता है। और आज तो यह मौलिक प्रश्न राष्ट्रसंघके भी सामने है, जिसके उत्तर पर ही विश्व-शान्तिका भविष्य निर्भर है। यही नहीं प्रेमचन्दजीके इस मौलिक प्रश्नका एक सिरा और आगे जाता है। वह पूछते हैं—"कहाँ है न्याय? कहां है? एक गरीब आदमी किसी खेतसे बालें नोंच कर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरोंको लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह तरहके हथियार बांधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान, टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से लूटना शुरू करते हैं, और आप लम्बा-लम्बा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंगरलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वरका रचा हुआ संसार? यही है न्याय?" प्रेमचन्दजीका यह मौलिक प्रश्न ढोंगी जैनेन्द्रकुमारसे लेकर अपनेको भारत-भाग्य विधाता मानने वाले नेहरू-पटेल तक से है। और इस प्रश्नके उत्तर पर ही भारतमें शान्ति निर्भर है, क्योंकि इसके आगे प्रेमचन्दजी खुद कहते हैं:—

"हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवनकी आहुति देकर संसारसे विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्यायकी रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्मसे गिरता है। अगर उसकी आँखोंमें यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अन्धा भी है और मूर्ख भी;

ज न वा णी

आचार्य नरेन्द्र देव

रघुकुल तिलक गंगाशरण सिंह

मुकुटबिहारीलाल राजाराम शास्त्री

बैजनाथ सिंह "विनोद"

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ८) 'जनवाणी' एक प्रति का ॥।)

काशी विद्यापीठ, बनारस

जनवाणी

वर्ष ३ भाग ६] नवम्बर १९४९ [अङ्क ११ पूर्णाङ्क ३५

भूमि की अनुभूति

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

कल्पना के पंख मेरे हैं थके-से आज;
जानते हो, क्यों रुके-से आज ?

मैं युगों से था बनाता आ रहा
शून्य में, ऊपर, सुनहले स्वर्ग बारम्बार;
भावना के रंग गहरे
दिव्य सपनों में भरा करता सदा मैं;
क्षितिज चुंबी व्योम में था
उड़ा करता चपल, अविरत,
पंख अपने मुक्तगति, सुन्दर पसार-पसार !

आज सहसा खोल स्मृति-पट
भूमि की अनुभूति ने है
कर दिया विह्वल मुझे झकझोर;
मर्म आहतकर हिला डाले निमिष में प्राण !
हृदय सहसा आज भाव-विभोर !
एक नव अनुभव दिखाता एक नया प्रकाश !
आज मैं समझा कि—ऊपर का नहीं नभ,
भूमि नीचे की मनुज की कला का है साध्य !
भूमि की अनुभूति से परिव्याप्त
हृदय के इस लोक का प्रत्येक कण है आज !

मानवों का या खगों का,
व्योम में किसका बसेरा ?
कौन पाता शून्य में है
वह चरम आधार,
मुक्त जिसमें पतन-भय से हो हृदय सोल्लास ?
किया व्योम-विहार मैंने,
युगों तक पाया वहाँ दिन-रात
शून्य और विराट्, केवल शून्य और विराट् !
रंग कुछ अस्थिर, बिगड़ते और बनते,
एक ही से,
अधिकतर जिनमें सचाई अब बताऊँ,
मात्र मेरे सृजन, मेरे कल्पना-विस्तार !
उच्चता की, शून्यता की एकता से थक चुका मैं;
चाहता हूँ अब विविधता।
स्वर्ग ही, ख ही, निरन्तर दिव्यता ही
अब नहीं !
उर कर उठा विद्रोह !
जागी मनुजता की तीव्र इसमें प्यास !

चलो, नीचे है यही वह भूमि,
निम्नतम, दलिता, उपेक्षित क्षुद्र कहकर,
व्योम के सौन्दर्य-रंगों का रचयिता
है अकिंचन एक जिसकी सृष्टि-!
स्वर्ग का स्रष्टा हुआ है गौरवान्वित,
क्योंकि वह है मर्त्य!
कल्पना की तूलिका से व्योम में
चित्र जो गहरे रँगों का था बनाया,
स्वर्ग कहलाता रहा वह;
और उसका रचयिता कितने युगों तक
था भुलाये ही रहा आधार अपना,
भूमि अपना, विश्व जननी, चिर उपेक्षित !
फल अपने मूल ही को भूल बैठा !

आज संस्कृति, कला, दर्शन आदि सब
हैं अचानक चाहते बनना परिष्कृत,
मूल-ग्राही, सूक्ष्म-दर्शी, मर्म के स्पर्शी, गहनतर,
सत्य-सहचर, सहज, दृढ़ आधार-अन्वेषक, विवेकी
आज सबको हो चुकी अनुभूति है यह--
मनुज के सुख-दुख, पतन-उत्थान, शक्ति-अशक्ति,
द्वन्द्व रखते जिसे जीवनपूर्ण,
भूमि वह है स्वर्ग से, नभ से महत्तर !

आज मैं भी इस महत्तम सत्य की
ज्योति से, अनुभूति से अभिभूत हूँ ।
भावना मेरी सकल हार्दिक, सरल,
फल जाना चाहती है भूमि पर ।
कल्पना मेरी इसी के उपकरण
ग्रहण कर नव-सृजन करना चाहती ।
मनुज का मनुजत्व, भू की विविधता,
हास-रोदन, सफल, असफल साधना,
चिरन्तर संघर्ष
आज मेरा मन लुभा बैठे यहीं ।
मैं विनत, मैं रजकणों में लीन हूँ;
अब न उड़ना चाहता मैं व्योम में !

कल्पना के पंख मेरे हैं थके-से आज;
जानते हो, क्यों रुके-से आज ?

पुरुष और परमेश्वर

रामवृक्ष बेनीपुरी

पुरुष और परमेश्वर में महत्ता किसकी--यह विवाद आजका नहीं, आदियुगसे चला आ रहा है! एक पक्षने कहा--मैं ही सब कुछ हूँ, और सारा संसार मेरा है। दूसरेने कहा--यदि वह कहीं भी हो, तो वह मैं ही हूँ। और तीसरेने आत्मार्पण किया--जो कुछ हो, तुम्हीं हो! तुम्हारी शरण हूँ, जो उपयोग करो।

एकने कहा--भगवानने अपने रूपमें मनुष्यका निर्माण किया। दूसरेने कहा--मनुष्यने अपने रूपमें भगवानकी रचना की।

जब मनुष्यने सपनाना सीखा, ईश्वरका प्रारंभ तभीसे हुआ।

ज्यों-ज्यों सपनोंमें वृद्धि हुई, भगवानकी महत्तामें भी वृद्धि होती गयी।

सपने धुँधले पड़ रहे हैं, भगवान भी धुँधला पड़ता जा रहा है।

सपनोंमें परिवर्तन, भगवानमें परिवर्तन।

अतीत कालके मानवको एक भगवानसे संतोष नहीं था--वह अनेक भगवान खोजता रहा।

उसने अनेक भगवान खोजे--उसे अनेक भगवान मिले।

पृथ्वीकी नन्ही दूबसे आकाशके इन्द्रधनुष तकमें उसने भगवान ही भगवान देखे।

भगवानके पीछे वह इतना पागल था कि अर्ध-चेतन अवस्थामें उसने अपनेको भी भगवान ही मान लिया।

उसके भगवान बने उसके वे विश्वास जिनके बिना वह जी नहीं सकता था।

उसके भगवान बने उसके वे भय जिनसे बढ़कर स्थूल सत्य उसे और कुछ नहीं मालूम होता था।

भगवानको आदमीने बनाया, यह कहना उतना ही गलत है, जितना यह सुनना कि भगवानने आदमी को बनाया।

आदमी हमेशा भगवानकी खोजमें रहा है और हमेशा उसकी खोजमें रहेगा।

भगवान एक सपना है।

गाढ़े सपनेका ही नाम भगवान है।

भगवान एक आकांक्षा है जिससे मानव-जीवन ओतप्रोत बना है।

जीवन एक सपना है जिससे हम ओतप्रोत बने हैं।

अपने सपनेकाही नाम हमने आत्मा दे रखा है। इसलिए आत्मा हमेशा भगवानका सपना देखती रहती है।

जैसा आत्माका सपना; उसी रूपका भगवान।

० ० ० ० ० ०

ध्यानावस्थित होकर, एकान्तमें, मानव खड़ा था अपने संसारको भूला हुआ। अपना संसार--वह आप भी उसे समझ नहीं सकता था। विस्मयमें, भयमें वह चिल्ला उठा--

"भगवान, मेरी सहायता करो--तुम्हारे बिना मेरा सहायक कौन है? मुझे ज्ञान दो--क्योंकि तुम्हीं ज्ञानका आगार हो!"

मानव चिल्लाता रहा; भगवान चुप रहा!

मानवने कृषि प्रारम्भ की! बड़े जतनसे, श्रमसे उसने खेत जोते; किन्तु वर्षा हो नहीं रही थी, वह चिल्ला उठा--

"भगवान मेरी सहायता करो। तुम्हारे बिना कौन मेरी मदद करेगा। अपने बादलोंको मेरे खेतमें बरसनेकी आज्ञा दो।"

उत्तरमें सूखी झंझा बहती रही।

मावनने युद्धभूमिके चक्रव्यूहमें अपनेको प्रतिद्वन्द्वी मानवके सामने पाया। भयसे वह चिल्ला उठा-

"भगवान, भगवान, मेरी सहायता करो। मुझे विजयी बनाओ, मेरे शत्रुओंका नाश करो। रघुवीर, तुमको मेरी लाज!"

युद्धभूमिमें रुंडमुंड बिखरे थे--वीरोंके लोथपर चील-कौवे भोज मना रहे थे!

आत्माके स्वप्न देखनेवालोंको परमात्मा इन्हीं रूपोंमें प्राप्त होते रहे हैं।

यदि कभी वर्षा हो गयी; विजय मिली--तो फिर स्वप्नको सत्य क्यों न मान लिया जाय? "भगवान तुम महान हो!" "भगवान मेरे रक्षक हैं, फिर डर किसका?"--"राखन हार भये भुज चार तो का होइहैं दो भुजाके बिगारे।"

प्रार्थना! यज्ञ! यज्ञ! प्रार्थना!

भगवानमें मानव इतना भूला कि वह मानवको ही भूल गया।

पुराने पैगम्बरने चिल्लाकर कहा--

"खुदाने कहा--उस आदमीपर अभिशाप जो आदमीपर विश्वास करता है और जिसका हृदय भगवानसे अलग रहता है।"

आदमीपर अविश्वास, भगवानमें विश्वास। किन्तु जब आदमीपर विश्वास नहीं, तो भगवानपर कैसे विश्वास हो? क्योंकि भगवान और आदमी आखिर एकही सिक्केके दो रूप हैं न!

० ० ० ० ० ०

मानव-कल्पनाका ही रहस्यवादी प्रतीक है भगवानकी कल्पना।

विशुद्ध भगवानका अर्थ है विशुद्ध मानव।

स्वप्न-भगवानका अर्थ है स्वप्न-मानव।

सर्वसत्ताधारी भगवान वह निरंकुश राजा है जो प्रजाका उत्पीड़न और शोषण करता है।

सर्वज्ञ भगवान वह पुरोहित है जो जनताके अज्ञानपर अपना व्यापार चलाता है।

राजनीतिमें भगवानका काम षड्यंत्र करना है; सम्पत्तिमें भगवानका काम अधिक लोगोंको दरिद्र रखना है।

मानवने भगवानको अपनेसे महान नहीं बनाया।

० ० ० ० ० ०

मानवने महान और सुन्दर भगवान बनाये हैं--इससे मानवकी महान और सुन्दर शक्तियोंका पता चलता है।

जब मानव आँधी, अंधकार या प्रकाशकी अभ्यर्थना या उपासना करता था, वह अपने प्रति ज्यादा ईमानदार था, वह अधिक सरल था, उसके ज्ञानपर पर्त नहीं पड़ी थी।

जब उसने इनमें देवत्व या ईश्वरत्वकी कल्पना की, वह भलभुलैयामें फँसा।

जबतक मानव-मस्तिष्क कल्पनाके फेरेमें है, हर पदार्थ उसके सामने काल्पनिक रूप पकड़कर आया करता है। मानव-चक्षुसे पर्दा हटने दीजिए; वह सब कुछ स्पष्ट देखने लगेगा। मानव-मन जब स्वाभाविकताको स्वभावतः ग्रहण करनेमें सक्षम हो जायगा, सभी काल्पनिक देव आपसे आप काफूर हो जायेंगे।

मानव-विचारमें असीम बल है। आदमी जैसा सोचता है, संसारको उसीके अनुरूप ढलना होता है। वह संसारको अपने निकट बुलाता है, उनपर अपना मंत्र पढ़ता है, संसार उसके सामने करबद्ध प्रार्थी होता है। अपने विचारके बलसे मानव संसारकी सृष्टि करता है।

जबतक मानव स्वयं मानवके संहारमें लीन है, वह ऐसे भगवानकी सृष्टि करेगा ही जो संसारका संहारकर्त्ता हो। कर्त्ता और भर्ताके रूपमें भी वह भगवान बनाता है; कर्त्ता, जो नब्बे अभागे और दस भाग्यवानकी सृष्टि करे; भर्ता, जो गरीबोंका पालन करे, जिसमें वे धनियोंके पैर दबावें!

समाजके विचार ही भगवानके विचार हैं। समाजकी आत्मा ही भगवानकी आत्मा है--जनताका दृष्टिकोण ही भगवानका दृष्टिकोण हुआ करता है।

भगवान-निर्माताके रूपमें मानवने अपनी अपरम्पार प्राकृतिक शक्तिका परिचय दिया है।

अब वह मानव-निर्माताके रूपमें अपने कौशलका परिचय दे।

अब मानव मानवकी उपासना करे, मानवकी वन्दना करे। भगवानकी स्तुतियाँ बहुत हुईं; हमारी कविता और गीत अब मानवकी अलिखित यशोगाथा-को छन्दोबद्ध करें। मानवकी खोजमेंही मानवकी साधना दौड़े--उछ्वसित, चंचल, क्रियाशील मानव-मस्तिष्क अब अपनेही लिए अपनेको पुष्पित और फलित करे।

शोधक, अन्वेषक, कवि और दार्शनिक मानवने राह चलते कितने देव और ईश्वर बनाये। अब वह अपने लक्ष्यके निकट आ पहुँचा है--वह मानवका निर्माण करे!

मानव जिसकी शक्तियोंके समक्ष छप्पन कोटि देव और देवादिदेव भगवान भी नत मस्तक हों!

० ० ० ० ० ०

हम फिर सपने देखें--सपना देखना कोई लज्जाकी बात नहीं।

आजकी दुनियामें बहुतसे सपने देखनेको हैं--नये सुन्दर सपने!

हमें एक नये सौन्दर्यका सपना देखना है--एक नये दिन और उसके नये कर्तव्योंके, उसके नये प्रयत्नों और नये साहसोंके सौन्दर्यका सपना देखना है।

हमें सपना देखना है एक नयी अभिव्यक्ति की कलाका--उस नयी और मनोहारी कलाका जो जाग्रत जनताके यथार्थ जीवनका प्रतिनिधित्व करे; जिसमें नये, आनन्दपूर्ण और प्राकृतिक व्यवहारोंकी नयी आकृति, नयी विभूति और नयी अनुभूतिके रूपमें सन्तुष्टि प्राप्त की जा सके।

हमें लज्जित नहीं होना है। लज्जित नहीं होना ही नये मानवके लिए एक नयी कला है। लज्जित नहीं होना ही उस नये संगीतका शिलान्यास देना है जो मानव-हृदयके स्वाभाविक उछ्वासोंका प्रतीक होगा।

मानवकी शक्तिके ये तीन सपने हैं:--

कामका सपना;
रातका सपना;
धोखेका सपना;

इन सपनोंमें एकही अमर साधना है--काम करनेका सपना। सृजनात्मक शक्तिका यही सच्चा सपना है। इस सपनेका ही नाम जीवन है।

चाहिए ऐसा सरल मानव--

मानव--जिसमें सरल साहस हो;
मानव-जिसमें सरल धुन हो;
मानव-जिसमें मानवोचित अनुभूति हो;
मानव--जो सीधा देखे;
मानव-जो सीधा सोचे;
सरल मानव--जो सीधा काम करे!

चाहिए जीवित मानव--जो हमें मृत्युसे बचावे!

परमात्माकी ओर हमने बहुत देखा; अब अपने पुरुषार्थकी ओर देखें!

भारतवर्षमें वर्ण-व्यवस्थाका उदय

(क्रमशः)

प्रो० राजाराम शास्त्री

गैतिहासिक भारतमें वैदिक आर्य कहीं बाहरसे
वे यहीके निवासी थे, इस सम्बन्धमें विशेषज्ञोंमें
तभेद दिखायी देता है। किन्तु जहां तक वर्ण-
ाकी उत्पत्तिके मूल कारणका सम्बन्ध है, इससे कोई
नहीं पड़ता। जो लोग वैदिक आर्योंको यहीं का
हैं, उनके मतसे वर्ण-व्यवस्थाकी उत्पत्ति यहीं
अनिवार्य है। और जो लोग उन्हें बाहरसे आये
नते हैं, उनके मतसे इस व्यवस्थाकी नींव भारतसे
ही पड़ चुकी थी, किन्तु उसकी पुष्टि भारतमें ही
यदि वैदिक आर्य भारतके ही निवासी थे तब
ीयों तथा अभारतीयोंके शरीरके रंगके भेदसे
ी उत्पत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि
हरसे आये तब भी रंग-भेदसे वर्ण-भेदकी कल्पना
ः ठीक नहीं ठहरती। गवेषकोंने इस बातके प्रमाण
थत किये हैं कि ऋग्वेदके प्रारम्भिक भागोंमें
दासों या दस्युओं का वर्णन मिलता है जिनका रंग
था। इससे सिद्ध होता है कि आर्य स्वामी और
र्य दास का भेद गोरों और कालोंके भेदसे उत्पन्न
हुआ। इन विद्वानोंके मतसे प्रारम्भमें जब आर्य लोग
एशियामें थे तब आर्य स्वामी और अनार्य दास
ीं ही श्वेतरंगके थे। पीछे जब आर्य लोग भारत-
में आये और यहांके काले निवासियोंसे उनका सम्पर्क
तबसे ये लोग अवश्य दासोंको प्रायः काला कह
वर्णन करने लगे। किन्तु यह भेद भी कुछ समय
लुप्त होना आवश्यक था। क्योंकि आर्यों और
ार्योंमें सम्पर्क स्थापित होने पर उनमें वैवाहिक
बन्ध होना ही आवश्यक था और इस प्रकार दोनोंका
त-मिश्रण भी अनिवार्य था। दोनोंके संपर्कसे न
ल एक सम्मिलित सभ्यता और संस्कृतिका जन्म
ा, वरन् एक ऐसी नस्लका प्रादुर्भाव हुआ जिसमें
नोंके शारीरिक गुणोंका मिश्रण था। यही कारण
है कि राम, कृष्ण जैसे श्रेष्ठ आर्योंका रंग श्यामल वर्णित है।

साथ ही आर्योंको बाहरसे आये हुए मानने वाले प्रत्येक विद्वानोंका यह भी कथन है कि आर्योंके आनेसे पहले भारतीय समाजमें भी वर्ण-भेद बीज रूपमें उपस्थित था। आर्योंके वर्ण-भेदने इसीको अपना आश्रय बनाया और उसीके ऊपर प्रतिष्ठित हो गया। इन सब बातोंका परिणाम यह निकलता है कि बाहरी आर्योंमें भी वर्ण-भेद था और भारतीयोंमें भी वर्ण-भेद था। किसीने दूसरेसे यह प्रथा सर्वथा उधार न ली हो, ऐसा नहीं है। और न यही बात है कि दोनोंके सम्पर्कसे ही इसका जन्म हुआ। ऐसी स्थितिमें जहां तक मूल कारणोंका प्रश्न है, आर्यों को बाहरसे आया हुआ माननेसे कोई विशेष अन्तर नहीं होता, न कोई लाभ ही होता है, विशेषकर जब हम भारतीय समाजके सहज विकासका ही अध्ययन कर रहे हैं तो इस समाजको एकरस देखनेमें ही अध्ययनकी सुविधा है। इस समाजमें वाह्य तत्त्वोंके आक्षेपसे व्यर्थका गौरव होता है। अतः हम इस विवादको छोड़ देते हैं कि वैदिक आर्य भारतीय थे या अभारतीय। हमें हर हालतमें वर्ण-भेदकी उत्पत्ति भारतीय समाजमें ही देखनी है।

इस विवादसे इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि रंग या नस्लका भेद वर्ण-भेदका बुनियादी कारण नहीं है। यदि वर्ण शब्दका प्रयोग इस प्रसंगमें मूलतः रंगके ही अर्थमें हुआ तो भी यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। इसका कारण यह है कि जब किसी प्रकार समाजमें वर्ग-भेद उत्पन्न हो जाता है तो पारस्परिक व्यवहारमें वर्गोंकी मनोवृत्ति एक दूसरेकी शारीरिक तथा अन्य विशेषताओंको अपना आश्रय बना लेती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वर्गोंकी भदवृत्ति और वैमनस्य मूलतः आर्थिक कारणोंपर प्रतिष्ठित

होते हुए भी सदा अपने वास्तविक कारणका बोध नहीं रखते और अपनेको सहज रूपसे वाह्य रूपों और प्रत्यक्ष गुणोंपर आरोपित कर देते हैं, और इस तरहके भाव प्रचलित हो जाते हैं कि अमुक जातिके लोग काले हैं या बौद्धिक तथा नैतिक गुणोंमें हीन हैं, इसलिए हम इनसे घृणा करते हैं। ऐसा करनेमें सुविधा भी है और आत्मरक्षा भी। एक ओरतो हम यह स्वीकार करके कि हम आर्थिक प्रतिस्पर्धा के भयसे दूसरे वर्गोंसे वैमनस्य रखते हैं, अपनी दृष्टिमें पतित नहीं होते और आत्म-सम्मान तथा मानव-समताके आदर्शोंको बनाये रखते हैं। दूसरी ओर आर्थिक तत्त्व अमूर्त और अस्पष्ट होनेके कारण सुबोध नहीं होते और बच्चोंको समझानेके लिए कठिन होनेके कारण सरलतापूर्वक सांस्कृतिक परम्पराके अंग नहीं बन पाते। अतः वर्गोंकी अन्य वर्गोंको अपनेसे दूर रखनेकी प्रवृत्ति अन्य वर्गोंकी उन विशेषताओंको ही अपने व्यवहारका कारण मान लेती है, जो अन्य वर्गोंको उससे प्रत्यक्षरूपसे भिन्न करती हैं, चाहे ये विशेषताएं रंगकी हों या अन्य गुणों की। आजकल अमेरिकामें निग्रो जातिके प्रति तथा अपनीही नस्लके विदेशियोंके प्रति इस प्रकारके प्रज्ञावादके अनेक उदाहरण मिलते हैं। मोरममें यहूदियोंके प्रति इसी प्रकारकी घृणा व्यापक रूपसे प्रचलित है, जो रंग-भेदका आश्रय न पाकर जातीय गुणोंमें नस्ली भेदकी कल्पनाका आश्रय लेती है। नार्डिक (आर्य) जातिकी श्रेष्ठता इसी कल्पनाका एक पक्ष है और अन्य जातियों की हीनता इसीका दूसरा पक्ष है।

तो हमें भारतमें वर्ण-व्यवस्थाके मूल कारणोंको तत्कालीन भारतीय समाजकी आर्थिक स्थितिमें ही देखना पड़ेगा। आज भी भारतवर्षमें जो आदिम जातियाँ अवशिष्ट हैं, उनके अध्ययनसे हम देखते हैं कि भारतवर्षकी अनेक व्रात्य तथा अपराधी जातियों, जैसे सांसिया, भातू, करवाल, गोधिया, हाबुड़ा आदि सबों-का उद्गम-स्थान एकही जातिमें देखा जा सकता है। किन्तु ये सब उस मूल जातिसे अलग होकर ऐसे 'जन्मनों' अथवा कुटुम्बोंमें बंट गयीं जो अपने अन्दर ही विवाह करते हैं और जिनकी अपनी भाषा सम्बन्धी विशेषताएं हैं तथा जिनके अलग-अलग नेता होते हैं। इस विभाजनमें भौगोलिक स्थितिका बड़ा हाथ रहा है। भारतीय जन आदिकालमें पहाड़ी और जंगली इलाकोंमें बसे थे। इन इलाकोंमें यातायातके साधन न होनेके कारण जनोंके विभाजनको प्रोत्साहन मिला और वे ऐसे टुकड़ोंमें विभाजित हो गये जो अपने अलग नाम (टोटेम) रखते थे। जिन लोगोंने पहले जंगलोंको साफ किया था वे जमीनके मालिक बन गये और जो लोग उनके बाद आये वे उनके अधीन रहे और समाजमें उनको काश्तकार या अर्द्धदासकी हैसियत मिली और इस प्रकार जन-समाज कृषिके विकासके साथ-साथ दो वर्गोंमें विभक्त होने लगा।

मैदानोंमें जहां पशु-पालन अथवा कृषिने आहार-प्राप्तिके सब तरीकों पर प्रभुत्व प्राप्त किया वहां नये नये जन-समूह एकत्र हुए और इस एकत्रीकरण तथा आत्मरक्षाकी समान आवश्यकताके कारण उनमें प्रबल गण-संगठन उत्पन्न हुआ। छिपकर आत्मरक्षा करनेके लिए उपयुक्त प्राकृतिक स्थान मैदानोंमें न होनेके कारण उन्हें नये नये औजारों और हथियारों-का आविष्कार करना पड़ा जो सभ्यताके आधार बने। जहां संसारके पहाड़ोंने बिखरी हुई समष्टियों-को स्थान दिया है और अब भी दे रहे हैं वहां मिश्र, यूरोप और भारतवर्षके मैदानोंमें जातियों और संस्कृतियोंका एकीकरण होता रहा है और जीवनकी कलाएँ इन स्थानोंसे चारों दिशाओंमें प्रसारित हुई हैं। इस प्रकार अनेक जनोंका परस्पर मिलन हुआ और सम्मिलित संस्कृति, सम्मिलित भाषा और सम्मिलित चेतनाकी सृष्टि हुई जिसे आज हम भौगोलिक आधार पर स्थित देशभक्तिके रूपमें पाते हैं।

भारतवर्षकी कारीगर-जातियाँ कहां तक जनोंसे उत्पन्न हुई हैं यह बात बस्तर रियासतकी गोंड जातियोंके अध्ययनसे ज्ञात होती है। रियासतकी अनेक कारीगर-जातियाँ आदिम गणोंकी ही सन्तान हैं। बस्तरके अधिकांश जन-ग्राम आत्मनिर्भर हैं। प्रायः एक ग्राम या अनक ग्रामोंमें एक लोहार परिवार रहता है जोकि सब लोगोंकी साधारण आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भूड़िया जो लोहा गलाने और लोहेके औजार बनानेमें दक्ष रहा होगा उसे यही काम करन

की अनुमति दे दी गयी होगी और उसके वंशज भी यही काम करते गये होंगे जिनसे आजकी लोहार जाति बन गयी। इसी प्रकार इस प्रदेशकी बहुत-सी अन्य पेशेवर जातियाँ भी मूल गणसे ही उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं। मद्रास प्रांतके विजगापट्टम जिलेके सांवरा लोग यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। इसमें कुछ पेशेवर जातियां हैं, जैसे एक परीसी जाति है जो सारे गणके लिए कपड़ा बुनती है और कुंडल जाति टोकरी बनाती है, और लोहार लोहेका काम करते हैं। ये सब मूलतः सावरा हैं और उसी जनमें विवाह करते हैं, यद्यपि सांस्कृतिक दष्टिसे वे भारतवर्षकी अन्य कारीगर-जातियोंसे समानता रखती हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस प्रकारकी अनेक पेशेवर जातियाँ स्वतंत्र हो गयी हैं और उनमें जनसे बाहर विवाह करने पर निषेध नहीं रह गया है, यद्यपि वे अब भी प्रायः जनके अन्दर ही विवाह करती हैं। इस बातसे हिन्दू-समाजमें जाति-प्रथाकी उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। स प्रथाके बीज प्राचीन भारतीय जनोंमें ही उत्पन्न हो गये थे। इस बातके प्रमाण बस्तरकी कुरुक, केवट, धीमर, नायक तथा सोनार जातियोंके जीवनसे मिलते हैं। कुरुक चित्रकोटके आसपास बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। बस्तर की सभी जातियाँ यदाकदा मछली मारती हैं, किन्तु मछली मारनेका काम एक स्थायी पेशेके रूप में कुरुक लोग ही करते हैं। इस कामके लिए मछलीके कांटेका प्रयोग और जमीनसे अलगाव अन्य माड़िया लोगों से—जिनसे ही वे निकले हैं—उन्हें सामाजिक रूपमें अलग कर देता है। फिर भी कुरुक लोग माड़िया प्रदेशकी आर्थिक व्यवस्थाके आवश्यक अंग हैं क्योंकि वे अपनी पकड़ी हुई मछलियोंका निश्चित दर पर अनाजके साथ विनिमय करते हैं। किन्तु जन-समाजकी अवस्थामें पेशोंके विभाजनके लिए अधिक अवकाश नहीं होता। अनेक कार्य जनके द्वारा किये जाते हैं। जब कोई जन किसी विशेष पेशेको ग्रहण कर लेता है तब वह एक पेशेवर जाति बन जाता है। जैसे, मिर्जापुर जिलेके 'बिमार' और 'खरवार' खैर (कत्था) बनानेका काम करते हैं और 'खैरही' कहलाते हैं।

जहाँ खेतीका ज्ञान फैल चुका है और फसलें अधिक सुरक्षित हो चुकी हैं वहाँ लोगों को अधिक अवकाश मिलने लगा है और एक नये जीवन-दर्शनके प्रभावसे उनकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं। नयी-नयी आवश्यकताएं जिनसे आदिम वनवासी सर्वथा अपरिचित थे, उत्पन्न हो गयी हैं और उनकी पूर्तिका प्रयत्न भी जीवन का अंग बन गया है। किन्तु साथ ही साथ अनेक अतृप्त इच्छाओं से सामाजिक असन्तोष उत्पन्न हुआ है। प्रतिस्पर्धा यद्यपि अभी बहुत तीव्र नहीं हुई है, किन्तु उसके द्वारा अनेक परम्पराएं टूटने लगी हैं। और कुछ परिवारों की अधिकाधिक भूमि प्राप्त करने की तृष्णाने दूसरों को अपनी भूमिसे बेदखल कर दिया है और इस प्रकार उनके जीवन का आधार ही छिन गया है।

अतएव अवशिष्ट आदिवासियोंके अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इनकी जन-व्यवस्थामें ही आर्थिक विकासके कारण धीरे-धीरे श्रम-विभाजन और विनिमय होने लगता है। कारीगरोंका वर्ग समाजकी अन्य कृषक-जनतासे अलग होने लगता है और इसके अतिरिक्त समाज के प्रत्येक अवयव अर्थात् प्रत्येक जन्मन्का एक मुखिया और एक पुरोहित तो होता ही है जिनका पद धीरे-धीरे सहज रूपसे वंशानुगत हो गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण (पुरोहित) क्षत्रिय (मुखिया) और वैश्य (कृषक तथा कारीगर)—तीन वर्णोंके विभाजन का बीज जन-व्यवस्थामें ही विद्यमान है। और जहाँ कुछ जनोंने पहले जंगलोंको साफ किया था और इस कारण जमीनके मालिक बन गये थे, वहाँ जो लोग उनके बाद आये वे उनके अधीन रहे और समाज में उनको अर्द्धदास की हैसियत मिली, और कृषिके विकासके साथ-साथ जन-समाजमें भूस्वामियोंके मुकाबिले दासों तथा अर्द्धदासोंका शूद्र वर्ण भी उत्पन्न हो जाता है। किन्तु अभी यह विभाजन ऐकान्तिक नहीं है। सभी लोग सब काम करते हैं, किन्तु कुछ लोग कोई एक काम विशेष रूपसे करने लगे हैं। विनिमय अपवाद स्वरूप ही होता है। यह स्पष्ट है कि जन-समाज की अवस्थामें पेशोंके विभाजनके लिए इससे अधिक अवकाश नहीं होता। वास्तवमें जन-समष्टि ऐसे ही समाजके लिए उपयुक्त होती है जिसमें न केवल सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति प्रायः समान होती है, वरन्

सभी लोग एक ही प्रकार का काम भी करते हैं अर्थात् उस वर्गविहीन समाजके लिए उपयुक्त होती है जिसमें श्रम-विभाजन और उसके आवश्यक परिणाम व्यापारका व्यापक विकास नहीं हुआ है। श्रम-विभाजन तथा विनिमयके विशिष्ट विकासके लिए जीवनके साधनोंमें और अधिक उन्नति अपेक्षित है।

भारतवर्षके प्राचीन प्रस्तर-युगके निवासी मानव-विकास की इसी मंजिल पर थे जबकि भारतवर्षमें द्रविड़ों और आर्यो का उदय हुआ। महाभारतमें वर्णित उत्सवसंकेतादि दस्युगण प्रायः ये ही आदिवासी होंगे जिन्हें अर्जुनने जीता था। जान पड़ता है कि जिन जनों ने शिकार और कुदाल की खेतीसे आगे बढ़कर पशुपालन तथा हल की खेती का आविष्कार कर लिया और इस प्रकार आसपास के अन्य जनोंसे अपने को विशिष्ट बना लिया, उन्होंने अपने को श्रेष्ठता वाची 'आर्य' शब्दसे विभूषित किया। पशुपालन और कृषिके विकसित हो जाने पर समाजमें सम्पत्ति की मात्रा प्रचुर हो जाती है, जनसंख्या बढ़ जाती है और अनेक वस्तुओं का उत्पादन होने लगता है जिससे श्रम-विभाजनके लिए अधिक अवकाश प्राप्त होता है। उत्पादनके इन नये तरीकोंसे प्रस्तुत उपजका व्यापारिक विनियम भी होने लगता है। साथ ही उपज और उत्पादन तथा विनिमयके साधनों (जमीन, जहाज आदि) में निजी सम्पत्ति स्थापित हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप समाजमें वर्ग-भेदका प्रादुर्भाव होता है। ऋग्वैदिक आर्यो और उनके प्रतिद्वन्द्वी असुरों या द्रविड़ों को हम विकासके इसी स्तर पर पाते हैं।

वैदिक आर्योका समाज पशुपालकों और कृषकोंका समाज था, केवल शिकार पर जीनेके युगको वे पीछे छोड़ चुके थे तो भी उस युगकी याद अभी ताजा थी जबकि लोग अनवस्थित—अनवस्थित विशः—थे, किन्तु वैदिक समाजका संगठन अभी कबीलोंके रूपमें ही था। उन कबीलोंको वे लोग 'जन' कहते थे। प्रत्येक जनमें अनेक खापें या टुकड़ियाँ होतीं जो 'ग्राम' कहलाती थीं। ग्रामका अर्थ 'जत्था' या टुकड़ी। बादमें ग्राम जिस स्थानमें बस गया वह स्थान भी ग्राम कहलाने लगा। लेकिन शुरूसे 'ग्राम' में स्थानका विचार न था, बल्कि अनवस्थित ग्राम भी होते थे। ग्रामका नेता ग्रामणी कहलाता। यह नेतृत्व पहले युद्धमें ही शुरू हुआ। वही शान्ति-कालमें भी काम आने लगा। युद्धमें जनका नेता राजा होता था। बल्कि वैदिक वाङ्मयमें यह विचार पाया जाता है कि राजत्वका प्रारम्भ युद्धमें ही हुआ। शान्ति-कालमें भी राजा जनका या विशःका राजा होता, न कि भूमिका; राज 'जान-राज्य' कहलाता और एक किस्मका ज्यैष्ठ्य-प्रमुखता या नेतृत्व मात्र था न कि मलकियत। समितिका जहाँ राज्यमें इतना अधिकार था, वहाँ यह भी कुछ कठिन न था कि कहीं पर बिना राजाके समिति ही राज्य करे। अराजक जन भी वैदिक आर्योंके थे। इस प्रकार इस कालका राजनीतिक संगठन शुद्ध 'जन-राज्य' था जिसमें या तो राजा होता ही नहीं था, या यदि होता था तो वहाँ 'राजा' का अर्थ केवल मुखिया होता था और सारे अधिकार समस्त जनताकी समितिके हाथमें होते थे।

विभिन्न जनोंके सब लोग मिलकर आर्य जाति हैं और दास लोग उनसे अलग हैं, उनसे नीचे दर्जेके हैं और सदा आर्योंसे हारना और लूटे-सताये जाना ही उनका काम है, यह विचार भी आर्योंमें भरपूर था।

पशुपालन और खेती जनताकी मुख्य जीविकाएँ थीं। इनके अतिरिक्त मृगया (शिकार) भी काफी प्रचलित थी। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर न थी, सिंचाई भी होती थी। तो भी वैदिक आर्योंकी खेती प्रारम्भिक दर्जेकी ही थी। जनताका धन मुख्यतः उनके डंगरोंके खेड़ और दास-दासियाँ ही होतीं। युद्धमें जीतनेके बाद शत्रुकी भूमि, दास-दासियाँ और डंगर विजेताओंको खूब मिलते तो भी भूमिका स्वामी राजा न होता था। जीती हुई भूमि जनमें बंट जाती होगी। दास-दासी यद्यपि सम्पत्तिमें सम्मिलित होते तो भी समाजका जीवन इनकी मेहनत पर निर्भर न था; जीवनके सभी साधारण कार्य जनके स्वतन्त्र गृहस्थ स्वयं करते। भूमिका विनियम और व्यापार प्रायः नहीं होता था। दूसरी ओर जंगम सम्पत्तिका लेन-देन काफी था। ऋण लेने-देनेकी प्रथा भी थी। ऋण न चुकानेसे ऋणी दास बन सकता था।

कृषि और पशुपालनके सिवाय कुछ शिल्प भी

चलित थे। शिल्पियोंकी स्थिति साधारण विशःसे
छ ऊँची ही थी।

वैदिक कालमें नगरों और नागरिक जीवनकी सत्ता
शेष नहीं दीख पड़ती। व्यापार भी बहुत नहीं चलता
ा। नदियाँ पार करनेके लिए नावें खूब चलती थीं।

समाजमें ऊँच-नीचका भेद कुछ जरूर था, पर
हुत नहीं। सबसे बड़ा भेद आर्य और दासका था।
ास वास्तवमें आर्योंके बाहर थे। वे विजित जातिके
े। तो भी उनके साथ सम्बन्ध, चाहे घृणित समझे
ाय, सर्वथा न रुक सकते थे।

आर्य और दासके भेदके अतिरिक्त और कोई
ाति-भेद न था। 'वर्ण' वास्तवमें दो ही थे, और
ो भेद थे वे साधारण सामाजिक ऊँच-नीचके। रथी
ौर महारथीकी स्थिति साधारण पदाति योद्धासे
्वभावतः ऊँची होती। इस प्रकार रथियोंके क्षत्रिय
रिवार यद्यपि विशःके ही अंश थे तो भी विशःके साधा-
रण व्यक्तियों--वैश्योंसे अपनेको ऊँचा समझते। उधर
यज्ञोंका क्रिया-कलाप बढ़नेके साथ-साथ पुरोहित की
भी एक श्रेणी बननेकी प्रवृत्ति हुई। विद्या और ज्ञान की
खोजमें भी कुछ लोग लगते और अपना जीवन जंगलोंके
आश्रमोंमें काटते। वे ब्राह्मण लोग भी विशः का ही
एक अंश थे। यह थोड़ा-बहुत श्रेणी-भेद होनेपर भी
सब आर्योंमें परस्पर खानपान और विवाह-सम्बन्ध
खुला चलता था।

वैदिक युगके बाद धीरे-धीरे भूमिका दाम और
विक्रय होने लगा। पिताकी सम्पत्तिका उसके
पीछे पुत्रोंमें बंटवारा भी होता था, अर्थात् भूमि
व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गयी। खेत बंटाईपर भाड़ देनेका
रिवाज भी था। खेत छोटे-बड़े दोनों किस्मके थे।
बड़े खेतोंपर भाड़के श्रमियों (भृतकों) से भी खेती
करायी जाती थी और इस प्रकारके पाँच-पाँच सौ
तक हलवाहोंका एक व्यक्तिकी जमीनपर मजदूरी
करनेका उल्लेख मिलता है। इन भृतकोंको अनाज
अथवा सिक्केके रूपमें भृति और रहनेकी जगह मिलती।
इस प्रकार कृषिमें श्रम-विभाग हो चला। शिल्प
और व्यवसायके परिपाकके साथ-साथ वैश्य समुदायमें
भी 'गण' बनने लगे। अर्थात् उस प्रारम्भिक समाजमें
जो पहले समूचा कृषकों और पशुपालकोंका था
और जिसमें कुछ साधारण शिल्प केवल कृषिके सहायक
रूपमें थे, अब कृषि, व्यापार और अनेक शिल्प-
व्यवसायोंकी भिन्नता फूटने और अंकुरित होन लगी,
श्रमकी विभिन्नता प्रकट होने लगी।

कृषिकी तरह व्यवसाय और शिल्पकी भी यथेष्ट
उन्नति हो गयी थी। उनमें भी बहुत कुछ श्रम-विभाग
हो गया था। शिल्पोंका स्थानीय केन्द्रण भी हो चला था,
अर्थात् विशेष-विशेष शिल्प बहुत जगह विशेष-विशेष
स्थानोंमें जम गये थे। उदाहरणके लिए ऐसे गाँव थे जो
केवल बढ़इयोंके, लोहारोंके, कुम्हारोंके, या शिकारियों
आदिके थे। बड़ी नगरियोंमें, गली-मुहल्लोंमें विशेष
शिल्प केन्द्रित हो गये थे।

शिल्पके विकासके साथ व्यापारकी भी खूब उन्नति
हुई। एक बस्तीमें भी वहाँकी कृषि या शिल्पोंकी
उपजको कृषकों या श्रेणियोंसे जनता तक पहुँचानेके लिए
कोरे व्यापारियोंकी थोड़ी-बहुत जरूरत होती थी; किन्तु
व्यापारियोंका उद्यम और उनकी चेष्टा मुख्यतः बाहर
के व्यापारमें प्रकट होती थी। वे व्यापारी सार्थों, अर्थात्
काफ़लोंमें चलते और स्थल तथा जलमें लम्बी-लम्बी
यात्राएँ करते। इस देशी और विदेशी व्यापारकी बदौलत
भारतवर्षकी नगरियोंकी समृद्धि दिन-दिन बढ़ती थी।
नगरियोंके अन्दर विभिन्न श्रेणियोंके कारखाने तथा
बाहरी वस्तुओंके बाजार अलग-अलग मुहल्लोंमें रहते।

क्रय-विक्रय खुले सौदेसे होता। दामों पर कोई
बन्धन न था। कभी-कभी कुछ चीजोंके दाम अवश्य
राजसे स्थिर हो जाते थे। सट्टेका भी चलन था।
व्यापार मुख्यतः धातुकी मुद्राओंसे होता जो खूब
प्रचलित थीं।

गहने आदि रेहन रखने और लिख देनेका भी
रवाज था। सूद पर रुपया देनेका पेशा भी काफी
चलता था। कुछ पेशे ऊँचे और कुछ नीचे गिने जाते
जाते थे।

आर्योंने पहलेसे बसे किसी कृषक-समुदाय पर विजय
कर उनकी जमीन पर अपना स्वत्व न जमाया था,
प्रत्युत जंगल काटकर ही अपने खेत तैयार किये थे।
प्रारम्भिक जातियाँ जिन्हें उन्होंने जीता था, शिकारी और
प्रायः मछुओंका पेशा करती थीं, न कि खेती। दास मूलतः
अनार्य लोग ही रहे होंगे, किन्तु दासत्व कुछ कानूनी

कारणोंसे भी होने लगा था। युद्धमें पकड़े जानेके
अतिरिक्त दासत्व मृत्युदंडके बदलेमें, ऋण न चुका
सकनेकी दशामें, अन्य कानूनी दंडके रूपमें, अथवा
गरीबी आदिसे तंग आकर स्वयं दास बन जानेसे भी
होता। दास-दासी प्रत्येक धनी आर्य 'गृहपति'के घरमें
रहते, किन्तु उनकी संख्या कम थी और उनसे खेती नहीं
करायी जाती थी। उनका मुख्य कार्य घरेलू सेवा ही था।
कई बार मालिक अपने दासोंको मुक्त भी कर देते थे।

कुलकी ऊँच-नीचका भाव भी समाजमें आ गया
था। एक तरफ कुलीन क्षत्रिय थे तो दूसरी तरफ
चाण्डाल आदि अनार्य जातियोंके लोग और दास थे। दास
अब आर्योंके समाजके बिल्कुल बाहर न रहे, वे उनका
एक अंग—शूद्रके रूपमें—बनने लगे। किन्तु शूद्रके
साथ विवाह-सम्बन्ध घृणित माना जाता। आर्योंके
समाजमें आ जाने पर भी वह एक दलित श्रेणी था।
स्वयं आर्योंमें क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेणियाँ शुरूसे ही कुछ
कुछ विशःसे ऊपर थीं। अब उनका ऊपर होना अधिक
स्पष्ट होने लगा। कुलकी उच्चताका भाव क्षत्रियोंमें
ब्राह्मणोंसे अधिक था। वे कुलका विचार सबसे अधिक करते
थे और यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि बड़े-बड़े कृषक
सरदार जो प्रायः युद्धमें नेता होते थे वे ही तो क्षत्रिय
थे; और उन पुराने खानदानोंके सरदारोंमें अपने कुल
या गोत्रकी उच्चताका भाव उठ खड़ा होना स्वाभाविक
ही था।

सार यह कि कुल और गोत्रका अभिमान, पेशोंकी
ऊँच-नीच, सब थी। बेटेको स्वभावतः बापके पेशेमें
जानेमें सुविधा होती थी। इसी प्रकार धीरे-धीरे भारत-
वर्षमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था स्थिर हो गयी। राज्य-प्रबं
धीरे-धीरे 'जन'के बजाय 'जनपद'का माना जाने लगा।
कुरु, पांचाल, मद्र, मालव आदि अब जन या कबीले
न रहे। यद्यपि अब भी उन नामोंके जनपदोंमें उन्हीं-
उन्हीं मूल जनोंके वंशज—सजात या अभिजन—मुख्यतः
बसे हुए थे तो भी और जो कोईभी व्यक्ति उन राष्ट्रोंमेंसे
किसीमें बस जाय, उसमें 'भक्ति' रखे, वह राष्ट्र उसका
अभिजन हो या न हो, वह व्यक्ति अब उसकी प्रजा हो
जाता है। इसी प्रकार 'ग्राम' पहले 'जन' की टुकड़ी या जत्था
होता था, अब उसमें भी बस्तीका भाव मुख्य हो गया।

इस कालका मुख्य राजनीतिक संगठन गणतन्त्र
और राजतंत्र था। गणका अर्थ एक विशिष्ट राज्य-
व्यवस्था है जिसमें सारा अधिकार उच्च वर्ग—
अभिजात वर्गकी परिषद्के हाथ रहता है। उसके सब
सभासद् राजा कहे जाते हैं। क्षत्रिय और राजा पर्याय-
वाची हैं। यहाँपर राजाका अर्थ सम्भवतः विशपति
है और राजशक्ति विशोंके मुखियोंके हाथमें थी।
जनसाधारणका राजके शासनमें कोई हाथ न था। इस
समय समाजमें जाति-प्रथा वर्तमान थी और शासन-कार्य
क्षत्रियोंका कार्य और कर्तव्य माना जाता था; कुछ
हद तक ब्राह्मण भी इस कार्यमें उनकी सहायता
करते थे। अतः प्राचीन भारतीय गण-राज्योंमें
प्रतिनिधि चुनने या मतदानका अधिकार साधारण जन
को नहीं दिया जा सकता था। इस कालके यौधेय,
शाक्य, कोलिय, मालव और लिच्छवि गण-राज्योंको वैदिक
कालके वीतिहोत्र तथा उत्तर कुरु और उत्तर मद्र आदि
शुद्ध अराजक अथवा विराट् जन-राज्योंसे अलग करना
चाहिए जिनमें सारे अधिकार जनसाधारणके हाथमें थे।

वास्तवमें जैसे-जैसे वर्ण-व्यवस्था दृढ़ होती गयी
वैसे-वैसे राजाओंके अधिकार मजबूत होते गये; और
जैसे-जैसे राज्यमें शूद्रवर्णकी वृद्धि होती गयी, वैसे-
वैसे प्रजाका अधिकार घटता गया। जब यह बात
निश्चित हो चुकी कि राज्य करना क्षत्रियोंका ही
अधिकार है और यह उन्हीं का मुख्य धर्म है, तब ब्राह्मण
और वैश्य (विशेषतः वैश्य) राज्य-काजसे अपना मन
हटाने लगे। दूसरे जब राज्य छोटे-छोटे थे और अधिकांश
लोग आर्य ही थे, उस समय राजकीय प्रश्नोंके सम्बन्धमें
जनसामान्यकी सभा करके उनकी राय लेना सम्भव और
उचित जान पड़ता था। परन्तु जब राज्य विस्तृत हो गये,
शूद्र लोग भी चातुर्वर्ण्यमें समाविष्ट हो गये तथा शूद्र
लोगों और मिश्रवर्णके अन्य लोगों की संख्या बहुत बढ़
गयी और इन लोगों की राय लेना अनुचित मालूम
होने लगा, तब ऐसी सभाओंका निमन्त्रण रुक गया होगा।
सम्भवतः शूद्रोंको पराजितके नाते राजकीय अधिकारों
का दिया जाना सम्भव नहीं था। अतएव सर्वसाधारण
की राय लेनेकी नीति बन्द हो गयी। यही कारण है
कि एकतन्त्र राज्य-पद्धति प्रथम मगध आदि पूर्वी देशोंमें
ही जारी हुई जहाँ राज्य बड़े थे और प्रजा विशेषतः
शूद्र वर्ण की थी या मिश्र वर्ण की अधिक थी।

(२) नयी अर्थशास्त्रीय मान्यताओं और स्वीकृतियों का संस्थापन।

(३) अर्थशास्त्रीय अध्ययनोंके जरिये तमाम प्रतिगामी प्रचारोंका, जो पूंजीवादकी तरफसे जारी हैं, तात्पर्य लोगोंके सामने रखते हुए लोकतांत्रिक समाजवादके लिए काम करनेवाली ताकतोंको मजबूत करना। साथही सही ढंगके समाजवादके आर्थिक संगठनकी रूपरेखा लोगोंके सामने रखना जिसमें लोकतंत्र और समाजवादका सहसंस्थापन ही आदर्श है ऐसा लोग जानें। यह रूसके प्रयोगोंने अनिवार्य कर रखा है क्योंकि हम रूसको ही समाजवादका सही रूप माननेकी गलती कर सकते हैं।

(४) अन्यान्य पूंजीवादी देशोंके प्रगतिशील जनमतको भी समाजवादके लिए रास्ता दिखाना जो मानव-जीवनकी उस आदर्श व्यवस्थाकी दिशामें धीरे-धीरे वैधानिक तरीकोंपर चलकर बढ़ रहा है।

(५)

अर्थशास्त्रको युग-धर्म मानकर इन्हीं रास्तोंपर बढ़ना है। आज जो कुछ भी लिखा जाय, मानव-समाजके चरम आदर्श वर्गशून्य, शोषणशून्य समाजके संस्थापनको ही लक्ष्य मानकर लिखा जाय। योजना सिर्फ आर्थिक जीवनको व्यवस्था देने नहीं आयी। योजनात्मक प्रयोग आज प्रत्येक मानव-व्यवहारका आदर्श हो गया है। इसीलिए हमें सारे वाङ्मयको नियोजित ढंगसे समृद्ध करना है। फिर अर्थशास्त्र तो इसके अंदर आ ही जायगा।

अभी भी तमाम मुल्कोंके आर्थिक संगठन इस तरह बदले हुए हैं कि इन नियन्त्रित, नियोजित पूंजीवाद और समाजवादके मध्यस्थ (Neither Soviet nor capitalist) समाजों के अनुरूप बननेके लिए भी अर्थशास्त्रको अपने पुराने कार्य-क्षेत्र और मान्यताओंसे आगे बढ़ जाना होगा। फिर जहां हम एक अर्थशास्त्रीको समाजवादका सिपाही मान लें जो उसकी तैयारी अपने क्षेत्रमें कर रहा है तब तो अर्थशास्त्रका नया महत्त्व समझमें जरूर आ जायगा।

इस अर्थशास्त्रके मुख्यतः तीन भाग होंगे। एक भाग आर्थिक व्यवहारोंके पीछे काम करनेवाली ताकतों, उनके कार्य-कारण संबंधोंका तर्कशुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण करेगा; दूसरा आर्थिक तथ्यों, घटनाओं (phenomena) का वर्णन, उनका मूल्यांकन करेगा, उनका अर्थ समझनेकी कोशिश करेगा (आर्थिक और और सामाजिक दृष्टिसे); तीसरा अर्थनीतिसे संबंध रखेगा और प्रयोगात्मक होगा।

इन बुनियादी स्वरूप-परिवर्तनोंके लिए हरेक अर्थशास्त्रीको तैयार होना ही है। और साथही यह समझना है कि अध्ययन विशेषतः समाजविज्ञानके क्षेत्रमें समाजको बदलने, उसे अच्छी दिशामें ले जानेके निमित्तसेही होता है। फिर यदि अर्थशास्त्र हमारी विधायक तैयारीमें योग नहीं दे तो वह एक निरुपयोगी कोरा विज्ञान और अध्ययन मात्र रह जाता है। विज्ञान दुनियाको सिर्फ समझता और समझाता नहीं, दुनियाको बदलनेकी तरकीब भी बतलाता है। इसी अर्थमें अर्थशास्त्रको तैयार होना है। मानव-कल्पना जब साकार हो जाय और नयी दुनिया आ जाय तब नयी दुनियाके अनुरूप भी वह बने। नयी दुनियाको स्थिर, सबल, वैज्ञानिक, बौद्धिक, आर्थिक आधार भी दे। अर्थशास्त्रको इस तरह मानव-समाजके विकासमें सहयोग करना है और साथही उसके विकासके साथ विकास-पथपर चलते भी रहना है। रूढ़िकी पूजामें दुनियाकी प्रगतिका रोड़ा बनकर, स्वयं स्थावर इसलिए मृत बनकर, वर्ग-स्वार्थके हितमें रत रहे इससे बढ़कर उसके विज्ञान नामका उपहास क्या हो सकता है, ऐसा वह क्यों करे। और अर्थशास्त्रियोंको जिन्हें सबसे आगे रहना है इस तरह प्रतिगामियोंके साथ देनेकी गलती ही क्यों करनी है। वैज्ञानिक बदलती दुनियाकी तसवीर खींचता है इसके पहले कि और लोग उस बदलती दुनियाके बदलनेके क्रमको पहचानें और समझें। फिर अर्थशास्त्री ऐसे वैज्ञानिक क्यों न बनें?

वे मुसलमान थे

डॉ० रामधर मिश्र

सन् १९४७ की बात है और अब बहुत कुछ पुरानी हो गयी है। लेकिन जब मेरे दोस्तने अपनी तसल्ली और मेरी जानकारीके लिए आप बीती सारी बातोंका जिक्र किया तो मुझे नया दुःख पहुँचा, नयी खुशी हुई। बात उस जमानेकी है जब लोग अपनी इंसानियतको भूल गये थे, उनकी हरकतें जानवरोंसे बदतर थीं, उनपर शैतान सवार था गोकि 'अल्ला हो अकबर' के नारे बुलंद करते थे। वे पागल हो उठे थे, उनकी अक्ल मारी गयी थी, अपनेपर काबू न था, धीरज खो बैठे थे। अमृतसरकी दर्दनाक कहानियां जहर फैला रही थीं। किसने खुद क्या देखा इससे कोई वास्ता न था, सुने-सुनाये मनगढ़े किस्सोंकी भरमार थी। उनकी सच्चाई-झुठाई जान लेनेका मौका न था, ख्वाहिश भी न थी। मासूम बच्चोंपर, बेबस औरतोंपर, निहत्थे आदमियोंपर गुस्सा उतरा। धरतीपर नरक हो गया, अपने बेगाने हुए, दोस्त दुश्मन हो गये, इंसान हैवान हुआ और पाप पुण्य बन गया। ऐस्फाल्टकी काली सड़कें लहूसे लाल थीं, महल जल गये, खंडहर हो गये, भरेपुरे घर लुट गये, पुलिस जानोमालकी हिफाजत न कर सकी बल्कि कहीं-कहीं खुद भी लूटमारमें शामिल थी। मुल्लाओंने फतवा दिया, गुण्डोंको मौका मिला, जोशीले जवानोंको गुस्सा आया, हाकिमोंने गैरजिम्मेदारीसे काम किया, भीड़ पिल पड़ी, बहशतका नंगा नाच हुआ। देखने सुनने वालोंकी जबानें बन्द थीं, खुदासे डरनेवालोंका ईमान डावांडोल था। किसकी मजाल कि 'अल्ला हो अकबर' के नारों के सामने चूं कर सके, जुल्मों ज्यादतीके खिलाफ आवाज उठा सके, मारकाटको गैरमुनासिब करार दे! वह एक लहर थी, बाढ़ थी, आंधी थी, तूफान था, मुसीबतोंका समुन्दर था जिसका छोर, किनारा न था, जिसमें लोग बह गये, डूब गये, खो गये।

शहरमें अफवाहें गूंज रही थीं कि १५ अगस्तको न जाने क्या होने वाला है। लोग डरे हुए थे, जिसको मौका मिला भाग निकला, जो रह गये वे बदनसीब थे, उनपर जो जो बीती उसका किसीको सपनेमें भी खयाल न था। शायद जालिमोंको भी यह अन्दाज न था कि इंसान इंसानियतसे इतना गिर सकता है, इस कदर बहशियाना हो सकता है। बच्चोंको रोता देख वे हँसते, औरतें भेड़ बकरीकी तरह हांकी गयीं; सरेआम उनकी असमत लूटी गयी, आदमी मूली गाजर की तरह काट दिये गये। कोई रोक थाम न थी, हिचक न थी। इंसान हो तो इंसानियतका तकाजा भी हो, भेड़ियोंसे शिकायत क्या? किसीको अकेला पाया तो टूट पड़े, बोटी-बोटी नोच डाली, नामोनिशान भी बाकी न रक्खा। क्या नहीं हुआ? वह भगदड़ मची कि तौबा। बापने बहूको संभाला तो बेटी रह गयी, भाईने भतीजीको लिया तो बहिन छूट गयी, बेटेने बहिनका हाथ थामा तो मांको न निकाल सका। सबकी जानके लाले पड़े थे, सोचने-समझनेका लोगोंको मौका न मिला। जिसकी वफादारी पर भरोसा किया वह दगा दे गया, जिसको देवता समझा वह राच्छस निकला। घर-बार बिखर गये, औरतें-बच्चे लापता हो गये, खानदान उजड़ गये। अजब हालत थी, बयानके बाहर। लोग तकदीरको रोते थे, नसीबकी दुहाई देते थे।

यहां कोई घायल हुआ, वहां कोई मारा गया, ऐसी अफवाहें बिजलीकी तेजीसे फैल रही थीं। इसीसे ९ अगस्तको ही किशन जी बीबी-बच्चोंको लेकर दिल्ली चल दिये। सामान वहीं छोड़ आये, उसे लानेकी गुंजाइश न थी।

तीन हफ्ते बाद जब लाहौरमें कुछ हालत सुधरी हुई जान पड़ी तो कम्पनीवालोंके हुक्मसे उन्होंने सामान व कागजात लानेके लिए दिल्लीसे लाहौर

वापस जानेकी ठानी। भीगी पलकोंमें पत्नीने कहा, "आगमें क्यों कूदते हो ?" हमदर्दीसे दोस्तोंने पूछा, "जहन्नुम क्यों जाना चाहते हो ?" भरी आवाजमें बापने समझाया, "बेटा जाना क्या जरूरी है ?" लेकिन इनको भी जवानीका जोश था, इंसानकी इंसानियतपर पूरा यकीन था, मुसीबतोंसे घबराते न थे, ठंढे दिलसे सोचने व काम करनेकी आदत थी। यह कहकर चल दिये कि जब कुछ होगा तब देखा जायगा।

हवाई जहाजसे लाहौर जानेवाले तीस-पैंतीस मुसाफिरोंमें आप अकेले हिन्दू थे। वे लोग हैरान थे, निगाह बचाकर इनको बारबार देख रहे थे कि यह बावला है या खुफिया है जो लाहौर जा रहा है। तहमत बांधे एक तगड़े मुसलमानकी गुस्सा भरी बातें सुनकर डर लगा कि खिड़की खोल बाहर न फेंक दे। साथियोंको याद दिला रहा था कि क्या कोई मुसलमान अमृतसर जा सकता है।

खैर, लाहौर पहुँचे। वहां हवाई अड्डे पर एक भीड़ जमा देखकर चिंता हुई कि मामला क्या है। मालूम हुआ, ये लोग आये थे, अपने दोस्तों रिश्तेदारोंको लेने जो दिल्लीसे शायद आये हों। उतरते ही उस तहमतिया जवानने उनसे चीख चीख कर कहा, "ऐ कम्बख्तो! किसके लिए आये हो! जो आ सके आ गये, बाकी अब उधर कोई मुसलमान जिन्दा नहीं है।" किशन घबराया कि कोई यहीं टांगें न चीर दे। मगर लोगोंके दिल रंजसे भरे हुए थे, गुस्सेका मौका न था।

इधर-उधर टेलीफोन करके एक कार मंगायी। कम्पनीके दफ्तर पहुँचे। अपना कमरा खोला, दूसरे कमरे खोले, देखा, अभीतक सब ठीक है, जैसा छोड़ा वैसा वापस पाया। चौकीदारोंको ढूँढ़ा, क्लर्कोंको बुलवाया, काम शुरू हो गया, बस्ते बंधने लगे, बक्से भरे जाने लगे।

० ० ०

९ सितम्बरकी बात है, लाहौरसे भागनेके ठीक एक महीने बाद की। किशनजी अपने दफ्तरमें बैठे कागजात देख रहे थे कि एक पुलिस अफसरने आकर शिकायत की,

"आपके चपरासीने पाकिस्तान हुकूमतकी बेइज्जती की है।"

किशन घबराया। पूछा, "भाई, क्या बात हुई ?"

"पड़ोसके मकानकी चाबी मांगनेपर हुज्जत करता है कि उसके पास नहीं है और कहता है कि चाबीका क्या काम, ताला तोड़कर वैसेही कब्जा कर लीजिए, गोया हम लोग यही करते हैं !"

किशनने समझाया--

"कोई गलतफहमी हुई है। किसी चपरासीकी क्या मजाल कि आजकलके नाजुक जमानेमें आपसे झगड़ा करे, और खुद मुसीबत बुलावे।"

अफसरने तिलमिलाकर कहा—

"गलतफहमीमें क्या शक, वरना शिकायतका मौका क्या था। चाबी मांगनेपर ताला तोड़कर घुसने की तानाजनी की जाय, वह भी उस मकानमें बैठकर जहां कागजका एक टुकड़ा भी न छुआ गया हो, और वह शख्स करे जिसका इसी लाहौरमें एक बाल बांका न हुआ हो तो साफ जाहिर है कि गलतफहमी किसको है। और आप बजाय उसको डाटनेके मुझपर इलजाम लगाते हैं, गोया मैं खामख्वाहकी शिकायत करता हूँ और फसाद चाहता हूँ।"

किशनने उसका दर्द नहीं पहचाना और कहा,

"आप नाहक नाराज क्यों होते हैं ? मैं उसकी तरफसे मुआफी मांगता हूँ।"

जरा थमकर उसकी तरफ देखते हुए फिर कहा,

"हमलोगोंकी हिफाजत करना आपका, आपकी हुकूमतका फर्ज है ही, शायद यह आप मानते हैं।"

यह बात जलेपर निमककी तरह अफसरके दिल को बंध गयी। उसने उदास होकर कहा--

"आपका हमारे फर्जकी तरफ इशारा करना मुनासिब है, मौजूँ है। अभी उस दिन मैं हवाई अड्डे गया हुआ था तो आपके साथ उसी 'लेन' से वह आदमी उतरा था जिसने दिल्लीकी खबर दी थी। मेरा भाई वहाँ नौकर था, दो बच्चे पढ़ते थे। पता नहीं, कहाँ है, क्या हुआ ?"

किशनने सोचा कि दिल्लीमें तो कुछ हुआ नहीं, फिर यह कहता क्या है। इसलिए कुछ गरमीसे कहा,

"उस आदमीकी आपने अच्छी गवाही पेश की। मैं दिल्लीसे आया हूँ और दावेसे कह सकता हूँ कि दिल्लीकी सरकारने अपना फर्ज जिस तरह निबाहा, उस तरह और सरकारें कर सकतीं तो यह नौबत न आती, ये दिन न आते।"

अफसरकी आंखोंके आंसू गिरे नहीं, सूख गये। उसने पूछा, "ये बक्से कैसे हैं ?"

"इनमें कागजात हैं, दिल्ली भेजना है।"

"कुछ सामान आप पहिले ही दिल्ली भेज चुके हैं ?"

"जी हाँ। कुछ सामान कल गया है।"

अफसरके मुँहसे निकला, "तो वे लोग ठीकही कहते थे।"

नीचे शोर बढ़ने लगा। अफसर घूम पड़ा और "दरवाजे बन्द कर लीजिए, मुझे खतरा दीखता है। मौका मिले तो भाग निकलिए।" यह कहता हुआ बाहर चला गया।

किशनजी सिर पकड़कर बैठ गये। क्या होनेवाला है यह एक पलमें बिजलीकी तरह सामने आ गया। उठे। बाबू, चपरासी और चौकीदार सब उनकी तरफ सहमे हुए देख रहे थे। उन निगाहोंमें यह सवाल था, अब क्या करें, यह मिन्नत थी कि कोई तदबीर निकालिए, एक सेकेंड सोचा और फिर तसल्ली भरी आवाजमें धीरेसे कहा।

"जो लोग बाहर खड़े थे और शायद पहचान लिये गये हैं वे मेरे साथ बाहर चलें, लेकिन जो लोग अन्दर थे वे इन कमरोंमें अपनेको अच्छी तरह छिपा लें, दरवाजे बन्द न किये जायँ।"

लोगोंने कुछ सोचा नहीं, समझा नहीं, जो हिदायत मिली वैसा करने लगे। सात-आठ आदमियोंके साथ किशन कमरेके बाहर आया, पूरा बरामदा पारकर पोर्टिकोकी छतपर पहुँचा। नीचे देखा, पांच सौ की भीड़ थी और पुलिसके तीन-चार आदमियोंके साथ वह अफसर वहां खड़ा भीड़से कुछ कह रहा था। लोगोंकी निगाहें घूमीं, 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगा। सामनेसे जानेका सवाल न था, पीछेसे भागने का उसके लिए अब मौका न था, मुकाबिला करनेकी गुंजाइश न थी, हुजूम खूनका प्यासा मालूम होता था। उसने साथियोंसे कहा, "मेरे साथ नीचे चलो, अगर पीछे जाकर भाग सकना तो निकल जाना। मैं अभी भीड़के सामने ही रहूँगा।" यह कहकर वह जीना उतरने लगा।

उफ़! गजबका वह जीना उतरना था। साथियोंके दिल धड़क रहे थे, कलेजे मुँहको आ रहे थे कि 'साहब' क्या करने जा रहे हैं। और किशन सोच रहा था कि काश, मोहम्मद दीन आज दफ्तर आ गया होता तो यह उम्मीद तो होती कि घरवालोंको कुछ खबर मिल जायगी।"

ये लोग नीचे पहुँचे। सामने चौकीदारकी चारपाई पड़ी थी, उसीके पास सब रुक गये। किशनने उन पांच सौ आदमियोंकी तरफ देखा जो भूखे भेड़ियोंकी तरह टूटना ही चाहते थे। फिर गर्दन घुमा कर उसने हुक्म भरी आवाजमें नौकरोंसे कहा, "जाओ, अपना अपना रास्ता ढूँढ़ो, सिर्फ दो मिनटका मौका है।"

पुलिस अफसरने इधर देखा, निगाहें मिलीं, उसके बदनमें कपकपी आ गयी। इनकी तरफ चला, सिपाही अभी वहीं खड़े थे। पास आकर धीमी आवाजमें कहा,

"फर्ज जाननेकी नहीं, अदा करनेकी मुश्किल है। सबेरे छः गोलियां भरकर रवाना हुआ तबसे दो बार गोली चला चुका हूँ। पहिली बार चार गोलियाँ खर्च हो गयीं, अब सिर्फ एक बाकी है।"

फिर जरा थमकर कहा,

"वह गोली कहिए तो आपपर चला दूँ ?"

किशन चुप था।

अफसरने मीठी चुटकी लेते हुए जरा मुस्कुराकर कहा,

"आप तो शायद यही फर्ज समझेंगे कि मैं अपने ऊपर चला लूँ।"

किशन चुप रहा।

तब उसने बहुतही धीमी आवाजमें कहा, "इस एक गोलीसे किसी तरह भी आपकी जान बचती नहीं दिखायी देती, अपनेको मार दूँ तो भी नहीं।"

किशनके माथेसे पसीनेकी धार छूट रही थी। बोला, "मुझको मेरी किस्मत यहाँ ले ही आयी है, मैं तैयार हूँ।"

अफसरने समझा, गलतफहमी अभी चल रही है। लेकिन सवाल गलतफहमीका न था, था जिन्दगी और मौतका। उसने बेबसी महसूस की और मनही मन दुआ मांगी, "या खुदा! इनको सलामत रख।" और उनसे 'खुदा हाफिज' कहकर वह भीड़की तरफ वापस गया। वहां चिल्लाकर उसने कहा, "कोई आगे बढ़ा तो गोलीसे उड़ा दूँगा"।

लोगोंमें बेचैनी बढ़ने लगी। एकने कहा, "यह काफिरोंसे मिल गया है, इसको भी जहन्नुम रसीद कर दो"; किसीने कहा, "इसका तमंचा छीन लो।" अच्छे खासे फिकरे कसे गये, उसीकी जानपर आ बनी। वह घबराया कि अब क्या करें। कोई सूरत न थी। फिर चिल्लाकर कहा, "बेवकूफो, देखते नहीं हो किस शानसे वह खड़ा है, उसकी जेबमें पिस्तौल है, जो आगे बढ़ा उसकी खैर नहीं।" लोगोंकी निगाहें उधर जो घूमीं तो वह चुपके से लाचारीके आलममें वहांसे खिसक दिया।

वह खड़ा था। सचमुच ही निराली शानमें खड़ा था। अकेला था, उसका भागनेका कतई इरादा न था, हाथ खाली थे। वे लोग झिझके कि इसको इतमीनान किस बातका है। किसीकी हिम्मत न पड़ी कि आगे बढ़े।

कुछ वक्त ऐसेही बीता। वह अब भी वैसेही खड़ा था। आगेवालोंको लगा कि पीछेसे लोग ठेल रहे हैं जिसकी वजहसे एक-दो कदम वे बेअख्तियार आगे बढ़ गये हैं। पैरोंपर जोर देकर उन्होंने अपने-को रोकनेकी कोशिश की तो और लोग आगे आ गये। इन्होंने चिल्लाकर कहा, "धक्का क्यों देते हो जी, जरा ठहरो।" रेला थम गया।

वह वैसे ही वहां खड़ा था। अब आपसमें कानाफूसी शुरू हुई। सामने दुश्मनोंका गरोह होता तो ये लोग चिल्ला कर पिल पड़ते। इस अकेले आदमीसे मोर्चा लेनेमें सब भय खा रहे थे। पांच सौ आदमियोंकी इकट्ठी हिम्मत उस इकलेके मुकाबिलेमें कमजोर साबित हो रही थी।

वह शख्स एक कदम आगे बढ़ा, भीड़ एक कदम पीछे हट गयी। उसने एक पैर उठाकर चारपाईकी पट्टीपर रख लिया। लोग खामोशीसे उसका इरादा भांपनेकी कोशिश कर रहे थे। उसने एक हाथ पतलूनकी जेबमें डाला, भीड़ एक-दो कदम और पीछे हट गयी। उसने रूमाल निकालकर पसीना पोंछा और घूमकर पीछे देखा। वहां कोई न था। तब वह खाटकी पट्टीपर बैठ गया, ऐसा लगा मानों थक गया है। लोगोंने एक दूसरेकी तरफ देखा; वे देखकर एक दूसरेके इरादे पढ़ लेना चाहते थे। पीछेसे दुबारा दबाव पड़ा। सामनेके लोगोंके पैर उखड़ गये। पीछेसे आवाज आयी कि इसके पास पिस्तौल तमंचा कुछ भी नहीं है। सामनेसे जवाब मिला, "पीछेसे बकता है, सामने आकर कह।" लेकिन लोग बोलने लगे तो उनकी हिम्मतें बढ़ीं। एक-दो ने छुरे निकाल लिये, 'अल्लाह अकबर' का नारा लगाया और पैतड़े बदलने लगे।

वह शख्स अब भी वहीं उसी तरफ बैठा था। उसने फिर जेबमें हाथ डाला। इसबार अन्दरकी जेबमें। पैतड़ेवाले पैतड़ा भूल गये और बड़े छुरे मांगनेके बहाने भीड़के अन्दर हो लिये। उसने घड़ी निकाली, वक्त देखा और फिर इतमीनानसे बैठ गया।

पीछेसे फिर दबाव पड़ा, आगेवालोंने भी हिम्मत की, बीचका फासला कम होने लगा। उसके हाथ हिले। घुटनोंपर कोहनी रख वह सर पकड़ कर बैठ गया। लोग नजदीक आ गये। एकने छुरा भोंक दिया, दूसरेने खपसे बगलमें मार दिया, तीसरेने सामनेसे कलेजेपर वार किया, वह हाथकी कोहनीपर-ही रुक गया। पहिलेने छुरा छोड़ अंगूठी पर हाथ लपकाया, दूसरेने घड़ीपर, तीसरेने फाउण्टेनपेन संभाला। किशनको लगा कि लोगोंकी दिलचस्पी लूटमें ज्यादा, मारमें कम है तो अपना 'पर्स' निकाल-कर उनके हवाले किया और कहा, "जाओ, और कुछ नहीं है।" बात मामूली थी, लेकिन जादू-सा असर कर गयी, शायद इसलिए कि उसकी शख्सियत-ने उनको चकाचौंध कर दिया था, उनका जोश ठंडा हो चुका था। उस दफ्तरका वह बादशाह था, फौज उनके देखते-देखते पीछेसे भाग गयी। उनकी समझमें उस कोठीमें ठहरनेकी अब एकही वजह हो सकती थी यानी लूट-खसोट। इसलिए जब किशनने कहा,

"जाओ, और कुछ नहीं है" तो उन्हें लगा कि सही बात कहता है। मुफ्तमें वक्त खराब करना बेकार समझ और लूटके लालचमें छुरा ले तेजीसे वे आगे लपके कि कमरोंमें जो मालटाल है उसकी लूटमें पीछे न रह जायें। किशनके जीने-मरनेसे किसीको वास्ता न रहा, समझ लिया कि अब मर ही जायगा।

ऊपरके बरामदेके पिछले हिस्सेमें कोई और भी शिकार बना, शोरगुलसे यह अन्दाज किशनको हो गया।

कुछ देर बाद इनको लगा कि रमजानी मेहतर का छोकरा कुछ कह रहा है। "अब्बा कहते हैं कि यहां बैठे रहनेमें जान जोखिम है, कहीं और छिप जाइए" यह बात उनके कानमें पड़ी। उठकर चल दिये, सोचा भी नहीं कि कहां जाना है। कोई ठिकाना न था, लेकिन वक्तकी मजबूरीसे अपने निजके अड्डेको छोड़ना तो था ही। सड़क पार की तो देखा कि सामनेकी कोठीमें एक दाढ़ीवाला मुसलमान बन्दूक लिए खड़ा है। ये अन्दर घुसे और 'लॉन' पारकर पीछेकी ओर चले। छिपनेकी कोई जगह न मिली तो ऊपर चढ़ गये, लेकिन थकान इतनी थी कि वहीं बरामदेमें लेट गये। बन्दूकवाले चौकीदारने देखा, सोचा और फैसला कर लिया। अपने दूसरे साथीसे कहा, "अगर होशमें हो तो बात कर लो, मैं फाटकपर जाता हूँ।" यह कहकर वह चला गया और फाटकपर ड्यूटी देने लगा।

दूसरा चौकीदार उस घायल आदमीके पास गया तो उसने दरख्वास्त की, "मुझे किसी कमरेमें कर दो।" उसने समझाया, "यहीं ठीक है क्योंकि अगर खूनके निशान देखकर लोग जबरदस्ती घुस आये और आपको कमरेमें पाया तो आपके साथ-साथ हम लोगोंमेंसे भी किसीको जिन्दा न छोड़ेंगे।"

किशनकी समझमें आ गया कि बात मुनासिब है। तब उसने दरख्वास्त की कि अगर टेलीफोनसे मेरे कुछ दोस्तोंको खबर दे सको तो बड़ी मेहरबानी हो।

उसने खुशीसे मंजूर कर लिया। किशनने कई टेलीफोन नम्बर बताये, कहींसे जवाब न मिला। मिले भी कैसे, वहां कोई हो भी। मोहम्मद बीनकी फिर याद आयी, लेकिन उसके घर टेलीफोन न था। सख्त प्यास मालूम हुई। तबतक याद आया कि एक दोस्तने लाहौर आनेका इरादा जाहिर किया था। उसका भी नम्बर बताया। टेलीफोन किया गया। मालूम हुआ कि आज ही आये हैं, फौरन कुछ इंत-जाम करेंगे, ठिकाना पूछ लिया। जब चौकीदार उन्हें यह खुशखबरी देने आया तो देखा, वह बेहोश हैं। कमरा बन्द कर वह नीचे चला गया।

दोस्त परेशानीमें था कि क्या करें। खुद जानेमें खतरा था कि कहीं वह भी शिकार न बन जाय। यह भी शक हुआ कि इस चालमें कोई घात न हो। किसी मुसलमान दोस्तसे मदद लेनेकी हिम्मत न पड़ी।

उसने टेलीफोन डिरेक्टरी उठायी, उस ठिकानेका नम्बर ढूँढ़ा और टेलीफोन मिलाया। घंटी बजकर रह गयी। कोई जवाब न मिला। वह पशोपेशमें पड़ गया, लेकिन तबीयतमें परेशानी थी, दिलमें बेचैनी थी, उसे यकीन था कि उसका दोस्त किशन मौतके मुहँमें है। एक अंगरेजसे मामूली मुलाकात थी। मगर किस मुँहसे कहे कि उसके दोस्तको वह अंगरेज जाकर निकाल ले आये। उसने सोचा कि ऐसी दरख्वास्त करना उसके सामने अपनेको जलील करना है। मगर लाचारी थी। उस अंगरेजको टेलीफोन किया, अपनी मजबूरी बतायी और उसको तकलीफ देनेकी मुआफी मांगी। उसने कहा, "मैं हाजिर हूँ, मुझसे जो मदद हो सके बेशक ले लीजिए।" कहाँ जाना है यह ठीकसे न जान सका और इस सिलसिले में उसने मदद चाही।

मसला हल होता न दिखायी दिया। साथमें किसको भेजें? ड्राइवरने कहा, "हुजर, जगह तो मालूम है मगर उस मोहल्ले में जहां अभी वारदात हुई हो, जाते डर मालूम होता है। उन्होंने समझाया, "अंगरेजके साथ जाओगे तो कोई नहीं बोलेगा। फिर भी एहतियातन उसके चपरासीकी वर्दी पहिन लेना।"

चौकीदार बन्दूक लिये फाटकपर मुस्तैद था। सामनेके दफ्तरमें लूट-खसोट जारी थी। कागजोंमें इन लोगोंको कोई दिलचस्पी न थी, उनको वैसा ही छोड़ दिया। पेटियां खोल डालीं, बक्से उलट दिये,

जो चीज पसन्द आयी उसपर हाथ साफ किया। कमरों कमरों गये, आपसमें छीना झपटी की, अपनेसे कमजोरकी गर्दन नापी, एक-दोको चांटे जड़ दिये, हँसते-चीखते गठरियां बांधने लगे। कमजोरोंने देखा, उनकी दाल नहीं गल रही है तो जो मिल सका वही लेकर भाग खड़े हुए। जिनके हाथ कोई अच्छी चीज नहीं लगी वे झल्लाते, गालियां बकते वापस चले। देखा, नीचे वह लाश नहीं है। खिसियाये थे ही, उसीको ढूंढनेकी ठानी। खूनके धब्बे देखे, उनके सहारे संतरीतक जा पहुँचे। एक बोला,

"हमारा शिकार कहां है?"

"यहां नहीं है।"

"यहां जरूर आया है।"

उसने डाटकर कहा, "तू मुसलमानकी बातका एतबार नहीं करता! आया था, जरूर आया था, लेकिन अब यहां नहीं है। मैं उधर घास पर था, वह बढ़ा तो मैंने बन्दूक तानी, वह वापस लौटा। इधरसे एक बन्द घोड़ागाड़ी जा रही थी, शायद उसीपर बैठ लिया।"

वह तो डाट खा गया, मगर दूसरेने चोट की, "तू कैसा मुसलमान है जो तूने उसको जाने दिया?"

संतरीने गुस्सा करते हुए कहा,

"चुप रह, वरना गोली मार दूंगा। बुजदिल कहींका। पांच सौकी मदद लेकर तू उस एकको वहां नहीं मार सका, यहां मुझसे सवाल करता है कि मैंने क्यों जाने दिया।"

जवाब मुँहतोड़ था, डाट करारी थी। सब लोग चलते बने।

संतरीने गहरी सांस ली और मनही मन कहा, "या अल्लाह, खैर कर।"

किशन बेहोशीकी हालतमें अस्पताल पहुँचाया गया। कपड़े लहूसे लथपथ थे, हजारों चीटियां बदन पर रेंग रही थीं। मरीज डॉ० हसनके सुपुर्द हुआ। उन्होंने देखा, हालत नाजुक है, खून बहुत ज्यादा मिकदारमें बह गया था। चीटियां जख्मोंके अन्दर घुस गयी थीं, फिर भी सांस बाकी थी, नब्ज चल रही थी।

डॉ० हसनने संजीदगीसे कहा कि मरीजको खून देना जरूरी है। अब्दुल्ला तालिबइल्मने अपना खून देनेकी ख्वाहिश जाहिर की। उसका इंतिजाम किया गया, खून ठीक था, दिया जा सकता था। डॉ० हसन और अब्दुल्लाने मरीजके कपड़े बदले, और पिचकारीसे मरीजके जिस्ममें काफी खून पहुँचाया। उसके बाद घाव साफ किये और उनमें कपड़ा ठूसकर भर दिया। तीन तीन घंटे पर पेनिसिलीनके इंजेक्शन लगने लगे।

किशनको अब होश आया तो पूछा,

"मैं कहां हूँ?"

अब्दुल्ला वहीं खड़ा था, उसने कहा,

"अस्पतालमें।"

"किस अस्पतालमें?"

"जहां आपकी देखरेख ठीकसे हो सकेगी ऐसे अस्पताल में। आप फिक्र न करें।"

किशनने सवाल दोहराया नहीं, चुप हो रहा।

कुछ देर बाद उसने दाहिना हाथ उठानेकी कोशिश की। अब्दुल्लाने उसे अपने दोनों हाथोंमें ले लिया।

"नाम?"

"अब्दुल्ला"

"डॉक्टर अब्दुल्ला?"

"अब्दुल्ला।"

"अब्दुल्ला भाई! बहुत प्यास लगी है।"

उसने खुद पानी पिलाया।

मरीज फिर बोला और कहा, "बायें हाथमें बड़ा दर्द है।"

अब्दुल्ला वह हाथ अपने हाथोंमें लेकर बैठ गया। किशनको इससे राहत मिली। उसने फिर पूछा,

"भाई जान! मेरे बचनेकी कोई उम्मीद भी है?"

"डॉक्टर साहब कहते हैं कि आपकी हालत बहुत खराब नहीं है; मुझको पूरी उम्मीद है। लेकिन अब आप चुप रहिए।"

किशन चुप हो रहा।

थोड़ी देर बादही डॉ० हसन आ गये। अब्दुल्लाने बताया कि होशमें आये करीब आध घंटा हुआ है, कुछ पानी भी पिया है। डॉक्टर साहब अपने साथ

कुछ खून लाये थे वह भी मरीजके जिस्ममें पहुँचा दिया।

रातमें डॉक्टर दो बार फिर आये। अब्दुल्ला वहीं था। डॉक्टरने कहा, "जाइए, आप आराम कीजिए, वार्डमें नर्स तो है ही।" अब्दुल्लाने जवाब नहीं दिया, वहीं खड़ा रहा। जब डॉक्टर चले गये तब वह फिर किशनका हाथ अपने हाथोंमें लेकर बैठ गया।

दूसरे दिन डॉ० हसनने देखा कि मरीजमें कुछ ताकत आ गयी है तो उसे ऑपरेशन थियेटर ले गये और धावोंमें टांके लगाये। अब्दुल्लासे कहा, "बांहका घाव गहरा है, बाकी दोनों लम्बे हैं, बहुत गहरे नहीं। अगर कहीं कोई छुरा आधा इंच और घुस गया होता तो वहीं काम तमाम हो जाता।" अब्दुल्लाने कहा, "खुदाका शुक्र है, वरना खुदाके बन्दोंने अपनी समझमें कोई कसर बाकी न रक्खी थी।"

डॉक्टरने सुन लिया। कुछ देर चुप रहकर पूछा,

"आप इस मरीजकी इतनी खिदमत क्यों कर रहे हैं?

उसने जवाब नहीं दिया, सवाल पूछा,

"आप इस मरीजपर इतनी मेहनत क्यों कर रहे हैं?"

डॉक्टरने कहा, "मैं डाक्टर हूँ, अपना फर्ज कर रहा हूँ।"

लड़केने जवाब दिया, "मैं इंसान हूँ, अपना फर्ज कर रहा हूँ।"

डॉ० हसनने देखा कि अब्दुल्लाका चेहरा कुछ सुर्ख हो चला है। उसने कंधेपर हाथ रखकर कहा, "बेटा, बात ठीक कहते हो। अगर सब इंसान अपनी इंसानियत याद रक्खें तो इस दुनियासे शैतानका वजूद उठ जाय और यह दोजख बननेसे बच जाय।"

लड़केने जवाब दिया, "दीगर इंसान क्या करते हैं हमें उससे क्या सरोकार। हमें तो इस दोजखमें रहते हुए भी अपनी इंसानियत कायम रखना है।"

डॉक्टरने बड़े फख्रसे कहा, "बेटा अब्दुल्ला, तुम जुग जुग जियो, तुमसे इस्लामका नाम रोशन हो।"

लड़केने दर्दभरी आवाजमें कहा, "डॉक्टर साहब! इंसानियतके लिए किसी मजहबकी दोहाई क्यों? वह तो इंसानकी सिफ़त है। इस शख्सको उस हालतमें उठाकर जब कि मक्खियाँ भिनक रही हों, चीटियाँ रेंग रही हों, यहाँ लानेवाला एक गैर मजहबी आदमी था जिसका इस शख्ससे कोई ताल्लुक न था।"

डॉक्टरने सोचा, समझा और वह चुप हो रहा।

किशन अपने वार्ड भेज दिया गया।

० ० ०

"मोहम्मद दीन! तुम्हारी बहुत बार याद आयी।"

उसने कहा, "जी साहब, मुझे उसी दिन मालूम हो गया था, लेकिन बहुत खोजने पर भी यह पता न चला कि आप कहाँ गायब हो गये। किसीने कहा कि आप घोड़ागाड़ीमें बैठकर चले गये। यह भी सुना कि कोई अंगरेज अपनी कार पर कहीं ले गया। तीन दिनसे दौड़ रहा हूँ, कोनाकोना छान डाला, कहीं पता न मिला। सब अस्पतालोंका चक्कर लगाया। परसों सबसे पहिले यहीं आया था। सब पलंग देख डाले, आप कहीं न मिले। यह पलंग उस वक्त खाली था।"

किशनने रोककर कहा, "शायद ऑपरेशन थियेटरमें था।"

मोहम्मद दीनने फिर कहा, "जी हां, जब सब अस्पतालोंमें तलाश कर लिया तो दुबारा देखने निकला। यहांके दफ्तरमें भी पूछ सकता था, लेकिन उससे इतमीनान न होता। वार्डोंमें जाकर खुद ही देख लेना अच्छा समझा। अफसोस है कि दो दिन जाया गये, इधर-उधर भटकता रहा, आपकी देख-भालमें कोई हिस्सा न ले सका। अपनी बेवकूफी पर शर्मिन्दा हूँ कि यहां किसीसे पूछा नहीं, पूछनेमें हर्ज न था। डॉक्टर साहब कहते हैं कि हालत संभली हुई है।" यह सुनते ही किशनका मन कहीं और चला गया। उसने कहा, "मोहम्मद दीन, मेरी तरफसे घर तार दे दो कि अस्पतालमें हूँ, अच्छे हाथोंमें हूँ, खतरा पार हो गया।"

उसने कहा, "तार पहुँचनेकी कोई उम्मीद नहीं, कोई दूसरा ढंग निकालूँगा। दिल्लीकी हालत बहुत

खराब है, अब आग वहाँ भड़की है। अखबारोंमें कुछ हाल आया है।"

किशनके सामने उस तहमतिया जवानकी तस्वीर आ गयी। उसने यकीन न करते हुए पूछा,

"क्यों क्या हुआ ?"

मोहम्मद दीनने संजीदगीसे कहा, "वही जो और जगहोंपर हुआ है और इसी दो-तीन दिनके अन्दर। दिल्ली और उसके आसपासके मुसलमानोंको घेर-घेरकर मार रहे हैं। नोआखालीका बदला बिहारमें, बिहारका रावलपिंडीमें, रावलपिंडीका अमृतसरमें, अमृतसरका लाहौरमें और लाहौरका दिल्लीमें बदला लेना कहाँकी इंसानियत है? जो बदला लेते हैं वे दूसरे, जिनसे बदला लिया जाता है वे भी दूसरे! अजब मुसीबत है। लड़ाई लड़ना हो तो उसके भी कुछ कायदे होते हैं। यहां न कायदा न कानून, न शर्म न लिहाज, न फर्ज न इंसाफ। ऐसा लगता है मानो आज यहां कल वहां आग भड़कायी जाती है और थोड़ेसे आदमी अगर भड़कने भड़काने पर आमादा रहें तो कोई भी हुकूमत हो, कर ही क्या सकती है। फसाद ऐसे उभड़ते हैं जैसे बरसातमें खटिया, एक कोना सीधा करो तो दूसरा उठ जाता है। इतनी पुलिस कहांसे आवे कि हर जगह मुस्तैद रहे? एक-दो गरीबोंको मारकर पहिले फिजा खराब कर दी जाती है, फिर गरोह इकट्ठे होते हैं, गुण्डोंकी बन आती है, शुरुआत करनेवाले तमाशाई बन जाते हैं। जाहिल लोग समझनेसे इंकार करते हैं। गवर्नमेंट खुद रुपया खर्च करती है। यूरोपमें बड़े पैमाने पर अक्सर यही होता रहता है, पोलिटिकल हथकण्डे हैं। इस मुल्ककी सियासी तरक्की होते होते कुछ अरसा लगेगा तबतक गैर मुल्कोंके दाव-घातोंसे बचनेकी हमारे पास एकही काट है, दूसरा जरिया नहीं। वह है उस बुड्ढे महात्माका अनशन। कहीं किसी दिन उसीको न मरवा दें। इनसे बईद कुछ नहीं है।" यह कहते-कहते उसका गला भर आया और वह खामोश हो गया।

किशन चुपचाप सुनता रहा। इन बलवोंकी जड़में राजनीति भी हो सकती है यह बात अब नामुमकिन नहीं लगी। मोहम्मद दीन उसका अदना क्लर्क था। कामसे काम, कभी उसको इतनी बातें करनेका मौका न दिया था। ईमानदार था, अपने काममें होशियार था, लेकिन जिद्दी, बातूनी और मुंहफट था। इस वजहसे यह उसे अपने पास नहीं रखना चाहते थे। मगर उसने दौड़धूप कर बड़े अफसरपर जोर डलवा दिया जिससे किशन उसे रखनेपर मजबूर थे। ये सब बातें उसे याद आ गयीं। कहा, "मोहम्मद दीन, तुम मुझसे नाराज नहीं हो?" उसने जवाब दिया, "नाराज! आपका सवाल बजा है। आपको मेरे खिलाफ शिकायत थी, मुझे इसकी कीना हो सकती थी। लेकिन आपकी शिकायत जा थी, मैं आपका नुक्तेनजर समझ गया था कि आप किसी क्लर्कको मुँह लगाना नहीं चाहते। मैं इस नौकरीके लिए 'मिसफिट' हूँ यह याद रहनेपर फिर मैं कीना किस बातका रक्खूँ? नाराजगीकी कोई वजह हो ही क्या सकती थी? लेकिन मैं बहुत बोल रहा हूँ, आप खामोश रहिए।"

मोहम्मद दीन अपनी आदतसे मजबूर था। खुद तकरीर सी दे रहा था, लेकिन कहा किशन जोसे, "आप खामोश रहिए।"

किशन चुप था ही। कुछ देर बाद कहा, "एक तार रोज घर भेजते रहना, वहाँ पहुँचे या न पहुँचे, अपनेको तसल्ली रहेगी। किसी आदमीको भेजना ठीक नहीं। फायदा क्या? वह भी खतरेमें पड़ जायगा।"

मोहम्मद दीनने किशनकी देखभालका सारा बोझ अपने ऊपर ले लिया।

अब्दुल्लाने एक दिन मोहम्मद दीनसे हँसते हुए कहा, "आप पिछले जनममें जरूर इनके भाई थे।" जवाब दिया किशनने। उसने मुस्कुराकर कहा, "पिछले जनममें क्यों? तुम दोनों मेरे इस जनमके भाई हो।"

अब्दुल्ला शर्मा गया।

एक दिन रमजानी किशनको देखने आया। किशनने पूछा, "रमजानी! तुमतो लूटमारमें शामिल हो जाते हो, उस दिन क्यों अलग रहे?"

रमजानीने ठंढी सांस ली और बड़ी आजिजीसे कहा, "हुज़ूर! पहिले एक-दो बार मौका लगा

तो लूटपाटमें जरूर शामिल हो गया, लेकिन मारकाटमें कभी नहीं। मगर जिसका नमक खाया क्या उसीके यहाँ लूटपाट करूँगा? ऐसा कमीनापन और जलालतका काम मुझसे न होगा।"

दो हफ्ते बीत गये। एक दिन दाढ़ीवाले संतरी ने आकर सलाम किया। किशनने उसको पहिचाना नहीं, मगर मुस्कुरा दिया। उसने कहा, "हुजूर, आप जिस हालतमें कोठीसे यहाँ आये थे उससे मुझे तो आपके बचनेकी कोई उम्मीद न थी। लेकिन अल्लाहतालाको आपका मरना मंजूर न था। मैंने सोचा कि आपको अपनी आँखोंसे देखकर जी खुश कर लूँ, इसलिए यहाँ आकर आपको तकलीफ दी।"

किशनने सोचा कि यह वही बन्दूकवाला चौकीदार होगा। कहा, "आपने पनाह दी इससे बच गया।" फिर कहा, "मैंने भगवानसे प्रार्थना की थी, मुझे उसके एक बार दर्शन करा दे, मैं उसके पैर छुऊँगा। भगवानने मेरी प्रार्थना सुन ली।" उसकी आँखें छलछला उठीं।

बुड्ढेको आंसू आ गये। उसने दोनों हाथ ऊपर उठाये, आंखें बन्द कर लीं, उसके होठ हिले और कुछ कहता-सा जान पड़ा। किशनने इतना ही सुन पाया, "या परवर दिगार।"

तीन हफ्ते बाद इस अस्पतालसे मोहम्मद दीन इनको दिल्ली पहुँचा आया। किशनने बहुत समझाया और मना किया कि दिल्लीमें जो हो चुका है उसको जानते हुए मोहम्मद दीनका वहां जाना ठीक नहीं। उसने जिद की, कहा, "आपको इस हालतमें क्या मैं अकेले जाने दूँगा? रही मेरी बात, तो मुझे यकीन है कि मेरे लिए वहाँ कोई खतरा न होगा।"

दिल्लीके अस्पतालमें किशनको दो महीने और रहना पड़ा। वहीं सुना कि मोहम्मद दीनकी वफादारीपर शक करते हुए उसकी हुकूमतने उसे जेलमें बन्द कर दिया है।

किशन अच्छा होकर घर आ गया। इन तीन महीनोंमें उसने नया जीवन पाया और एक अजीब सपना-सा देखा। एक नयी दुनियामें उसे नये तजुर्बे हुए, उसके विचारोंमें एक परिवर्तन आया, मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है इसका उसको स्वयं अनुभव हुआ। एक-एक करके सब घटनाएँ याद आने लगीं। तहमतिया जवान, पुलिस अफसर, पांच सौ की भीड़, उनका हमला, रमजानी और उसका लड़का, बन्दूक लिये दाढ़ीवाला चौकीदार और उसका साथी, अब्दुल्ला, डॉक्टर हसन, मोहम्मद दीन, अस्पतालके मरीज, नर्स वगैरह सब उसके सामने आ गये। अब्दुल्ला और मोहम्मद दीनकी याद करके उसे खुशी होती थी, शान्ति मिलती थी। लाहौर जानेका उसे दुःख न था।

सहसा उसका मन दुःखसे भर गया। उसे याद आया कि उसके कुछ संगी-साथी लाहौरमें ही घेरकर मारे गये थे।

एक दिन किशन अपने कुटुम्बमें घिरा बैठा था। उसने छोटे लड़केको अपने पास कर लिया और कहा, "बेटा, लाहौर जाओगे?" उसने बड़ी खुशीसे कहा, "जरूर जायँगे।" किशनने उसे प्यार कर कहा, "तुम राजा बेटा हो, बड़े अच्छे हो। एक-दो बरस बाद जब कुछ बड़े हो जाओगे तब अपनी मांको लाहौर लिये जाना। वे कुछ महात्माओंके दर्शन करने वहां जाना चाहती हैं।"

बड़े बेटेको अचम्भा हुआ और उसने पूछा, "मां, लाहौरमें कौनसे महात्मा हैं?"

मांने नाम गिनाये। बेटा चकरा गया। वे मुसलमान थे!

———

प्रगतिवाद विरोधी आरोपोंके उत्तरमें

अम्बिकाप्रसाद पोद्दार

रूढ़िवादियोंने प्रगतिवादके निरन्तर बढ़ते हुए प्रवाहको रोकनेके लिए जितनी किलेबन्दियाँ की हैं उनमें एक उसके नामकरणको लेकर है। सर्वप्रथम तो यह किलेबन्दी इतनी खोखली है जैसे इसकी दीवारें उसी तरहकी हों जिस तरहकी दीवारें चलते-फिरते नेताओंके लिए आये दिन उठा दी जाती हैं—यानी कागजकी दीवारें जिनपर पेंटिंग ऐसी रहती है कि ईंटकी दीवारोंका भान हो सके। नेताजी गये और दीवार ढह गयी। स्यात् दीवार उठाकर रख भी दी जाती हो कि फिर कभी दूसरे नेता या वही नेता दूसरी बार आवें तो कम खर्चमें उनका स्वागत हो सके। प्रगतिवादके विरोधमें भ्रम पैदा करनेकी यह सस्ती प्रणाली नयी नहीं है। इसका प्रयोग भी सड़ककी उपर्युक्त दीवारोंकी तरह प्रायः किया जाता रहा है। प्रहारकी दोहरी नीति––प्रगतिवादकी बुद्धयात्मकता पर एक ओरसे और जहाँ तक उसके नामकरणका सम्बन्ध है, उसकी बुद्धिहीनता पर दूसरी ओरसे—सदा अपनायी गयी है।

साहित्यका प्रवाह एक जलधाराके रूपमें चलता है। यह जलधारा अनुकूलता पाकर बीच-बीचमें प्रसरित हो जाती है, उसका घन बढ़ जाता है और साहित्यिक अथवा समालोचक उसका कोई नामकरण क़र देते हैं। धारा पुनः क्षीण पड़ती है और पुनः दूसरे स्थलमें जाकर, एक दूसरे वायुमण्डलमें प्रसार पाती है। पुनः उसका नामकरण होता है। धाराके इन कतिपय परिवर्तित एवं परिवर्द्धित स्थलोंको युग विशेषके नामसे पुकारते हैं। इसी विकास-क्रमके कारण कोई युग दूसरे युगोंके प्रभावसे बंचित नहीं रह पाता, न उसके गुण-दोष अथवा भाव-धारासे अपनेको पूर्णतया विच्छिन्न ही कर सकता है। रीतिकालके युगमें भी कभी कभी ऐसे स्वर-संधान सुननेको मिलेंगे जो स्वस्थ विचार और भावोंसे प्राण-शक्ति ग्रहण करते हैं। उसी तरह क्या अंग्रेजी साहित्यमें वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, कॉलरिज आदिका ही युग रोमांटिक है? क्या शेक्सपीयरका युग रोमांटिक नहीं अथवा क्या आधुनिक युगमें यीट्स प्रभृति कवियोंके द्वारा रोमांटिक कविताएँ नहीं लिखी गयी हैं? इसके उत्तरमें शायद कहा जायगा कि रोमांटिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद तो शाश्वत है। एक युग विशेषमें यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट और शक्तिशाली रूपमें आयी। इसीलिए उसका नामकरण रोमांटिक युग हुआ। तो क्या यही बात प्रगतिवादके लिए सत्य नहीं। प्रगतिवाद भी शाश्वत है, जिस तरह स्वच्छन्दतावाद शाश्वत है। आज वह अधिक सचेत, अधिक शक्तिशाली है। अतः आज प्रगतिवादका युग है। गौण रूपसे और भी अन्तरधाराएँ इसमें हैं उसी तरह जिस तरह स्वयं प्रगतिवाद गौण अन्तरधाराके रूपमें सदा वर्तमान रहा है। यदि प्रगतिवादका नामकरण तर्कशून्य है तो साहित्यकी धाराके जितने नामकरण हैं सभी तर्कशून्य हैं। असलियत यह है कि प्रगतिवाद जिस तरह अपनी प्रवृत्ति, अपने दृष्टिकोणमें सचेत है, उसी तरह अपने नामकरणमें भी तर्कसंगत है।

भौतिकवाद या वस्तुवादके प्रतिपादनसे विचार-जगतका अनस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। वस्तुवादका मूल सत्य तो यह है कि वस्तुस्थितिकी भित्ति पर ही विचार या अध्यात्म-जगतका निर्माण होता है। एक युग वह भी था जब शक्तिशाली राजसत्ता जनहितके लिए आवश्यक थी। तब रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्योंका प्रादुर्भाव हुआ। आदर्शवादी कलाकार भी—हिन्दी अथवा दूसरे साहित्यमें इस बातसे इन्कार नहीं कर सकते कि किसी भी कलावस्तुके निर्माण में परिस्थितियों (milieu) का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यह परिस्थिति क्या चीज है? कौनसे तत्त्व (constituents) हैं जिनसे कोई भी परिस्थिति बनती है? यदि इन बातोंपर सम्यक् रूपसे विचार किया जाय तो भौतिक आधारकी व्यापकता समझमें आ जायगी। घोर आदर्शवादी कलाकारों––जैसे कवीन्द्र रवीन्द्र और इकबालमें भी, यदि छानबीनकी जाय तो हज़ारों पंक्तियाँ और सन्दर्भ ऐसे मिलेंगे जिन्हें मैं आधुनिक युगके विशेष

अर्थमें प्रगतिवादी कह सकते हैं। (इस दिशामें अनुसंधान एक रोचक वस्तु होगा।)

पार्थिव जगतको कोई छोड़ कैसे सकता है? प्रगतिवाद जब भौतिकताकी बात करता है तो सबसे बड़ी बात जो ध्यानमें रखनी चाहिए वह यह है कि वह कोई नयी बात नहीं कह रहा है। उससे प्रभावित और परिचालित तो हर एक व्यक्ति और युगकी कला होती आयी है। हाँ, इस बातपर अबतक ज्ञानकी दृष्टि नहीं फेंकी गयी थी। अब प्रगतिवाद वही करनेको प्रस्तुत है। परिस्थितियाँ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और अत्यन्त गौण रूपसे व्यक्तिगत तत्त्वोंसे निर्मित होती हैं। व्यक्ति की गौणता इस बातमें है कि उसकी समस्याएँ, उसके सुख-दुःख, हास-अश्रु एक बृहत्तर वातावरण के प्रतिफलन मात्र हैं। महादेवी वर्माके जीवनमें रूदनका इतना व्यापक प्रवेश आखिर इसी तरह तो हुआ! वह पूर्ण रूपेण आभ्यन्तरिक विकास नहीं हो सकता। युग विशेष की कमोवेश अनुरूपता इस बातको और भी अधिक पुष्ट करती है। छायावादी साहित्यमें रुदनका एक विशेष स्थान है। 'प्रसाद' ने 'आंसू' काव्यकीही सृष्टि कर दी। महादेवी जी का तो पूछना ही क्या? उनका तो 'निशि दिन बरसत नयन' रोना कवि-धर्म हो गया। जैसे रोये बिना काव्य-सृजन हो ही नहीं सकता। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि उस साहित्यमें हास नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति सदा रोनेकी रही है। इस प्रवृत्तिको प्रगतिवाद विरोधी समालोचक और कलाकार बहुधा idealize किया करते हैं। वेदना जीवनका एक चिरन्तन एवं शाश्वत अंग है, ऐसा उनका कथन है। एक समालोचक महादेवी वर्माकी अश्रुप्लावित पंक्तियोंको क-ख-ग करके गिनाकर कहता है:––

"मालूम होता है महादेवीजी दुःखोंसे केवल पीड़ित ही नहीं होतीं, आपकी रोनेकी एक आदत-सी हो गयी है।" यह रोनेकी आदत चिरन्तन चाहे हो या न हो, किन्तु चिरन्तन रूपसे रुचिकर तो कदापि नहीं। और न यह मानसिक स्वास्थ्यका ही परिचायक है। यह आलोचना बहुतोंके लिए अप्रिय हो सकती है, किन्तु है सत्य। ऐसे स्थानोंपर प्रगतिवाद कहता है, विचार करके देखो, ज्ञान की दृष्टिसे काम लो।

कुछ भ्रम यहाँ भी हो सकता है, कला और कलाकारोंके विषयमें जितनी किंवदन्तियाँ हैं उनमें एक यह भी है कि सोचना अथवा तर्क-शक्तिका प्रयोग दार्शनिकों-वैज्ञानिकोंका काम है, कलाकारोंका नहीं। जैसे कलाकार आदमी न होकर कोई और जीव हो या इसे यों कहा जाय कि कोई कलाकार जबतक कलाकार है तब तक आदमी नहीं है। अब तक तो (इन ऊल-जलूलोंको छोड़कर) हम यही जानते और सुनते आये हैं कि मानव=पशुत्व(animality)× विवेक (rationality)। जो समालोचक भ्रमवश ऐसा कहते हैं कि कविताका मैटर भाव मात्र है वे भी शायद मानवकी इस परिभाषाका विरोध नहीं कर सकते। वे यह भी भूल जाते हैं कि भाव एकाकी नहीं टिक सकता, उसे आधार चाहिए और अन्तिम विश्लेषणके पश्चात् हमें पता चलता है कि आधार प्रायः विवेक-जनित विचार (thought) ही हुआ करते हैं। भाव और विचारके सम्मिश्रणसे जो एक तीसरा ही रासायनिक पदार्थ तैयार होता है वही काव्यका मैटर है। किसी युग-प्रवृत्तिका काम भाव-तत्त्वको परिवर्तित करना नहीं है, न वह ऐसा कर ही सकती है। हाँ, उसको संयत और परोक्ष रूपसे भावाधारको बदल कर किसी तरह प्रभावित अवश्य कर सकती है। किन्तु मूल भावना एक रहती है। शास्त्र उसे स्थायी भावकी संज्ञासे पुकारते हैं। प्रेम, करुणा अथवा क्रोधको कोई वाद न मिटा सका है और न शायद मिटा सकेगा। किन्तु उसके भावाधारको परिवर्तित करनेका सचेतन प्रयास तो हमेशा होता आया है। अचेतन रूपसे जीवनकी परिस्थितियोंके बदलनेके कारण भावाधार बदलते रहते हैं। किसी भी साहित्यमें इस अचेतनको सचेतनका रूप सदा दिया जाता रहा है। जब कविता-कामिनीको सोसायटीके बनावटीपनसे साधारण व्यक्तित्व की ओर अग्रसर होनेका आदेश वर्ड्सवर्थने अपने सुप्रसिद्ध "Preface to the Lyrical Ballard" में दिया था तो क्या उसका सौन्दर्य नष्ट हो गया था? सत्य तो यह है कि यदि ऐसा नहीं किया जाय तो काव्य-कला विनष्ट हो जायेगी, क्योंकि उसका प्रवाह रुक जायगा।

रूपसे भावाधार अथवा विचार-तत्वको दिशा-
रानेका प्रयत्न अनेक कारणोंसे उचित एवं संगत
ा जीवनमें एक आवश्यक शक्तिके रूपमें विराज-
। इसका एक व्यापक एवं विस्तृत प्रभाव राष्ट्रके
र पड़ता है। यह सांस्कृतिक शक्ति मिथ्या नहीं
ती, अमोघ है। इसका प्रयोग कोई चाहे या न
ाने-अनजाने या तो शोषक वर्गके हितके लिए
ा शोषित वर्गके हितके लिए। जन-संस्कृति अथवा
रोधी संस्कृतियोंमें से किसी एकका दामन थामना
लिए अनिवार्य है। कलाकारको विचारना होगा
किसकी ओर है, किस पक्षका साथ वह देगा।
ता अथवा विकल्पका यहाँ उसी प्रकार अवकाश
जिस प्रकार जीवनसे निष्पक्षता अथवा विकल्प
स्थान जीवनमें नहीं हैं। दोमें से एक रास्ता
है। सारे कलाकार दो में से एक रास्तेपर जाने-
ने चल भी रहे हैं। प्रगतिवाद यहाँ भी एक ठोकर
ा है और कहता है—देखके चलो!

इससे कला की कलात्मकतापर, सच पूछा जाय,
ोई खलल नहीं पहुँचता। मेरा तो विश्वास है कि
कलाका विकास ही होता है। आदर्शवादी कला
हुत बड़े-बड़े महारथियों का वरदान मिला है।
वाद अबतक उस सौभाग्यसे बंचित था। किन्तु
तो सुघड़ साहित्य-शिल्पियों की कला उसे सँवारने
स्त है। विचार-तत्व को दिशा-ज्ञान कराने
ाद प्रगतिवाद का बहुत कुछ कर्त्तव्य समाप्त
ाता है। यहींसे कलाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा
जो स्वयं शुद्ध रूपसे व्यक्तिगत न होकर शुद्ध
त्तत्व (genetic personality) और जड़
के द्वन्द्वात्मक विकास की उपज है, उसका काम
होता है। यदि कलाकृति को तीन पक्षोंमें विभा-
किया जाय—विचार पक्ष, भाव पक्ष और कला
—तो किसी भी वादका प्रत्यक्ष कर्त्तव्य विचार-पक्ष
दिशा विशेष की ओर प्रेरित करनेका होता है।
क्तिगत प्रतिभा उस दिशामें ही ऐसी भावात्मक
ताका अनुभव कर सकती है और ऐसी सम्यक् कला
ँवार सकती है कि उत्कृष्ट कोटि की कविता उतर
ी है। अतः जन-साहित्य-निर्माणके लिए जन-जीवनसे
ात्म्य करना अनिवार्य है, किन्तु मैं यह भी नहीं

मानता कि मजदूरोंपर कोई अच्छी कविता मजदूर होकर ही लिख सकता है। कलाकारप्रतिभा का यह विशेष गुण है कि वह अपने आधारसे बाहर निकल कर इतर आधारोंमें प्रवेश कर सकती है। शेक्सपीयरने जीवनके अनन्त पहलुओंको चित्रित किया है। 'निराला' की 'विधवा' अथवा 'वह इलाहाबादके पथ पर' वाली कविता कितनी सत्य उतरी है! किन्तु यह भी सत्य है कि कोई शिमलाके होटलोंसे हिमालय की वर्फानी चोटियोंपर खेलती हुई रंग-बिरंगी किरणोंको देखकर—देखते रहकर शोषित जीवनके हाहाकारोंको वाणी नहीं दे सकता। वह अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकता है कि परीदेश की ओर अपनी कल्पना की पाँखोंपर उड़नेके बजाय कभी-कभी उसकी विपरीत दिशा पकड़ ले और उतने ही काल्पनिक मजदूर-लोक के किसी पक्षको रूप दे जाय। किन्तु इससे वांछित साहित्य की रचना असम्भव है। अमर कलाकारों की अन्य विशेषताओंमें एक यह भी है कि वह अपने समसामयिक जीवन-रस को गहरे पैठकर खींचता है, जैसे कोई वृक्ष वातावरणसे ऑक्सीजन को खींचता है। इसी 'ऑक्सीजन' से व्यक्ति का कवि जीवित रहता है। वह अपने समयके प्रभावोंके प्रति सर्वाधिक सचेत होता है। इसके विपरीत जो अपने को अपने व्यक्तित्वके भीतर ही सीमित कर लेते हैं उनका वहीं दम भी घुट जाता है। अतः प्रगतिवाद तो उस ओर इंगित करता है जिधर चलकर कलाकार अमर हो जाते हैं। यह जीवन-रस प्रेम, घृणा, क्रोधादि चिरन्तन भावोंके साथ घुला रहता है। अमर कला की सृष्टि इसीसे होती है। जब प्रगतिवादको इससे कोई विरोध नहीं तो यह कहना कि प्रगतिवादमें बीजरूपसे अमर कला-सृष्टिकी अयोग्यता (inherent incapacity for immortal art) वर्तमान है, बिल्कुल मिथ्या है। आदर्शवादी कलाकारोंने बहुत-बहुत अमर कलाकृतियों की रचना की है, इससे कौन इन्कार कर सकता है। किन्तु प्रगतिवाद भी इसके अयोग्य नहीं है। 'पन्त' की 'ग्राम्या' पर कला-पक्षके अभाव का दोष नहीं मढ़ा जा सकता। किन्तु प्रगतिवाद तो 'पन्त'से भी बड़े-बड़े कलाकारों को जन्म देने की योग्यता रखता है। यदि साहित्यमें 'चिरन्तन एवं शाश्वत=ईश्वर' नहीं मान

लिया जाय, तब तो प्रगतिवाद भी 'चिरन्तन एवं शाश्वत' साहित्य रच ही सकता है। असल में साहित्यमें 'चिरन्तन एवं शाश्वत=ईश्वर' है भी नहीं। अन्यथा 'सीताराम, सीताराम, सीताराम, जय सीताराम' भी शाश्वत साहित्य की पंक्तिमें आ जुटता।

जहाँतक कलामें सौन्दर्यके प्रतिष्ठापन की बात है, इससे प्रगतिवाद को कोई विरोध नहीं। प्रगतिवाद भी अपनी कला को सँवारता है। किन्तु गन्धर्व देशसे सौन्दर्य उधार लाकर फटे टाट पर रेशमकी बखियाका वह हिमायती नहीं। उसके पास सौन्दर्यकी अधिक प्रौढ़ परख है। वह जिस बातको कहना चाहता है उसे समीचीन माध्यमके द्वारा कह सकने में ही कला का सौन्दर्य समझता है। सौन्दर्य-पूजामें वह इससे भी अधिक गहरे प्रवेश करता है और कलाके सौन्दर्यसे कहीं अधिक विस्तृत जीवनके स्वस्थ सौन्दर्य की कामना रखता है—वह मूल सौन्दर्य जिससे कला का वास्तविक सौन्दर्य फूट सकता है। जीवन की कुरूपता उसके लिए असह्य है। इसीलिए बारबार उसकी ओर संकेत करके उसे उखाड़ फेंकने की प्रेरणा देता है। यही सच्ची सौन्दर्य-पूजा है। ज्यों-ज्यों जन-जीवनमें सौन्दर्यका प्रवेश और विकास होता जायगा, कला भी अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें सुन्दरसे सुन्दरतर होती जायगी। सौन्दर्यकी सृष्टि ही उसका लक्ष्य है।

वर्तमान कुरूपताओंकी ओर संकेत करनेके कारण कितने ही समालोचक शीघ्रतामें प्रगतिवादको अश्लील कह बैठते हैं। प्रगतिवादके नाम पर जो भ्रष्ट साहित्यकी रचना हो, उसका समर्थन मैं नहीं करता। शायद अश्लील में कुछ लोगोंको मजा भी आता हो और वे उसपर प्रगतिवादका लेबेल चिपकाकर उसे चलतू चीज भी बनाना चाहते हों। किन्तु इससे प्रगतिवाद पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। स्वच्छन्दतावादमें भी भ्रष्ट कोटि की कविताएँ हुई हैं। ऐसे 'कलाकारों'को न प्रगतिवाद कुछ कर सकता है, न स्वच्छन्दतावाद। किन्तु पूर्व-धारणाके कारण कुछ लोग प्रगतिशील साहित्यको साहित्य के रूपमें नहीं पढ़ते, अश्लीलताकी खोजके लिए पढ़ते हैं। और जहाँ कहीं किसी ऐसी चीजका आभास भी मिल जाता है कि दाँतोंसे पकड़ लेते हैं। ऐसे पाठक और पाठकसे भी अधिक वह सचेतन जीव जिसे हम समालोचक कहते हैं, उन अश्लील साहित्यिकोंसे ऊपर नहीं उठ पाते। बहुधा अश्लीलताका भ्रम आलोचककी स्वयं अपनी भ्रष्ट चेतनाके कारण होता है। अकाल पीड़ित कोई माँ अपनी कोटरगत आँखोंको चलानेका प्रयास कर अपनी सूखी छाती परका फटा अंचल उड़ा-उड़ा कर भी यदि नोटोंके पुलिन्दे उछालते हुए किसी नृशंस धनपतिको आमंत्रित कर रही हो और उसकी तस्वीर कलाकार खींच दे तो क्या वह अश्लीलता हुई? ऐसे स्थान पर अश्लीलताके दर्शन करनेवालेके लिए तो मुझे किसीके कहे वे शब्द याद आते हैं:—"Nature gives to man what he takes to her." जो जिस भावसे भगवानका भजन करता है वे उसी भावसे उसे दर्शन भी देते हैं।

> "अर्ध नग्न पड़ी अपनी पलंग पर
> कर देती समर्पित सोल्लास अपना शरीर
> उस मनहूसको, खूँसटकी ठूठको
> जो तुम्हारी जाँघ और पिंडलियोंकी सख्ती पर
> मस्त हो, कूद वनमानुष-सा, जानवर-सा काँपता।"

इन पंक्तियोंमें निहित करुणा और घृणासे अभिभूत न होकर जो अश्लीलताके दर्शन कर सकते हैं, उनकी साहित्यिक दृष्टि पर क्षोभ हुए बिना नहीं रह पाता। 'सोल्लास' शब्द तथा प्रथम दो पंक्तियोंकी गति एवं प्रवाहसे अश्लीलताका हल्का-सा संकेत मिल सकता है। किन्तु उसके तुरत बाद गतिका जो अनायास परिवर्तन होता है और अर्थ एवं उच्चारणकी कर्कशता लिये हुए मस्तिष्क पर कस-कसके हथौड़ा लगाने वाले शब्द—'मनहूस' 'खूँसट की ठूठ' 'जाँघ' 'पिंडलियोंकी सख्ती' 'कूद वनमानुष-सा' 'जानवर-सा काँपता'—जब एक-पर-एक टूटने लगते हैं तो अश्लीलता छिन्न-भिन्न हो जाती है। पिछली पंक्तियोंके कारण 'सोल्लास' का अर्थ भी जादूकी तरह बदल जाता है। विरोधाभासके कारण 'उस मनहूस'के प्रति वीभत्स घृणाका भाव और भी सघन हो उठता है और कुरूपतासे कलाकी सृष्टि होती है। अश्लीलता तो तब थी जब कुरूपतामें ही मजा लिया जाता।

———

देवताओंकी मूर्तियाँ

राजेन्द्र यादव

बहुत कम लोग जानते हैं कि वह महान कहानीकार, जिसकी एक-एक कहानीके लिए लोग आंखें बिछाये रहते हैं, चाट-पकौड़ीका खोञ्चा लगाता होगा। इसपर सभीको आश्चर्य है, किन्तु मैं उन्हें सदा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता आया हूँ। घरपर जब गया तो बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हुए खड़े हो गये। उनकी बैठक सामान्य मध्यवर्गीय लोगोंकी तरह सजी थी। इसी प्रकार वे घरमें रहते भी हैं। जो जानते हैं, उन्हें उनके विषयमें कुछ रहस्यका विश्वास होता है कि क्यों यह आदमी सन्ध्याके पाँच बजेसे आठ बजे तक साइकिल ठेलेपर अपना सब सामान सजाये बाजारमें जा खड़ा होता है।

"कहिए क्या हो रहा था?--बड़े गम्भीर दिखायी दे रहे हैं?" मैंने कुर्सीपर बैठतेही कहा।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं" वे जल्दीसे बोले--"आज अपनी डायरीसे ये पुराने कुछ पृष्ठ फाड़ लिये हैं, सोचता हूँ इनकी कहानी बन सकती है या नहीं। वैसे मुझे अच्छे लगते हैं।" उन्होंने डायरी एक ओर रखकर दूसरे हाथमें फटे हुए कुछ पृष्ठ दिखाये।

"तो मैंने आपको बाधा डाली है?" मैंने शिष्टताके नाते पूछा।

"नहीं--नहीं, तुम देखो इन्हें।" उन्होंने पृष्ठ मुझे देते हुए कहा--"पृष्ठोंमें तारीखकी चिन्ता मत करो, जहांसे जितने आवश्यक समझे हैं, फाड़ लिये हैं। कुछ अपना भी विश्लेषण है, आत्मप्रशंसा मत समझ लेना।"

"नहीं।" पृष्ठ लेकर मैं पढ़ने लगा। मुझे गर्व हुआ कि वे मुझे इतना महत्त्व देते हैं। पहिला पृष्ठ इस प्रकार था:--

"लोग न जाने क्या-क्या मेरे विषयमें सोचते हैं। कोई मेरे चाट बेचनेपर किसी गूढ़ रहस्यका आरोप करता है, कोई समझता है कि मैं बहुत बना हुआ हूँ; किन्तु अधिकांश लोग घृणासे कहकर थूक देते हैं--'अरे वह चाटबेचू, उन लोगोंने भी कभी कहानियां लिखी हैं।' मैं समझता हूँ कि इन लोगोंके अन्दर ईर्ष्याकी मनोवृत्ति काम करती है कि वैसी कहानियां वे लिख नहीं पाते। यह सब है, लेकिन मैंने उसके विषयमें कभी कोई ऐसी बात नहीं सुनी, न कभी उसके मुखांकित भावोंसे लगा कि वह ऐसी बात भी सोचता है। एकाध गोष्ठीमें मैंने उसकी कविता भी सुनी है। सुनानेका ढंग बहुत भावपूर्ण, अभिव्यंजनात्मक और सुन्दर है। कई पत्रिकाओंमें मेरी कहानियाँ और उसकी कविताएँ साथ ही छपी भी थीं। कभी-कभी मुझे उसकी कविताएँ अच्छी भी लगती थीं। बहुत हँसमुख, गोरा, हट्टा-कट्टा युवक है। प्रगतिशील विचारोंका, गरीबोंसे सहानुभूति रखनेवाला। गोष्ठियोंमें उसने मेरी कहानियाँ ध्यानसे सुनी पढ़ी हैं, और लगता है समझनेका प्रयत्न भी करता है।

आज अचानक सन्ध्याके समय दिखायी दे गया--दिखायी क्या दे गया मेरे ही पास आ रहा था। दूरसे देखतेही मुस्करा दिया। पास आकर नमस्ते किया।

"तो आपकी दूकानदारी चल रही है।" उसने और पास आकर कहा।

"कहिए उदयजी, आज 'चाट बेचू' लोगोंकी तरफ कैसे निकल आये?" हँसकर मैंने आलूकी टिकिया बनाकर तवेपर डालते हुए कहा।

वह एकदम गम्भीर हो गया; कुछ बोला नहीं। सोचता रहा कुछ।

"कहिए क्या खिलाऊँ?" मैंने कहा--शायद मेरी बातको वह बहुत गम्भीरतापूर्वक ले गया था, उसीका प्रभाव कम करनेके लिए मैंने पूछा।

"हः हः मैं न जाने क्या क्या सोचने लगा!" वह एक दम सचेत हुआ और अपनी इस असमय उभड़ आयी दुर्बलतापर कुछ लज्जित भी। एकदम बोला--"एक आनेकी टिकिया खिलाइए।"

"बस, कुछ और भी तो, आखिर आप इतने दिनोंमें, इतने दिनों क्या पहिली बार आये हैं।" मैंने कहा, और पलटेसे आलूकी टिकियापर घी छोड़ने लगा।

खूब हँसा, बोला, "देखता हूँ, प्रतिष्ठित साहित्यिक पक्का घुटा हुआ दूकानदार भी है।" फिर एक दम गम्भीर होकर कहा--"नहीं कुमारजी, एकही आना है इस समय। कल सन्ध्याको थोड़े-से भीगे हुए चने खाये हैं--बस।"

मैं चौंका, उसकी ओर देखा। उसका मुँह बहुत दृढ़ गम्भीर हो गया था--तो इनके घरकी हालत यह है! मैंने बिना कुछ कहे चार टिकिया पत्ते पर रख दी, उन्हें बीचसे खोला, अच्छी तरह नींबू निचोड़कर उसकी ओर बढ़ा दिया। भापके साथ सौंधी सुगन्धि चारो ओर उड़ने लगी।

"न....न् इतना मैं नहीं लूँगा, मेरे पास पैसे नहीं हैं" उसने आपत्ति की।

"लो तुम।" मैंने आज्ञाकी तरह कहा। प्रयत्न करनेपर भी मैं हँस नहीं सका। उसके झिझकते-से हाथपर पत्ता रखकर मैं तत्क्षण दूसरी ओर देखने लगा; क्योंकि इस समय उसकी आँखोंमें भूख उतर आयी थी। बड़ा-सा टुकड़ा लेनेमें शायद उसे झिझक मालूम हो। दूसरे ग्राहकोंको मैं सौदा देने लगा। फिर मैंने बड़ेसे दोनेमें आलू पकोड़ियाँ-गुँझिया बनायी। वह टिकिया खा चुका था, जब मैंने दोना बढ़ाया तो दूर हट गया--"नहीं, मैं हरगिज नहीं लूँगा।"

"बेकारकी बातें मत करो।" मैंने कहा, और फिर दोना उसके हाथपर रख दिया।

जबतक वह खाता रहा, मैं और लोगोंको देता रहा, अपने सामानको ठीक़ करता रहा। जब वह खा चुका तो मैंने उसके हाथ धुलाये। तृप्तिकी एक छिपी हुई सांस उसने ली। फिर कहा--"कुमारजी, मेरे पास बस एक इकन्नी है।" मैंने उसकी ओर देखा--उफ़, उस समय उसकी आँखोंमें क्या था मैं कह नहीं सकता। मैं भावोंको शब्दबद्ध करनेमें बेजोड़ माना जाता हूँ, पर उसकी आँखोंमें क्या था, उसका एक कण भी आज मुझसे अभिव्यक्त नहीं हो रहा। कुछ स्थानोंपर हम लोग कितने निरुपाय हैं! असमर्थता....याचना....दैन्य, असहाय-विवशता--न जाने क्या था। मैं उस ओर देख नहीं सका।

मैंने कहा--"इस जगहमें दूकानदार हूँ और चाट वाला हूँ, यहाँ मुझे कुमारजी मत कहो। कुमारजी जहाँ हूँ वहाँ हूँ। इकन्नी पीछे दे देना।"

वह चुपचाप खड़ा रहा, यों ही इकन्नी लिये।

मैंने उसका हाथ पीछेकी तरफ हटाकर उपेक्षासे--क्योंकि मैं यह तनिक भी आभास नहीं देना चाहता था कि अभी मैंने तुम्हारे साथ कुछ किया है--कहा--"उदयजी, आप हमारे यहां आइए कभी। आपकी रचनाएँ सुने काफी समय हो गया है। वास्तवमें मैं बहुत पसन्द करता हूँ आपकी रचनाएँ। आपमें प्रतिभा है।" मैंने 'मार्क' किया कि जो कमजोरी और साहित्यिकोंमें होती है वह उसमें भी है। वह सकुचा गया।

"अरे, आप बना रहे हैं।" उसने कहा। वह अब सुस्त होने लगा था।

"नहीं, मैं बना नहीं रहा, आप आइए।"

"अच्छा, अब चलूँ--आऊँगा!" कहकर वह दोनों हाथ नम्रतासे जोड़कर कुछ झिझकता-सा बाजारमें एक ओर चला गया। मैं देखता रहा, मलमलके कुर्तेमेंसे उसकी बनियान चमक रही थी। पाजामा अपेक्षाकृत कुछ मैला था।

मैं सोचने लगा, इस चार-पाँच लाखकी बस्तीमें शायद दो आदमी भी ऐसे नहीं हैं जो यह जानते हों कि उदय चौबीस-चौबीस घण्टे बाद भींगे हुए चने और दान (हालांकि मैं नहीं समझता) की चाट खाकर पेट भरता है। वह जो घण्टों उन्हें मन्त्रमुग्ध रखता है, एक ऐसे उदात्त लोकमें पहुँचा देता है जहाँसे वे लौटना पसन्द नहीं करते। और भी बातें मेरे मस्तिष्कमें आतीं और उछल-कूद मचाती रहीं। मेरा मन चाट बेचनेमें नहीं लगा।"

एक पृष्ठ समाप्त हो गया था, वे बैठे कुछ सोच रहे थे। मैं दूसरा पढ़ने लगा--

"जैसे ही नहा-धोकर कमरेमें आया, देखा, उदय बैठा एक अखबारके पन्ने पलट रहा था। कहा--"ओहो, उदय जी हैं!"

नमस्ते करके वह बोला—"हां, सोचा, आज हो आयें।'

"बड़ा अच्छा है!" मैंने कहा—"कहिए, आजकल ा हो रहा है? कहां काम कर रहे हैं?"

"मैं?—तीन-चार दिनसे राशनिंग विभागमें करी कर ली है। इन्क्वायरी इन्सपेक्टर हूँ।" उसने सीपर बैठे हुए ही सिर ऊपर उठाया।

"कैसा काम है?" मैं अब बाल इत्यादि ठीक रके उसके पास बैठ गया।

"कैसा-वैसा क्या? बड़ा 'ह्यूमेलियेटिंग जॉब' (अपमानजनक काम) है। धूप, लू, वर्षा सबमें दरवाजे-रवाजे जाते फिरो। फिर वक्त-बेवक्त जाकर टी० आर० ओ० के यहां हाजिरी दो। कुमारजी, मुझसे तो नहीं होगा ये सब।" उसने परेशानसे स्वरमें कहा।

"लिखा क्या, नया?" मैंने विषय बदला।

"कहीं नया लिखा जाता है ऐसेमें, कुमारजी! हर घड़ी बस यही चिन्ता कि शामको क्या खाऊँगा, पत्नीको क्या खिलाऊँगा। बच्चीको दूध भी चाहिए। न जाने कितने दिन हो गये, कुछ लिखनेको मन नहीं करता।" वे बोले।

"पत्नी भी है?" मैंने पूछा। फिर एकदम पूछा—"उदयजी, आपका मकान कहां है असली?"

"मेरा मकान?—मेरा मकान बांदा है वैसे तो, लेकिन अब तो जहां हूँ वहीं हैं।"

"क्यों?" इस प्रश्नपर झिझक गया। किसीकी व्यक्तिगत बातोंमें इतनी खोजबीन कहांतक ठीक होगी, सोचने लगा।

"यों ही पिताजीसे अनबन हो गयी। वे पक्के सोलहवीं शताब्दीके आदमी हैं, मेरे विचार काफी प्रगतिशील। जहां हमारे विचार एक दूसरेसे टकराये, वहीं संघर्ष। फिर विमाताका स्वभाव, मेरा स्वाभिमान इसे नहीं सह सकता। मैं यहां चला आया। इस पिछले एक वर्षमें कुमारजी, मैंने अपने समाज और संसारकी मनोवृत्तियोंका काफी अध्ययन किया है।" कहकर उसने एक गहरी सांस ली।

"मैंने सुना है, आप 'उन्मुक्त' में भी काम करते थे कुछ दिन?" मैं उसके पास खिसक आया। ध्यानसे उसके एक-एक उतार-चढ़ावको देखने लगा।

"हां, 'उन्मुक्त' साप्ताहिकमें भी मैंने सहायक सम्पादककी जगह काम किया है। लेकिन सम्पादककी भांति मालिककी चापलूसी मुझसे नहीं होती, ऊपर से यह कि वेतन बहुत कम, जो कभी-कभी समय पर नहीं दिया गया। अब आपही बताइए, मुझ जैसे आदमीके पास कहांसे खजाना रखा है? बस इसी बातपर सम्पादकसे हो गयी।" वेदनाकी रेखाएँ उसकी आंखोंके नीचे खिंच गयीं। वह चुप बैठा जैसे सोचता रहा। अन्यमनस्क-सा कहता गया—"कितना अत्याचार है इन पूँजीपतियोंका? कुमारजी, आप विश्वास नहीं करेंगे, मैं रातरात भर रोया हूँ। आलंकारिक शब्दोंमें नहीं, बिलकुल तथ्य कहा रहा हूँ, संसारमें यदि किसीको मैं प्यार करता हूँ अपनेसे अधिक, तो वह इला है—मेरी पत्नी! जब उसे हफ्तों केवल एक फटी धोती पहिने बीत गये तो मैं सह नहीं सका। हम संसारको सुखी बनानेकी बात सोचते हैं, किन्तु केवल एक साथीको, जो तिल-तिल करके रक्तका एक-एक कण मुझे दे रहा है कि मैं स्वस्थ हो सकूँ—मैं सुखी नहीं कर सकता! आप सोचिए, एक उस आदमीको, जो इतने ऊँचेसे जीवन और जगतकी समस्याओंको देखता है, यह काम—दर-दरकी ठोकरें खाना—कितना बुरा लगता होगा! वह टी० आर० ओ० जानता क्या है?—अभी तो वर्षों उसे बैठाकर पढ़ा देनेकी योग्यता है मुझमें। कुमारजी, मैं इस नौकरीको छोड़ दूँगा।" वह एकदम चुप हो गया। उसकी आंखोंमें आंसुओंकी एक बाढ़-सी एकदम आ गयी। एक घूँट-सी भरकर, वह सिर नीचा करके, पत्रिकाके चित्र देखने लगा।

"हां, अब वह समय आ गया है, जब हमें इन 'निपट निरामिष' शोषकोंके प्रति सक्रिय हथियार लेना होगा।" मैंने कहा, एक सांस लेकर।

"लोग कहते हैं मेरी कविताकी दिशा एकदम बदल कैसे गयी? अब आपही सोचिए ऐसी व्यक्तिगत परिस्थितियोंमें कोई कबतक छायावादी और रहस्यवादी कविता लिख सकता है। इसीलिए आज मैं अपनी समस्त साहित्यिकताके साथ सर्वहारा वर्गसे कदम मिलाये हूँ।"

"ठीक है, जीवन और साहित्यमें आप इतना अन्तर नहीं रख सकेंगे।"

"क्यों कुमार जी, आपकी शिक्षा कहाँतक है?" अचानक उसने पूछा। विषय बदला।

"मेरी शिक्षा?—मेरी शिक्षाका क्या है, मैं आज उसे तनिक भी महत्व नहीं देना चाहता। मैं समझता हूँ मेरी सारी पहली शिक्षा व्यर्थ थी।"

"तो भी?" उसने उत्सुकतासे पूछा।

"यों एम० ए० किया था मैंने हिन्दी और अंग्रेजी में।" उपेक्षासे कहा।

वह चौंका, फिर सोचकर बोला—"तब तो आप बड़ी आसानीसे कहीं प्रोफेसर भी हो सकते थे न?"

"हां, प्रोफेसर हो सकता था। आई० सी० एस० में जा सकता था। कहीं और भी कुछ न कुछ हो ही सकता था।" मैंने मुस्कुराकर कहा।

"तो फिर क्यों आपने यही काम पसन्द किया?" उसने पूछा।

"इसे पसन्द करनेके बहुत काफी ठोस कारण मैं दे सकता हूँ आपको। और मैं तो यह सलाह भी दूँगा कि नौकरीके चक्करको छोड़कर कुछ ऐसा ही काम कीजिए।" मैंने मुस्कुराकर उसकी ओर देखा।

"मैं? मुझसे शायद जिन्दगीमें कभी यह काम नहीं हो सकेगा। मुझे तो आश्चर्य है कि कैसे आप यह सब कर लेते हैं? अपने व्यक्तित्वके उस गौरवशाली पक्षको आप कैसे भुला देते हैं जब लाखों सिर आपकी कहानियों पर हिल उठते हैं, सोचनेको मजबूर होते, और जिस समय आप समर्थ और दूरदर्शी नेताकी भांति आगेका मार्ग दिखाते हैं, नेतृत्व करते हैं? कैसे आपने अपने व्यक्तित्वको निर्ममतासे दो भागोंमें बांट दिया है, एक वह जब बड़ेसे बड़ा विद्वान आपकी कला और विचारोंके आगे झुक जाता है, दूसरा वह जब एक छोटा, गन्दा, बदतमीज लड़का आकर डांटता है—'चाटवाले, तूने टिकिया कम खिलायी है, और दे, नहीं तो पैसे नहीं दूँगा।' कुमारजी, मुझसे यह काम जिन्दगीमें कभी नहीं हो सकेगा।"

"नहीं, चाट बेचते समय मुझे कभी अनुभव नहीं होता कि मैं कोई बुरा या छोटा काम कर रहा हूँ। अपने व्यक्तित्वके इन दो पहलुओंको मैं सदा अलग ही रखता हूँ। मस्तिष्क और पेट, इनसे आप एक दूसरेसे सहायता ले सकते हैं, प्रेरणा ले सकते हैं, पर एकको दूसरेपर आश्रित मत रखिए।' दोनोंकी अपनी अलग दिशाएँ हैं और अलग आवश्यकताएँ।"

"मैं तो यह जानता हूँ कुमारजी, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्रमें एक देश अपने जिन नक्षत्रोंका नाम लेकर अपनेको समर्थ और उच्च सौभाग्यशाली चित्रित करता है, उन्हींके विषयमें जब इतना उदासीन; मैं तो क्रूर कहूँगा, रहता है तो उसे जीवित रहनेका कोई अधिकार नहीं है! और देशोंमें देखिए, इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस, सभी जगह, और यहां देखिए, 'निराला, जैसा साहित्यकार भूखा मर रहा है!'

"निराला मूर्ख है!"

"जी हां, मूर्ख है!" इस बार शायद वह चिढ़ गया—"आप यह भी जानते हैं कि बुद्धि-वादी आदमी दूसरा कोई काम नहीं कर सकता।"

"अच्छा, आप अब तेज हो गये हैं उदयजी, फिर फिर किसी दिन, हम इसी बातको यहींसे प्रारम्भ करेंगे, बहुत शान्तिपूर्वक और विचारपूर्ण। चलिए आज 'मेटिनी' है, उदयशंकर के 'कल्पना' की काफी तारीफ सुनी है।" मैंने इस विषयके तर्कको फिर कभीके लिए टाल दिया।

और हम दोनों हल्के नाश्तेके पश्चात् सिनेमा पहुँचे। मैंने देखा, कुछ ऊँचे क्लासोंके विद्यार्थी और प्रोफेसर इत्यादिकी वहां अधिकता थी। दूसरे और तीसरे दरजेके टिकट-घरके पास कोई भी नहीं था। मैं इससे जनताका मानसिक स्तर नापने लगा।

"किस क्लासका टिकट लिया जाय?" मैंने पूछा—"मैं तो अधिकतर दूसरेका ही लेता हूँ।"

"दूसरेका?" वह चौंका, बोला—"मैं तो भई, या तो देखता ही नहीं, या फिर फर्स्टमें या 'बालकॅनी' में। यहां सभी तो अपनेको जानते हैं। अब किस-किससे अपनेको छिपाया जायगा। कोई देखे अपना साथी, तो शर्म लगती है।"

"अच्छा चलिए फर्स्टका ही ले लें।" मैंने मुस्कुरा दिया, मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि मेरी मुस्कुराहट ऐसी थी, जैसे कोई बालककी बातपर हँसे। यह मानसिक मिथ्या गौरवका शिकार बालक!"

इसके बादका पृष्ठ फाड़ दिया गया था। मैंने एक सांस ली और कुमारजीसे कहा—"कुमारजी, काफी

गम्भीर और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाकर आपने छोड़ दिये हैं !"

"छोड़े नहीं हैं, दूसरी तरह लिया है उन्हें।" वे मुस्कुराए। मैंने अगला पृष्ठ पढ़ा, ऊपरका थोड़ा भाग फाड़ दिया गया था :—

"जैसे ही अपनी 'पोर्टफोलियो' लेकर मैंने प्लेटफार्मपर पांव रखा, सामने गाड़ी लगी हुई थी और उसमें सेकण्ड क्लासके डिब्बेसे झांक रहा था उदयजीका मुख। नीली रेशमी बुश्शर्ट, सफेद पेण्ट पहिने दरवाजेमें खड़े झांक रहे थे, देखते ही नमस्ते किया। मैं मुस्कुरा उठा। फौरन पास गया।

"कहिए, छः महीने बाद दिखायी दे रहे हैं आप, क्या यह शहर बिल्कुल छोड़ दिया?" मैंने हाथ मिलाकर कहा—"आप तो बिल्कुल ही अदृश्य हो गये। इधर एक साप्ताहिक पर आपका नाम पढ़ रहा हूँ सम्पादकको जगह। क्या इन्सपेक्टरी छोड़ दी?"

"बहुत बातें हैं। आइए बैठिए, सम्मेलनमें जा रहे होंगे, पत्रकी ओरसे मैं भी जा रहा हूँ। सोचा इलाको भी दिखा लाऊँ, फिर कब कौन कलकत्ता दिखाने बैठा।" उसने मेरे भीतर आनेका मार्ग छोड़ दिया और खिड़कीके पासवाली सीटपर रखा पंखा, पत्रिका इत्यादि एक ओर हटाकर स्थान करते हुए कहा—"बैठिए।" थोड़ी दूरपर एक युवती बैठी थी। पासही तौलियामें लिपटी बच्ची सो रही थी। अनुमान लगाया यही इला—इनकी पत्नी होगी। एक उड़ती-सी दृष्टि युवतीपर डाली और दरवाजेके पास बैठ गया, पासही वह स्वयं। युवती काफी सुन्दर और उन्नीस-बीस वर्षकी होगी। वह एक पत्रिका पढ़ रही थी, अब उसे रखकर, सिरका कपड़ा ठीक करके बैठ गयी।

"इला देखो, यही कुमारजी हैं, जिस सम्मेलनमें हम जा रहे हैं उसके सभापति, और बहुत स्वादिष्ट चाटवाले।" कहकर वह हँस दिया। इलाने आदरसे मेरी ओर मुस्कुराते हुए हाथ जोड़ दिये।

"तुमतो एकबार ही चाट खाकर मेरे इतने प्रशंसक हो गये।" मैं जोरसे हँस पड़ा, हँसा वह भी, पर उसकी कातर गम्भीरता हँसीके उस क्षीण आवरणमें छिप नहीं सकी। उसे वह चर्चा दुखद या अप्रिय है। मैंने निश्चय किया कि मैं ऐसी चर्चाको सम्भवतः बचाऊँगा ही।

"कहो किधरसे आ रहे हो, क्या कर रहे हो?" मैंने पूछा, ध्यान दिया। इलाने हमारी ओर ध्यानसे देखा, फिर कान हमारी ओर लगाकर पत्रिका पढ़ने लगी।

"मैंने 'इन्सपेक्टरी' दो महीने पहिले ही छोड़ दी। मुझे यह हृदयसे नापसन्द थी। फिर 'लोक-निर्णय' साप्ताहिकको सम्पादककी आवश्यकता हुई। मैं उस जगह हो गया हूँ। डेढ़ सौ देते हैं, काम काफी करना पड़ता है, काफी क्या, यों कहो सब मुझे ही करना पड़ता है। अधिकांश लेख लिखनेसे लेकर 'प्रूफ-रीडिंग' तक। कोई दूसरा है ही नहीं। कमर झुकी रहनेसे अकड़कर पत्थर हो जाती है। बहुत काम है।" और उसने एक थकी हुई सांस छोड़ी।

"बहुत शोषण है।" एक निश्वास मेरे मुखसे निकल गया। गाड़ी चल दी। खट्र-खट्र करती रेल पटरियां बदलती-छोड़ती चली जा रही थी।

"कुमारजी, मुझे वास्तवमें आश्चर्य है, ऐसा नीच और अपमानजनक काम आप कैसे कर लेते हैं?" उसने तीसरी या चौथी बार मुझसे यह प्रश्न किया। बोला, "कुमारजी, आप मानते नहीं हैं, लेकिन मैं कहता हूँ, किसी भी बुद्धिजीवीसे यह काम कभी भी नहीं हो सकता। और फिर जिसमें वह जो दो विषयोंमें एम० ए० है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि आदमी इतना ऊँचा उठकर नीचा नहीं झुक सकता। मैं तो भई, कभी नहीं कर सकता।" उसने मुझे जो चाटवाला कह दिया था, शायद उसकी सफाई दे रहा था।

"यह मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं, बुद्धिजीवियोंकी बड़ी कमजोरी है। आप जीवन और साहित्यको इतना दूर क्यों रखना चाहते हैं?" मैंने इस प्रकार कहा, जैसे इस बातको कई बार कह चुका हूँ।

"नहीं कुमारजी, अब अधिक इस हथियार से काम नहीं चलेगा। बहुत दिनों तो आपने इस वाक्यको 'ट्रम्पचाल' की भांति प्रयोग कर लिया कि 'जीवन और साहित्यको अलग मत रखो।' किधरसे आपको जीवन और साहित्य अलग दिखायी देते हैं? आजका हमारा सारा साहित्य ही तो हमारे दैनिक जीवनकी

समस्याओंसे भरा हुआ है। हमारे जीवनकी विषमताओंने ही तो एकदम छायावादी भावुकतापूर्ण भाव-धाराके आगे पूर्ण विराम लगा दिया है। शोषक और शोषित, दो वर्गोंका चित्रण ही आपको अपने साहित्यमें मिलेगा।"

"ठीक है, इन सबको क्यों दुहरा रहे हो? लेकिन उस सबमें जान कितनी है। आप किसान और मजदूरोंका चित्रण करने बैठ जाते हैं, लेकिन उनके जीवनमें क्या समस्याएँ, क्या विषमताएँ हैं, इसे आप क्या जानें? और मनोवैज्ञानिक स्तरपर उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है इसे तो अपने कमरेमें बंद आप जान ही नहीं सकते। और इन सबका चित्रण जब आज की रचनाओंमें पढ़ता हूँ तो क्रोध आ जाता है। कितना ही निर्जीव क्यों न हो, यह तो आजका फैशन है, चलेगा!"

"तो आप यह कहना चाहते हैं कि जो जिस वर्गका हो उसीका चित्रण करे? इससे तो साहित्य-सृजन को आप बहुत सीमित बना देंगे।" उदयने पूछा।

"नहीं, लेकिन जो कुछ आप कहें, उसका कुछ तो अनुभव रखिए। मैं चाट बेचता हूँ, मैं सड़कके सैकड़ों आदमियोंका अध्ययन दिन-रात करता हूँ। कैसे वे एक दूसरेके प्रति व्यवहार करते हैं, कैसे वे किसी स्त्रीके प्रति धारणाएँ बनाते हैं, वे मेरे साथ कैसा व्यवहार करते हैं, किस आधार पर सबके अन्दर क्या मनोवृत्तियाँ काम करती हैं? इसीलिए मैं कहता हूँ जो कुछ आप कहें, उसमें अनुभूतिकी शक्ति होनी ही चाहिए। आप नहीं बता सकते कि आजकी जनताका किसी चीजको देखनेका दृष्टिकोण कैसा है। आप अनुमान लगा सकते हैं, झलक दे सकते हैं, लेकिन कुछ नहीं।"

"नहीं, यह आप कैसे कहते हैं? मैंने कई निबन्ध जब मजदूरोंके ऊपर लिखे तो मैं स्वयं उन लोगोंमें गया। उन्हें समझा और मैं समझता हूँ, काफी सबल चित्रण उनकी समस्याओंका मैं कर सका हूँ।"

"यही तो बात है कि फिर जब आपपर दोष लगाया जाता है कि आपका साहित्य सर्वहारोंके प्रति मात्र बौद्धिक सहानुभूति लिये हुए है, या आपका दृष्टिकोण अभिजातवर्गीय है तो आप चौंकते क्यों हैं? आप छठे-छमाहे यों उन्हें देखने चले जाते हैं इससे होता क्या है। मैं पूछता हूँ आप उन्हींमेंसे एक क्यों नहीं हैं? उन्हींमेंसे एकका मतलब यह नहीं कि उनके अतिरिक्त जो लोग हैं वे लिखना बन्द कर दें; नहीं, मैं कहता हूँ, आप उनके तटस्थ दर्शक क्यों हैं? आपने उन्हें तमाशा क्यों बना दिया है? उस समय आपके मस्तिष्कमें एक संस्कार, एक पूर्व धारणा होती है कि जिसे हम देख रहे हैं, काम या मनुष्य तो वह छोटा है! दूसरे शब्दोंमें, आप जरा लिखना जानते हैं, बस इसी आधारपर आप क्यों अपने आपको सबसे बड़ा समझते हैं कि जीवनकी प्रत्येक बातके आप मात्र दर्शक रहेंगे और सरकारको आपकी सहायता करनी ही चाहिए, जैसा और देशोंमें होता है। आप एक क्षणको भी क्यों नहीं भुला पाते कि आप बड़े लेखक हैं। लिखते समय, बात करते समय, सोते समय, यही बात क्यों आपके मस्तिष्कमें चक्कर मारती रहती है? अपनी बात मैं कहता हूँ। मैं जिस समय चाट बेचता हूँ या सेकण्ड क्लासमें सिनेमा देखता हूँ, यह भूल जाता हूँ कि ऊँचेसे ऊँचे साहित्यिक पत्रोंमें मेरी समालोचना और प्रशंसा निकली है।"

"कुछ भी हो, हमसे यह हो नहीं सकता! मैं पूछता हूँ, क्यों आप बौद्धिक और शारीरिक श्रमको एक ही स्तरपर रख देना चाहते हैं? क्या इनमें बौद्धिक श्रम अधिक ऊँचा नहीं है?" उदय मेरी बातोंसे चकरा रहा था।

"मैं ऐसा माननेको तैयार नहीं हूँ। ये तो एक दूसरेके प्रेरक हैं, पूरक हैं। अठारह घण्टेकी बौद्धिक क्लान्ति तीन घण्टेकी बागबानीमें बिल्कुल दूर हो जायगी, और आठ घण्टेका शारीरिक श्रम दो घण्टेके उपन्यासमें। अब कामोंमें आपको चुनना होगा कि दोनों एक दूसरे के सहायक हों। आपमें से अधिकांश किसी कॉलेजमें प्रोफेसर हैं, कहीं क्लर्क हैं, किसी पत्रमें सम्पादक हैं, या ऐसी जगह हैं जहाँ आठसे लेकर बारह घण्टेतक आपके मस्तिष्कका तेल निकाला जाता है, उसी थके हुए मस्तिष्कसे आप कोई चीज लिखते हैं, फिर यह आशा करते हैं कि वह बहुत सशक्त होगी। इसीलिए मैंने यह चाटका काम पसन्द किया है कि जब मैं कोई चीज लिखने बैठता

। मानसिक रूपसे बिल्कुल स्वस्थ और ताजा होता इसमें एक मेरी शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति ा है, दूसरा बौद्धिक। और जब मैं गर्व करता हूँ कि साहित्य सशक्त होता है तो मैं समझता हूँ, मैं से अधिक दूर नहीं होता।"

उदय आश्चर्यसे मेरी ओर देखता जा रहा था कि क्या कहे जा रहा हूँ, फिर बोला——"तो आप सरकारके ऊपरसे बिल्कुल ही उत्तरदायित्व हटा लेना हते हैं। कमसे कम प्रत्येक सरकारको चाहिए कि ह बुद्धिजीवियोंको पेटकी चिन्तासे मुक्त कर दे। भी प्रकारकी सुविधाएँ दे।"

"ठीक है।" वास्तवमें प्रश्न उसने काफी गम्भीर र दिया था। फिर भी मैंने उत्तर दिया——"सरकारको क्या-क्या करना चाहिए, यदि इसपर प्रकाश डाला ताय तो काफी राजनैतिक कटुता आ सकती है, और अपने अधिकारोंको छोड़ना और भी निकम्मापन है। लेकिन सरकारें व्यक्तिकी चिन्ता प्रायः नहीं करतीं, वह समूहपर ध्यान देती हैं। आप सामूहिक रूपसे आन्दोलन चलाइए। वैसे अब अपनी सरकारके विषयमें मैं क्या कहूँ। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि कलसे यदि भारतके सारे लेखक एकदम लिखना बन्द कर दें तो सरकारको विशेष चिन्ता नहीं होगी! लेकिन इसमें हम लोगोंकी कुछ व्यक्तिगत कमजोरियाँ भी हैं। यदि हम थोड़ा-सा लिखते हैं तो समझते हैं कि हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है कि अपना सारा बोझ दूसरोंपर डाल दें। यदि कोई उस बोझको नहीं सँभालता तो फिर पागल होकर मर जानेको तैयार रहते हैं!"

"लेकिन जब बुढ़ापेमें आपके हाथ-पांव नहीं चलते?" उदयने पूछा।

"हां, तब आपको आपका बौद्धिक सृजन सहायक होगा। उस समय मैं मानता हूँ सरकार का उत्तरदायित्व आता है, इतने दिनों प्रेरणा लेते रहनेवाले पाठकोंका कर्तव्य आता है, प्रकाशकों का नम्बर आता है। लेकिन बुढ़ापेकी बात नहीं, मैं तो युवकोंमें बढ़नेवाले इस आत्म-महत्ताके रोगकी बात कह रहा हूँ। आज आप कितना भी जनताके निकट होनेका नारा लगाएँ, प्रगतिवादी होनेका दम मारें, किन्तु मानसिक धरातल आपका तनिक भी नहीं बदला, आपके हित सर्वहारा वर्गके साथ नहीं, आपके स्वप्न अभिजातवर्गके हैं।"

हम लोग दोनों कुछ देर चुप रहे। इला हमारी बातोंमें रस न ले सकनेके कारण पुस्तक पढ़ने लगी थी।

"कुछ भी हो कुमारजी, चाट बेचने जैसा काम मुझसे कभी नहीं हो सकेगा।" उसने कहा।

मुझे हँसी आ गयी। हमारे साहित्यिक युवकोंकी मानसिक आशाएँ! स्टेशन आ रहा था, गाड़ी धीमी पड़ गयी।"

इसके पश्चात् एक छोटा-सा पृष्ठ और था——

"आज रातभर मैं सो नहीं सका। जबसे घबराये हुए से शशिने आकर कहा है कि उदयने आत्महत्या कर ली, तबसे मैं जैसे स्तब्ध रह गया हूँ। समझमें नहीं आता मैं क्या करूँ? रह-रहकर आंसुओंकी बाढ़-सी आंखोंमें आती है। विश्वास करनेको जी नहीं चाहता। वह सुन्दर युवक, उफ़! मैं कैसे मान लूँ। रह-रहकर उसकी निराश्रिता पत्नीका मुख मुझे अपने आगे दिखायी देने लगता है। उन्नीस वर्षकी वह युवती क्या करे? शशिने आकर बताया, 'लोकनिर्णय' नामके जिस साप्ताहिकमें वह काम करता था उन लोगोंने चार महीनेतक कुछ नहीं दिया और लड़कर भगा दिया, 'लोकनिर्णय' जिसके मुखपृष्ठपर सदैव किसी न किसी शहीदका चित्र होता है। जेबमें पर्चा रखा और रेलसे कटकर उसने आत्महत्या कर ली। मेरी इच्छा है, अपनी सरकारके इस शवपर रोऊँ।

यह वह देश है, जहां कलाकार ऊबकर आत्महत्या कर लेते हैं इस प्रकार!

और ये हमारे कलाकार भी तो न जाने कैसे हैं। ये चाहते हैं कि देवताओंकी मूर्तियोंकी भांति लोग इन्हें रखकर पूजते रहें, सदा इनकी चिन्ता करते रहें और इन्हें कुछ न करना पड़े।

फिर भी उदयने आत्महत्या कर ली है, समस्या काफी गम्भीर है!"

पृष्ठ समाप्त था, मेरे मस्तिष्कमें टकराया——यह वह देश है जहां साहित्यिक चाट और पकौड़ियोंके खोञ्चे लगाये सड़कों पर फ़िरते हैं!

कुमारजीने मेरी आंसू भरी आंखोंमें ताकते हुए कहा——"ये हमारी अपनी दुर्बलताएँ हैं।"

हिन्देशियाके राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास

रमाशङ्कर

उन्नीसवीं सदीके अन्तमें यूरोपीय पूंजीवाद साम्राज्यवादका रूप धारण कर लिया और इसके साथ ही पराधीन देशोंकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थितिमें जो उलटफेर हुआ, उसके फलस्वरूप वहां धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलनोंका सूत्रपात हुआ। किन्तु एशियाई जनताके नवजागरणमें एक दूसरी घटनाका भी विशेष महत्व रहा है और वह थी एक एशियाई राष्ट्र——जापान द्वारा सन् १९०५ में रूस जैसे एक बड़े पाश्चात्य राष्ट्रकी पराजय जिससे सदियोंसे पस्त एशियावासियोंमें पुनः आशा और आत्मविश्वासका भाव उत्पन्न हुआ, उन्होंने अपनी खोई हुई आत्मशक्तिका अनुभव किया। उससे पूर्व यूरोपीय शक्तियाँ एशियाके लिए अजेय थीं। इस घटनासे सभी पराधीन देशोंके स्वातन्त्र्य-आन्दोलनोंको विशेष बल मिला और जहां अभीतक इसका प्रारम्भ नहीं हुआ था वहां इसका श्रीगणेश भी हुआ। हिन्दुस्तानमें सन् १८८५ में ही राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था, इस घटनाके बाद वह विशेष उग्र रूप धारण कर लिया और इसीके फलस्वरूप यहां सन् १९०५ में स्वदेशी और बंगभंग आन्दोलन चले, हिन्दुस्तानकी राजनीतिमें पहली बार बमोंका प्रयोग हुआ जो वस्तुतः क्रान्तिकारी निराशावादिताका परिणाम नहीं था बल्कि इस नवीन उत्साहका फल था, कांग्रेसके अन्दर भी नरम और गरम——दो दल बने, विदेशी शासनके विरुद्ध तीव्र संघर्ष शुरू हुआ और उसी समय अबतकके राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनकी नींव पड़ी। यद्यपि हिन्देशियाका भी साम्राज्यवादी शोषण कम नहीं हुआ है, किन्तु वहां राष्ट्रीय आन्दोलनका प्रारम्भ अपेक्षाकृत कुछ देरसे हुआ। फिर भी शुरूसे ही उसमें एक औपनिवेशिक राष्ट्रीय आन्दोलनकी सभी विशेषताएं पायी जाती हैं। सर्वप्रथम वह बुद्धिजीवियोंका एक सांस्कृतिक आन्दोलन मात्र था, किन्तु विगत चालिस वर्षोंके अन्दर उसने एक देशव्यापी जनान्दोलनका रूप धारण कर लिया है जिसके फलस्वरूप आज हिन्देशियाकी जनता राजनीतिक दृष्टिसे काफी जागरूक और आत्मबली हो गयी है। उसके अन्दर साम्राज्य विरोधी भावना इतनी प्रबल हो गयी है कि अब उसे दबाया नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि हिन्देशियाके राष्ट्रीय आन्दोलन तथा अन्य उपनिवेशोंके राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें काफी समानता पायी जाती है। इसका कारण यही है कि विश्वकी राजनीतिक गतिविधिके साथ ही उनका भी विकास हुआ है जिससे विभिन्न देशोंके स्वातन्त्र्य-आन्दोलनोंकी मुख्य अवस्थाएं प्रायः एक-सी रही हैं, उनका समानान्तर विकास हुआ है। इस दृष्टिसे हिन्देशियाके राष्ट्रीय आन्दोलनकी तीन मुख्य अवस्थाएं हैं:——(१) प्रारम्भसे प्रथम महायुद्धके अन्ततक (२) १९१८ से द्वितीय महायुद्धके अन्ततक (३) जनतन्त्रकी घोषणा और उसके बाद। प्रथम अवस्थामें संगठित आन्दोलनकी नींव पड़ी, जनतामें राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई और डच साम्राज्यशाहीके विरुद्ध संगठित संघर्ष शुरू हुआ। दूसरी अवस्थामें यह संघर्ष और तीव्र हो गया, उसने एक जनान्दोलनका रूप धारण कर लिया, विद्रोह और हड़तालें हुईं और साम्राज्यवादियोंने——डच और बादमें जापानी——बड़ी नृशंसतापूर्वक उनका दमन किया, हजारों देशवासियोंको जेल और नजरबन्द कैम्पोंमें भर दिया। तृतीय अवस्थामें हिन्देशियाकी जनताने पूर्ण स्वतन्त्रता और जनतन्त्रकी घोषणा कर दी, उसकी रक्षाके लिए भीषण युद्ध किया और अब वह स्वतन्त्रताके प्रवेशद्वार पर पहुँच गयी है।

राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि

सन् १६०२ ई० में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनीने पहली बार बटेवियामें जिसे उस समय जकार्ता कहते

स्टालिन-टीटो संघर्ष

विजयकुमार

नवम्बर १९४५ में युद्धोपरांत जब यूगोस्लाविया-
ाम चुनाव हुआ तब वहाँकी नब्बे प्रतिशत जनताने
ोको मत प्रदानकर उसे एकमात्र अपना नेता चुना।
ो टीटो आज क्रेमलिनकी आंखोंमें कांटा बनकर
ने लगा है। क्या इसलिए कि टीटोने यूगोस्लाव
ताको धोखा दिया है? क्या इसलिए कि उसने
ाजवादके सिद्धांतोंके साथ द्रोह किया है? नहीं,
फिर क्या वजह है कि आज रूस तथा उसके अनु-
यी राष्ट्रोंके पत्र टीटोको गालियां दे रहे हैं। क्या
जह है कि उसे गद्दार, राष्ट्रद्रोही और
द्धांतद्रोही आदि विशेषणोंसे विभूषित होना पड़ रहा
। जैसे इन पत्रोंको दूसरा कोई कार्यही नहीं रह
या है। २८ जून १९४८ को जब रूस-यूगोस्लावियाके
चिका, या यों कहिए स्टालिन और टीटोके बीचका
ा विरोध प्रकट हुआ तो दुनियामें जैसे सनसनी
ल गयी। प्रारम्भमें पूंजीपति राष्ट्रोंने इसे एक
टक समझा। लेकिन तबसे यह विरोध तीव्रसे तीव्र-
र ही होता चला आया है। तभी तो टीटोने अभी
ालमें ही दैनिक "पौलिटिकेन कापेनहेन" के सम्वाद-
ाता श्री क्लाजेनसे एक मुलाकातमें कहा है कि रूस-
के साथ समझौता अब असंभव-सा प्रतीत होता है।
टीटोके शब्दोंमें "यदि हुआ भी तो यह एक लम्बे
रसेके बाद ही होगा। क्योंकि क्रेमलिन युद्ध-प्रंचारमें
अप्रत्याशित दूरीतक पहुँच गया है।" इस मतभेदकी
तीव्रताका फायदा अमरीकी साम्राज्यवादियोंने उठानेकी
ूरी-पूरी कोशिश की है। और कम-से-कम इस कम्यु-
निस्ट दरारको बढ़ाते रहनेमें उन्हें एक हदतक सफ-
लता भी मिली है।

यूगोस्लावियाको स्वतंत्र करनेके लिए टीटोने कई
पार्टियोंका एक "जनवादी मोर्चा" संगठित कर रखा
था। और सच पूछा जाय तो इसीके बलपर उसने
जर्मन नाजियोंसे यूगोस्लावियाको मुक्त करनेमें सफ-
लता प्राप्त की। एम० दिलाजने कमिनफार्मकी स्थाप-
नार्थ हुई नौ देशोंकी कान्फ्रेंसमें जो रिपोर्ट पार्टी संग-
ठनके विषयमें पेश की थी उसके अनुसार १९४८ में
"जनवादी मोर्चे" के सदस्योंकी संख्या ७० लाख थी,
जब कि कम्युनिस्ट पार्टीके सदस्योंकी संख्या एक लाख ही
थी। इस महान ताकतके ऊपर टीटो खड़ा था। २९ नव-
म्बर १९४५ को जब बेलग्रेडमें फेडरल पिपुल्स रिप-
ब्लिककी घोषणा की गयी तब यह आशंका अवश्य
पैदा हुई थी कि टीटो संभवतः उस 'जनवादी मोर्चा'
को भंग कर देगा। लेकिन यह अबतक नहीं हो पाया।
टीटो भी तानाशाह और स्टालिन भी। दोनोंका साथ
चलना संभव कैसे हो सकता है। तख्तनसीन होते
ही अपने अधिनायकत्वको स्थायी और मजबूत बनानेके
लिए उसने सर्वप्रथम अपने प्रेसको रूसी नमूनेपर संग-
ठित कर लिया ताकि उसकी आवाजके सिवा कोई
दूसरी आवाज जनताके कानोंमें न गूंजने पाये। इसके
उपरांत उसका ध्यान गुप्तचर तथा पुलिस संगठनपर
गया। वर्षभरके अंदर-अंदर उसे इस कार्यमें भी सफ-
लता मिल गयी। १९४६ के दिसम्बरमें जब यूगोस्लाव
पार्लियामेंटने प्रेसोंका राष्ट्रीयकरण कर दिया तब तो
यह स्टालिनसे कम महत्त्वका व्यक्तित्व नहीं रह गया।
और अब यूगोस्लाविया की वास्तविक राजनीतिक
शक्ति वहांकी पार्लियामेंटमें न रहकर मेडिरा पैलेसमें
थी जहांपर यूगोस्लाव कम्युनिस्ट पार्टीकी 'पॉलिट
ब्यूरो' का दफ्तर था। टीटोके विरुद्ध अब कोई
आवाज उठाने वाला नहीं रह गया था। पार्लियामेंट-
में एक बार किसान पार्टीके नेता प्रो० जोवानोविचने
आवाज भी लगायी तो उसे ९ वर्षके लिए जेलकी
हवा खानी पड़ी। टीटोकी गुप्त पुलिसका संगठन
'ओस्नो' हिटलरके 'गेस्टापो' और स्टालिनके 'ओगपू'
से कम सुसंगठित और क्रियाशील नहीं है।

दो तानाशाहोंमें अनबन क्यों?

टीटोकी बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव स्टालिनके लिए एक खतरा बन गया। कमिनफार्मके अन्य सदस्य-देशोंकी तरह टीटो स्टालिनके बलपर नहीं खड़ा हुआ था। युद्ध-कालमें जन-संघर्षोंका नेतृत्वकर उसने जनताका विश्वास और गौरव प्राप्त कर लिया था। उसने स्वयं अपने आपको संघर्षोंके ढांचेमें ढाला था और तब राष्ट्रके सर्वोपरि पदपर आसीन हुआ था। इसीलिए वह अब स्टालिनके लिए सिरका दर्द बन गया था। दिसम्बर १९४६ में जब बेलग्रेडमें पान-स्लाव कांग्रेस हुई तब यद्यपि टीटोने इसमें रूसकी भी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी, फिर भी स्टालिनके लिए यह एक भयंकर दर्दके रूपमें परिणित हो गयी। इसके साथही पोलैंड तथा यूगोस्लाविया, और चेको-स्लोवाकिया तथा यूगोस्लावियाके बीच मित्रताका सम-झौता हुआ। बादमें यूगोस्लाविया-अल्बानिया तथा यूगो-स्लाव-बलगेरियन समझौतेने तो जैसे आगमें घीका काम किया। कम्युनिस्ट जगतका एकमात्र गुरु स्टालिन अब बड़े ही पशोपेशमें पड़ा। उसके पैरसे जमीन खिस-कने लगी थी। पश्चिमी यूरोपके पूंजीपति गुटके विरुद्ध यह कम्युनिस्ट बाल्कन गुट ट्रूमेन, एटलीसे कम स्टालिनके लिए चिंताका विषय नहीं रह गया था। स्टालिन पश्चिमी यूरोपके विरुद्ध बाल्कन राष्ट्रोंका एक मजबूत मोर्चा अवश्य चाहता था, पर टीटोके नेतृत्वमें नहीं। अपने आपको संभालनेके लिए उसने पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, बलगेरिया तथा रूमा-नियाकी कम्युनिस्ट पार्टियोंमें अपने अंधभक्त अनुया-यियोंकी शक्तिको मजबूत करना प्रारम्भ किया। १९४८ के अंततक उसने इन देशोंकी कम्युनिस्ट पार्टियोंको टीटोके प्रभावसे मुक्त करानेमें सफलता प्राप्त कर ली। और तब यूगोस्लाविया को कमिन-फार्मसे निकाल कर टीटोको खुले आम राष्ट्रद्रोही, सिद्धान्तद्रोही, ट्राटस्कीवादी, संकीर्ण राष्ट्रवादी, फासिस्ट कुत्ता आदि विशेषणोंसे विभूषित करना शुरू किया।

मास्को - बेलग्रेड तनातनीका एक मुख्य कारण यह भी था कि भूमि-व्यवस्थाके सम्बन्धमें टीटोकी वर्तमान नीतिको रूस गलत समझता था। प्रारम्भमें तो टीटोने बड़े-बड़े जमीदारों तथा ताल्लुकेदारोंकी जमीनोंपर कब्जा कर लिया। बादमें छोटे-छोटे किसानोंके बीच उनका फिरसे बंटवारा कर दिया। किसानोंको उसने यह आश्वासन दिया कि जमीनपर उनकी व्यक्तिगत मिल्कियत रहेगी। रूसने भी इसे अधिकारी तौरपर स्वीकार किया था। किसानोंको यह भी आश्वासन मिला कि जमीनका समूहीकरण नहीं किया जायगा। टीटो अपने वादोंसे इतना शीघ्र मुकरना नहीं चाहता था। इसकी खास वजह यह भी थी कि उसकी पार्टीके करीब आधे सदस्य किसानोंके परिवारके हैं। इस तरह कम्युनिस्ट पार्टीकी ज्यादा शक्ति तथा प्रभाव किसानोंमें ही है। अब रूसका कहना यह है कि टीटो समाजवादी व्यवस्थाकी ओर वांछनीय गतिसे अग्रसर नहीं हो रहा है। समूही-करणकी योजनाको भी उसने ठुकरा दिया है। इस तरह रूसके नमूनेपर और क्रेमलिन आदेशका अनु-सरण करते हुए नहीं चलना स्टालिनकी दृष्टिमें समाजवादको धोखा देना है। इधर टीटो अपनी आंतरिक तथा वास्तविक परिस्थितियोंसे मजबूर होकर रूसके नमूनेपर भूमि-व्यवस्था नहीं करना चाहता। वह चाहता है कि रूसकी तरह जमीनोंका समूहीकरण जबर्दस्ती न करके, किसानोंको इसके लिए समझा-बुझाकर तथा आदर्श उपस्थित करके राजी करनेके बाद किया जाना चाहिए। एंगेल्सने भी कहा है, "हमारा सर्वप्रथम कार्य उनके व्यक्तिगत उत्पादनको सामूहिक उत्पादन तथा सामूहिक स्वामित्वमें परि-वर्तित करना होगा। जबर्दस्ती नहीं, बल्कि इस उद्देश्य के लिए उदाहरण और सामाजिक सहायताके जरिए।"

इसके अतिरिक्त टीटो अपने आंतरिक मामलोंमें रूसका हस्तक्षेप नहीं पसंद करता। आत्म-निर्णयके जिस सिद्धांतका अबतक स्टालिन प्रचार करता रहा है उसी सिद्धांतका गला घोंटकर टीटोके घरेलू मामलोंमें उसका हस्तक्षेप करना टीटोको खलता है। तभी तो हेराल्ड लास्कीने अपने "रूस नियम बनाता और बिगाड़ता है" शीर्षक लेखमें लिखा था कि "किसी बाहरी व्यक्तिके लिए यह समझना आसान नहीं कि जो चीज रूसके अंदरकी जाती है वह तो ठीक है और वही जब रूसके बाहर कहीं की जाती है तब गलत है।"

टीटोकी तानाशाही प्रवृत्ति और उसका अधिनायक-वादी व्यक्तित्व भी स्टालिनको असह्य था। इसका संकेत टीटोकी हरवर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० कर्टले माथरसे २४ अगस्त सन् १९४९ की हुई बातचीतमें मिलता है। ब्रिआंगके एड्रियाटिक द्वीपमें बने अपने ग्रीष्मकालीन बंगलेमें उपरोक्त प्रोफेसरके नेतृत्वमें गये हुए अमरीकी यात्रीदलके किसी सदस्यके यह पूछनेपर कि "सन् १९४४ में जब आप मास्कोमें स्टालिन-के साथ थे तब आप दोनोंके सम्बन्ध कैसे थे?" टीटोने बताया कि "नहीं, नहीं, अच्छे नहीं थे।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंके बीच व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विताके भाव आजसे पांच वर्ष पूर्वसे चले आ रहे थे। यह व्यक्तिगत द्वेष भी दोनों देशों-को एक दूसरेसे अलग करनेमें एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। स्टालिन मास्को के आदेशकी उपेक्षा करनेवालों को कतई बर्दाश्त नहीं करता। यह उसकी खूबी भी है (उसके शक्ति-संचयकी दृष्टिसे) और बहुत बड़ा दोष भी।

रूसी नीतिकी झांकी

द्वितीय कम्युनिस्ट अन्तरराष्ट्रीयकी लाशको दफना कर जब रूसके महान नेता लेनिनने मार्च १९१९ में तृतीय अन्तरराष्ट्रीयकी नींव डाली तो उस समय उसका उद्देश्य विश्व समाजवादी क्रांतिको एक दिशा तथा एक शक्ति प्रदान करना था। १९२४ में लेनिनकी मृत्युके पश्चात् स्टालिनने तृतीय अन्तरराष्ट्रीयको रूसकी परराष्ट्र नीतिका एक अंग बनाकर बुरी तरह उसका इस्तेमाल किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य देशोंकी कम्युनिस्ट पार्टियोंको इसके लिए बड़ी ही बदनामी उठानी पड़ी और हिंदुस्तानमें तो उसने सदा अपनेको देशद्रोही ही साबित किया। जब तृतीय अन्तरराष्ट्रीय भी सड़ गया और उससे दुर्गंध आने लगी तो स्टालिनने १९४३ में उसे भी कब्रमें तोप दिया और १९४७ में एक नया कम्युनिस्ट अन्तरराष्ट्रीय संगठन कमिनफार्मके नामसे संगठित किया, ताकि छद्मवेशमें यह उसका पंचमांगी बनकर रूसकी उद्देश्य-सिद्धि करनेमें सहायक हो सके। घटना-चक्रने यह साबित होनेमें देर न लगाया कि कमिनफार्मके सदस्य रूमानिया, बलगेरिया, पोलेंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी आदि, यूगोस्लावियाको छोड़कर, सभी रूसके इशारेपर नाचनेवाले कठपुतली देश हैं। रूसने इन देशोंके आंतरिक मामलोंमें भी पूर्ण रूपेण हस्तक्षेप किया है और कर रहा है।

मास्कोके आदेशकी अवहेलना करनेवालोंको मिटाने-की नीति यूगोस्लावियामें आकर असफल हो गयी, चूंकि टीटो भी स्टालिनसे अपने आपको कम नहीं समझता। रूसने अपनी उपरोक्त 'नीतिको सफल बनानेके लिए सर्वप्रथम पोलैंडमें अपना कार्य प्रारम्भ किया। १९४८ के सितम्बरमें पोलैंड कम्युनिस्ट पार्टी-के प्रधान मंत्री ब्लादीस्लाव गोमुल्कको अपने पदसे हटवा कर वहांके अध्यक्ष बोलिस्लाव बिरटको उस पदपर आसीन करवानेके षड़यंत्रमें वह सफल हुआ। गोमुल्ककी बर्खास्तगीके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए श्री बिरट तथा उद्योग-मंत्री और 'पॉलिट ब्यूरो' के सदस्य श्री हिलरी मिन्जने कहा कि यह "गलत सैद्धांतिक विचारों" के कारण किया गया है जिसकी वजह से पार्टीमें 'दक्षिणपक्षी और राष्ट्रवादी' तत्त्व घुस आये थे। ६ सितम्बर १९४८ को गोमुल्कने सर्वसाधारणके बीच पार्टी द्वारा अपनी गलतियोंके लिए किये गये दोषारोपणको न्यायसंगत बताया और पार्टी नीतिके अनुसरणका वादा किया। उसने यह भी कहा कि यूगोस्लावियाकी तरहकी सैद्धांतिक फिसलनोंके लिए पोलिश पार्टीमें कोई स्थान नहीं है। पार्टी द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिकामें गोमुल्क और उसके अनुयायियोंने पार्टी नीति और दृष्टिकोणको समझनेमें जो गलती की थी उसकी विवेचना करते हुए पहली बार १९४८ में यह घोषणा की गयी कि विश्वमें समाजवाद तक पहुँचनेके लिए मास्को द्वारा निर्धारित रास्तेके सिवा अन्य कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यद्यपि गोमुल्कका कम्युनिस्ट नेतृवृंदमें काफी ऊँचा स्थान था और कमिनफार्मकी पहली बैठकमें ज्दानोवके साथ अध्यक्ष रह चुके थे। फिर भी टीटोकी तरह अपनी स्वतंत्रता दिखानेकी हिम्मत उनमें नहीं थी।

यूगोस्लाविया-रूस जिचका असर ट्रीजतेमें भी जिसपर टीटोने अपना पूरा दावा किया था, पड़ा और वहांकी कम्युनिस्ट पार्टी दो गुटोंमें बंट गयी। पार्टीका बहुमत भाग

तो कमिनफार्मका हिमायती बना रहा और अल्पमत ने पूर्व प्रधान मंत्री श्री ब्रैंको बेबियके नेतृत्वमें टीटोमें अपनी निष्ठा कायम रक्खी।

यूगोस्लोविया कम्युनिस्ट पार्टी मास्को नियंत्रणसे अपनेको स्वतंत्र रखते हुए भी लेनिन-स्टालिनवादका पूरा-पूरा अनुसरण करती रही। बलगेरिया पार्टीने जार्ज डिमिट्रोवके नेतृत्वमें मास्को नियंत्रणको पूर्ण रूपेण स्वीकार कर लिया। कम्युनिस्ट अंतरराष्ट्रीयमें टीटोके बाद जार्ज डिमिट्रोवका ही स्थान था और लीपजिग राइखस्टाग अग्निकांडके आप एक प्रमुख नायक तथा कम्युनिस्ट अन्तरराष्ट्रीयके कई वर्षोतक मंत्री भी रह चुके थे। पर युद्ध-कालमें जब कि टीटोने यूगोस्लोवियामें रहकर जनांदोलनका नेतृत्व किया और उसके फलस्वरूप वास्तविक लोकप्रियता प्राप्त कर ली, डिमिट्रोव मास्कोमें अपने दिन गुजार रहे थे, और वहांसे अपने वतनको तब लौटे जब कि सोवियत सेनाने उनके मुल्कमें विजय-पताका फहरा दी।

अक्तूबर १९४८ में यूगोस्लोविया कम्युनिस्ट पार्टीके मुखपत्र 'बोर्बा' ने सोवियत पार्टीसे संबध-विच्छेद होनेके पूर्व हुए पत्र-व्यवहारको प्रकाशित किया। सोवियत पार्टीसे आये तीन पत्रोंमेंसे दूसरे पत्रमें लिखा गया था कि "कम्युनिस्ट पार्टियां कम्युनिज्मके दुश्मनों-के विरुद्ध खुले संघर्षमें ही जीवित तथा विकसित हो सकती हैं।" उसमें इस बातपर जोर दिया गया था कि "पूंजीवादसे समाजवादतकके सक्रांति-कालमें वर्ग-संघर्षकी तीव्रता कम नहीं होती, बल्कि ठीक इसके विपरीत तीव्रसे तीव्रतर और ज्यादासे ज्यादा तीक्ष्ण होती जाती है। समाजवादके समानांतर पूंजी-वादी तत्त्वोंके शांतिपूर्ण विकासका सिद्धांत एक सड़ा हुआ और अवसरवादी सिद्धांत है।" उस पत्रमें इस बात पर भी जोर डाला गया था कि रूस उन्हीं मित्रोंकी सहायता कर सकता है जो मास्को आदेश का बिना हिचक पालन करनेके लिए सदैव तैयार रहेंगे। आदेश-पालनमें किसी भी राज्य अथवा राष्ट्रकी नीतिका प्रश्न नहीं आना चाहिए, क्योंकि "पार्टी मजदूर वर्गका सबसे प्रधान राजनीतिक संगठन है और यह राज्यके अन्य विभागों और संगठनोंके ऊपर है।" कमिनफार्मके उद्देश्योंका वास्तविक रूप तृतीय पत्रमें प्रकट हुआ था जिसमें कहा गया था कि "कमिनफार्मके संगठनके दरम्यान सभी कम्युनिस्ट पार्टियां इस सिद्धांतपर एकमत थीं कि प्रत्येक पार्टी हर हालतमें कमिनफार्मके प्रति उत्तरदायी होगी। कमिनफार्म संयुक्त अंतरराष्ट्रीय मोर्चेका राजनीतिक आधार है। इस मतसे फिसलनेकी कोई भी नीति गद्दारीका प्रतीक है।"

इससे भी स्पष्ट शब्दोंमें सोवियत पार्टीकी केन्द्रीय समितिके मुखपत्र 'बोलशेविक' ने चेतावनी देते हुए लिखा था कि प्रत्येक जगह कम्युनिस्ट संघर्षको मास्को द्वारा निर्धारित नीतिका ही अनुसरण करना चाहिए। पार्लियामेंटरी तरीकोंको महज वर्ग-संघर्षके क्रांतिकारी साधनोंको संगठित करनेका एक स्कूल समझना चाहिए, क्योंकि मजदूरोंके बुनियादी मसलोंका हल तो पूंजी-वादमें शक्ति द्वारा ही होता है। अर्थात् सर्वहारा वर्ग द्वारा पूंजीवादके विरुद्ध खुले संग्राम, हड़ताल तथा क्रांतियों द्वारा ही अंतिम फैसला होता है। उस लेख-में "नवीन प्रजातंत्र" के सिद्धांतके विरुद्ध जिसका प्रतिपादन चीनी कम्युनिस्ट नेता माओ त्से तुंगने किया था, तीव्र संघर्षकी मांग की गयी थी। सोवियत रूसके अनुयायी राष्ट्रोंमें जहां कहीं भी सोशलिस्ट पार्टियाँ कम्युनिस्ट पार्टीमें मिल गयी थीं, उसका अर्थ समझौता नहीं था बल्कि सोशलिस्ट पार्टियोंका पूर्ण आत्मसमर्पण था।

मार्शल टीटो तथा कमिनफार्मके बीचके मतभेदका असर बलगेरियन पार्टीपर भी पड़ते देर न लगी। १५ जुलाई १९४८को सोफियासे निकलनेवाले पार्टीके मुखपत्र "रबोत्नीसेस्को डेलो" ने सात कॉलमका एक प्रस्ताव प्रकाशित किया जिसमें वहांकी कम्युनिस्ट पार्टी-से आत्मशुद्धिकी मांग की गयी थी और इस बातपर जोर डाला गया था कि यूगोस्लाविया पार्टीकी गलतियोंकी यहां पुनरावृत्ति न होने पाये। ९ सितम्बर-को बलगेरियाकी जनताने सोवियत सेना द्वारा आजाद किये जानेकी चौथी वर्षगांठ मनायी। इस अवसरपर भाषण करते हुए वहांके गृहमंत्री श्री ऐन्तोन युगोवने बहुत ही सतर्क रहनेपर जोर डाला। उन्होंने कहा कि "प्रत्येक दुश्मनको, चाहे वह कहींका भी हो, पंगु बना देना चाहिए।"

बलगेरियन किसानोंके प्रसिद्ध नेता तथा १९४३
"पितृभूमि मोर्चा" की स्थापना करनेवाले निकोला
कोवकी फांसीके बादसे कम्युनिस्ट अधिनायकतंत्रने
की शक्ति संचय कर लिया था। अपने अधिनाय-
वको पूर्ण बनानेके लिए १९४८ में ह्रिस्तो लुलशेव-
नेतृत्वमें चलनेवाली सोशलिस्ट पार्टीके बाकी नेता-
को भी गिरफ्तार कर लिया गया। खाद्य-नियंत्रण
जना लागू की गयी और उसका इस्तेमाल अपने
रोधियोंको दबानेके लिए किया गया। २१ जुलाई ४८
सरकारी घोषणामें राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धि
यह नया तरीका कम्युनिस्ट दुनियाके लिए भी
लकुल नया ही था।

बलगेरियन कम्युनिस्ट पार्टीकी केन्द्रीय समितिकी
क बैठक १२ जुलाईको बुलायी गयी। 'पॉलिट ब्यूरो' के
छ सदस्योंपर ठीक वही दोषारोपण किये गये जो यूगो-
लाविया कम्युनिस्ट पार्टीपर किये गये थे। अंतमें
न्होंने मास्को-नीतिके सामने आत्मसमर्पण किया और
वीकार किया कि अन्तरराष्ट्रीय शांति, प्रजातंत्र और
माजवादकी सुरक्षाके लिए सोवियत रूस तथा सो-
वियत पार्टीमें पूर्ण निष्ठा रखना और मास्को-नीतिका
नुसरण करना आवश्यक है। इस तरह पूर्वी यूरोप-
को अपने शिकंजेमें जकड़नेकी रूसी नीति बलगेरियामें
भी सफल हुई।

अब स्टालिनकी नजर चेकोस्लोवाकियाकी ओर
मुड़ी। प्रारम्भमें तो मसारिक और बेनेसके नेतृत्वमें
स्थापित प्रजातंत्र सुरक्षित प्रतीत हुआ। स्टालिन और
बेनेसके बीच हुआ सन् १९४५ का समझौता भी सफल
प्रतीत होने लगा। चेक डेमोक्रेटोंको यह आशा भी
हो गयी कि कम्युनिस्टोंके साथ उनका समझौता स्थायी
और सफल हो सकता है। लेकिन जनवरी १९४८ में
यह स्पष्ट हो गया कि पुलिस और ट्रेड यूनियनोंपर
जो नियंत्रण कम्युनिस्टोंका था उसके द्वारा वे अपनी
इच्छाको बहुसंख्यक चेक तथा स्लोवाक जनतापर लादना
चाहते हैं। १७ जनवरी ४८ को "न्यूयार्क टाइम्स"
के संवाददाताने पेरिससे यह रिपोर्ट दी कि "डॉ०
बेनेस अपनी स्थिति तथा प्रभावको किसी खतरेके
समयके लिए सुरक्षित रख रहे हैं। चेकोस्लोवाकिया-
की बहुसंख्यक गैर-कम्युनिस्ट जनताके लिए उनके

का और गिरना बड़ा ही बुरा होगा।" लेकिन अंत-
में यहां भी कम्युनिस्टोंकी चाल सफल ही रही और
वर्षांतके बहुत कबल ही मसारिकके लड़केने आत्म-
हत्या कर ली और डॉ० बेनेसको भी इस्तीफा देनेके
लिए बाध्य होना पड़ा। अंतमें इनकी भी मृत्यु हो
गयी। इनका स्थान भूतपूर्व कम्युनिस्ट प्रधान मंत्री क्लिमेंट
गोटवाल्डने ले लिया। कम्युनिस्टोंका यह प्रेग-षड्यंत्र
२७ फरवरीको पूरा हुआ। अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धोंमें
यहांसे एक मोड़ पड़ी, ठीक उसी तरह जिस तरह
हिटलरके मार्च १९३९ में प्रेगमें प्रवेश कर जानेपर
पड़ी थी।

इस घटनाने एक बार सारे यूरोपको झकझोर दिया।
२७ फरवरीको ही फ्रांसके वैदेशिक मंत्री जार्ज बिदोने
पेरिसमें "राष्ट्रीय सभा" के सम्मुख भाषण करते
हुए कहा कि "यह सोचना असंभव है कि इस तरह-
की चालें अनिश्चित ढंगसे यूरोपीय शतरंजपर जारी रहें
और कोई खतरनाक स्थिति न पैदा हो। यह न तो एक
चेतावनी है और न सम्मन, बल्कि दिलकी गहराईसे
निकली हुई आतंककी पुकार है। यह नवीन घटना
शांतिका भंग करनेवाली तथा यूरोपको तमाम अत्याचारों
से स्वतंत्र करनेके लिए किये गये प्रयासोंके विरुद्ध है।
यह एक बहुत बड़े षड्यंत्रका एक हिस्सा है जिसका
भयंकर स्वरूप, यह जैसे-जैसे हम लोगोंके करीब आता
जाता है, विकृत होता जाता है।......शांति और स्वतंत्रता
प्रेमी लोगोंका दिल फिर एक बार प्रकम्पित हो
गया है।"

इसके उपरांत चेकोस्लोवाकियाको पूर्णरूपेण मास्को-
पथका पथिक बनानेके लिए अक्तूबरमें ही कम्यु-
निस्ट सूचना-मंत्री कापेकीने तमाम अखबारनवीसोंकी
कांग्रेस संगठित की और रूसी नमूनेपर तमाम प्रेसों-
को फिरसे चलाया। इसी समय वहांकी पार्लियामेंटने
एक बिल पास किया जिसमें कम्युनिस्टोंके प्रति राज-
नीतिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोणसे सहानुभूति नहीं
रखनेवाले २० से ६० वर्षकी उम्र वालोंका अनिवार्य
श्रम-शिविर खोलनेकी व्यवस्था की गयी थी। ३० वर्ष
पूर्व चेकोस्लोवाक प्रजातंत्रकी स्थापना करनेवाले मसा-
रिककी तसबीर हटाकर गोटवाल्डकी तसबीर लगा दी
... दार्शनिककी मृत्युके बाद

भी उपेक्षा की गयी। सोकोल (चेक युवक-संगठन) की
ग्यारहवीं वर्षगांठपर प्रधान मंत्री अंटोनिन जोपोटो-
कीने घोषित किया कि "सोकोलकी सफलताने व्यक्ति-
के महत्त्वको निरर्थक प्रमाणित कर दिया है।"
गोटवाल्ड १९२९ में चेक पार्लियामेंटमें कम्युनिस्ट गुट-
का नेता था। एक दिन पार्लियामेंटमें अपने भाषणके
आवेशमें उसने डॉ० बेनेस और उनके दलके सदस्यों-
को मुखातिब करते हुए यह घोषित किया था कि
"आप सज्जन वृंद हमसे पूछ रहे हैं कि यहां हम किस
लिए हैं। मेरा उत्तर बहुत सरल है। हमलोग यहां
आपलोगोंकी गर्दन तोड़नेके लिए हैं। और बड़ी गंभी-
रतापूर्वक आपके सामने यह अहद लेते हैं कि हमलोग
इसे अवश्य करेंगे।" वही गोटवाल्ड अब अपनी
प्रतिज्ञा पूरी करके डॉ० बेनेसकी कुर्सीपर स्वयं आसीन
था। वास्तवमें गोटवाल्ड दिमित्री मैनुलस्कीका सन् १९२५
से ही दाहिना हाथ रह चुका था और अपने आपको
पाइप पीनेसे लेकर बातूनी बुद्धिजीवियोंके प्रति घृणा
रखनेतक स्टालिनका अनुयायी बना चुका था।

सोवियत अधिकृत जर्मनीमें वहांके सोशल
डेमोक्रेटोंने श्री ओटो ग्रोटहोलके नेतृत्वमें अपने आप-
को कम्युनिस्टोंके साथ मिला दिया। लेकिन १९४८
में सोशलिस्ट युनिटी पार्टी के अंदर कम्यु-
निस्टोंकी प्रतिष्ठा तथा प्रभाव सोशल डेमोक्रेटिक
मनोवृत्तिवालोंकी अपेक्षा कम हो गया और उन्होंने
अपने बीचसे अविश्वसनीय लोगोंको निष्कासित
करना शुरू किया। पार्टी नेताओंकी बर्लिन बैठकमें
१० मईको कम्युनिस्ट नेता विलहेल्म पिकने घोषित
किया कि "दुश्मनोंके प्रचारका हम लोग पर्याप्त ती-
व्रतासे मुकाबला नहीं कर रहे हैं। फलस्वरूप एकके
बाद दूसरे स्थानको हम लोग प्रतिक्रियावादियोंके
सामने खोते जा रहे हैं।"

कम्युनिस्ट अधिनायकवादके विरुद्ध चेक सोशल
डेमोक्रेटोंने अपने सिद्धांतोंमें फिरसे नवजीवन-संचार
किया। इनकी अंतिम कांग्रेस बर्नमें नवम्बर १९४७
में हुई। पार्टीके प्रच्छन्न कम्युनिस्ट नेता ज्डेनेक
फायरलिंगरको जिसने चेकोस्लोवाकियामें वही पार्ट
अदा किया था जो पिट्रो नेनीने इटलीमें, हराकर
एक प्रसिद्ध डेमोक्रेट मजदूर नेताने उसका स्थान ले

लिया। लेकिन फरवरी १९४८ में ही सोशल डेमो-
क्रेटोंने आत्मसमर्पण कर दिया और फायरलिंगर फिर-
से तख्तनसीन हुआ। दो महीने बाद ही इसकी कार्य-
कारिणीने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि पार्टी-
को खत्म कर देना चाहिए। पार्टीके अधिकारी
वक्तव्योंमें स्पष्ट रूपसे घोषित कर दिया गया कि कम्यु-
निस्ट पार्टीके साथ सैद्धांतिक समानताके आधार पर
एकताका कोई प्रश्न नहीं है बल्कि सोशल डेमोक्रेटिक
पार्टीको सैद्धांतिक तथा संगठनात्मकरूपसे कम्युनिस्ट
पार्टीमें विलीन कर दिया गया। इस तरह चेक सोशल
डेमोक्रेटिक पार्टीको ७० वर्षके इतिहासका अंतिम
अध्याय समाप्त हुआ।

इसी तरह हंगरी और रूमानियाकी सोशलिस्ट
पार्टियोंका भी विघटन हुआ। लगातार कई आत्म-
शुद्धियोंसे कमजोर होकर दोनों जगहकी सोशलिस्ट
पार्टियां १९४८ में अपने-अपने देशकी कम्युनिस्ट
पार्टियोंके साथ मिल गयीं। २२ सितम्बरको पोलिश
सोशलिस्ट पार्टीने एडवर्ड ओसुब्का-मोरावस्कीके साथ
साथ अन्य १५ सदस्योंको निष्कासित कर दिया।
इसके बादही अतिवामपक्षियोंका पार्टीपर नियंत्रण हो
गया। फलस्वरूप इन लोगोंने अंतिम रूपसे कम्युनिस्ट
पार्टीमें प्रविष्ट हो जानेका फैसला कर लिया। बल-
गेरिया और कोरियाकी किसान डेमोक्रेटिक पार्टियोंकी
तरह ही जो कि १९४५ में वहां प्रजातंत्रका प्रतीक
समझी जाती थीं, रूमानिया तथा हंगरीकी सोशलिस्ट
पार्टियोंका भी अंत हुआ।

रूसी नीतिका शिकार मारकोस भी हुआ। ग्रीस-
में कम्युनिस्ट छापामारोंका नेतृत्व मारकोस ही कर रहा
था। किंतु १९४८ के अन्तमें कुछ दिनोंतक यह
खबर फैलायी गयी कि मारकोस बीमार पड़ गया है
और अंतमें इस चालका नतीजा यह निकला कि
मारकोस अपने पदसे हटा दिया गया। इस तरह
रूसने ग्रीसमें भी अपनी नीतिको सफल बनाया।

हिन्दुस्तानकी कम्युनिस्ट पार्टीने १९४८ की
अपनी कलकत्ता-कांग्रेसमें श्री पी० सी० जोशीकी तमाम
नीतिको ठुकरा दिया और उन्हें मंत्री पदसे हटा कर
श्री बी० टी० रणदिवेको उस पदपर आसीन किया।
इससे क्या यह साबित नहीं होता कि इसके पीछे

मास्को आदेशका ही हाथ था? हिन्दुस्तानमें इस नीतिका फल यह हुआ है कि आज कम्युनिस्ट पार्टी दो गुटोंमें विभक्त हो गयी है। रणदिवे गुट चूंकि आफिसमें है, इसलिए उसने पी० सी० जोशी गुटके लोगोंमेंसे बहुतोंको तो निष्कासित कर दिया है और बहुतोंको मुअत्तल। रणदिवे गुटकी आत्मघाती नीतिने आज यहांकी कम्युनिस्ट पार्टीके अस्तित्वको ही खतरेमें डाल दिया है।

उपर्युक्त विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टालिनसे स्वतंत्र नीति या प्रयोग अपनाने वालोंके लिए स्टालिनके साथ चलना दुष्कर है। टीटोके साथ भी यही बात लागू होती है। यहांपर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चीनी कम्युनिस्ट नेता माओ त्से-तुंग द्वारा प्रतिष्ठित "नवीन प्रजातंत्र" की नीति का विरोध करते हुए भी स्टालिन माओ त्से तुंगको भी अपना दुश्मन घोषित क्यों नहीं करता? हालांकि हिन्द कम्युनिस्ट पार्टीके प्रधान मंत्रीने तो माओ त्से-तुंगकी नीतिका भी विरोध खुले आम किया है। और सच पूछा जाय तो उन्होंने तो यहांतक अपने एक लेखमें लिख दिया है कि "हमलोग मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा स्टालिनके सिवा किसी औरसे कुछ सीखनेको तैयार नहीं हैं।" इस तरह उन्होंने अपने दिमागकी खिड़कीको बंद कर लिया है। यही सैद्धांतिक पतनका संकेत है। यहीं कम्युनिस्टोंने एक नये प्रकारकी रूढ़िवादिताको अपना कर मार्क्सवादको विज्ञान न रखकर एक धार्मिक सम्प्रदायके रूपमें परिवर्तित कर दिया है। इसलिए उनके सामने प्रश्न सिद्धांतका नहीं, बल्कि रूसकी स्वार्थ-सिद्धिका है। क्रेमलिन टीटोका विरोध सैद्धांतिक नहीं है। इसका मुख्य कारण है कि टीटो अपनी स्वतंत्र नीतिमें रूसका हस्तक्षेप नहीं चाहता था।

हालकी घटनाओंसे यह साफ जाहिर हो रहा है कि स्टालिन द्वारा उलटनेकी तमाम कोशिशोंके बावजूद टीटो अपने स्थानसे डिगा नहीं है। वहांकी कम्युनिस्ट पार्टी भी उसका पूरा समर्थन कर रही है। यदि टीटोकी पंचवर्षीय योजनाकी सफलता भी देखी जाय तो चार वर्षोंमें जो सफलता टीटोको प्राप्त हुई है वह रूसको भी प्राप्त नहीं हुई थी। पंचवर्षीय योजनामें अत्यधिक पूंजी लगानेकी योजनाको रूसने हमेशा ही एक काल्पनिक और आदर्शवादी योजना कहकर बदनाम किया है। निश्चित योजनाके अनुसार कोयलेका उत्पादन १९५१ तक १९३९ की अपेक्षा २६५ प्रतिशत और लोहेका उत्पादन ३२० प्रतिशत बढ़ाना था। इसी तरह १९५१ तक बिजली, अलमुनियम और तेलका उत्पादन १९३९ की अपेक्षा क्रमशः चार सौ, आठ सौ तथा चार हजार पांच सौ प्रतिशत बढ़ाना था। यद्यपि इस लक्ष्यतक पहुँचनेमें अभी यूगोस्लाविया काफी पीछे है फिर भी उसकी सफलता अन्य देशोंकी अपेक्षा अधिक रही है। आज हालत यह है कि तमाम बड़े-बड़े उद्योगोंका राष्ट्रीकरण कर दिया गया है। इसके साथ ही स्थानीय उद्योगोंके ७० प्रतिशतका भी राष्ट्रीकरण हो गया है। इसके अतिरिक्त सभी बैंक, तमाम यातायात, विदेशी व्यापार, सभी थोक तथा खुदरा व्यापार राज्यके आधीन कर लिये गये हैं। इसके बाद भी जब स्टालिनवादी टीटोको पूंजीपतियोंका हिमायती कहकर बदनाम करते हैं तब टीटोके अनुयायी इस बातकी ओर इशारा करना चाहते हैं कि रूसकी नवम्बर-क्रांतिके नौ वर्ष बाद तक उद्योगों का १४%, कामर्स ३२% तथा थोक व्यापार ५% व्यक्तिगत हाथोंमें था। यूगोस्लावियामें जो कुछ भी अभी राज्यके अधीन नहीं है उसपर निश्चित तौरपर राज्यका नियंत्रण है। पंचवर्षीय योजनामें १९४७ तक जो प्रगति निश्चित की गयी थी उसका १०१% प्राप्त कर लिया जा चुका है और १९४८ के आधे वर्षका लक्ष्य भी पूर्णरूपेण सफल है। यूगोस्लावियाके उप-प्रधान मंत्री श्री कार्डेल्जके वक्तव्यके अनुसार तो निर्धारित उत्पादनका ९०% तथा पूंजी लगानेके लक्ष्यका ७०% सन् १९४९ में पूरा हो जायगा। इस तरह उनकी पंचवर्षीय योजना निश्चित प्रगतिसे भी आगे है। लेकिन कार्डेल्ज के आंकड़ों पर पूरा-पूरा सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

ब्रिटिश मजदूर दलके प्रमुख सदस्य श्री जिलिकसने जो पार्टीसे वैदेशिक नीतिपर मतभेद होनेके कारण निष्कासित कर दिये गये हैं, ५ सितम्बर १९४९ को यूगोस्लावियासे ७ दिनोंके भ्रमणके पश्चात लौटनेके बाद एक प्रेस वक्तव्यमें बताया कि टीटो किसी भी हालतमें पूंजीपतियोंके शिविरमें शामिल नहीं होगा। उन्होंने बताया कि टीटोने बहुतही दृढ़ताके साथ इस बातपर जोर देते हुए उनसे कहा कि "यदि समाजवादका अर्थ मानवता नहीं—यदि इसका अर्थ मानव-प्रतिष्ठाकी वृद्धि, स्वतंत्रता, सत्य तथा न्यायके प्रति आस्था नहीं है तो इसे लानेके तमाम प्रयत्न निरर्थक हैं। क्योंकि जिस नवीन समाजका निर्माण हम करना चाहते हैं उसके मूल्योंके ये प्रमुख हिस्से हैं।" इससे यह प्रमाणित होता है कि टीटो अपने सिद्धांतोंको व्यावहारिक रूप देनेमें दृढ़ संकल्प है। टीटो भी तानाशाह है। वह भी उसी तानाशाही व्यवस्थाको पनपा रहा है जिसे स्टालिनने रूसमें प्रतिष्ठित किया है। आंतरिक मामलोंमें वह स्टालिनसे कम सफल नहीं रहा है।

टीटो पर दोषारोपण

रूसके इस आरोपका कि यूगोस्लावियाने डालर और इसी तरहके दूसरे फायदोंके लिए स्लोवीन कैरीन्थियाका सौदा करके वहांकी जनताको धोखा दिया है, टीटोने खंडन किया है। 'बोर्बा' ने इस आरोपके उत्तरमें लिखा था कि रूसने स्वयं यूगोस्लावियाको इस सम्बन्धमें पश्चिमी राष्ट्रोंसे वार्ता करनेकी सलाह दी थी। आज रूसके तमाम पत्र टीटोको ट्राटस्कीवादी, संकीर्ण राष्ट्रवादी और सिद्धांतद्रोही कह रहे हैं। हंगरीके भूतपूर्व वैदेशिक मंत्री लैस्ज्लो-रजक तथा उसके अन्य सात सहयोगियोंपर जो सितम्बर १९४९ के अंतिम सप्ताहमें देशद्रोहका मुकद्दमा चला था और जिसमें कि उसने अपने दोषोंको स्वीकार करते हुए टीटो और हंगरीके जोसेफ कार्डिनल मिण्डसेजण्टी पर हंगरी सरकारको उलटनेका षड्यंत्र करनेका आरोप किया था, उससे ऐसा प्रतीत होता था कि यह सब टीटोको महज बदनाम करनेके लिए किया गया है। किंतु जब वह फांसीकी सजाको न्यायसंगत मानकर फांसीके तख्तेपर झूल गया तो उपरोक्त धारणा गलत-सी प्रतीत होने लगी। इससे ऐसा लगता है कि टीटो भी अपनी शक्ति बाल्कन देशोंमें मजबूत करनेकी कोशिश कर रहा है। इसका संकेत यूगोस्लावियाकी 'राष्ट्रीय सभा' के उपाध्यक्ष श्री पिजाडेके उस वक्तव्यमें भी मिलता है जिसमें उन्होंने २६ सितम्बर १९४९ को कहा था कि "वास्तवमें अब कमिनफार्म जिंदा नहीं है।" क्योंकि गत वर्षकी जुलाईसे अबतक उसकी कोई बैठक नहीं हुई है। इस वक्तव्यके कुछ दिन पूर्व ९ सितम्बर कोही 'यूनाइटेड नेशन्स वर्ल्ड' ने यह रिपोर्ट दी थी कि टीटो रूसकी राजनीतिक प्रभुताका विरोध करनेवाले कम्युनिस्ट राष्ट्रोंका एक नया कमिनफार्म बनानेकी योजना बना रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाल्कन राष्ट्रोंको टीटोके नेतृत्वसे निकालनेके लिए ही स्टालिनने टीटोको अंतमें कमिनफार्मसे निकालनेके बाद अपने तमाम अनुयायियोंके साथ यूगोस्लावियासे राजनीतिक सम्बन्ध भी तोड़ लिया है।

रूसी कम्युनिस्ट पार्टीकी केन्द्रीय समितिने यूगोस्लाव पार्टीकी केंद्रीय समितिके नाम इस विषयमें तीन पत्र लिखे थे। उन पत्रोंका संग्रह एक पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित किया गया है। टीटोके दाहिने हाथ दिलाजपर यह आरोप लगाया गया है कि उसने अपने किसी भाषणमें कहा था कि युद्धकालमें ब्रिटिश सैनिकोंने हमारे साथ सौजन्यका व्यवहार किया था जब कि रूसी सैनिकोंका व्यवहार बड़ा ही अनैतिक था। हालांकि दिलाजने बादमें इसके लिए रूससे क्षमा-याचना भी की थी। पुस्तिकामें यह भी स्पष्ट किया गया है कि रूसी राजदूत श्री पोपोविकके साथ भी वही व्यवहार किया जाता है जो अन्य बुर्जुआ राजदूतोंके साथ। उन्हें यूगोस्लाव पार्टीके कार्योंके विषयमें कोई जानकारी नहीं करायी जाती। रूसका यह दावा है कि रूसी राजदूतके साथ अन्य देशोंके राजदूतों जैसा व्यवहार नहीं होना चाहिए। यूगोस्लाव पार्टीकी गतिविधिके संबंधमें उन्हें जानकारी प्राप्त करनेकी पूरी पूरी सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त टीटोपर यह भी दोष लगाया गया है कि उसने 'जनमोर्चा' को पार्टीके साथ मिला दिया है। कमिनफार्मका कहना है कि पार्टीको जनमोर्चासे मिला देना बड़ा ही खतरनाक है। विशेष करके पार्टीको एक गौण स्थान देना तो पार्टीके साथ गद्दारी है क्योंकि पार्टी मजदूर श्रेणीका सबसे उच्चतम संगठन है। मार्क्सवादी पार्टी होनेके नाते कम्युनिस्ट पार्टीका स्थान 'जनमोर्चा' से कहीं ऊंचा होना चाहिए। यूगोस्लाव कम्युनिस्ट नेताओंका यह

स भी खतरनाक है, कि नाजी सैनिकोंपर लाव पार्टिजन्सने विजय प्राप्त की थी। यह त सैनिकों द्वारा किये गये शानदार कार्योंको करना है। यह भी कहा जाता है कि ग्रीसके निस्ट नेता मारकोसका टीटो पूर्णरूपेण समर्थन था जबकि स्टालिन उसे एक जला हुआ बल्ब कर फेंक देना चाहता था। आगे चलकर जब कोसको कम्युनिस्ट गुरिल्लोंके नेतृत्वसे हटा दिया तब तो यह बात और भी स्पष्ट हो गयी। के बाद जब टीटोने उन ग्रीस कम्युनिस्ट विद्रोहियों सहायता देना बंद कर दिया तब मजबूर होकर अभी हाल ही में ग्रीस सरकारसे समझौता कर पड़ा है।

पोलैंडके कम्युनिस्ट नेता गोमुल्कपर जो कम्युनिस्ट ांतद्रोही होनेका दोष लगाया गया था, इसके यमें भी रूसका कहना था कि टीटो गोमुल्ककी तरहसे रक्षा करना चाहता था। यही दोष अल्बा-याके कम्युनिस्ट नेता जोजेपर भी लगाया गया था। के विषयमें भी टीटोने वही रुख अख्तियार किया रुख गोमुल्कके प्रति उसने किया था। अभी हाल-में १५ सितम्बर सन् १९४९ को अल्बानिया के प्रधान-त्री अनवर होक्जाने शेकोडरमें एक भाषण दिया है। समें उसने कहा है कि "कोसोवोमें रहनेवाली अल्बा-नियन जनता उस आतंकको याद करती है जो सोवि-त राष्ट्रवादियों और उनके क्रेजीउ तथा इसीके जैसे न्य एजेंटोंने संगठित किया था। जोगु तथा क्रेजीउने देशभक्त बैराम तुरीकी हत्या की थी। फासिस्ट र्मन-इटालियन कब्जेके समय कोसोवोमें रहनेवाली ल्बानियन जनताके इन हत्यारोंमें से कुछको इटालियन या जर्मन गुप्तचर विभागमें ले लिया गया था। किन अब उनलोगोंने अपना स्वामी बदल लिया है और ब्रिटिश गुप्तचर विभागमें काम कर रहे हैं।" आगे उन्होंने कहा कि "१९४४ में गनी बे तथा सेत वे क्रेजीउ ट्राटस्कीवादी तथा देशद्रोही जैक फुंडोके साथ उत्तरकी पहाड़ियोंमें ब्रिटिश मिशनके प्रतिनिधियोंके साथ छिपे हुए थे। इस गिरोहका उद्देश्य था अल्बा-नियाकी जनता तथा उनके स्वातंत्र्य-आंदोलनके विरुद्ध संघर्ष छेड़नेके लिए आताताथी गिरोहोंके नेताओंको संगठित करना। हमारे जन-स्वातंत्र्य-आंदोलन ने इन आततायियोंको गिरफ्तार कर मृत्युदण्ड दे दिया। किंतु जैक फुंडोके अतिरिक्त अन्य आततायियों की सजा टीटो और उसके दोस्तोंके हस्तक्षेपसे कुछ समयके लिए स्थगित कर दी गयी। टीटो तथा उसके चाटुकारोंने यह धमकी दी थी कि यदि गनी बे और क्रेजीउको फांसी दी गयी तो हम अल्बानियासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेंगे। उन लोगोंने इस बातपर भी जिद किया था कि क्रेजीउको ब्रिटिश सरकारके हाथमें सौंप दिया जाय और अंग्रेजोंने उसे फौरन ही हवाई-जहाज द्वारा बारीमें भेज दिया था। इस घटना-क्रमकी रोशनीमें यह स्पष्ट हो जाता है कि फासिस्ट टीटो तथा उसके दोस्त साम्राज्यवादी गुप्तचर विभागमें बहुत पहलेही प्रवेश पा चुके थे।" इस तरह जिस अल्बानियाकी जनतापर टीटोको एक दिन गर्व था, जिस अल्बानियन कम्युनिस्ट पार्टीपर टीटोका पूरा-पूरा प्रभाव था, वहींका प्रधान मंत्री होक्जाकी आंखोंमें वह आज गद्दार और साम्राज्यवादियोंका दलाल है।

रूसने अपना पंजा मजबूत करनेके लिए यूगोस्लावियामें कई विशेषज्ञोंको भेज रक्खा था। टीटो इस बातको समझता था। इसलिए उन्हें उनके कार्यक्षेत्रसे बाहर जानेका अवसर वह नहीं प्रदान करना चाहता था। उनकी गतिविधिपर भी वह बड़ा ध्यान रखता था। रूस अपनी चलती न देखकर झल्ला उठा। कमिनफार्मके प्रस्तावमें टीटोपर यह भी दोषा-रोपण किया गया है कि रूसी प्रतिनिधियोंके पीछे उसने गुप्तचर लगा रखे थे। यहां तक कि कमिनफार्म के यूगोस्लाविया स्थित प्रतिनिधि युडिन के पीछे गुप्तचर लगानेका दोष भी टीटोपर लगाया गया है। यह सही है कि टीटो स्वयं इन लोगोंको संदेह की दृष्टिसे देखता था और इन्हें स्टालिनका व्यक्तिगत गुप्तचर समझता था, और यह भी सही है कि स्टा-लिनके इन अंधभक्त अनुयायियोंपर यदि टीटो अपनी कड़ी निगाह नहीं रखता तो आज वह यूगोस्लाविया-का तानाशाह न होकर किसी जेलकी हवा खाता होता, अथवा फांसीपर लटका दिया गया होता। क्योंकि स्टालिन अपनी अवहेलना करनेवालोंको मिटा-नेकी नीतिको सफलीभूत करनेके लिए यही तरीका

इस्तेमाल करता आया है, और इसी तरीकेको इस्ते-मालकर उसने पूर्वी यूरोपके अन्य कम्युनिस्ट देशोंको टीटोके प्रभावसे मुक्त करनेमें सफलता प्राप्त की है।

सफल कम्युनिस्ट तानाशाह कम्युनिस्टोंकी नजरमें

टीटोको रूसके तमाम दोषारोपणके बावजूद वहांकी कम्युनिस्ट पार्टीका शत-प्रतिशत समर्थन प्राप्त है। 'जनमोर्चा' के तमाम सदस्य उसकी नीतिसे सह-मत हैं। यूगोस्लाव जनता भी उसे चाहती है। पुराना बोल्शेविक तथा बलगेरियाका भूतपूर्व प्रधान-मंत्री डिमिट्रोव टीटोका बड़ा समर्थक था। इसी वर्ष जुलाईमें, रूसमें उसकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके दो सप्ताह पूर्व बलगेरियाके प्रधान सेनापति जेनरल किनोवने उससे मुलाकात की थी। जेनरल किनोव इसी वर्ष जूनमें मास्को बुलाये गये थे। वहांपर उन्होंने बल-गेरियन सैनिकोंको रूसी आदेशपर चलानेकी योजना-का विरोध किया था। क्योंकि उन्होंने यह स्पष्ट देख लिया था कि इसका अर्थ यूगोस्लाव जनताका बलगेरियन सैनिकों द्वारा बध करवाना है। इसका नतीजा यह हुआ कि बलगेरियन सेनाके राजनीतिक विभागके अध्यक्ष जेनरल बोजान बोल्गारामोव सो-फिया जेलमें सड़ रहे हैं। यह भी कहा जाता है कि कमिनफार्मके यूगोस्लाविया विरोधी प्रस्ताव पास करनेके कुछ महीने पूर्व जब डिमिट्रोव बेलग्रेडसे गुजर रहा था तब यूगोस्लाव जनताको क्रेमलिन-नीतिके विरुद्ध संघर्ष जारी रखनेकी सलाह दी थी। किनोवको मृत्युके पहले बुलाकर भी उसने यही कहा था कि क्रेमलिन नीतिका मैं समर्थक नहीं हूँ। अब हाल इधर यह है कि टीटोको चारो ओरसे गालियां ही गालियां मिल रही हैं। अल्बानियाके प्रधान मंत्री अनवर होक्जा-के १५ सितम्बर १९४९ के भाषणका एक अंश देखिए:-- "टीटो अमरीकी साम्राज्यवादियोंका पाला हुआ तोता है। वह उनकी खूनी और अनैतिक आकांक्षाओं-की तृप्तिका साधन मात्र है। टीटो, सालदेरीस तथा फ्रैंकोके बीच आज कोई अंतर नहीं किया जा सकता। ये तीनों एक ही थैलीके चट्टेबट्टे हैं। वे अमरीकी जंजीरमें बंधे हुए तीन कुत्ते मात्र हैं। ये अमरीकी जूतोंको चाटते हैं और अमरीकी पूंजीकी रक्षाके लिए भूंकते हैं।" ये हैं एक कम्युनिस्ट प्रधानमंत्री द्वारा एक कम्युनिस्ट तानाशाहके लिए प्रयोग किये गये शब्द। कमिनफार्मका मुखपत्र "फॉर ए लास्टिंग पिस ऐंड पिपुल्स डेमोक्रेसी" के ७ अक्तूबर १९४९ के अंकमें हंगरीकी वर्कर्स पार्टीके प्रधानमंत्री मैथियस राकोसीने एक लेख लिखा था। उसका भी एक नमूना देखिए:-- "यह प्रकट हो गया है कि स्पेनकी तरह यूगो-स्लावियामें भी फासिज्मके विरुद्ध छिड़े संग्राममें अत्य-धिक बलिदान करनेवाले वीरोंके बीच टीटो, रैंको-विक, कार्डेल्ज तथा दिलाज जैसे गद्दार मौजूद थे।" यदि यूगोस्लाव जनताका चुना हुआ नुमाइंदा टीटो हंगरी के कम्युनिस्टोंके लिए गद्दार है तो फिर इनकी दृष्टिमें इनके सिवा देशभक्त कोई और हो ही नहीं सकता।

सुरक्षा-परिषदके चुनावमें चेकोस्लोवाकियाके विरुद्ध यूगोस्लावियाकी विजय हुई है। रूसी परराष्ट्र मंत्री एन्द्रि विशिस्कीने चुनावके दो दिन पूर्व चेता-वनी दी थी कि यदि यूगोस्लाविश निर्वाचित हुआ तो रूस संयुक्त राष्ट्रसंघसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेगा। उसके निर्वाचित होनेके बाद आपने फरमाया कि उसे हम प्रतिनिधि रूपमें नहीं स्वीकार करेंगे। अक्तूबरमें ही वि-शिस्कीके उत्तरमें टीटोने कहा था कि यदि रूसने अपने पिछलगुए देशों द्वारा हमारी शांति भंग करवानेकी कोशिश की तो तृतीय विश्वयुद्धका प्रारम्भ यहींसे होगा।

मार्च १९४९ में रूसके कुछ गिने-चुने नेताओंको राजनीतिक पटसे गायब होनेका यह अर्थ लगाया जा रहा है कि रूसी कम्युनिस्ट पार्टीकी 'पॉलिट ब्यूरो' में यूगोस्लावियाके प्रति बरती गयी नीतिपर मतभेद हो गया है। वह मतभेद अभी तक ज्यों-का-त्यों बना है। इसीलिए इधर ग्रीसके कम्युनिस्टोंका ग्रीक सर-कारसे समझौता कराया गया है और एन्द्रि विशिस्की अमरीकामें जाकर बड़ी मीठी-मीठी बातें कर रहे हैं। नवम्बरके पहिले सप्ताहमें टीटोने 'पालिटिकेन-कापेनहेन' के एक सम्वाददातासे अपनी मुलाकातमें कहा था कि "मेरा विश्वास है कि दो समाजवादी राष्ट्रोंमें युद्ध असंभव है।" हालकी घटनाएं यद्यपि काफी उत्तेजक रही हैं फिर भी रूस प्रत्यक्षरूपसे यूगोस्लाविया पर हमला करनेकी बेवकूफी नहीं करेगा। अभी भी अल्बानिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया तथा बलगेरियाकी कम्युनिस्ट पार्टियोंमें टीटोके कई समर्थक पड़े हुए हैं।

ज न वा णी

विषय-सूची

'जनवाणी'

वार्षिक मूल्य ८) — एक प्रति का ॥)

काशी विद्यापीठ, बनारस

जनवाणी

वर्ष ३ भाग ६] दिसम्बर १९४९ [अङ्क १२ पूर्णाङ्क ३६

प्रणयको ललकारता हूँ

छोटेलाल भार[द्वा]ज

प्रलयके स्वरसे तुम्हारे प्रणयको ललकारता हूँ ।

(१)

सत्य है, तुमने कभी
उजड़ा चमन नन्दन बनाया,
स्वप्नके श्रृंगार-पथ पर
धूलिको चन्दन बनाया ;

कर रहा था मैं युगोंसे
कल्पना का सिन्धु-मन्थन,
दे तुम्हींने रूप की मदिरा
मुझे उन्मन बनाया;

मगर साकी ! आज नयनों
में नहीं मद की खुमारी,
जल चुकी हैं भूख में
चिर कल्पनाएँ आज सारी;

आज पथ की धूलि का
तूफान नभमें छा रहा है,
देखता हूँ, हाय, मानव
को कि मानव खा रहा है;

बन रहे हैं हड्डियोंके महल
धरता के हृदय पर,
जन रही है आज मां की
कोख कङ्कड़ और पत्थर;

जो गुलामी में युगों से
धूलि खाकर जी रहे हैं,
आज भी चुपचाप मानव
घूंट विषके पी रहे हैं;

आज मेरी धमनियों का रक्त
फिर फिर खौलता है,
कण्ठ-स्वर अंगार बन कर
आज बरबस बोलता है;

इसलिए इस विवश जीवनसे
प्रबल विद्रोह लेकर
हार से ही मैं तुम्हारी
विजय को ललकारता हूँ।
प्रलय के स्वर से तुम्हारे
प्रणय को ललकारता हूँ।

समाजवाद, स्वतन्त्रता और अहिंसा

डॉ० राममनोहर लोहिया

कभी-कभी निश्चयात्मक रूपसे कह दिया है
तथा नारी,जीवनके येही दो ध्येय हैं। ईश्वरसे
भेंट नहीं हुई और नारी भी अप्राप्य ही जान
। किन्तु मैं एक ऐसे व्यक्तिसे अवश्य मिल
जसके जीवनमें सत्य एवं सुन्दरकी खोजका
न्वय हुआ था। कमसे कम मेरी ऐसी धारणा
ही है और अनेक वर्षों तक। वह व्यक्ति अब
और उसकी आकृति भी अब केवल एक
त्र है। तमाम शंकाओंका वह जीवित समाधान
, बल्कि अब वह एक अमूर्त प्रत्यय बन गया
प्रत्यय तो स्वभावतः शैतान होते हैं और
से बड़े रोषके साथ भिड़ते हैं। ऐसी स्थितिमें
खोजका कार्य पुनः नये सिरेसे प्रारम्भ होता
ल यह क्षीण प्रकाश कि कभी कोई ऐसा
संसारमें था जिसके जीवनमें सत्य और सुन्दर
समन्वय हुआ था, अब हमारा मार्गदर्शन
है।

भग ६ सहस्र वर्ष पूर्व कठ नामक एक
यमराजसे अनेक प्रश्न किये थे । उसमें "शिव
न्ददायक है" इस चतुर किन्तु मधुर परिभाषा
की तो विजय हुई, किन्तु सुन्दरकी पराजय,
यदि सुन्दरका क्षय हो सकता है तो सत्य भी
ो सकता है। किन्तु इस अधःपतनके मार्गका
हस्योद्घाटन होना चाहिए । प्रश्न यह है कि
सत्यमें वह कौन-सा तत्त्व है जो उसे कभी-कभी
ना देता है और सुन्दरमें वह कौनसी बात है
हमें ललचाया करता है। ऐसी स्थितिमें सत्य
रको केवल शिवका पर्यायवाची कह देने मात्रसे
का समाधान नहीं हो सकता । मूलतः एक
भी सत्य एवं सुन्दर एक दूसरेसे पृथक हैं ।
संयोग भी होता है, पर उसपर व्यक्ति और
छाप पड़ती है । व्यक्तिकी छाप वाली बात
सम्भवतः सत्य है, पर वह इतनी एकाकी कि उसे सुन्दर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी कथन पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता यदि वह सुन्दर नहीं है और न तो वह पूर्ण सुन्दर ही हो सकता है यदि वह सत्य नहीं है । सत्यकी तीक्ष्णताको सौन्दर्यकी कोमल परिधिमें बाँधकर ही हम निर्ममता और विनाशसे बच सकते हैं, किन्तु यह सम्बन्ध बराबरीका होना चाहिए। तो फिर सत्य और सुन्दरके बीच इस समानताका रहस्य क्या है ? यह किसीको ज्ञात नहीं। कदाचित् सहानुभूति!

मैं पहले समाजवाद, स्वतन्त्रता और अहिंसाको इस युगका सुन्दर सत्य समझता था । मैं अब भी ऐसा ही मानता हूँ, किन्तु अब यह भी सम्भव मानने लगा हूँ कि इन तीनोंमेंसे किसी एकका दूसरेसे संघर्ष भी हो सकता है। इस आशंकाको केवल यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि सत्य एवं निरपेक्ष अहिंसा द्वारा ही सदा समाजवादकी प्राप्ति हो सकती है, अथवा सत्य एवं निरपेक्ष समाजवाद सदैव अहिंसात्मक ही होगा। जब ऐसा संघर्ष वास्तविक है तो यहाँ ऐसी कल्पनाओंके लिए स्थान नहीं है। अगर तीनोंको इस युगका सृजनात्मक सत्य बनाना है तो न केवल क्रियात्मक रूपमें बल्कि विचारोंमें भी इस संघर्षकी आशंकाको हल करना होगा । जब तक इन तीनोंमेंसे प्रत्येकको निरपेक्ष सत्य माना जायगा तबतक संघर्षकी आशंका अनिवार्य बनी रहेगी और उसका परिणाम जड़ता अथवा पाखण्ड ही होगा । इन निरपेक्ष तत्त्वोंमें भी परिवर्तन और सामञ्जस्य आवश्यक है, क्योंकि उनकी सत्ता और स्वरूप तभी सुरक्षित रहेंगे जबकि वे अपने स्वत्वका आंशिक परित्याग करनेके लिए तैयार हों ।

अहिंसा तथा स्वाभाविक हिंसा के तत्त्व एक दूसरे से इतने विपरीत नहीं हैं जितना कि वे पहले दीख पड़ते

हैं। मानव-जाति के अन्धकार-युगों में वे एक दूसरे की पूरक हो सकती हैं । इस प्रकार हिंसा के अन्धकार को स्वीकार करके और उसे कम से कम करके, यहाँ तक कि कभी उसकी कल्पना तक न कर और न उसे रचनात्मक सिद्धान्त का रूप प्रदान कर, और सर्वोपरि अहिंसा को अपने संगठित कार्यों का स्थायी माध्यम बनाकर आज भी युद्ध और हिंसा का अन्त किया जा सकता है । श्रेणी-संघर्ष का संगठन और विश्वबांधुत्व, दोनों सम्भवतः इतने परस्पर विरोधी नहीं हैं जितना कि शुरूमें दिखायी पड़ते हैं । वे वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं । वर्गविहीन और वर्णविहीन समाज की शीघ्र स्थापनाके लिए विगत इतिहास के प्रकाश में जो सचेत श्रेणी-संघर्ष होगा उससे ग ीबों को महती शक्ति प्राप्त होगी । इससे समाजवाद के लिए संघर्षमें तीव्रता आयेगी और उसे सबकी सहानुभूति प्राप्त होगी । बहुत दिनों तक समाजवाद विरोध पर निर्मित हुआ है जिससे अक्सर कार्यक्षमता मारी जाती है । अब समाजवादके तेज प्रकाश को अहिंसाके कोमल घेरे में आना होगा, सघर्ष में सहानुभूति लानी होगी ।

आज तो इसके लिए समूचा विश्व ही कार्य-क्षेत्र है । सम्भवतः ऐसा सदा ही रहा है । आज किसी एक राष्ट्र में सृजनात्मक सत्य का निर्माण करना एक दयनीय चेष्टा होगी । जो लोग समाजवाद, स्वतन्त्रता और अहिंसा की त्रिमूर्ति को राष्ट्रीय सीमाओं में ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं वे एशिया और अफ्रीकाके प्रमादमें फँसकर अथवा यूरोप के अंक-जाल में उलझकर विनष्ट हो जांयगे । इसका दूसरा कोई परिणाम नहीं हो सकता । यूरोप के पास संजोने एवं सुरक्षित रखने के लिए बहुत कुछ है; किन्तु उसकी रक्षामें ही संघर्षरत होने के कारण वह कोई महत्वपूर्ण देन नहीं दे सकता है । एशिया के पास पुरातन की स्मृति और कल्याणकारी भावीके निर्माण की आकांक्षा के अतिरिक्त और कु नहीं है, पर यह भी कुछ कर सकने में असमर्थ है क्योंकि वस्तुस्थिति और लक्ष्यके बीच चौड़ी खाई देखकर ही इसकी आत्मा कांप उठती है । यूरोप में निर्माण की कम और सुरक्षा को अधिक चिन्ता है, एशिया को निर्माण अधिक करना है, किन्तु आधार. बिल्कुल कम है । इस प्रकार संरक्षण और सृजन में विनाशकारी संघर्ष छिड़ा हुआ है । लोग अर्थ-व्यवस्था तथा व्यवसाय के विस्तार की बात करते हैं, किन्तु वे राष्ट्रीय आधार पर इनमें से एक का भी हल नहीं निकाल सकते हैं । राष्ट्रीय अथवा महादेशीय सीमा के अन्दर प्रगति और विस्तार का प्रयत्न बढ़ती हुई गरीबी को रोक नहीं सकता । फलस्वरूप युद्ध होगा । केवल एक विश्व-मस्तिष्क ही विस्तार, उन्नति और उपर्युक्त त्रिमूर्ति का सृजन कर सकता है ।

इस विश्व-मस्तिष्कमें भी एकरूपता आवश्यक है, इसमें विरोधी तत्त्व नहीं रह सकते। इस समय तो अनेक आर्थिक विश्व हैं, जहां कोरी दस्तकारी का यन्त्रोत्पादनसे विनिमय करने की आशा की जाती है । भूतकालमें ऐसे विनिमयसे शक्तिशाली राष्ट्रोंको ही लाभ पहुँचता था, पर आज तो इससे सबकी हानि है । ऐसी स्थितिमें एक राजनीतिक और युद्धरहित विश्वके निर्माणके साथ एक आर्थिक विश्वके निर्माणका भी प्रयत्न होना चाहिए जिसमें मनुष्य, बुद्धि और वस्तु का स्वतन्त्रतापूर्वक आवागमन होगा, प्रत्येक नर-नारी की उत्तम रहन-सहन होगी, पानीकी भांति रोटी भी सुलभ होगी, चौखंभा राज्य-व्यवस्था द्वारा सजीव लोकतन्त्रका निर्माण होगा जिसमें केन्द्र और प्रान्तों की भाँति ग्राम और नगर भी सर्वोच्च राज्य-शक्ति के समान अधिकारी होंगे । बन्धुत्व न्यूनतम और अधिकतम आयमें मूर्तिमान होगा और उसका सीमोल्लंघन अपराध समझा जायगा । किसी भी आर्थिक या दार्शनिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रश्न पर विचार करते समय राष्ट्रीय सीमाओंको कोई स्थान नहीं रहेगा ।

ऐसा विश्व-मस्तिष्क विश्व-रंगमंच पर ही इस युग की त्रिमूर्तिका सृजन कर सकता है । इस दिशामें काम करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियाँ ये हैं:—सभी क्षेत्रों की समान उत्पादन-शक्ति; विश्व-कांग्रेसका निर्माण; आदर्श नगर तथा ग्रामोंका निर्माण; अन्तरराष्ट्रीय बस्तियाँ; प्रत्येक व्यक्तिके लिए समुचित जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था और अधिकतम आयका सीमा-निर्धारण; पूर्व और पश्चिमकी तनातनीसे यूरोपका उद्धार; स्वतन्त्र और संयुक्त अफ्रीका; चौखम्भा राज्य; विश्व सरकारके लिए आन्दोलन; अन्तरराष्ट्रीय शान्ति

ल; विश्व नागरिक-संघ; युद्धविरोधी आन्दोलन; ाजवादी किसान और मजदूर आन्दोलन; सरकारों जनताको सक्रिय तटस्थताका सिद्धान्त माननेके लिए ार करना। जब इन सभी चेष्टाओंको सफलता-क एकमें संगठित करेंगे तभी एक विश्व-मस्तिष्कका र्माण हो सकेगा और एक विश्वव्यापी कदम उठेगा। मुझे जीन और पालके कठोर और स्वच्छ चेहरे, राबर्ट सराजेकका यह कथन कि फ्रांसके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य है, बहुत दिनों तक स्मरण रहेंगे। क्या राबर्ट सराजेक और उनके देशवासियोंको बता सकता हूँ कि फ्रांसका हिन्दुस्तानके प्रति भी कुछ कर्तव्य है, सम्पूर्ण मानव-जातिका अपने प्रति भी कुछ कर्तव्य है। यह बहुत ही सुखद कर्तव्य है। कदाचित् कठोर सत्य और अप्राप्य सौन्दर्यमें समन्वय स्थापित करनेका मार्ग आदर्श जीवन है, नगर और ग्रामको सम्पूर्ण मानव-जातिका एक अंग माननेका आनन्द, उस आनन्दको प्राप्त करनेका साहस, उस ओर चेष्टा, कष्ट-सहन और संघर्ष, इस युगकी त्रिमूर्तिका सृजन और सर्वोपरि सहानुभूति है।

लक्ष्य

श्याम भटनागर

ानसे गूंजती आती
ा पर फैलती जाती
शाएँ जिसको दोहरातीं
 केवल एक ही आवाज—
ीवन मुक्त हो निर्व्याज।
 पड़े जन,
त जर्जर पर भरा उत्साह से मन;
ल पड़ी झंझा झनन-झन
र उठीं तम सी घटाएँ,
चला चमकी घनों में गड़गड़ाई गाज।
हरता तन. पर उसी क्षण
त्त को एकाग्र कर
ाहस अपरिमित किया संचित
नये युगके कारवाँ ने।
और दृढ़ आगे बढ़े पग

बरसती सिर पर प्रखरतर धार।
घूमकर देखा कि घन हैं साँझके
आ रहे दौड़े प्रलय के वाहनों पर
हर घड़ी बढ़ता गया भीषण अँधेरा
दृष्टि कर अवरुद्ध, पथ पर डाल डेरा
किन्तु सन्मुख—दूर आगत मुक्त नभमें
हँस रहे हैं ज्योतिके नव प्राण,
चीरने को सघनतम जो कस रहे परिकर परस्पर।
दूर अब न विहान।
आज लक्ष्य बना वही है।

उतरता हुआ नशा

प्रो० विजयदेवनारायण साही

क्या आप कवि हैं? नहीं, आप नहीं होंगे। आपका चेहरा गवाही दे रहा है कि आप कवि नहीं हैं। अगर आप होते तो आपको मालूम होता कि जाड़े का महीना कितना नशे से भरा हुआ होता है। धूपमें एक आलस्य आ जाता है, हवामें खुमार भर जाता है, शरीरकी रगें बोझिल हो जाती हैं और जीवनके प्रवाहमें एकलय पैदा हो जाती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं कवि हूँ और अपनी कमजोरी भी मानता हूँ। फागुनके महीनेमें मुझ पर नशा छा जाता है।

मेरे छात्रावासके जिस तरफ मेरा कमरा है उसकी बगलमें एक गिरिजाघरका कम्पाउण्ड है और कम्पाउण्डके भी उस पार तारकोलकी पक्की सड़क है जिसका थोड़ा सा अंश मेरे कमरेकी खिड़कीसे दिखायी पड़ता है। फागुन के नशीले महीनेके एक ऐसे ही दिन में अपने कमरे में बैठा हुआ खिड़कीसे सड़क पर बहते हुए जीवन-प्रवाह को देख रहा था। दोपहरका समय था। काली सड़क विलासी धूपमें लेटी हुई श्यामल उन्मादकी तरह जगमगा रही थी। धूपमें जवानी खिल रही थी जिसे हवा रह रह कर हिलोर कर चली जाती थी। सिनेमा की तरह सड़क पर एक के बाद दूसरे चित्र मेरी आँखोंके सामने बह रहे थे। सड़क पर दो साथी साइकिलों पर चले आ रहे हैं। उनकी साइकिलोंके हैण्डिल धूप में चमक रहे हैं। उनके पाँव धीरे-धीरे चक्कर में घूम रहे हैं और उनके हाथ स्नेहपूर्वक एक दूसरेके कन्धे पर टिके हुए हैं। हँसते हुए वे एक तरफ से आये और दूसरी ओर गायब हो गये। वह एक दूधवाली अपने सिर पर दूधकी तीन मटकियाँ एकके ऊपर एक रखे हुए अजीब चालसे चली जा रही है। हाथ झूम रहे हैं, सिरमें भी एक बाँकापन है, मगर मटकियां हैं कि जवाहरकी तरह जड़ दी गयी हैं। कमालका सन्तुलन है। भयानक आवाज करती हुई मिलिटरी की चार बड़ी-बड़ी जबरदस्त ट्रकें उसकी बगलसे निकल गयीं, मगर उस स्थितप्रज्ञ साधिकाके योग में जैसे बाल बराबर भी बल नहीं आया। एक मस्त रिक्शा वाला सिनेमाकी कोई लाइन जोर से गाता हुआ खाली रिक्शा चलाता हुआ निकल गया। उसके रिक्शेका उखड़ा हुआ कवर और गलेमें लिपटी हुई अंगोछी पताकाकी तरह हवामें फहरा उठी और उसके गानेके स्वरने एक बार पेड़ों पर उड़ती हुई तितलियोंकी तरह नीलिमाको स्पन्दनसे भर दिया। उधर किसी धोबीका आलसी गधा एक दार्शनिक की भाँति मुँह लटकाये हुए बहुत गम्भीर चालसे चला जा रहा है। सहसा तीन नंगे, काले, गरीब बच्चे बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए, एक दूसरे पर धूल फेंकते हुए खिड़कीके एक कोने से दूसरे कोनेको निकल गये। सड़क नव जीवनसे जगमगा उठी। यह है फागुनका महीना—कितना मधुर, कितना मादक!

यूनिवर्सिटी बन्द थी और मैं कमरे में बैठा बस जवानी भरे मौसमकी कल्पनामें डूब उतरा रहा था कि मानिकलालने आकर जगा दिया। "वाह, मैं तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूँ और तुम यहाँ बैठे हुए न जाने किसका ध्यान कर रहे हो। मकान देखने नहीं चलोगे क्या?"

मुझे याद आया कि मानिकलालके पिताजी सिविल लाइन्समें मकान खरीद रहे हैं और मैंने मानिकलालसे वादा किया था कि आज उसके साथ मकान देखने चलूंगा। मैंने उठते हुए कहा, "ओह, ऐसा मस्त मौसम है कि मैं तो सब कुछ बिल्कुल भूल ही गया था। चलो, अभी चलता हूँ। यह फागुन भी बड़ा नशीला महीना है।"

मानिकलाल ने मुस्करा कर कहा, "अच्छा तो तुम नशेमें डूब रहे हो। कोई कविता सूझ रही है या केवल यौवनकी वेदना?"

मानसिक उन्माद जिसे हम बेकसकी
हैं भावनाकी वह गम्भीरता है जिसे
अधिकता मृत बना देती है । मनुष्य
ाको दैनिक कार्यकलापोंसे ऊपर उठा
न्दमय लोकमें ले जाता है जिसमें वह
यके साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है ।
इस पूजामें यह कल्पनाकी जाती थी
रीमें प्रवेश कर जाता है, व्यक्तिका उसके
लिन हो जाता है ।
के क्षेत्रमें सभ्यताका अर्थ विज्ञान है और
री बौद्धिकता है । परन्तु मनुष्य केवल
से ही सन्तोष नहीं प्राप्त कर सकता ।
ा, कला और कल्पना भी चाहिए । विज्ञान
नकी तृप्ति कर सकता है, परन्तु कल्पना की
ानके दार्शनिक दो प्रकारके हैं, एक तो वे
तः विज्ञानवादी हैं, दूसरे वे जो धार्मिक हैं,
था कल्पनाकी इनमें प्रधानता है । इनपर
धर्मका अधिक प्रभाव पड़ा है ।
स अथवा डाइनोससकी यह पूजा पहले
थी । इसका यह रूप दार्शनिकोंको आक-
कर सका । उनपर प्रभाव डालने वाला
धर्मका वह संशोधित रूप है जिसका प्रचार
यस (Orpheus) ने किया । उसने शारी-
न्मादको मानसिक उन्मादमें परिणित किया ।
यसके बारेमें हमारा ज्ञान अधिक नहीं है ।
आर्फिकोंके सिद्धान्त हम पूर्ण रूपसे जानते
वे आत्माके पुनर्जन्म (Transmigration)
वास करते थे । उनका यह विश्वास था कि
ा अपने कर्मोंके अनुसार अनन्त आनन्द अथवा दुख
ाप्त होता है । उनका ध्येय पवित्रता प्राप्त करना
जो कट्टर थे वे मांस भक्षण नहीं करते थे,
ल कुछ अवसरों पर छोड़कर) । उनका यह
वास था कि मनुष्य कुछ तो दैवी है और कुछ
तिक । पवित्र जीवनसे दैवी गुणकी वृद्धि होती
और अन्तमें व्यक्ति बेकसके साथ एकत्व ाप्त
ता है । डाइनोससके बारेमें बहुत-सी कल्पित
ाएँ हैं ।
आर्फिकोंका एक सन्यासी समुदाय था । मदिरा केवल

प्रतीक मात्र थी । वे जिस नशेकी तलाश करते थे वह इसलिए था कि ईश्वरके साथ एकत्व प्राप्त हो । वे रहस्यवादी ज्ञानको प्राप्त करना चाहते थे जो साधारण तरीकोंसे नहीं प्राप्त हो सकता । आर्फिकोंके इस रहस्यवादी तत्त्वने बहुतसे दार्शनिकोंको प्रभावित किया । पाइथागोरस पर इसका अत्यधिक प्रभाव है । प्लैटो पर भी इसका प्रभाव है । और भी बहुतसे दार्शनिक इससे प्रभावित हुए हैं । युरीपिडीजकी रचनाओं पर आरफिज्मका बहुत प्रभाव है ।

आर्फिकों के अनुसार यह संसार दुखपूर्ण है । मनुष्य एक ऐसे पहियेमें बंधा हुआ है जो जीवन और मृत्युकी परिधिमें घूमा करता है । उसका सत्य जीवन तो स्वर्गका है, परन्तु वह पृथ्वीसे बंधा रहता है । त्यागसे ही वह इस जन्म-मरणकी परिधिसे छुटकारा पा सकता है और परमात्मासे मिलकर फिर आनन्द प्राप्त कर सकता है । आरफिज्मके ये विचार हमें भारतीय दर्शनके समान मालूम होते हैं ।

यूनानियोंके चरित्रके सम्बंधमें यह धारणा है कि वे भावनारहित होकर किसी वस्तुपर चिन्तन करते थे । सौन्दर्यका आनन्द लेते समय भी वे गम्भीर तथा भावनारहित होते थे । 'ओलम्पिन' शब्दका भी जो यूनानियोंके चरित्रके बारेमें प्रयोग किया जाता है, कुछ ऐसा ही अर्थ होता है । परन्तु उनके चरित्रकी यह धारणा एकात्मक है । कदाचित् यह होमर, सोफोक्लीज तथा अरस्तूके बारेमें सत्य हो सकती है, परन्तु यह उन दार्शनिकोंके बारेमें सत्य नहीं है जिनपर आरफिज्मका प्रभाव पड़ा था, जैसे पाइथागोरस या प्लैटो इत्यादि । यूनानमें दो प्रवृत्तियां कार्य कर रही थीं । एक प्रवृत्ति तो वह थी जो भावनात्मक, धार्मिक, रहस्यवादी तथा कल्पनापूर्ण थी । इसमें ऐसे व्यक्ति थे जो जीवनसे सन्तुष्ट नहीं थे, जिन्हें शान्ति नहीं थी तथा जिनके भीतर एक युद्ध चला करता था । दूसरी प्रवृत्ति बौद्धिक थी । इस प्रवृत्तिके व्यक्ति प्रसन्न, बुद्धिवादी, ज्ञान-प्राप्तिमें व्यस्त, भावनारहित तथा प्रत्यक्षवादी थे । भावना तथा बौद्धिकताके इस सम्मिश्रण, हृदय तथा मस्तिष्कके इस सामञ्जस्यने ही यूनानियोंको महान बनाया तथा उनकी सभ्यताका बहुमुखी विकास किया । एकात्मकता ऐसा न होने देती ।

संस्कृति का तात्पर्य

नामवर सिंह

तात्पर्यसे मेरा अभिप्राय है सीमा-निर्धारण, व्याख्या नहीं । व्याख्याएँ तो बहुत हो चुकीं, यहां तककि संस्कृतिका अर्थक्षेत्र असीम हो चला है । इसके सहज स्वच्छंद प्रयोगसे अब तो ऐसा हो गया है कि किसीसे संस्कृतिका अर्थ पूछने में भी असंस्कृत होनेका भय है । संस्कृतिकी चर्चा नये-नये स्वतंत्र हुए भारतमें ही नहीं, लड़कर सुस्ताने वाले सारे संसारमें है । आज यह नया नहीं है । यूरोपमें तो पहले भी पूंजीवादी राजनीतिज्ञोंने संक्रान्ति-कालमें "संस्कृति" का नारा बुलंद करके अपना स्वार्थ-साधन किया । अपने सांस्कृतिक गौरवके नामपर फासिस्ट देशोंने वर्ग-संघर्षपर राख डालनेकी कोशिश की । आजसे बीस-पच्चीस वर्ष पहले जिस अमरीकाको अपनी संस्कृतिका ध्यान नहीं था, वही अब अपने सांस्कृतिक गौरवसे बोझिल पुस्तकों द्वारा बाजार पाट रहा है । भारतमें भी राष्ट्रीयताके कुछ ही दिन बाद संस्कृतिकी चेतना आ धमकी । फल भारत-विभाजन तक ही नहीं रहा, विभाजित भारत में भी एक सांस्कृतिक फैसिज्म खड़ा हो गया । परन्तु जनतांत्रिक लोगोंने जिस संस्कृतिको इतने दिन बाद स्मरण किया है, वह बहुत कुछ राजनीतिक निर्माण से अतृप्त होनेके कारण । जहां तक नामका संबंध है, संस्कृति सभ्यताके साथ-साथ प्रथम महायुद्धमें ही पैदा हुई । परन्तु चर्चा रही सभ्यताकी, और अत्यधिक प्रयोगसे जब वह सूक्ष्म सत्ता स्थूल हो चली तो सूक्ष्म शब्द लोभी वक्ताओंने 'अभावे शालिचूर्णम्' की तरह इस महायुद्धके बाद संस्कृतिको हथियाया । जब शब्द चला तो व्याख्याएँ भी शुरू हुईं, परिभाषाएँ भी की गयीं । किसीने संस्कृतिको समझानेके लिए उससे भी उलझनपूर्ण तथा मानव-इतिहासके सबसे विवादग्रस्त 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया; तो किसीने बड़ी छानबीन करके 'संस्कृति' तथा 'कल्चर' धातु खोज डाली और फिर उस धात्वर्थको फूंक-फूंककर अभीष्ट अर्थका गुब्बारा बनाया । इन विद्वानोंने भाषा-विज्ञानके 'अर्थ-परिवर्तन'के नियमको ताखपर रखकर पुराने शब्दोंसे भी नये नये अर्थ निकालनेकी चेष्टा की । दूसरी ओरसे विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानोंका हमला हुआ । फलतः देखते-देखते 'संस्कृति'का 'साइनबोर्ड' लगाकर बाजारोंमें शुद्ध समाजशास्त्र, मानवविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र, इतिहास, कला आदिकी पुस्तकें निकल पड़ीं । यही नहीं, पहले महायुद्धके बाद तो केवल 'लीग ऑफ नेशंस' ही था; इस बार राजनीतिज्ञोंको 'यूनाइटेड नेशंस आर्गेनाइजेशन'से भी सन्तोष नहीं हुआ । उसकी बगलमें 'यूनाइटेड नेशंस एजुकेशनल, साइंटिफिक, कल्चरल आर्गेनाइजेशन' भी खड़ा हो गया । यों तो इस संस्थाका नाम ही संस्कृतिको विज्ञान तथा शिक्षासे अलग कर देता है, परन्तु उसके प्रकाशित विधान में अंकित उद्देश्यकी भाषा संस्कृतिकी सीमाको और संकीर्ण बना देती है । उससे संस्कृतिमें जीवन, कला, मानवता आदिका समावेश नहीं दिखायी पड़ता ।

तात्पर्य यह कि संस्कृति अब शास्त्र बना दी गयी । वह बुद्धि-विलास और व्याख्या-विकारका विषय बन गयी । मेरी समझमें संस्कृतिका तात्पर्य समझनेमें पहली त्रुटि यही है । संस्कृतिके बौद्धिक विवेचनसे शास्त्रोंके खलिहानमें एक नया कुर्रा भले लग जाय, परन्तु मानव-संस्कृतिमें वृद्धि न हो सकेगी । जीवनसे तो सिद्धान्त निकलता है फिर सिद्धान्तसे क्या निकलेगा—अधिकसे अधिक एक दो और सिद्धान्त । वृक्षमें तो फल लगता है, फिर फलमें क्या लगेगा ? हाँ लगेगा—फलमें फिरसे वृक्ष, परन्तु फलके बीजको फिरसे धरतीमें स्थापित करने पर । सिद्धान्तों और शास्त्रोंसे भी नवजीवन तभी उत्पन्न होगा जब

जीवनकी धरती अथवा धरतीके जीवनमें बोया
। इन समस्त सांस्कृतिक विवेचनोंकी भी
उपयोगिता हो सकती है। संस्कृति सिद्धान्तसे
पन्न नहीं होती, जीवनसे होती है। प्राचीन
स्त्रोंमें जा संस्कृतिक विवेचन नहीं मिलता उसका
भी कारण है कि तब संस्कृति मानवके भाव,
भाव और क्रियामें थी—समझने-समझानेके लिए
र चीजें थीं। आज भी जो अनेक कलाकार
स्कृतिको अपने शिल्पसे सम्पन्न कर रहे हैं शायद
न्हें पता भी नहीं कि संस्कृति क्या है? न वे
सकी आवश्यकता ही समझते हैं। पर जो लोग
संस्कृतिके विवेचन पर भाषण देते फिर रहे हैं उन्हें
स्वयं तो किसी सांस्कृतिक कृतिके निर्माणकी फुर-
सत नहीं, संस्कृति-निर्माता कलाकारोंका भी समय
खराब कर रहे हैं।

अच्छा हो कि हम व्यर्थ संस्कृतिका नाम न लें, संस्कृतिके उपकरणों और अंगोंका ही अलग-अलग नाम लें। इससे योजनानुसार संस्कृति बनानेका भ्रम तो मिट ही जायेगा, साथ ही साथ इस सत्यकी ओर भी ध्यान जायेगा कि संस्कृति एक अचेतन प्रयत्न है। इसका निर्माण जानबूझकर नहीं किया जाता। जिस प्रकार किसी बातका स्मरण करनेके लिए स्मृति पर बार-बार जोर डालनेसे वह भूलती जाती है उसी प्रकार सांस्कृतिक निर्माणके लिए जितना ही सचेत प्रयत्न—बुद्धि-विलास—होगा उतना ही सांस्कृतिक ह्रास होगा।

फिर सांस्कृतिक उत्थानके लिए हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें? सांस्कृतिक विकास अपनी स्वाभाविक गतिसे होने दें? नहीं। न तो यह मानव-स्वभाव है और न उचित। जिस मानवने पशुओं द्वारा निर्विरोध स्वीकृत प्रकृति-नियमोंका उल्लंघन करते हुए अपनी इच्छाका समावेश किया, उसी मानवका अहंकार निष्क्रिय नहीं हो सकता। 'ऐसा होना चाहिए' यही तो मानव-स्वभाव है। अस्तु, हम अधिकसे अधिक संस्कृतिके मार्गसे अवरोधक तत्वों, बौद्धिक त्रुटियों और भावात्मक पूर्वग्रहोंको हटानेका यत्न करें। सम्भव है कि इन अवरोधक तत्वोंमें सर्वप्रथम सामाजिक संगठनकी विषमताएँ ही आयें। परन्तु चेतन व्यक्तित्वको कुंठित करने वाली आर्थिक, राजनीतिक सभी समस्याओंको हल करना संस्कृतिके विकासमें पहला कदम है। इसलिए 'संस्कृति क्या है' यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना उसके बाधक तत्वोंको दूर करना। संस्कृति जो है, वह है और रहेगी। हमारी परिभाषासे उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो जायगा। हम संस्कृतिके आधार जीवनको परिवर्तित करते रहें, संस्कृति विकसित होती रहेगी।

सम्भव है, इस पर कुछ लोगोंको आपत्ति हो कि यह तो बुद्धकी तरह 'आत्मा' आदि प्रश्नोंके टालने जैसी चालाकी है। हो सकती है। परन्तु सच तो यह है कि संस्कृति जैसी कोई एक सत्ता है ही नहीं जिसका निर्माण किया जाय। संस्कृतिके विभिन्न अर्थोंसे ही इस सत्यकी ओर संकेत होता है कि यह अनेक क्रियाओंका समुच्चय है। यह धर्मकी तरह जीवन-मोक्षका एक मार्ग नहीं है और नतो जीवनयापनकी कोई एक विधि। समस्त मानव-कृति का संस्कार और परिष्कार करके जिन कृतियोंका निर्माण होता है उनके सामूहिक प्रभावको ही हम संस्कृतिके रूपमें ग्रहण करते हैं। इसलिए संस्कृतिका निर्माण क्षण क्षण होता रहता है, परन्तु उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कुछ दशकोंमें होता है। मानवकी कोई क्रिया नष्ट नहीं होती, उसका तिरोधान होता है और प्रत्येक क्रियाके सार और श्रेष्ठतम अंशसे एक श्रेष्ठतर क्रिया उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस क्षणभंगुर जीवन में भी कुछ स्थायी कृतियोंका निर्माण हो जाता है जो संस्कृतिका प्रतीक बन जाती हैं। मानवका सब कुछ नष्ट हो जाने पर यही बच रहता है। साहित्य और कला ऐसी ही कृति है। संस्कृति केवल कला नहीं है; संस्कृति केवल साहित्य नहीं है; संस्कृति केवल दर्शन नहीं है; संस्कृति इन सबका समुच्चय भी नहीं है। अवयवी अपने अवयवोंके समुच्चयसे बड़ा होता है। स्वतंत्र सापेक्ष सत्ता रखनेवाली इन परिष्कृत मानव-साधनाओं के उन्मुक्त विकास में ही हमें संस्कृति के स्वरूप का बोध होता है। इस प्रकार जीवन से साहित्य तथा कला का सृजन और फिर उस साहित्य और कला के साँचे में जीवन को ढालना ही संस्कृति है। यही संस्कृति का विकास है। दूसरे शब्दों में कुछ व्यक्ति समाज के

भावात्मक या विचारात्मक प्रतिनिधि के रूप में तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक कृतियों के रूप में करते हैं और शेष समाज फिर उसी से अपने जीवन का संस्कार करता है; फिर यही संस्कृत समाज पहले से भी उच्चतर सांस्कृतिक कृतियों के निर्माण के लिए भूमि तैयार करता है।

कुछ विद्वान सभ्यता और संस्कृति में अंतर करते हैं। यदि दो भिन्न शब्द होने के कारण अर्थबोध की सुगमता के लिए इनमें अंतर करना अनिवार्य न हो तो मेरी समझ में इनके बीच सैद्धान्तिक या व्यावहारिक सीमारेखा खींचना असंभव है। कोई सभ्यता को जीवन का साधन और संस्कृति को साध्य मानता है। कोई बाह्य सामाजिक संगठन को सभ्यता तथा उसके आन्तरिक प्रभाव को संस्कृति बतलाता है। कोई कहता है कि सभ्यता जब पुरानी हो जाती है तो संस्कृति हो जाती है। इन सबसे इतना बोध अवश्य होता है कि सभ्यता केवल 'सभामंत्रित'—समाजगत है जबकि संस्कृति व्यक्तिमूलक है। परंतु व्यक्ति और समाज तथा विषय-गत (ऑबजेक्टिव) और विषयिगत (सब्जेक्टिव) की सीमारेखा भी उतने ही झगड़े में है।

दूसरे विद्वान धर्म और संस्कृति को एक कर देते हैं या संस्कृति से धर्म का बहुत घनिष्ठ संबंध मानते हैं। मेरी समझ में 'धर्म' शब्द का जो व्यापक अर्थ विद्वान लोग करते हैं वह समाज को आज स्वीकार नहीं है। 'धर्म' शब्द के व्यापक अर्थ का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। आज 'संस्कृति' के साथ धर्म को संबद्ध करना प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति और प्रवंचना है। सांस्कृतिक इतिहास में धर्म एक स्तर मात्र है। पहला स्तर धर्म का, दूसरा दर्शन का, तीसरा विज्ञान का। धर्म के भी चार स्तर थे—कर्मकांडमूलक, भावनामूलक, विश्वासमूलक तथा ज्ञानमूलक। निस्संदेह संसार के इतिहास में धर्मने सांस्कृतिक कृतियों को बहुत अधिक प्रभावित किया, परंतु दार्शनिक लहर ने उसे बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया और नवीन वैज्ञानिक चेतना ने तो पूर्व प्रभावको हटानेमें भी सफलता प्राप्त की। इससे सांस्कृतिक विकासमें कोई बाधा नहीं पड़ी। थोड़े ही समय में सांस्कृतिक इतिहास के वैज्ञानिक युग ने भी पर्याप्त उन्नति की है। इसलिए धर्म को संस्कृति के अध्ययन में सहायक स्वीकार करते हुए भी उसे संस्कृति का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता।

कभी कभी शिक्षा और संस्कृति के संबंध में भी चर्चा चलती है। सांस्कृतिक उत्थान के लिए राजनीतिज्ञों के पास पहली योजना है व्यापक शिक्षा-प्रसार। किन्तु शिक्षा का अर्थ यदि अक्षर-ज्ञान ही हो तो उससे शायद संस्कृति के निर्माण में कोई सहायता नहीं मिलेगी। अधिक से अधिक लोगों के पढ़ा-लिखा देने से सांस्कृतिक व्यक्ति पैदा नहीं हो सकते। विदित है कि महान कलाकारों और साहित्यकारों के उत्पन्न करने में आधुनिक शिक्षा को कोई श्रेय नहीं है। वर्तमान शिक्षा केवल भावयित्री प्रतिभा का विकास करती है, कारयित्री प्रतिभा का नहीं। इस दिशा में पारिवारिक शिक्षा ने बहुत काम किया है। सांस्कृतिक परंपरा के आनुवंशिक दान-प्रतिदान में शिक्षा-संस्थाओं से अधिक हाथ परिवार का है। विशिष्ट गृह-उद्योग इसके प्रमाण हैं। हाँ, शिक्षा के द्वारा संस्कृति के विभिन्न अंगों का विशेषीकरण हो तो अच्छा है। न तो सभी एक कार्यमें हाथ डालें और न एक सभी कार्यों में।

संस्कृति के अनेक विशेषणों में से एक 'जन' भी है। 'जन-संस्कृति' से अभिप्राय इसके प्रयोक्ताओं का बहुसंख्यक वर्ग की संस्कृति से है। परंतु निर्माण की दृष्टि से संस्कृति के तीन केन्द्र हैं—व्यक्ति, समुदाय (वर्ग) और समाज। न तो कोई बड़ा से बड़ा संस्कृत व्यक्ति सम्पूर्ण मानव-संस्कृति के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकता है और न तो कोई वर्ग विशेष ही। पूरा मानव-समाज ही संस्कृति के सभी अंगों का प्रदर्शन कर सकता है, इसलिए संस्कृति का अर्थ पूरे समाज की ही संस्कृति से होता है। व्यक्ति और वर्ग का स्थान उसके भीतर सुरक्षित है। यदि जन-संस्कृति समाज के साथ ही व्यक्ति की भी उपेक्षा करती है तो इससे संस्कृतिका व्यापक प्रसार भले हो जाय, परंतु स्तर नीचा रहेगा। संस्कृति व्यक्ति की सामाजिक तथा समाजकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। प्रत्येक जन-संस्कृति में भी कई श्रेणियां होती हैं, कोई अधिक समुन्नत, कोई कम। इन्हें हम विशिष्ट चेतन वर्ग (elite) कह सकते हैं। ये विभिन्न संस्कृत वर्ग परस्पर संस्कृति का आदान-प्रतिदान

…ते हैं। संस्कृति का विकास सामूहिक रूप से …न्न संस्कृत वर्गों के बीच क्रमशः संसरण से … संस्कृति के ये वर्ग भौगोलिक भी होते हैं। …ही देश और जातिमें विभिन्न भौगोलिक प्रदेश … प्रत्येक प्रदेश की संस्कृति भिन्न होती है। …सम्पर्क और संघर्ष में ये सांस्कृतिक इकाइयां …स्कृति को अनायास ही विकसित करती रहती …ः जन-संस्कृति का अर्थ समूह या वर्ग संस्कृति …प्रान्त है।

…त में संस्कृति के 'नव' विशेषण के विषय में। … की बुद्धि में संस्कृति कोई अँचार जैसी वस्तु …पुरानी ही अच्छी लगती है। लेकिन अँचार ही …स्कृति भी सड़ती है। दूसरे वे हैं जो नव संस्कृति …र्थ करते हैं—वह जो अब तक नहीं थी। परंतु …ब तक नहीं है उसकी कल्पना सीधे मस्तिष्क में …हीं आ सकती। किसी काल्पनिक 'नव संस्कृति' …प खड़ा करना समाज को धोखा देना है। प्रायः … आन्दोलन वर्तमान में निहित अतीत परंपरा के …ष से उत्पन्न होता है। परंतु वह जिन अभावों की पूर्ति को लक्ष्य बनाता है अंत में उस तक न पहुँच कर कई कारणों से अन्यत्र चला जाता है—फिर दूसरा नया आन्दोलन खड़ा होता है। अतः 'नव संस्कृति' का अर्थ इतना ही हो सकता है कि यह एक प्रयत्न है जो अतीत संस्कृति के अभावों और त्रुटियों की पूर्ति और सुधार के लिए किया जा रहा है। यह परिवर्तनसूचक है—किसी अनागत संस्कृति का स्पष्ट चित्र नहीं। इससे पण्डितों को घबड़ाना नहीं चाहिए। किसी व्यक्ति के प्रयत्न से पुरानी संस्कृति को समाज नहीं छोड़ सकता, और न तो पण्डितों के आग्रह पर समाज अतीत के मुर्दों को भी घर में रखेगा। रहने और रखने के लिए इतनी व्याकुलता क्यों? जो जाने का नहीं, वह नहीं जायेगा। भविष्य की आवश्यकताओं के अनुसार अतीत की पुरानी चीजें भी नये रूप, नये सौन्दर्य, नये मूल्य लेकर दिखायी देंगी। समाज तो चिल्लाकर कहता है कि—

ठाईं नाईं, ठाईं नाईं, छोटो से तरी
आमारि सोनार धाने गियेछे भरी।

पंडित जी

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

गत दिसम्बरका मास था। विश्वविद्यालय में बड़े दिन और नये साल की छुट्टी हो चुकी थी। मैं घर पर छुट्टी शांतिपूर्वक बितानेके लिए चला गया था। दिन भर अच्छी धूप रही, पर सायंकाल एकाएक बादले आसमान पर घिर आये। हवा कुछ तेज हो गयी और थोड़ी देर में बूंदोंके फुहारे छूटने लगे। रह-रह कर बादल गरज जाते। पूस माह में असाढ़-सावनकी छटा देख पड़ने लगी। मैं अपने बरामदे में बैठा भांति-भांतिके विषयों पर विचार कर रहा था। कभी सोचता कि डिमाक्रेसी (जनतन्त्र) में अन्य राजनैतिक संस्थाओं को क्यों नहीं पनपने दिया जाता है। कभी सोचता, मानवका जीवन कितना संघर्ष प्रधान हो रहा है। इस समय जीवनके धरातलका स्पर्श करते हुए साहित्यका ही सृजन हो सकता है और होना भी चाहिए, अन्य प्रकारके साहित्य की कोई उपयोगिता मानव-समाजके लिए नहीं। हां, साहित्य धनी हो, समृद्ध हो सो अलग बात है। मैं सोच रहा था कि यदि देव, बिहारी आदिके रीतिकालमें इसी प्रकार की महंगी, कठिनाई और संघर्ष होते तो क्या वे दिव्यांगनाओंके 'कच' 'कुच' पर ठहरते, कभी नहीं। वे भी भूखसे बिलखते छोटे-छोटे निरीह बच्चोंको देखकर आंखोंमें आंसू भर लेते। बंगालके अकालमें तड़प-तड़प कर मरने वाले लाखों अभागों को देख कर देव, बिहारी, मतिराम भी विचलित हो उठते, चाहे वे कितने ही रसिक होते। मैं सोच रहा था, कि इतने में मुझे अपने बरामदे की ओर परिचित और मित्र पं० श्यामाकांत आते हुए दिखायी पड़े, कुछ जल्दी-जल्दी और कुछ सहमेसे। आमतौर पर पं० श्यामाकांत को देख कर मेरी रूह कांप उठती है। मिलते ही वे भांति-भांति के अमांगलिक और विचलित कर देनेवाले समाचार सुनाने लगते हैं। मैंने सोचा कि इस शांत वातावरण और चिन्तनके उपयुक्त मौसममें यह वज्रपात क्यों हुआ। पं० श्यामाकांत इतनेमें ऊपर आ गये, बिना कहे बैठ गये और कहना प्रारम्भ किया, "पंडित जी को कई दिनोंसे निमोनिया हो गयी थी, आज सख्त बीमार हैं, बड़ी कठिनाईसे बोल पाते हैं, आप को बुलाया है।" जिस चीज की आशा थी, वही हुई। पं० श्यामाकान्त ने शांत सागरमें ज्वार-भाटा उत्पन्न कर दिया। कुछ पूछतांछके बाद मैं चल पड़ा। देखा, पंडित जी बीमार हैं। दशा बिगड़ रही है। रातके करीब दो बजे तक हम लोग पास बैठे रहे। ब्राह्म मुहूर्तमें उन्होंने अपने शरीरका परित्याग कर ब्रह्मलोकके लिए यात्रा की।

पंडितजीको मृत्यु हुए प्रायः ८ मास हो गये। समय बीतता चला गया। इस समय में कई बार सोचा कि पंडितजीका एक स्केच लिखूं। हिन्दीके पाठक पढ़ें। पंडितजी क्या थे और आदमीको क्या होना चाहिए। प्रवंचना, प्रतिहिंसा, प्रतिशोधके इस युगमें भी धरती ऐसे मनुष्य उत्पन्न करती है जो भूखे रहकर भी दूसरोंकी वस्तु की ओर हाथ नहीं उठायेंगे और खाली पेट काम करेंगे, नंगे रहकर देश-सेवा करेंगे और ऐसी देश-सेवा जो बड़े-बड़े नेताओं की सेवाको लज्जित करनेवाली हो। पंडितजी कोई महापुरुष नहीं थे, जवाहरलाल या पटेल के सदृश बड़े आदमी नहीं, टाटा और बिड़लाके समान धनी नहीं, साहित्य-क्षेत्रमें बृहस्पति नहीं।

पंडितजीने जिला प्राइमरी स्कूलमें अपनी नौकरी १५ रु० मासिक वेतन पर प्रारम्भ की थी और बीस वर्ष नौकरी कर लेनेके बाद मृत्युके समय उनका वेतन २५रु० मासिक था। इसी थोड़ी सी आयमें वे अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। पंडितजीने अपने जीवनके विगत २० वर्षोंमें भांति-भांतिके दिन देखे थे। वे प्रायः उन दिनोंका स्मरण करके प्रसन्न हो उठते थे जब १५ रु०

उन्होंने अपनी नौकरी प्रारम्भ की थी। उन दिनों ड़का जमाना था, रुपयाका मन भर गुड़, पांच पसेरी और बीस छटांकका घी लगा था। उन दिनों दो पयेका पहनने लायक धोतीका जोड़ा मिलता था। वे सोचा करते कि वे कितने सुखमय दिन थे, पर अब तो रु० में भी किसी प्रकार निर्वाह नहीं होता। वे सोचते थे कि यह महँगी क्यों हो गयी है। जब विदेशी राज्य था, विदेशी शासन था तब सब ओर मट्टी थी, आज जब अपने देशमें अपना राज्य हो गया, अपने भाई शासक हैं तब यह महँगी क्यों हो गयी हैं। पंडितजी की समझमें न आता कि जब इसी देशमें शकर, नाज, लोहा, कपड़ा सभी कुछ पैदा होता है तो यह कण्ट्रोल क्यों लगा दिया गया है। शकर और कपड़ा मिलोंमें सड़ रहा है, पर सरकार उनके और जनताके बीचमें अड़चन क्यों डाल रही है। पंडितजी कभी-कभी मेरा ा नाम लेकर सम्बोधित करते हुए कहते कि अब वे न वापस नहीं आनेको हैं। पंडितजीको जीवनके न्तिम वर्षोंमें रुपयेकी तंगी बनी रहती थी। एक बार प्रान्तके सभी अध्यापकोंने वेतन-वृद्धिके लिए हड़ताल की। कस्बेके सब अध्यापकोंका उन्होंने नेतृत्व किया। परन्तु हड़तालके असफल होने पर उन्हें बड़ी निराशा हुई। सके बाद शिक्षा मंत्रीका उत्तर उनके लिए और भी दुखदायी प्रतीत हुआ। मंत्रीजीका वक्तव्य पढ़कर पंडित जीने कहा था कि "कुर्सी पर पहुँचकर मनुष्य मानव सुलभ औदार्यको भी छोड़ देता है। राष्ट्रनिर्माता बेचारे अध्यापकोंके वेतन बढ़ानेमें सरकार इतना विरोध कर रही है। सरकार कहती है कि हमारे पास धन नहीं है, बजटमें अभाव है, पर राजदूतोंके ऊपर इतना खर्चा क्यों किया जा रहा है? क्या हमारे राजदूतों पर लाखोंका व्यय करके देशके निर्धन अध्यापकोंको भूखा रखना अपेक्षित है?" उसी दिन पंडित जीने कहा था कि "हम अध्यापकोंसे अच्छे तो ये हैं स्टेशनके कुली, जो दिन भरमें चार-पाँच रुपया पैदा कर लेते हैं।" सब कुछ होते हुए भी पंडित जीने अपना जीवन गरीबीमें काट दिया, परन्तु अध्यापन पेशा नहीं छोड़ा। इसके लिए उनके हृदयमें बड़ा प्रेम था। वे राष्ट्रके भावी नागरिकोंमें साहित्य और राष्ट्रके लिए प्रेमका एक बीज बो देते थे जिसे नित्य हराभरा होते देखा गया। वह कभी सूखने न पाया। पंडित जी कहा करते थे कि दिन भर चिंतामें बीत जाता है। पारिवारिक कठिनाइयाँ घेरे रहती हैं। यदि इस देशमें भी रूसका जैसा प्रबन्ध हो जाता जहां सरकार नागरिकोंकी सब आवश्यकताएं पूर्ति करती है और नागरिक दिन भर सरकारके लिए कार्य करते हैं, तो फिर एक नये जीवन, नये उत्साह, नये प्रकाशका चारों ओर प्रसार हो। नैतिकता और देशसेवाके क्षेत्रमें वे बड़े त्यागी नेताओंको परास्त कर देने वाले थे। यहां पर कह देना आवश्यक होगा कि पंडितजी गांधीवादी थे, परन्तु स्वतंत्रताके बाद कांग्रेसजनोंका जनताके प्रति दुर्व्यवहार, चोरबाजारी, प्रतिहिंसा-भावना, व्यवहारमें अफसरोंकी जैसी नीरसता और विमुखता देख कर कभी कभी उनका मन अन्दर ही अन्दर दुखित हो उठता था।

पंडितजीसे मेरा परिचय उस समय हुआ जब मैं प्रायः सात-आठ वर्षका था। घरके पास स्थित प्राइमरी स्कूलमें पढ़नेके लिए जब मैं भरती कराया गया तभी वहां पंडित जीके दर्शन हुए। उस समय बालक था, कुछ समझ नहीं सका, कौन कैसा है इसका ज्ञान नहीं था। धीरे-धीरे शिक्षा-यात्राका दसवां मील पार करनेके बाद एक दिन मैं पंडित जीसे मिलने गया। कॉलेजमें नाम लिखानेकी बात सुनकर वे हर्षित हुए। प्रत्येक छुट्टियोंमें पंडित जीसे गांवमें भेंट होती। पंडितजी मुझसे देश-विदेशकी हलचलके विषयमें, आन्दोलनोंके विषयमें प्रश्न करते और इसीलिए शहरसे गांव जाते समय मुझे विशेष रूपसे तैयार होकर जाना पड़ता था। समाचार सुनते हुए वे उनकी टिप्पणी करते जाते।

अगस्त सन् ४२ के दिन थे। देशके नेता सब जेलमें थे। उन्हींके साथ अपनेको देशसेवी कहकर अपना डंका पीटने वाले जीव भी जेलमें पहुंच गये थे। उन दिनों विद्यार्थियोंने ही देशमें आन्दोलन जारी रखा था। उन्हींको इस बातका श्रेय है कि उन्होंने गांधी और नेहरूके संदेशको देश के कोने-कोनेमें पहुंचाया और जन-जागृतिके गीत गाये। उन दिनों स्कूल कॉलेज सब बन्द हो चुके थे। पंडितजी

हाई स्कूलके विद्यार्थियोंके साथ और आगे चलकर ब्रिटिश नौकरशाहीके विरुद्ध जनतामें जागृति करते फिरे। किसानोंके यहांसे मांग-मांग कर पंडित जी जेलयात्री कांग्रेस कार्यकर्ताओंके घर अनाज पहुंचाते, उनके परिवारमें आवश्यकताकी अन्य वस्तुएं पहुंचाते। उन दिनों लू और घाममें दौड़-दौड़ कर हफ्तों तक पंडितजी अनाज किसानोंके यहांसे मांग-मांग कर लाते और उसे आवश्यकताके स्थानोंमें पहुंचाते थे।

पंडितजी, गांधीजीके आदर्शोंके बड़े भक्त थे। सत्य और अहिंसाको वे दैनिक जीवनमें बरतनेके लिए प्रयत्नशील रहते थे। सत्य और अहिंसाके पीछे ही पंडितजीको अपने जीवन-कालमें कई बार संकटोंका सामना करना पड़ा। अपनी स्पष्ट और सत्यवादिताके पीछे उन्हें एक बार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने दो मास तक मुअत्तल कर दिया। बात यह थी, कस्बेके हाई स्कूलमें माननीय शिक्षामंत्री आये थे। पास-पड़ोसके प्राइमरी स्कूलोंके अध्यापकोंने डेपुटेशन के रूपमें मिलकर अपनी हीनावस्था दर्शाना चाहा। मंडल कांग्रेसके मंत्री और सभापतिजीसे अध्यापकोंने अपना मंतव्य कहा और माननीय मंत्रीजीके बहुमूल्य समयमेंसे १० मिनटके लिए निवेदन किया। मंत्रीजीने कहा, "मिनिस्टर इस प्रकार सबसे नहीं मिलते हैं। आवेदन-पत्र भेजकर निवेदन करें। मिनिस्टरोंके पास उतना समय कहां जो सबसे मिलें। फिर यहां तो बहुत थोड़ी देर रुकेंगे। इसी बीचमें रायबहादुर ......के यहां लंच है, साहू....के यहां चाय है, सेठ....के यहां जलपान है। उनके पास समय नहीं है।" इस उत्तरको सुनकर अध्यापकोंको बड़ी निराशा हुई, पर पंडितजी हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने युक्ति निकाली। माननीय मंत्रीका भाषण समाप्त हुआ। बड़े-बड़े सेठों और साहूकारोंसे घिरे हुए माननीय मंत्री बाहर निकले। प्रायः ५० अध्यापकोंके साथ पंडितजी फाटक पर माननीय मंत्रीसे मिले। बातचीत पंडितजीने प्रारम्भ की। अध्यापकोंका अल्प वेतन बातचीतका विषय था। उत्तरमें माननीय मंत्रीने कहा, "सरकारके पास रुपया नहीं है।" पंडितजीने कहा, "श्रीमान जी, आप हमारे वर्गसे परिचित हैं, आप भी अध्यापक रहे हैं, आपकी सहानुभूति होनी चाहिए।" माननीय मन्त्रीने कहा, "सरकारके पास इस वर्ष रुपया नहीं है।" पण्डित जीने कहा, "यह सब कमी हम अध्यापकोंके लिए है। राजदूतों पर करोड़ों रुपया खर्च हो रहा है। मिनिस्टरोंका वेतन ५०० रु० से १५०० रु० हो गया, चपरासी, कार, कूलर, हीटर, बंगला सब अलग से।" माननीय मिनिस्टरने कहा, "आप अपनी सीमाका उल्लंघन किये जा रहे हैं।" इस घटनाके बाद चौथे दिन पंडितजीके पास रायसाहब.....शिक्षा चेयरमैन, डिस्ट्रिक्ट बोर्डका आदेश आया जिसका तात्पर्य था कि पंडित जी दो मासके लिए मुअत्तल किये गये।

भारतवर्ष की आजादीका संग्राम समाप्त हो चुका था। स्वतन्त्रता की म्लान मूर्तिको देखकर भी कांग्रेस वाले फूले नहीं समाये। थोड़े समय बाद आजादी का दुरुपयोग होने लगा। बड़े-बड़े नेता लोग अधिकारों का नाजायज फायदा उठाने लगे। समाचार-पत्रोंमें नेताओं की घूसखोरी, दुराचार, भ्रष्टाचार, चोरबाजारीके समाचार धड़ल्लेके साथ प्रदर्शित होने लगे। बड़े-बड़े एम० एल०ए० सीमेंट, शकर, कपड़े अपने भाई-भतीजोंके नाम पर बेंचने लगे। कण्ट्रोल हटा और फिर जनता पर लाद दिया गया। खुले आम 'ब्लैक' होने लगी। अखबार वालों को नया और ताजा मसाला मिलने लगा। इन समाचारों को पढ़कर पंडितजीको त्यागी नेताओंके प्रति बड़ी ग्लानि होती थी। उन्हें खेद होता था कि लाठी का प्रहार सर पर धारण करने वाले राष्ट्रवीरों का ऐसा भी अधःपतन हो सकता है, मानव नैतिकताके स्तर परसे इतना नीचे गिर सकता है कि लाशें बिना कफन उठ जायं और नेता लोग कपड़ेको 'ब्लैक' से ही बेंचते रहें। छोटे-छोटे बच्चे बिना शक्कर मिली दूध पीनेके लिए रोयें, तरसें और गांधी टोपी लगाये, खद्दरका कुर्ता पहने देशसेवी बोरीकी बोरी शकर हलवाइयोंके हाथ बेंच दें। पंडितजी इस समाचारको सुनकर कहा करते थे कि "अब नैतिकता और मानवता मर चुकी है। अब शैतान खुलकरके खेल रहा है।"

शिक्षा-प्रसारकी योजनाकी पंडितजी बड़ी
क्या करते थे। उनका कहना था कि
को साक्षर ही नहीं, वरन् शिक्षित बना
ए। शिक्षाके महत्त्वको वे भलीभांति
। परन्तु शिक्षा सम्बन्धी सरकारकी वर्त-
के प्रति उनके हृदयमें बड़ी घृणा थी। वे
क नीति मानते थे। पंडितजी प्रायः प्रान्तमें
२२०० प्राइमरी स्कूलोंका हाल बतलाते
इमारत, न बैठनेके लिए चटाई। लड़कोंको
पिलाने वाला, न पानी पीनेके साधन रस्सी
ल्टी। अध्यापककी इच्छा पर स्कूल खुलते
और बन्द होते हैं। कभी कभी हफ्तों स्कूल नहीं खुलते। बेसिककी पढ़ाई चाहे जितनी ही उपयोगी हो पर उसका दुरुपयोग हो रहा है। अध्यापक छोटे-छोटे बालकोंसे अपने घर की जमीन गोड़वा कर उसमें धनियां, गाजर और लहसुन बोते हैं।। खुद खाते और विद्यार्थी देखते हैं।

पंडितजीका जीवन एक ईमानदार और मेहनत-कशका जीवन था। उन्होंने जीवनपर्यन्त राष्ट्र और राष्ट्रके भावी नागरिकोंको बनानेका प्रयत्न किया। उनकी सेवा निस्वार्थ थी। उनके चरित्रकी सबलताने उन्हें स्पष्टवादिताकी शक्ति प्रदान की थी।

हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियाँ

प्रो० शम्भूनाथ सिंह

इस शताब्दी के आरम्भसे लेकर अब तक हिन्दी कविताने कई बार करवटें ली हैं। इतने अल्पकाल में किसी साहित्यमें इतने अधिक रूप-परिवर्तन हों, यही इस बात का प्रमाण है कि जिस समाज का वह साहित्य है उसमें बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। यहां यह बात स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि पिछले पचास वर्षों में हमारे देश और समाज में क्या क्या परिवर्तन हुए हैं। द्विवेदी-युग की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, छायावादी युग की आदर्शोन्मुख विद्रोह और पलायन की प्रवृत्ति और उसके बाद का प्रगतिवाद का आन्दोलन, ये सभी अपने अपने युग की सामाजिक उथल-पुथल, राजनीतिक आन्दोलन और दार्शनिक तथा वैज्ञानिक चिन्तन और आलोड़नके परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुए और काव्यमें अभिव्यक्त हुए। इस प्रकार हिन्दी कविता परिवर्तनकी विभिन्न सीमाओंको पार करती हुई आज किस स्थल पर पहुँच गयी है, यहां यही देखना हमारा उद्देश्य है। अस्तु।

हिन्दी कविता के नवीनतम स्वरूप, उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पिछले युग—छायावाद-युग की प्रधान काव्य-धाराका थोड़ेमें विश्लेषण कर लिया जाय और यह देखा जाय कि छायावादी कविताके विकास का वह कौन सा काल है जहां से नयी कविता पुरानी छायावादी कविता से भिन्न प्रतीत होती है। [यहां यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं यह नहीं मानता कि छायावादका पतन या ह्रास हुआ है जैसा कुछ आलोचक मानते हैं। मेरे विचार से छायावाद का उसी तरह विकास हुआ है जिस तरह एक शिशु का एक किशोर, युवक और प्रौढ़ के रूपों में विकास होता है। और इस विकास के साथ उसके स्वरूप, उसकी रुचि और प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन होता रहता है।]

मोटे तौर पर प्रथम महायुद्ध के अन्त से लेकर द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ (१९१८ से १९३९) तक के २०-२१ वर्ष के काल को छायावादी युग कह सकते हैं। छायावादी कविता में परिवर्तन के लक्षण तो पन्त के 'युगान्त' से ही परिलक्षित होने लगे थे, किन्तु द्वितीय महासमरके प्रारम्भ होने के समय तक उसके स्वरूप म बहुत अधिक परिवर्तन हो गया। इस युग की कविता की सामान्य विशेषता थी उसका आदर्शवादी दृष्टिकोण। १९३९ म पन्त की 'युगवाणी' निकली, उसके पहले ही १९३६ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। पन्त और नरेन्द्रने इसी काल में 'रूपाभ' नामक एक मासिक पत्र निकालना शुरू किया जिसमें नये ढंग की कविताएँ प्रकाशित होती थीं। इस तरह इस कालको हम नये युगका प्रारम्भ-काल कह सकते हैं। यहां आकर कविताका वह आदर्शवादी दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल जाता है।

छायावाद एक शैली नहीं, प्रत्युत जगत् और जीवनको देखनेका एक विशेष दृष्टिकोण है जो द्रष्टाके उदार और विशाल हृदयकी सीमामें समग्र सृष्टिको समेट लेता है। छायावादी कवि दृश्य-वस्तुको अपने चश्मेसे देखता और शेष जगतसे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार छायावाद एक ही चेतनाको सृष्टिमें सर्वत्र व्याप्त देखता है। परिणाम-स्वरूप उसे वस्तुमें जो नहीं है, वह भी दिखलायी पड़ता है। सारांश यह कि छायावादी कविता यदि स्थूलके प्रति सूक्ष्मका विद्रोह है तो इसी मानीमें कि उसकी दृष्टि वस्तुमुखी या वाह्य न होकर अन्तर्मुखी है; अपनी ही भावनाओं और विश्वासोंके प्रकाशमें छायावादी कवि वाह्य जगतको देखता है। यह तटस्थ और तद्गत दृष्टि नहीं है जो एक वैज्ञानिककी होती है। इसी कारण छायावादी कविता ठोस जीवनकी कठोरतासे कतराकर उन्मुक्त शून्य आकाशमें विचरण करने वाली है। इस प्रकार छायावादका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। यह आदर्शवाद दो रूपोंमें दिखलायी पड़ता है:—(१) रहस्यात्मक अनुभूतियों, जिज्ञासा और आश्चर्यकी भावाभिव्यक्तिके रूपमें और (२) सामूहिक जीवनकी समस्याओंसे हटकर कल्पनाशील चिर-

न्तन सौन्दर्य और अतीत तथा भविष्यके सुख-स्वप्नोंकी सृष्टिके रूपमें ।

मात्र अन्तर्वृत्ति निरूपणी होनेके कारण ही छाया-दादकी शैली बड़ी दुरूह और कल्पना-भाराक्रान्त हो गयी । भाषाकी वक्रता, लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रतीकों-का आधिक्य और अति सूक्ष्म तथा आवृत चित्रोंके कारण छायावादी काव्य संवेदनशील होते हुए भी प्रेषणीय न हो सका। उसमें प्रेषणीयताका गुण न होनेका प्रधान कारण यह भी है कि वाह्य वस्तु पर व्यक्तिकी अन्तर्भाव-नाओंका आरोप सामाजिक या सामान्य लक्षण नहीं है। कुछ लोगोंको सूर्य एक विशाल घंटा भले ही दिखलायी पड़े, किन्तु अधिकतर व्यक्ति इस अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतका बिम्ब ग्रहण नहीं कर सकते । उपर्युक्त विधानों द्वारा छायावादी कविने अपने 'स्व'को बहुत अधिक महत्व तो अवश्य दिया, परन्तु सीधे ढंगसे अनावृत या अर्ध आवृत रूपमें उसने अपने हृदयको अभिव्यक्त नहीं किया। परिणामस्वरूप उसके काव्यका साधारणीकरण बहुत कम हुआ।

छायावादी युगको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध युगकी कविता अत्यधिक कल्पनाशील और भावोन्मेषयुक्त है । इसे कल्पनाशील आदर्शवाद कह सकते हैं । उत्तरा-र्द्धकी कविता अधिक संयत, विचारपूर्ण, बौद्धिकतापूर्ण और यथार्थोन्मुख है। पंतका 'गुंजन, 'प्रसादकी' लहर' और 'कामायनी' निरालाका 'तुलसीदास'और' कुकुरमुत्ता' इसी कालकी रचनाएँ हैं। इस तरह छायावाद उत्तरो-त्तर कल्पना-लोकसे जीवनकी ठोस धरतीकी ओर उतर रहा था। यहां यह दिखानेका अवकाश नहीं है कि किन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणोंसे ऐसा होने लगा । इतना ही अलम् होगा कि १९३० की विश्वव्यापी मन्दीसे लेकर विश्वव्यापी राजनीतिक संघर्ष, हिटलरका उदय, स्पेनका युद्ध, कम्युनिस्ट पार्टीका विश्वव्यापी प्रचार और द्वितीय महायुद्धके प्रारम्भ तककी घटनाओंने भारतीय समाजको बहुत कुछ बदल दिया। महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरूके व्यक्ति-त्व और समाजवादकी चर्चाने समाजको एक नयी दृष्टि दे दी जो इसके पहले अपने यहां कभी नहीं आयी थी। वह दृष्टि थी आर्थिक और लोकतांत्रिक सामाजिक-ताकी भावना । एक बात और थी, यद्यपी विज्ञान का उदय पहले ही हो चुका था और हमारे देशमें उससे लाभ भी उठाया जा रहा था, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और यौन-वर्जनाओंके कारण समाजके लोगोंकी जीवन-दृष्टि वैज्ञानिक और बौद्धिक नहीं हो सकी थी। उपर्युक्त कारणोंने इन सभी वर्जनाओंको तोड़ मोड़ दिया। एक ओर तो व्यक्तिवाद तीव्र हो गया और दूसरी ओर समाजवादी विचार-धारा भी बहुत तेजीसे फैलने लगी। इन सभी बातोंका प्रभाव हिन्दी कविता पर पड़ा और परिणामस्वरूप छायावादकी (जो स्वयं-भी विद्रोही था) दृष्टि आदर्शवादकी ओरसे हटकर यथार्थवादी हो गयी ।

इस प्रकार हिन्दी कविताकी धारा छायावादसे आगे तो बढ़ी, किन्तु उसका मार्ग कई दिशाओंमें खुल गया । कुछ लोगोंका विचार है कि छायावादकी अकाल मृत्यु हो गयी और उसकी राखमेंसे प्रगतिवादने जन्म लिया है और आजका युग प्रगतिवादी युग है । मेरे विचारसे यह नितान्त भ्रान्त धारणा है। जिन लोगोंने प्रगतिवादका साधिकार विश्लेषण किया है, उन्हींके अनुसार कुछ इनेगिने नवयुवक कवियोंको छोड़कर आज और कोई भी सच्चा प्रगतिशील कवि नहीं है । इस दृष्टिसे आजके युग का नामकरण करना यदि आवश्यक हो तो उसे यथार्थवादी युग कह सकते हैं । यह इसलिए कि आजकी कविता ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्यका दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है । अब हम यह देखेंगे कि यह यथार्थवाद कवितामें कितने रूपोंमें दिखलायी पड़ता है ।

गत दस वर्षोंकी कविताका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित प्रधान प्रवृत्तियाँ दिखलायी पड़ती हैं।

(१) समाजवादी यथार्थवाद
(२) मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद
(३) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (मानवतावादी यथार्थवाद)
(४) रोमाण्टिक यथार्थवाद

कहना नहीं होगा कि इन विभिन्न धाराओंके भीतर विभिन्न दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक और सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी सिद्धान्त निहित हैं और उन सबका विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है । हां, यह

कह देना आवश्यक है कि कला या कविताको इस युगमें साध्य या लक्ष्य नहीं माना जाता, यानी कविता भी एक साधनके रूपमें मानी जाती है जिसका साध्य हैं जन-जीवन। जब जन-जीवन ही साध्य है तो उसके सम्बन्धमें जितने तरहके विचार हो सकते हैं, 'कविता या कलाके सम्बन्धमें भी उतने ही ढंगके विचार हो सकते हैं । चूँकि आजकी कविता अधिकतर जन-जीवनसे ही रस लेती है और जनसाधारणके लिए ही लिखी जाती है; जीवनकी ठोस भूमि पर अग्रसर होती है, सामयिक और चिरन्तन सभी प्रश्नोंको मानव-जीवनके संदर्भमें ही रखकर देखती है, इसलिए उसका दृष्टि-कोण यथार्थवादी, वैज्ञानिक और बौद्धिक है ।

उपर्युक्त प्रवृत्तियोंमें से पहली प्रवृत्ति है समा-जवादी यथार्थवादकी । इस प्रवृत्तिका महत्व सबसे अधिक है क्योंकि आजके सामाजिक जीवनमें आर्थिक चेतना ही तीव्रतम है और इस प्रवृत्तिके पोषक कवियोंकी संख्या भी काफी है। अथवा यों कहें कि इस प्रवृत्तिको व्यक्त करने वाली रचनाएँ आजके युगके सभी कवियोंने कुछ न कुछ की है। इस प्रवृत्तिको भी दो भागोंमें बांटा जा सकता है:—(१) कम्युनिस्ट विचारोंसे प्रभा-वित और (२) अन्य तरहकी सामान्य समाजवादी भावनाओंसे प्रभावित । पहले तरहके कवि वे हैं जो यह मानते हैं कि मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से जगत को देखना चाहिए और वर्ग-संघर्ष को तीव्र कर तथा शोषित वर्ग का पक्ष लेकर वर्गविहीन समाज की स्थापनामें योग देना ही काव्य की सार्थकता है। इसी दृष्टिसे ये काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं और वर्ग-विहीन समाज बनाने, पूँजीपतियोंको गाली देने, शोषि-तोंको उद्बुद्ध करने तथा सामाजिक समस्याओं—जैसे बंगाल का अकाल, चोरबाजारी, ब्रिटिश साम्राज्यशाही, रूस, चीन, कांग्रेस सरकार आदि के सम्बन्ध में शिष्ट-अशिष्ट शब्दों में अपने मत को व्यक्त कर देने में ही काव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। साथ ही इनका यह भी कहना है कि काव्य में निराशा, रुदन, प्रेम, प्रकृति-पर्यवेक्षण आदि वृत्तियोंको कोई भी स्थान नहीं होना चाहिए क्योंकि इनसे जीवन की प्रधान समस्या की ओर से ध्यान हट जाता है।

इन लोगों की विशेषता यह है कि ये अभिधा की शैली में उपदेशात्मक कविताएँ लिखते हैं। कुछ इने-गिने कवियों को छोड़कर शेष में यही बात दिखलायी पड़ती है । इनमें कुछ प्रयोगवादी कवियों ने जनता को दृष्टि में रखकर नहीं बल्कि टेकनीक की नवीनता को ध्यान में रखकर ही व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखी हैं। नेमिचन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल ऐसे ही कवि हैं। सुमन, केदारनाथ अग्रवाल की कुछ रचनाएँ तो स्वाभा-विक और अनुभूति प्रधान हैं, पर अन्य रचनाएँ कोरी तर्कपूर्ण और उपदेशात्मक ही हैं।

इस प्रवृत्ति का दूसरा रूप भी है जिसम कम्युनिस्ट प्रभाव नहीं है और वह गान्धीवादी तथा समाजवादी विचारोंसे प्रभावित है । इस प्रवृत्तिके कवियों में मानवता के उद्धार और वर्गविहीन समाज की स्थापना की सच्ची लगन अवश्य है, परन्तु वे उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रूस द्वारा अपनाये गये साधनों और प्रदर्शित मार्ग को ही अन्तिम नहीं मानते। दिनकर, अंचल, प्रभाकर माचवे, मिलिन्द आदिका नाम इस श्रेणीमें भी लिया जा सकता है। परन्तु इनम से अनेक कवि अन्य धाराओंके भीतर अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, अतः उनकी चर्चा अलग होगी।

इस युग की दूसरी प्रवृत्ति है मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वाद की । सम्पूर्ण विश्व को आज के युग के दोही विचारकों ने सबसे अधिक प्रभावित किया है:—एक मार्क्स और दूसरा फ्रायड। फ्रायड ने मनोविश्लेषण शास्त्र द्वारा अवचेतन में वन्दी दमित वासनाओं की स्वप्न, काव्य और कला में अभिव्यक्ति का जो सिद्धान्त रखा है उससे समाज की अधिकांश नैतिक और यौन-आचार सम्बन्धी वर्जनाओं पर बहुत तीव्र धक्का लगा है। व्यक्तिके विकासमें जो अवरोध पहले थे और जिन्हें व्यक्ति जानता तक नहीं था, मनोविश्लेषण शास्त्रकी कृपासे वह उन्हें जानकर सामाजिक बन्धनोंसे विद्रोह तथा काव्यमें निरावरण अभिव्यक्तिके रूपमें अपना उन्नयन (सब्ली-मेशन) कर रहा है । इस प्रवृत्तिके कवियोंके सामने श्लीलता और अश्लीलता, नैतिकता और अनैतिकताका कोई द्वन्द्व नहीं होता । स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' इस प्रवृत्तिके प्रधान कवि हैं। ये कवि वातावरणको यथार्थ रूपमें चित्रत करके उसीके द्वारा संकेतसे अपना उद्देश्य अभिव्यक्त करते हैं । इन कवियोंने अधिकतर प्रयोग ही किया है जैसा वे स्वयं कहते

र इसीलिए इन्होंने टकनीक पर सबसे अधिक दिया है। इस रायके कवियोंने संगीत तत्त्वपर ान दिया है, पर इनमें छायावादी कवियों जैसा या वर्णोंकी आवृत्तिका संगीत नहीं बल्कि नाद था त्मक प्रभावका संगीत है । इन कवियोंमें वर्ण-बोध our sense) भी बहुत अधिक है ।

तीसरी प्रवृत्ति है आदर्शोन्मुख यथार्थवादकी । वृत्तिके सबसे बड़े कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त श्री नरेन्द्र, भगवतीचरण और दिनकरको भी श्रेणीमें रख सकते हैं । पन्त जी मार्क्सवाद और ात्मवादका समन्वय करके वर्तमान संघर्षमय जगतमें जको पुनस्संघटित तो अवश्य करना चाहते हैं, पर र ही जन-जन तक आध्यात्मिक प्रकाश भी पहुँचाना हते हैं । दिनकर, भगवतीचरण आदि मानवतावादी दर्शको मानते हैं जिसका आधार वर्तमान यथार्थ वन है । इन सब कवियोंने विभिन्न विरोधी द्धान्तोंके अविरोधी तत्त्वों का सामंजस्य करने का यत्न किया है । 'स्वर्ण-किरण' 'स्वर्ण-धूलि' और त्तरा' में सुमित्रानन्दन पन्त अपनी उसी आदर्श ांस्कृतिक भाव-भूमिमें विचरण करते हुए दिखलायी ड़ते हैं जहां 'युगान्त' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में थे । न्तर केवल इतना ही है कि उस काल की गद्यात्मक ाषा की जगह अब संस्कृतगर्भित गंभीर पदावलीके र्शन होते हैं और तत्कालीन सिद्धान्त-कथन और बौद्धिक विवेचन की जगह सांस्कृतिक सामंजस्य तथा मर्मस्पर्शी भावाभिव्यक्तिने ले ली है । इस प्रकार पन्त और नरेन्द्रमें एक आध्यात्मिक आदर्श दिखलायी पड़ता है जो गान्धी, रवीन्द्र और अरविन्दसे प्रभावित है । दिनकरमें भी ऐसा ही आदर्श लक्षित होता है जिसका आधार गान्धीवाद और मार्क्सवाद का सामंजस्य ही है । जहां तक भाषा और शैली का प्रश्न है, दिनकर द्विवेदी युगीन कवियों की परम्परामें ही आते हैं । नवीन, भगवतीचरण वर्मा भी इसी श्रेणीके कवि हैं और अपनी अभिधात्मक शैलीमें उन्होंनेभी विचारोंका ऊहापोह उपस्थित करके यथार्थ की भूमि पर मानवतावादी आदर्श के चश्मे लगाकर चलनेका प्रयत्न किया है । इन्हीं कारणों से इन सभी कवियों को प्रगतिवादी आलोचक प्रगतिवादी नहीं, बल्कि प्रतिक्रियावादी मानते हैं ।

अन्तिम प्रवृत्ति रोमाण्टिक यथार्थवाद की है ।

छायावादी युग की कविता भी रोमाण्टिक थी, पर जैसा कहा जा चुका है, उसमें कल्पनाकी उड़ान, कवि के व्यक्तित्वका गोपन, आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक आदर्शों का आवरण और शैली की अत्यधिक दुरूहता थी । वह आदर्शोन्मुख थी । अंचल और बच्चनके आगमनके साथ इस धाराने एक मोड़ ली थी । यद्यपि छायावादी कवितामें भी व्यक्तिवाद था, किन्तु वह इतना उभर कर सामने नहीं आया था जितना अंचल, बच्चन और भगवतीचरण वर्मामें दिखलायी पड़ा । इन कवियोंने अपने अन्तर को ईमानदारीके साथ सीधे शब्दोंमें खोलकर रख दिया । प्रेम, सौन्दर्य आदि की विदग्ध भावनाओं और पारिपार्श्विक जगतके मन पर पड़े [illegible] भावों का इन्होंने मार्मिक चित्रण किया । द्वितीय महायुद्धके बाद जो नये कवि सामने आये उनपर इन्हीं कवियों का सीधा प्रभाव पड़ा था, यद्यपि संस्कार रूपमें महादेवी की ऊँचाई, प्रसादका सौन्दर्य-बोध तथा पन्त के प्रकृति-निरीक्षण और रोमांटिक चित्रण का प्रभाव भी उनपर था । साथ ही प्रगतिवादके आन्दोलनके फलस्वरूप जीवन-संघर्षसे पलायन, निराशावाद, दुख और पराजय की मनोवृत्ति तथा सामयिक राजनीतिक और सामाजिक समस्याओंके प्रति निरपेक्षता की भावना भी उनमें कम ही थी । इस प्रकार इन नये कवियोंने एक ओर जहाँ बच्चन की भाषा और ईमानदारी को ग्रहण किया वहाँ छायावादी कवियोंके भावगाम्भीर्य और शैली की उत्कृष्टता को भी स्वीकार किया । किन्तु इतना होने पर भी ये कवि छायावादी नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनका दृष्टिकोण छायावादकी भांति आदर्शवादी नहीं, बल्कि यथार्थवादी है । इनके पूर्वगामी कवि बच्चन, अंचल आदि भी छायावादी नहीं कहे जा सकते और अपन अहं तथा व्यक्तिवादकी प्रधानताके कारण नय कवियोंकी श्रेणीमें भी नहीं आ सकते । इन्हें संक्रान्ति-कालके फुटकर कविके रूपमें समझा जा सकता है जैसे द्विवेदी युगमें ही श्रीधर पाठक और मुकुटधर पाण्डेय छायावादी शैली के कवि थे । केवल शैलीकी दृष्टिसे किसी कविको छायावादी नहीं कहा जा सकता, अन्यथा रीतिकालमें घनानन्दको भी छायावादी मानना पड़ेगा ।

इस प्रकार छायावादका स्वाभाविक और उचित

विकास इसी धारामें दिखलायी पड़ता है । छायावादी कवियोंमें अग्रणी महादेवी वर्माने स्वयं कहा है कि 'छायावादका जीवनके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा' और "छायावादके कविको एक नये सौन्दर्य-लोकमें ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवनमें नहीं; इसीसे वह अपूर्ण है, परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोणकी प्रतिष्ठा कर जीवनकी पूर्णतामें देखना चाहेंगे तो हम भी असफल रहेंगे ।" महादेवीजीने छायावादकी जिस अपूर्णताकी ओर संकेत किया है वह इस धाराकी कवितामें नहीं है । इस धाराका कवि जीवनके प्रति अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण यथार्थवादी भी है और जगतके प्रति अपनी रागात्मक दृष्टि और अभिव्यक्तिम स्थूलमें निहित (स्थूलसे परे आकाशीय लोकमें नहीं) सूक्ष्म सौन्दर्यके तटस्थ दर्शनके कारण वह स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) भी है । इनकी कविताओंमें छायावादियों जैसी जीवन से पलायनकी वृत्ति नहीं मिलती, न ही जीवनको केवल विज्ञानकी एकांगी दृष्टिसे देखने वाले बौद्धिक कवियोंकी भांति, स्थूलका वाह्य चित्रण और सीमित उपयोगिताकी दृष्ठि दिखलायी पड़ती है । इन्होंने व्यष्टि अथवा समष्टिको अलग-अलग निस्संग रूपसे नहीं ग्रहण किया, वरन् दोनोंके सम्बन्धोंमें निहित पूर्णताको ग्रहण किया है । इसीसे इनमें अध्यात्म (परोक्ष सर्वशक्तिमान सत्ता) की चेतना, दूरारूढ़ कल्पना, 'अहंका विस्फोट' जैसी बातें नहीं हैं, और न इन्होंने व्यक्ति की सत्ताको ही माननेसे इन्कार किया है । वस्तुतः इन्होंने व्यक्तिगत और समाजगत चेतनाका सुन्दर समन्वय किया है । रंगीन चश्मा इनके पास भी है, पर वस्तुके सौन्दर्य और आकर्षण वृद्धिके लिए है नकि वस्तुके रूप-परिवर्तन या सत्यका लोप करके भ्रमकी स्थापना के लिए । उसी तरह विद्रोह और क्रान्तिकी भावनाएँ इनमें भी हैं पर वे 'फैशन' या नारोंके रूपमें नहीं, बल्कि अनुभूतिकी सच्चाईके रूपमें कलात्मक ढंगसे अभिव्यक्त हुई हैं । समाजके वर्ग-आधारको वे भी स्वीकार करते हैं और लोकतंत्रात्मक समाजवादकी स्थापना में विश्वास रखते हैं, पर वे कला या कविताको वर्ग-संघर्ष के हथियारके रूपम नहीं अपनाते । वे यह भी नहीं स्वीकार करते कि वर्ग-संघर्षको उत्तेजित करके वर्गहीन समाजकी स्थापनामें जो कविता योग नहीं देती वह प्रतिक्रियावादी है और पूंजीवादका प्रतिनिधित्व करती है । इसके विपरीत वे मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष ही तक काव्यका क्षेत्र सीमित नहीं किया जा सकता, बल्कि यथार्थ जीवनकी सम्पूर्ण सीमाको कविता घेर सकती है । इसीलिए उनकी कवितामें सौन्दर्य-प्रेम, अभाव, आशा, निराशा, द्वन्द्व, उत्साह, संघर्ष, प्रकृति-सौन्दर्य, जिज्ञासा, आश्चर्य आदि सभी तरहकी भावनाएँ दिखलायी पड़ती हैं जिनकी भूमि कहीं तो व्यक्तिगत है और कहीं सामाजिक । शैलीकी दृष्टिसे भी इन कवियोंने अपना स्वच्छन्द मार्ग अपनाया है और शब्दचयन, भाषाकी शक्तियोंके प्रयोग, द्वन्द्वके चुनाव आदिमें न तो रूढ़िवादी ही हैं और न मात्र प्रयोगवादी । इन्होंने आवश्यकतानुसार गीति-शैली, प्रगीत मुक्तक, मुक्तछन्द आदि सभीका प्रयोग किया है । इन कवियोंम सर्वश्री नैपाली, भवानीप्रसाद तिवारी, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, सुमित्राकुमारी सिनहा, त्रिलोचन, हंसकुमार तिवारी और रामदयाल पाण्डेयके नामोंसे तो हिन्दी-संसार परिचित हो चुका है । नये कवियोंमें सर्वश्री महेन्द्र, विजयदेवनारायण साही, गिरिधर गोपाल, नामवर सिंह, रामकुमार चंचल, हरिमोहन, विपिन आदि और भी नयी शक्ति और सौन्दर्य लेकर सामने आ रहे हैं और कविताको उसके सुन्दर रूपमें सजाकर जन-जीवनके निकट ले जानेको तत्पर हैं ।

ऊपर नवीन कविताकी जिन चार प्रभाव-धाराओंका विश्लेषण किया गया है वह प्रवृत्तियोंको ध्यानमें रखकर ही किया गया है । व्यक्ति रूपमें कवियोंको लिया जाय तो एक ही कवि एकाधिक प्रवृत्तियोंको लेकर चलता दिखलायी पड़ता है । इसका अर्थ यही है कि कोई एक प्रधान धारा अभी नहीं बन सकी है । हिन्दी ही नहीं, संसारकी सभी भाषाओंमें आज यही प्रवृत्ति दिखलायी पड़ रही है । संक्रान्ति-कालमें ऐसा होना स्वाभाविक है । अतः जो वर्गीकरण किया गया है कौन जाने कुछ दिनों बाद उसमें परिवर्तन करना पड़े; पर इतना तो सत्य है कि आजकी व्याप्त प्रवृत्ति यथार्थवादकी है जो लघुता की ओर दृष्टि डालती और सामाजिक चेतना और अनन्त करुणाकी गोदमें पलती है । यह प्रवृत्ति उपर्युक्त चारों ही धाराओंमें दिखलायी पड़ती है और इसीलिए आजकी कविताको यथार्थवादी कविता कहा जा सकता है ।

साहित्य-समीक्षा

यूसुफ मेहरअली

"बिहाइण्ड यूरोप'स करटेन" ले० जॉन गुंथर; प्र. हैमिश हैमिल्टन; मू० १५ शि०, सन् १९४९ ।

पी० जी० वोडहाउस की भाँति जॉन गुंथर की नयी पुस्तकों को भी लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं, दोनों निश्चित रूप से मनोरञ्जन करते हैं, हालांकि दोनों के विषय में आकाश-पाताल का अन्तर रहता है । गुंथर का विषय राजनीति तथा एक विशृंखलित जगत के लोग होते हैं। वोडहाउस किसी सामाजिक श्रेणी की दुर्बलताओं और विकृतियों से हमारा मनबहलाव करते हैं, जिसे दो महायुद्धों ने करीब-करीब बेकार बना दिया है । आजकल के कष्टमय जगत में इनकी पुस्तकों से थोड़ी देर के लिए जो मनोविनोद होता है उसके लिए पाठक काफी कृतज्ञ हैं ।

पन्द्रह वर्ष पूर्व गुंथर की 'इनसाइड यूरोप' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, तबसे वह विश्वका एक सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक लेखक माना जाता है । यही कारण है कि उसकी नयी पुस्तक, "बिहाइण्ड यूरोप'स करटेन" का सर्वत्र स्वागत हुआ । यह उच्च कोटि की पत्रकारिता है । पुस्तककी शैली सजीव है और उससे लेखक की निष्पक्षता और ईमानदारी का परिचय मिलता है ।

जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, उसमें गुंथर ने 'आयरन करटेन' के भीतरके देशोंमें—यूगोस्लाविया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी में अपनी यात्रा का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है ।

इटली पहुँचनेके बाद उसने प्रधान मन्त्री डि गास्पेरी और पोप से मुलाकात की और वहाँ की अशान्त स्थिति का अद्भुत उत्तेजनापूर्ण वर्णन किया है। "अमरीका से भौतिक सहायता प्राप्त करने के अलावे इटली में व्यवस्था कायम करने की भी आवश्यकता है। उस पुराने देशमें नया जीवन चाहिए, सम्पत्ति को और अच्छी तरह से वितरित करने का कार्यक्रम, एक व्यावहारिक कर-प्रणाली, भूमि का पुनर्विभाजन, और सबसे पहले सामाजिक सुधार की आवश्यकता है । अगर इटली अपना सुधार नहीं करता है, उदार नीति से काम नहीं लेता है तो उसका भविष्य अन्धकारमय है ।"

मुसोलिनी के पुराने कार्यालय 'पलेज्जो चिगी' में बैठे हुए परराष्ट्रमन्त्री काउण्ट सोरजा ने उसको चेतावनी दी, "आप को स्मरण रखना चाहिए कि हमारा इतिहास बहुत पुराना है, और हम लोग जानते हैं कि किस प्रकार विपत्ति का आसानी से मुकाबिला किया जा सकता है ।" (पृ० ११)

रोम, वेनिस और ट्रिस्टे होते हुए वह ओरियण्ट एक्सप्रेस द्वारा यूगोस्लाविया पहुँचा । राजधानी बेलग्रेड को देखकर उसने लिखा है, "यद्यपि बेलग्रेड मास्को से पृथक हो गया है और दोनों में काफी विवाद चल रहा है, किन्तु बेलग्रेड को देखते ही यह धारणा होती है कि यह छोटा मास्को है । गरीबी और गन्दगी; शिष्टाचार का लोप; सौष्ठव और सौजन्य का पूर्ण अभाव; एक कठोर नैतिक वातावरण; सर्वत्र लम्बी कतारें; उपभोग्य वस्तुओं की बेहद कमी; औद्योगीकरण पर जोर; बेहिसाब महँगी; विदेशियों के प्रति घोर भय और संदेह; अधिकांश अफसरों तक पहुँचने में कठिनाई और नौकरशाही की गोपनीयता—ये दोनों राजधानियों की विशेषताएँ हैं ।" (पृ० ४३)

गुंथर ने अनेक बड़े लोगों से जिनमें मार्शल टीटो भी शामिल हैं, भेंट की । उसकी दृष्टि में टीटो एक व्यावहारिक कम्युनिस्ट है, व्यक्तिगत रूपसे साहसी और मानव-प्रकृति का अच्छा पण्डित है । अभिमानी, कठोर और सहिष्णु भी है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसने 'पार्टिजन्स' का संगठनकर विजय प्राप्त की, यही उसकी बड़ी शक्ति है । उसका व्यक्तित्व

महान है, उसमें जादू है और केवल वही एक विनोद-प्रिय अधिनायक है । कहा जाता है कि भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के पुत्र रेण्डाल्फ चर्चिल को यूगोस्लाविया जाने के लिए विसा नहीं मिला तो उन्होंने व्यक्तिगत रूपसे टीटोसे अपील की। उन्होंने अपने तार के अन्तमें लिखा था कि "आप नहीं जानते कि मैं कौन हूँ ?" इसपर टीटो ने उत्तर दिया कि "जानता हूँ, आप विक ओलिवर के भूतपूर्व साले हैं ।" गुंथर ने यह कहानी लिख तो दी है, किन्तु कहाँ तक सच है इसपर कुछ नहीं लिखा है ।

× × ×

पुस्तक में बलगेरिया, रूमानिया, यूनान और टर्की सम्बन्धी अध्याय भी काफी दिलचस्प हैं, हालाँकि वह अबकी बार केवल यूनान गया था, किन्तु अन्य देशों में वह पहले जा चुका है ।

गुंथरकी यह आदत बहुतसे लेखक बिलकुल नापसन्द करते हैं । उनका कथन है कि गुंथरके लेख बिलकुल ऊपरी होते हैं, अक्सर चन्द दिनोंकी यात्रा पर ही आधृत होते हैं न कि कोई गम्भीर अध्ययन पर । केवल उसकी स्पष्टवादिता ही उन्हें इतना दिलचस्प बना देती है ।

गुंथरने यूनान और टर्कीको अमरीका का पिट्ठू कहा है जिस प्रकार कुछ अन्य देशों को रूसका । उसके अनुसार यूनान की जनताका नैतिक स्तर बहुत निम्न है, जबकि टर्कीका बहुत ऊँचा । उसने रूस तथा कालासागर की खाड़ी और नील नदीके बीच विस्तृत भूखण्डमें टर्कीको ही एक ठोस शक्ति कहा है ।

× × ×

इसी प्रकार वह हंगरीको भी किसी भी तानाशाही से कम नहीं मानता है, हालांकि वहाँ न तो स्टालिनकी मूर्तियोंका ढेर है और न कम्युनिस्टोंके आक्रमक परेड होते हैं । विगत महायुद्धमें बुडापेस्ट शहरको काफी क्षति पहुँची थी, फिर भी लोगोंका वेशभूषा काफी अच्छा दिखायी देता है, दूकानें सामानोंसे भरी हुई हैं, भले ही चीजोंके दाम अधिक हों, और उनकी आपसी बातचीत सजीव होती है । गुंथरने लिखा है कि यूगोस्लाविया की जनतामें कष्ट-सहन की महती शक्ति और क्षमता है, किन्तु हंगरीके लोग अपेक्षाकृत अधिक आरामतलब हैं और उनमें सहन-शक्ति का अभाव है ।

वहां बड़ी भीषण बर्बादी हुई थी । नाजियोंने गली-गली और घर-घरमें युद्ध किया । ४७.१ प्रतिशत इमारतोंको क्षति पहुँची थी जिनमें २३.१ प्रतिशतको अत्यधिक हानि हुई थी और ३.८ प्रतिशत तो बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थीं । हंगरीके जिन कारखानोंमें सौ से अधिक मजदूर काम करते थे उनका राष्ट्रीकरण हो गया है । इनमें कोयलेकी खानें, बिजली-घर, बड़े-बड़े उद्योग-धंधे, बंक और बीमा शामिल हैं ।

कम्युनिस्ट नेता राकोसी वहांका वास्तविक नेता है और उसके कुछ अन्य साथी हैं जिनको मास्कोसे ट्रेनिङ्ग मिली है । उसने गुंथरसे पहलेही कहा था कि "आप देखते हैं, हम लोग तथाकथित लौह दीवारके भीतर कितनी शान्तिके साथ रहते हैं, केवल अमरीकी और ब्रिटिश पत्रकार ही घेरे रहते हैं ।" राकोसीने यह भी कहा कि "मास्को हंगरीको जितनी अच्छी तरह जानता है, उतना स्वयं हम लोग भी नहीं जानते हैं ।"

युद्धकी सम्भावनाके बारेमें पूछनेपर राकोसीने कहा कि "सोवियत यूनियन और संयुक्त राज्य अमरीकाके बीच युद्धके लिए अभी पर्याप्त आर्थिक कारण मौजूद नहीं हैं। "आप निश्चित मानिये कि हम लोग अपनी ओरसे कभी पहले युद्ध आरम्भ नहीं करेंगे क्योंकि हम जानते हैं कि उसमें कोई भी पक्ष विजयी हो उसका लाभ नहीं होगा । अगर अमरीका युद्ध शुरू करता है तो अन्तमें उसकी वही दशा होगी जो प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांसकी हुई थी और द्वितीय महायुद्धके बाद इंगलैण्डकी हुई है, यानी शक्तिहीन, रक्तहीन और विजय में भी पराजित ।" इसके बाद कम्युनिस्ट नेताने दो और महत्वपूर्ण बातें कहीं, "इंगलैण्ड तृतीय महायुद्ध का भार वहन करनेके लिए उतना तैयार नहीं है, सम्भव है कि यही युद्ध रोकनेका मुख्य कारण हो जाय ।" दूसरी बात यह है कि "युद्धके लिए सबसे बड़ा खतरा यह है कि अमरीका एक बार भी युद्ध-क्षेत्र नहीं बना है ।"

× × ×

गुंथरने जितने देशोंका वर्णन किया है उनमें

ोवाकियाके बारेमें काफी भावुकतापूर्वक
है । वह इस देशको तथा यहांके नेताओंको
ांति जानता है । वह डॉ० बेनेसके शव-संस्कारके
प्रेगमें ही था और वह काफी द्रवित हो
था ।
इसी परिधिके देशोंमें चेकोस्लोवाकियाका स्थान
ग्र है । इसके दो कारण हैं, एक तो यहां
महायुद्धसे पूर्व लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली
वेश स्थापित थी जो कि यूगोस्लाविया या
रियामें नहीं थी; दूसरे यही एक ऐसा कम्यु-
देश है जहां पहले उद्योग-धंधोंका काफी
ास हो चुका था ।
उसने लिखा है कि कम्युनिस्टों द्वारा शासन-
पर अधिकार करनेके बाद प्रेस-स्वतन्त्रता बिल्कुल
ों रह गयी है । "वस्तुतः इस मामलेमें चेकोस्लो-
किया अन्य गुड़िया राज्योंसे आगे बढ़ गया है ।"
ृ० २२९)

गुंथरने जनतन्त्रके कम्युनिस्ट अध्यक्ष गोटवाल्ड,
ान मन्त्री जैपोटाकी तथा अन्य नेताओंका बड़ा
ो स्पष्ट चित्रण किया है । किन्तु वहां वास्तविक नेता
ी कम्युनिस्ट पार्टीका सेक्रेटरी स्लैंस्की है जो मास्कोमें
ेनिंग पाया है । "पार्टीसे सम्बन्धित किसी भी मामलेमें
वही गोटवाल्डको आदेश देता है, न कि गोटवाल्ड
उसको आदेश देते हैं । किन्तु उसके पीछे एक और
प्रमुख व्यक्ति है जिसका नाम बेड्रिक गेमिण्डर है और
चेकोस्लोवाकियामें कमिनफार्मका खास 'आदमी' समझा
जाता है । सचमुच कम्युनिस्ट इसी तरहकी व्यवस्था
पसन्द करते हैं ।" (पृ० २४२)

भूतपूर्व परराष्ट्रमन्त्री नजाँ मसारिकके बारेमें
भी कुछ पैराग्राफ लिखे गये हैं । गुंथरका उससे
निकट सम्बन्ध रहा है और उसने नवम्बर १९४७
में मसारिकका न्यूयार्कमें अपने निवास-स्थान पर
वैसा ही स्वागत किया था जैसा कि ठीक दो वर्ष
बाद जवाहरलाल नेहरूका । मसारिककी हत्या की गयी,
अथवा उसने स्वयं आत्महत्या कर ली ? इस
मामलेमें निश्चित न होने पर भी वह आत्महत्याको
ही अधिक सम्भव मानता है । हर हालतमें कम्यु-
निस्टोंने ही उसकी जान ली, उसकी मृत्यु हत्याके ही
समान थी भले ही उसने आत्महत्या कर ली हो ।"
(पृ० २२५)

पोलैण्डकी बर्बादीसे उसको काफी आघात पहुँचा ।
वारसामें उसने जो कुछ देखा उसके लिए ये ही शब्द
थे, "मैं हैरान हो गया !" "मैं हतप्रभ हो गया !"
पोलैण्डकी २० प्रतिशत जनता खतम हो गयी थी ।
वहाँके ३५ लाख यहूदियोंमें ३० लाखका वध कर
दिया गया था ।

गुंथरने दिसम्बर १९४८ में "संयुक्त मजदूर
दल" में पोलैण्डके कम्युनिस्टों और सोशलिस्टोंके विलीन
हो जानेका भी उल्लेख किया है । उसने लिखा है
कि विलयनसे पूर्व पोलैण्डकी सोशलिस्ट पार्टीमें करीब
सात लाख सदस्य थे । "वह विश्वमें सबसे पुरानी,
प्रभावशाली और शक्तिशाली सोशलिस्ट पार्टियोंमें
से एक थी ।" सन् १९४७ के चुनावमें उन्होंने पार्लि-
यामेण्टमें उतनी ही सीटें प्राप्त की थीं जितनी कि
कम्युनिस्टोंने । उसका विचार है कि विलयनसे सोश-
लिस्टोंको धक्का पहुँचा है ।

उसने कई प्रमुख नेताओं, और मुख्यतः राष्ट्र-
पति बोलस्ला बीरुत और प्रधान मन्त्री सिरानकी-
विक्सके सम्बन्धमें भी लिखा है, किन्तु वहां वास्तविक
अधिकार तो हिलरी मिंकके हाथमें है जो स्टालिनके
काफी निकट सम्पर्कमें रहने वाला व्यक्ति कहा जाता
है । एक अन्य शक्तिशाली व्यक्ति ताकुब बरमन है
जो बिना विभागका एक मन्त्री है ।

और राष्ट्रीकरण ? विदेशी पूँजी पर, जिसमें जर्मनी-
की औद्योगिक सम्पत्ति भी शामिल है, कब्जा कर
लिया गया है और बड़े उद्योगोंका पूर्ण राष्ट्रीकरण
हो गया है । गुंथरने मिंकके एक भाषणको उद्धृत
किया है जिसमें उसने कहा है, "हमारे यहाँ एक
ही साथ तीन प्रकारकी मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था है;
समाजवादी, पूँजीवादी और सहकारी । उद्योग, याता-
यात और बंक-व्यवसायमें अधिकतर समाजवादी व्यवस्था
कायम हो गयी है, खुदरा व्यवसायमें उसका प्रभाव
निरन्तर बढ़ रहा है और कृषिमें उसका महत्वपूर्ण
स्थान है, हालांकि अभी इसका पूर्ण उपयोग नहीं
हो पाया है ।" भूमि-व्यवस्थामें सुधार तथा सांस्कृतिक
निर्माण-कार्य भी काफी आगे बढ़ा है ।

वारसासे गुंथर-दम्पत्ति जो बराबर साथ यात्रा
कर रहे थे, वियना गये जो "एक मनहूस, बुद्धिमान,
खण्डित राजधानी" है । आस्ट्रिया पर अभी तक चार
मित्र-शक्तियोंका आधिपत्य कायम है । वहाँ कम्युनिस्ट
पार्टीका प्रभाव नगण्य है और चुनावोंमें उसे काफी
धक्का पहुँचा है । कम्युनिस्टों की कमजोरी का मुख्य
कारण यह है कि वहाँ मजदूर श्रेणीमें सोशलिस्टोंका
व्यापक प्रभाव है । गुंथरने प्रसंगवश यह भी लिखा है
कि "आस्ट्रियामें मित्रराष्ट्रों का रूसियोंके साथ जितना
सरल और सीधा सम्बन्ध है उतना और कहीं नहीं है ।"

गुंथर को अपनी सरकारकी नीति की आलोचना
करनेमें भी कोई हिचकिचाहट नहीं होती है । "यूरोपके
केवल अमरीकी क्षेत्रोंमें जाने पर ही हम लोगों को
युद्ध अनिवार्य प्रतीत होता था ।" (पृ० ३२) आस्ट्रियाके
सम्बन्धमें उसने लिखा है कि वहाँ अंग्रेजोंका सोशलिस्टोंसे
निकट सम्बन्ध है तो अमरीकी कैथोलिक और अनुदार-
वादियोंका समर्थन करते हैं । (पृ. ३०१) फ्रैंकफुर्टमें
जर्मनीके सम्बन्धमें अमरीकी नीति पर भी यह
भनक सुनायी दी, "हम नहीं जानते कि जर्मनीमें क्या
किया जाय, क्योंकि अभीतक यह निर्णय भी नहीं हो
सका है कि हम गत युद्धमें विजयी होना चाहते हैं
अथवा आगामी युद्धमें ।" (पृ० ३१२) अधिकारारूढ़
शक्तियों की भर्त्सना करते हुए वह लिखता है कि
घड़ी बन्द की जा सकती है, किन्तु वे पीछे नहीं मुड़
सकते हैं । पूर्वी यूरोपमें और कदाचित् सम्पूर्ण यूरोपमें
पुराने मुक्त व्यवसाय वाले पूँजीवादके दिन लद चुके
हैं, भावी यूरोप समाजवादी ही होगा, भले ही कुछ
कमोवेश हो ।" (पृ० ९८) इसके विपरीत उसने ब्रिटेन
के पुनर्निर्माण-कार्य की काफी सराहना की है, जो
प्रायः अन्य सभी राष्ट्रोंको लज्जित कर देता है ।"
(पृ० ३२९)

किन्तु गुंथर किस निष्कर्ष पर पहुँचता है ?

"सम्भवतः पोलैण्ड एक ऐसा देश है जिसपर रूसी
सबसे कम भरोसा करते हैं । यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे
यह रूसके बहुत समीप है, किन्तु उसमें एक बहुत विशेष
चमक और सर्जनात्मक इच्छा है । चेकोस्लोवाकिया
गुड़िया राज्योंमें सबसे गिरा हुआ और छिन्न-भिन्न
देश है, राजनीतिक दृष्टिसे तथा और दृष्टिसे भी ।
कई मानेमें हंगरी की स्थिति सबसे अच्छी है । सबसे
अधिक रूस की मुट्ठीमें रूमानिया है; यह वाह्य
जगतसे बिल्कुल विच्छिन्न हो गया है और वहाँ पहुँचना
भी सबसे कठिन है । इस की स्थिति हाथीके पैरके नीचे
चूहे जैसी है जो चूँ करने का भी साहस नहीं कर
सकता । सामाजिक और आर्थिक सुधार की दृष्टिसे
बलगेरिया शायद सबसे आगे है, और वहाँ की
शासन-व्यवस्था भी सबसे अधिक तानाशाही है ।"
(पृ० ३१)

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात जो उसने लिखी है वह
यह है कि तृतीय विश्वयुद्धमें अगर मास्कोका विध्वंस हो
जाय, स्टालिनकी भी हत्या हो जाय और सोवियत शासन
मिट्टीमें मिल जाय तब भी समाजवाद, भूमि-व्यवस्थामें
सुधार और एक अनुभवी सर्वहारा श्रेणी कायम रहेगी ।
पुराने ढंगका पूंजीवाद विदा हो गया और वर्तमान
क्रान्तिके स्थायी परिमाणोंकी उसी प्रकार उपेक्षा नहीं
की जा सकती जिस प्रकार एक शताब्दी पूर्व औद्योगिक
क्रांतिकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी । गुंथरका मत
है कि युद्धकी अपेक्षा शान्ति रूसी इरादेमें अधिक
सहायक हो सकती है । पुस्तकके अन्तिम पृष्ठकी अन्तिम
पंक्ति इस प्रकार है:—"अगर रूस और अमरीकामें युद्ध
होता है तो इसका यही अर्थ होगा कि मरनेपर भी
हिटलर ही युद्धमें विजयी हुआ । (पृ० ३५१)